सूरसागर शब्दावली

[एक सांस्कृतिक अध्ययन]

डा० निर्मला सक्सेना,
एम० ए०, डी० फ़िल्०

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
इलाहाबाद

प्रथमावृत्ति २०००, १९६२
मूल्य १२) रु०

मुद्रक
भार्गव प्रेस, इलाहाबाद

पापा मम्मी
को

प्रकाशकीय

भक्त-शिरोमणि महाकवि सूरदास के गीत और पद 'सूरसागर' के नाम से संग्रहीत हैं। यह ग्रन्थ जगत्प्रसिद्ध है। सूरदास हिन्दी भाषा और साहित्य के आधार-स्तभों में है। हिन्दी साहित्य के आदि युग से विद्वत्समाज हिन्दी के इस सूर्य की भाषा और भाव-व्यंजना पर चिन्तन-मनन तथा विचार-विमर्श करता आ रहा है। विदुषी लेखिका ने सूरसागर मे महाकवि द्वारा प्रयुक्त संज्ञा शब्दों का सास्कृतिक विवेचन प्रस्तुत किया है। अध्ययन की यह दिशा सर्वथा नवीन है। हिन्दी के वर्तमान महत्वपूर्ण काल में यह अत्यन्त आवश्यक है कि हिन्दी की अमूल्य निधियो का सांगोपांग और वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। महा-कवि सूरदास की शब्द-साधना महती है और लोकोत्तर आनन्द के प्रणेता है। अपने समय मे कवि ने भावाभिव्यक्ति के लिए ब्रज तथा इतर भाषाओं के जिन शब्दों का प्रयोग किया था उनके सन्दर्भ सहित अध्ययन को कवि की रचना को उजागर करने मे और भाषा को गौरव देने में निश्चय ही सहायक होनी चाहिए। इस दृष्टि से डाक्टर निर्मला सक्सेना का यह कार्य महत्वपूर्ण अथच श्लाघनीय है।

डाक्टर निर्मला सक्सेना ने बड़े अध्यवसाय से सूरसागर के संज्ञा शब्दो का संकलन कर उनका अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से किया है। शब्द, शब्द का प्रयोग, अर्थ, संदर्भ और समकालीन रचनाओं मे या उससे पुरातन साहित्य मे शब्द-विशेष का प्रयोग आदि सभी आवश्यक तथ्य इस ग्रन्थ मे निहित है। हमारा विश्वास है कि इस अभिनव अध्ययन को विद्वज्जन और साधारण पाठक समान रूप से उपयोगी पावेंगे। साथ ही हमारा यह भी विश्वास है कि डाक्टर निर्मला सक्सेना के इस विद्वत्तापूर्ण कार्य से स्फूर्ति लेकर अन्य शोधकर्ता हिन्दी के महाकवियों की रचनाओं पर अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। हमे यह ग्रन्थ प्रकाशित करते हर्ष है।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
इलाहाबाद,

विद्या भास्कर
मन्त्री तथा कोषाध्यक्ष

प्राक्कथन

यह ग्रन्थ वास्तव में थीसिस के रूप मे लिखा गया था जिस पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने १९५८ में मुझे डी० फ़िल्० की उपाधि प्रदान की थी। उसी थीसिस का यह संशोधित और परिवर्द्धित रूप है। एम० ए० करने के कुछ वर्ष पश्चात् १९५३ में मैंने शोध कार्य के लिए सूरसागर की शब्दावली को अध्ययन का विषय चुना था। सूरसागर की समस्त शब्दावली को एक ही थीसिस की सीमा में बाँधना असम्भव समझ कर अपने निर्देशक डा० धीरेन्द्र वर्मा की सम्मति तथा आदेश के अनुसार केवल संज्ञा-शब्दों का सांस्कृतिक दृष्टि से विवेचन करने का मैंने निश्चय किया था।

अत: इस ग्रंथ की विशेषता सूरसागर में प्रयुक्त लगभग १७०० संज्ञा शब्दों के सांस्कृतिक विवेचन से है। इस दृष्टि से सूरसागर की शब्दावली पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। प्रस्तुत अध्ययन समाप्त करने के बाद डा० प्रेमनारायण टंडन का 'सूर की भाषा' शीर्षक ग्रंथ प्रकाशित हुआ था जिसका छठा अध्याय सांस्कृतिक नामावली से सबंधित है। डा० टंडन के संपूर्ण ग्रंथ का एक अंश होने के कारण उसमे सांस्कृतिक शब्दों के उदाहरणस्वरूप कुछ सूचियाँ मात्र दी गई हैं तथा इनके साधारण महत्त्व पर कुछ प्रकाश डाला गया है। विषय-साम्य के कारण 'सूर की भाषा' के इस अध्याय के साथ प्रस्तुत ग्रंथ का आंशिक साम्य दिखलाई पड़ सकता है, किन्तु वास्तव में सूरसागर के समस्त सांस्कृतिक संज्ञा शब्दों को लेकर उनका विस्तृत वर्गीकरण तथा अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध की विशेपता है। शब्दावली की व्याख्या के साथ-साथइन शब्दों के सूर द्वारा प्रयोग पर विशेष प्रकाश डालने के उद्देश्य से प्राचीन काल में, सूर के समकालीन कवियों, विशेषतया तुलसी तथा जायसी के काव्यों में, तथा वर्तमान समय में ब्रजप्रदेश मे प्रयुक्त इन शब्दों के रूपों से तुलना करने की भी यथासंभव चेष्टा की गई है।

प्राचीनकालीन शब्दों के रूपों को समझने के लिए डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों, 'इंडिया एज नोन टु पाणिनि' तथा 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन' से विशेष सहायता ली गई है। डा० अग्रवाल द्वारा व्याख्या सहित प्रकाशित 'पद्मावत' तथा डा० देवकीनंदन श्रीवास्तव लिखित 'तुलसीदास की भाषा'क्रमशः जायसी तथा तुलसी द्वारा व्यवहृत शब्दावली पर प्रकाश डालने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए। तुलनात्मक अंशों मे इन ग्रन्थों का उपयोग निरंतर किया गया है। वर्तमान समय में ब्रजभाषाभाषी कृषक वर्ग की सांस्कृतिक शब्दावली का ज्ञान प्राप्त करने के लिए डा० अम्बाप्रसाद सुमन के ग्रन्थ 'कृषक जीवन संबंधी ब्रजभाषा शब्दावली' से भी विशेष सहायता मिली है। सूरदास की समकालीन स्थिति पर प्रकाश डालनेवाले अन्य भाषाओं के ग्रन्थों में 'आईने अकबरी' तथा बर्नियर और मनूची के यात्रा-विवरणों से सहायता ली गई है। शब्दावली का संकलन नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर (प्रथम संस्करण, संवत् २००५ वि०) से किया गया था। शब्दों के आगे दी गई संख्याएँ इसी संस्करण की पूर्ण संख्या की बोधक हैं।

इस ग्रन्थ की त्रुटियों से मैं अपरिचित नहीं हूँ। शब्दावली की संख्या बढ़ जाने के

कारण शब्दों का पूर्ण ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक विवेचन करना संभव नहीं हो सका। यदि भविष्य में इस अध्ययन को अग्रसर करने का अवसर मिल सका तो मेरी इच्छा अध्ययन के इस पहलू पर विशेष ध्यान देने की है। वास्तव में शब्दों के ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन के लिए दीर्घकालीन, व्यापक और गभीर अध्ययन तथा मनन की आवश्यकता होती है।

प्रयाग विश्वविद्यालय से हिन्दी विभाग में लगभग दो वर्ष (१९५३-५५) डी० फ़िल्० के नियमित विद्यार्थी के रूप में डा० धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन में मैंने शब्दों का संग्रह तथा विषय से संबंधित साहित्य का अध्ययन किया था। इसके उपरान्त विशेष परिस्थितियों के कारण मुझे प्रयाग छोड़ना पड़ा और कार्य अत्यन्त मन्द गति से अग्रसर हो सका। डा० वर्मा के निरंतर प्रोत्साहन एवं प्रेरणा के बिना यह कार्य कदाचित् अधूरा ही रह जाता। उनके बार-बार उत्साहित करने के फलस्वरूप १९५७ से मैंने इस शब्दावली का विस्तृत अध्ययन फिर प्रारम्भ किया और अंत में उसे प्रस्तुत अध्ययन का रूप देने में सफल हो सकी। डा० वर्मा को गुरु-रूप में पाना उनके विद्यार्थी अपना परम सौभाग्य मानते है, किन्तु मैं पिता और गुरु दोनों रूपों में उनको पाकर गौरवान्वित हूँ। पिता, गुरु और साथ ही मित्र के समान वे सदैव जीवन के हर क्षेत्र में पथ-निर्देशन करते रहे हैं। उनसे मैंने क्या पाया है, यह मेरे लिए शब्दों में बताना असम्भव है।

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के ग्रन्थों के अध्ययन से मुझे जो निरंतर प्रेरणा और सहायता मिली उसके लिए मैं अत्यधिक आभारी हूँ। हिन्दी इंस्टीट्यूट, आगरा के डायरेक्टर डा० विश्वनाथ प्रसाद जी ने इस अध्ययन की रूपरेखा को कृपया ध्यानपूर्वक देखकर अनेक उपयोगी सुझाव दिए। अंत में दी गई शब्दानुक्रमणिका उन्हीं के सत्परामर्श का परिणाम है। ग्रंथ को धार्मिक तथा दार्शनिक शब्दावली के अध्ययन में डा० दीनदयालु गुप्त के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' से मुझे बहुत सहायता मिली। अपने इन समस्त गुरुजनों के प्रति मैं सादर आभार प्रकट करती हूँ।

अंत में मैं उन अन्य समस्त विद्वानों के प्रति भी कृतज्ञता प्रकाशन अपना कर्तव्य समझती हूँ जिनके ग्रंथों से मैंने इस अध्ययन में सहायता ली है। इन कृतियों का उल्लेख यथास्थान किया गया है। इस ग्रंथ का प्रकाशन हिन्दुस्तानी एकेडमी के अधिकारियों की कृपाय से हो रहा है। इसके लिए मैं इस संस्था के सहायक मंत्री डा० सत्यव्रत सिनहा तथा अन्य अधिकारियों की कृतज्ञ हूँ।

लखनऊ, निर्मला सक्सेना

मार्च, १९६१

विषय-सूचा

सहायक-ग्रंथों की सूची

क. मुख्य-ग्रन्थ

सूचना—ग्रन्थों के आवश्यक संकेत कोष्ठक मे दिए गए है।

अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय (भाग १, २)	डा० दीनदयालु गुप्त, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००४ वि०।
आईने अकबरी (आईने अ०)	भाषान्तरकार तथा संपादक श्री रामलाल पांडेय, विद्या मंदिर, कानपुर, सन् १९३५ ई०।
अष्टछाप के वाद्य-यन्त्र (अष्टछाप)	श्री चुन्नी लाल 'शेष', ब्रज साहित्य मडल, मथुरा, सं० २०१३वि०।
कृषक जीवन संबंधी ब्रजभाषा शब्दावली [अलीगढ़ चेत्र की बोली के अधार पर] (कृ० जी०)	श्री अम्बाप्रसाद सुमन, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।
कबीर का रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, १९३७।
ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली (ग्रा० श०)	डा० हरिहर प्रसाद, राजकमल प्रकाशन, सितंबर, १९५६।
तुलसीदास की भाषा (तु० भा०)	डा० देवकी नंदन श्रीवास्तव, लखनऊ विश्वविद्यालय, स० २०१४ वि०।
प्राचीन भारतीय वेशभूषा (प्रा० भा० वे०)	डा० मोतीचन्द्र, भारती भंडार, प्रयाग, प्र० सं० २००७ वि०।
ब्रज की लोक कहानियाँ	डा० सत्येन्द्र, ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा, प्रथम संस्करण, मार्गशीर्ष पूर्णिमा, सं० २००४।
ब्रज लोक संस्कृति	डा० सत्येन्द्र, ब्रजसाहित्य मंडल, मथुरा, सूर जयन्ती २००५वि०
ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन	डा० सत्येन्द्र
भारतीय चित्रकला का विकास	प्रो० चिरजीलाल झा, लक्ष्मी कला कुटीर, गाज़ियाबाद, १९५७ ई०।
सूर की भाषा	डा० प्रेमनारायण टंडन, हिंदी साहित्य भडार, लखनऊ, १९५७ ई०।

सूर-निर्णय — श्री द्वारिका प्रसाद पारीख तथा श्री प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, प्रथम सं० श्रीकृष्णजन्माष्टमी, २००६ वि०।

संगीत शास्त्र (भाग १) — श्री महेश नारायण सक्सेना।

संस्कृत साहित्य की रूपरेखा — पं० चन्द्रशेखर पांडेय तथा श्री शांतिकुमार नानूराम व्यास, साहित्य निकेतन, १९५४ ई०।

हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन (हर्ष० सां० अ०) — डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, सम्मेलन भवन, प्रथम सं०, वि० सं० २०१०।

हिंदुओं के व्रत, पर्व और त्यौहार — श्री रामप्रताप त्रिपाठी, किताब महल, इलाहाबाद, १९५७ ई०।

ख. काव्य-ग्रन्थ

तुलसी-ग्रंथावली, दूसरा खंड (तु० ग्रं०) — रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९२० ई०।

पद्मावत मूल और संजीवनी टीका (प० सं० टी०) — डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी, २०१२ वि०।

मेघदूतम् (कालिदास विरचित) — श्री ब्रह्मशंकर शास्त्री, १९५३ ई०।

श्री रामचरित मानस (मानस) — श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१० सं०।

श्रीमद्भगवद् गीता (गीता) — गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१३ सं०।

ग. कोश

प्रामाणिक हिंदी कोश — श्री रामचन्द्र वर्मा, हिंदी साहित्य कुटीर, बनारस।

हिंदी शब्दसागर — श्री श्यामसुन्दर दास, ना० प्र० सभा, काशी।

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ — चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा, रामनारायण लाल, इलाहाबाद।

उर्दू-हिंदी कोश — श्री रामचन्द्र वर्मा

घ. पत्र-पत्रिकाएँ

हिंदी-अनुशीलन (हि० अनु०) — आश्विन-मार्गशीर्ष, २००८, अंक ३, 'दस हिंदी शब्दों की निरुक्ति', डा० वासुदेव शरण अग्रवाल।
चैत्र-ज्येष्ठ, २०११, अंक १, 'भारतीय अभिधान क्षेत्र में आभूषणों का महत्त्व', डा० विद्याभूषण विभु।

आश्विन-मार्गशीर्ष, २००७, अंक ३,
'हिंदी के सिलाई संबंधी शब्द और उनकी व्युत्पत्ति'
डा० हरिहर प्रसाद गुप्त ।
पौष-फाल्गुन, २०१०, अंक ४,
'कुछ ग्रामीण शब्दों की व्युत्पत्ति,
डा० हरिहर प्रसाद गुप्त ।
अक्तूबर-दिसम्बर, १९५७, अंक ४,
'संस्कारों से संबंधित शब्दावली',
डा० अम्बा प्रसाद सुमन ।

ङ. अंग्रेज़ी-ग्रन्थ

A History of Sanskrit litera- ture, Classical Period (Vol. 1)	Sri S. N. Das Gupta, and Sri S. K. De, University of Calcutta, 1947.
Ain-I-Akbari Vol. 1 (आईने०)	Abul Fazl, translated from Persian by H. Blochmann 1873-94
Glories of India on Indian Culture and Civilization. (ग्लोरीज ऑफ़ इंडिया)	Dr. P. K. Acharya, Jay Shanker Brothers, 1952,
India As Known to Panini [A Study of the Cultural Material in the Ashta-dhyayi] (इंडिया ऐज़ नोन टु पाणिनि)	Dr. V. S. Agrawal, Printed by J. K. Sharma, Allahabad Law Journal Press, 1953.
Life And Conditions of the People of Hindustan (1200-1500 A. D.) Mainly based on Islamic Sources. (अशरफ)	Kunwar Muhammad Ashraf.
Mathura, A District Memoir (Part I) (ग्राउज़)	F. S. Growse M. A., 1874. Printed at the North-Western Provinces, Govt. Press.
Storia Do Mogor or Mogal India (1653-1708) Vol. 1-4. (मनूची)	Niccolao Manucci Venetian, Translated with introduction by W. Irvine, London. John Murray, 1907.
Studies in Mughal Printings. (कौमुदी)	Dr. Kaumudi.

The Court Life of the Great Mughals (1556-1707) Mainly based on Persian and European Sources — Sri M. A. Ansari
(अन्सारी)

Travels In the Mugul Empire, (1666-1668 A. D.) — F. Bernier. A revised and improved edition based upon J. Brock's translation by A. Constable, W. A. Constable And Company.
(बर्नियर)

संकेत-सूची

अं०	....	अंग्रेज़ी
अ०	....	अरबी
अध्या०	....	अध्याय
खं०	....	खंड
तु०	....	तुर्की
देश०	...	देशज
परि०	....	परिशिष्ट
पृ०	....	पृष्ठ
प्र०	....	प्रकरण
फ़ा०	....	फ़ारसी
भा०	....	भाग
श्लो०	....	श्लोक
सं०	....	संस्कृत

सूचना—पुस्तकों के संक्षिप्त नाम सहायक-ग्रंथों की सूची में दिए गए हैं।

खण्ड १

वस्त्राभूषणों के नाम

१. वस्त्र के पर्यायवाची शब्द

१—वस्त्र के अर्थ में सूरसागर में कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ये शब्द या तो साधारणतया अनेक प्रकार के परिधानों के लिए आये हैं, अथवा किसी वस्त्र विशेष की ओर संकेत करते हैं। **बसन** (१२६०, ६५३) [सं० वसनं] तथा **अम्बर** (६४२ २४७, ३६) [सं० अम्बर] शब्द सूरसागर के अधिकांश पदों मे वस्त्र के साधारण अर्थ मे आये हैं 'असन-बसन को चित न करै। विस्त्रंभर सब जग कौं भरै।' (३६३)। कृष्णजन्मोत्सव पर नंद द्वारा तरह-तरह के परिधान, रत्नाभूषण आदि दान करने का उल्लेख अनेक पदों मे है :—

'तब **अम्बर** और मंगाइ, सारी सुरंग चुनी।
ते दीनी बधुनि बुलाइ, जैसी जाहि बनी।'

अथवा— 'उर मनि-माला पहिराइ, **बसन** विचित्र दिये।
दै दान-मान-**परिधान**, पूरन काम किये।' (६४२)

अथवा— 'इक पहिलैं ही आसा लागे, बहुत दिननि तैं छाए,
ते पहिरे कंचन-मनि-भूषन नाना **बसन** अनूप।'[१] (६५३)

तथा— 'लै ढाढ़िनि कंचन-मनि-मुक्ता, नाना बसन अनूप।' (६६५)

बसन शब्द बालिका राधा के परिधान वर्णन मे भी प्रयुक्त हुआ है :—

'नील **बसन** फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी' (१२६०)।

प्रथम स्कंध के द्रौपदी-वस्त्र-हरण प्रसंग में 'बसन' तथा 'अंबर' द्रौपदी की सारी के लिये आये हैं[२] :—

'दुस्सासन जब गही द्रौपदी, तब तिहिं **बसन** बढ़ायौ' (३२)
'**अंबर** गहत द्रोपदी राखी, पलटि अंध-सुत लाजै' (३६)
'सकल सभा में पैठि दुसासन, **अंबर** आनि गह्यौ' (२४७)।

कृष्ण के वस्त्रों में बराबर **पीत बसन** तथा **पीताम्बर** का उल्लेख किया गया है। यह कहीं तो अधोवस्त्र, कहीं उत्तरीय के लिये आये हैं। कहीं-कहीं 'बसन[३] बिछाने वाले वस्त्र

१—मानस, बाल०, १९३, 'हाटक धेनु बसन मनि नृप विप्रन्ह कहं दीन्ह'—राम के जन्म पर दान।

मानस, बाल०, ३१६, 'मनि बसन भूषन भूरि वारहिं, नारि मंगल गावहीं'—राम-विवाह के अवसर पर।

२—मानस, बाल०, ३१६ 'केकि कंठ दुति स्यामल अंगा, तड़ित विनिंदक बसन सुरंगा'—राम रूप वर्णन।

३—मानस, बाल०, ३२८ 'परत पांवड़े बसन अनूपा'।

के अर्थ में आया है—'यहै ओढ़ि जात बन यहै सेज को बसन, यहै निवारिति मेंह बूंद छांह घाम की।' (२१३४)।

२—थोड़े ही स्थानों में एक अन्य शब्द परिधान (६४२) [सं० परिधानम्—वस्त्र धारण करना] मिलता है। अंगा नामक वस्त्र के नीचे पहना जाने वाला एक वस्त्र 'परिधानीयम्' भी था। दूसरा उल्लेखनीय शब्द कापरा[1] (६५८,२१३०) [सं० कर्पटः, कर्पटम्] है—'काढ़ौ कोरे कापरा (अरु) काढ़ौ घी के मौन। जाति-पाँति पहिराइ कै (सब) करौ छठी कौ चार।' (६५८)

अथवा — 'कापर दान पहिरि तुम आए,
चलहु जु मिलि उनही पै जैये, जिनि तुम रोकन पंथ पठाए (२१३०)।

'कर्पट'[2] प्रायः कपड़े की चीर या पेबंद लगे पुराने कपड़े को कहते थे। गेरुए रंग के वस्त्र को भी कभी-कभी कर्पट कहते थे, किन्तु वर्तमान काल मे कपड़ा शब्द वस्त्र मात्र के अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा है।

कोरा (६५८) [सं० कुमार][3] बिना धुले नये वस्त्र या मिट्टी के बर्तन को कहते हैं। यह प्रायः ऐसे नये सूती वस्त्र के लिए आता है जिसमें बिना धुले एक मटमैलापन होता है। इस प्रकार कोरा शब्द एक सीमित अर्थ में कपड़े या मिट्टी के बर्तन के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने लगा। सूरसागर में भी कोरा शब्द इसी अर्थ में आया है 'काढ़ौ कोरे कापरा' (६५८)। मेरठ की बोली में आज भी 'कोरा पिंड' क्वाँरा के अर्थ में बोला जाता है। नये वस्त्र के लिए नये शब्द के अतिरिक्त नूतन या नव भी आया है—'तन पहिरे नूतन चीर' (६४२)।'चीर उतारि वस्त्र नव[4] पहिरौ।' (३१६६)।

३—पाणिनिकालीन चीर (२४७,६४२) [सं० चीरं] शब्द भी सूरसागर में अनेक बार प्रयुक्त किया गया है। पट शब्द प्रायः सारी या धोती के अर्थ में अधिक आया है। प्रथम स्कंध के द्रौपदी-चीर-हरण प्रसंग मे यह सारी के अर्थ मे ही मिलता है—'एकै चीर हुतौ मेरे पर, सो इन हरन चह्यौ। हा जगदीस ! राखि इहिं अवसर प्रकट पुकारि कह्यौ।' (२४७)

अथवा—'भक्ति-हेत प्रह्लाद उबार्यो, द्रौपदि-चीर बढ़ायौ।' (२०)।

दशम स्कन्ध में कृष्ण-जन्मोत्सव तथा अन्य प्रसंगों मे भी चीर कहीं-कहीं सारी या ओढ़नी का अर्थ देता है—'नव किसोरी मुदित ह्वै ह्वै गहति जसुदा पाइ। करि अलिंगन गोपिका, पहिरै अभूषन चीर।' (६४४)

या—'तन पहिरे नूतन चीर, काजर नैन दिये।
कसि कंचुकि, तिलक ललाट, सोभित हार हिये।' (६४२)

अथवा—'एकनि को गौदान समर्पत, एकनि कौ पहिरावत चीर।[5]
एकनि को भूषन पाटम्बर, एकनि कौ जु देत नग हीर।' (६४२)।

कृष्ण तथा बलराम मक्खन के लिए माता यशोदा से झगड़ रहे हैं—

१—प० सं० व्या०, २७६।१ 'रतनसेनि कहँ कापर आये'।

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० १३०

३—हिन्दी शब्दसागर के अनुसार 'कोरा' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत 'केवल' से है। उसमें भी कोरा का अर्थ नया अथवा अछूता मिलता है।

४—गीता अ० २, श्लोक २२—'नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।'

५—मानस, बाल०, ३४८—'करहिं निछावरि मनि गन चीरा'।

'माखन मांगत, बात न मानत, झंखत जसोदा जननी तीर
जननी मधि सनमुख संकर्षन खैंचत कान्ह खस्यौ सिर-चीर।' (७७६)

कृष्ण के लिए उलाहना लेकर गोपियाँ यशोदा के पास जाती हैं—

'फूटी चुरी गोदि भरि ल्यावैं, फाटे चीर दिखावैं गात (६५०)।

हिंडोला शीर्षक पदों में भी यह शब्द प्रायः इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

'पहिरे चीर सुरंग सारी, चुह-चुह चूनरि बहुरंगनौ
नील लंहगा, लाल चोली कसि, केसरि अंग सुरंगनौ' (३४५०)

या— 'सब पहिरि चुनि-चुनि चीर, चुहि चुहि चूनरी बहुरंग,
कटि नील लँहगा, लाल चोली, उबटि केसरि अंग' (३४४८)

तथा 'नीप-छाँह जमुन-तीर, ब्रज ललना सुभग भीर, पहिरे अंग विविध चीर
नव सत सब साजे।' (३४४७)[१]।

४—वस्त्र[२] शब्द भी सूरसागर में आया है —'चीर उतारि वस्त्र नव पहिरौ, गेह देहरी पग तब दीजौ।' (३१६६)।

चीर-हरण प्रसंग मे प्रायः उपर्युक्त सभी शब्द वस्त्र के साधारण अर्थ में प्रयुक्त किये गए हैं—

'अंबर दिये मन भाए' (१४१२)
'अंबर दीन्हे परमानंद' (१४१०)
'बसन भूपन सबनि पहिरे' (१४१३)
'सौ वस्त्र हार तब पावहु' (१४०६)
'मेरे कहैं आइ पहिरौ पट' (१४०५)
'भूपन चीर तहाँ कछु नाहिं' (१४०३)
'चोली चीर हार बिखराए' (१४१७)।

इन पद्यांशों मे भी चीर तथा पट प्रायः सारी की ओर संकेत करते हैं।

कपड़े सीते समय यदि सिकुड़न-सी पड़ जाती है तो उसके लिये झोल शब्द आता है। झोल पड़ी सिलाई दोष-युक्त मानते हैं। सूर ने 'झोल' शब्द 'खोट' या दोष के साधारण अर्थ में प्रयुक्त किया है—

१—मानस, बाल०, ३१८, 'पहिरे बरन बरन बर चीरा'। राम-विवाह के अवसर पर स्त्रियाँ अनेक प्रकार की सुन्दर साड़ियां पहने हुए थीं।

मानस, अयोध्या०, १६५, 'पितु आयस भूषण बसन, तात तजे रघुबीर।
बिसमउ हरषु न हृदय कछु, पहिरे वल्कल चीर।'

प० सं० व्या०, 'दहै चांद अरु चंदन चीरू' (१६८।३)
'पुनि पहिरे तन चंदन चीरू' (२६६।१)
'पहिरे सुरंग चीर धनि झीना' (३३६।२)
'पटुवन्ह आनि चीर सब छोरे' (३२६।१)

आईन की सूची में सोने के काम के वस्त्रों में चीर का उल्लेख है। जायसी ने भी 'मोति लाग औ छापे सोने' वर्णन किया है।

२—ऋग्०, मं० ५, सूक्त ४७, मंत्र ६ 'वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति'।

'कैधौं तुम पावन प्रभु नाहीं, कै कछु मो मैं झोनौ' (१३६) ।

५—सूर के अतिरिक्त जायसी तथा तुलसीदास ने भी प्रायः ये सभी शब्द प्रयुक्त किये है और इन्हीं अर्थों में । आजकल इनमें से कुछ शब्द जैसें 'बसन', परिधान' तथा 'अंबर' बोल-चाल में साधारणतया प्रयुक्त नहीं होते हैं । इनका स्थान प्रमुख रूप से 'कपड़ा' शब्द ने ले लिया है । 'वस्त्र' भी सुनने में आता है । 'चीर' शब्द चल रहा है, किन्तु बिल्कुल भिन्न अर्थ मे । आजकल किसी कपड़े की लम्बी किन्तु पतली पट्टी को ही चीर कहते हैं । कुछ लोग कपड़ा फाड़ने के लिए 'चीरना' शब्द भी काम मे लाते हैं । वास्तव में चीर शब्द पुराने साहित्य में भी, बिना सिले कम चौड़े पर लम्बे वस्त्रों के अर्थ में ही प्रयुक्त होता था, जैसे साड़ी, ओढ़नी धोती या पगड़ी । यही अर्थभेद के फलस्वरूप अब कपड़े की पतली पट्टी के लिए आने लगा है । अलीगढ़ क्षेत्र[1] में अवश्य 'पचरंग चीरा' एक प्रकार की चादर को कहते है जिसमे कई रंगों की धारियाँ होती है । वहाँ की जनपदी बोली मे वर के वस्त्रों में एक लाल रंग की पट्टी को भी 'चीरा' कहते हैं ।[2] कपड़े के लिए जनपदी बोली मे एक अन्य शब्द 'लत्ता' [सं० लत्तक] भी प्रयुक्त होता है तथा कभी-कभी पहने जाने वाले विशिष्ट वस्त्रों के लिए 'धराऊ लत्ता[3] ।

२-वस्त्रों की सामग्री तथा बनावट

६—सूरसागर के कुछ थोड़े से ही पदों से वस्त्रों के साथ उनकी बनावट के संबंध मे भी पता चलता है । इनमें से कुछ नाम अत्यन्त प्राचीन है, जैसे दुकूल तथा पट ।

दुकूल[4] (३४५९, १२४५) [सं० दुकूलं] शब्द प्रथम स्कन्ध के दौपदी-वस्त्रहरण शीर्षक पदों मे एक दो स्थलों में आया है—

'बढ़े दुकूल कोट अंबर लौं, सभा माँझ पति राखी' (२७)

दशम स्कन्ध मे कृष्ण के वस्त्रों की शोभा-वर्णन मे भी दुकूल मिलता है—

'स्याम-देह दुकूल-दुति मिलि, लसति तुलसी-माल'[5] (१२४५) ।

१—कृ० जी०, प्र० १३, अध्याय ३

२—कृ० जी०, प्र० १२, अध्याय ११

३—कृ० जी०, प्र० ११, अध्याय १

४—हर्ष० सां० अ०, पृ० ७६, ७७—वाण ने जो छः प्रकार के वस्त्र बताये हैं उनमें दुकूल भी एक है । अमरकोश में क्षौम व दुकूल एक ही अर्थ में आये हैं किन्तु वाण ने दोनों में भेद बताया है । समानता इतनी ही थी कि दोनों पौधों की छाल के रेशों से बनाये जाते थे । वाण ने 'दुकूल' तथा 'दुगूल' शब्द प्रयुक्त किये हैं । यह प्रायः पुंड्रदेश :उत्तरी बंगाल: से आता था जिससे धोती, उत्तरीय, चादर, गिलाफ़ आदि बनाये जाते थे । सावित्री तथा सरस्वती के वस्त्रों में दुकूल वल्कल का उल्लेख है । दुगूल तथा दुकूल वल्कल के अन्तर के संबंध में अनुमान है कि पहला महीन व दूसरा मोटा होता होगा । 'दुकूल' शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध है । संभवतः यह आदिम या देश्य भाषा के 'कूल' कपड़ा से आया है जिससे कोलिक 'हि०कोली' बना है । दोहरी चादर या थान के रूप में बिकने के कारण 'द्विकूल' या 'दुकूल' नाम पड़ गया होगा ।

गुप्तकाल में दुकूल अत्यन्त प्रिय वस्त्र था । इसमें से हंसदुकूल वस्त्र-निर्माण कला का उत्कृष्ट उदाहरण था । वाण ने हर्ष के वस्त्रों में उल्लेख किया है ।

५—तु० ग्रं०, गीता० ७, 'बलकल बिमल दुकूल मनोहर' ।

हिंडोला शीर्षक पदों में कई स्थानों पर राधा-कृष्ण के नीले तथा पीले दुकूल वस्त्रों का उल्लेख है—

'कनक नूपुर कुनित कंकन, किंकिनी झनकार।
तहं कुंवरि वृषभानु कैं संग सोहैं नंदकुमार।
नील पीत दुकूल स्यामल गौर अंग विकार।
मनहुँ नौतन घन-घटा मैं तड़ित तरल-अकार।' (३४५६)

अथवा—'गौर स्यामल अंग मिलि दोउ, भए एकहि भाँति
नील पीत दुकूल दुति, घन दामिनी दुरि-जाति' (३४५१)।

दुकूल वस्त्र पौधों की छाल के रेशे से बना अत्यन्त मुलायम, क़ीमती रेशमी वस्त्र होता था[१]; सूरसागर के उल्लेखों से अनुमान होता है कि यह शब्द अच्छे किस्म के रेशमी वस्त्र के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। द्रौपदी, तथा कृष्ण-राधा संबधी वस्त्रों के वर्णन में प्राचीन नाम देना स्वाभाविक ही है। सूरसागर में पीले व नीले रंगों के दुकूल का जिक्र आया है जब कि प्राचीन साहित्य में सफ़ेद दुकूल का उल्लेख अधिक है[२]। वर्तमान काल में दुकूल शब्द लोग भूल से गये हैं।

७—दूसरा उल्लेखनीय शब्द **पट** (३४७४, ३४५७, १२४२) [सं० पटः] है। यह शब्द अनेक पदों में प्रयुक्त हुआ है। द्रौपदी वस्त्र-हरण प्रसग में वस्त्र के अन्य पर्यायवाची शब्दों के अतिरिक्त 'पट' भी आया है—

'सुमिरत नाम, द्रुपद-तनया कौ **पट** अनेक।विस्तार्यौ' (१७)

या—'सुमिरत पट कौ कोट बढ़यौ, तब दुःख सागर उबरी'। (१६)।

कृष्ण तथा राधा के वस्त्रों मे नीले या पीत-पट का पहले भी ज़िक्र किया जा चुका है—'वा **पट** पीत की फहरानि' (२७६)।

या—'नव नील-तन-घनस्याम। नव पीतपट अभिराम' (१२४१)

तथा—'नील पीत **पट** घन दामिनी कौं भोरैं' (३४५७)।

पट के अतिरिक्त **पटंबर** (६५६, ६४३) [सं० पटः + अंबरं] **पाटंबर-अंबर** (१६६, ६५४) तथा **पाट-पटम्बर** (४१) शब्द प्रथम स्कन्ध में विनय तथा दशम स्कन्ध के कृष्ण-जन्मोत्सव संबंधी पदों मे विशेष रूप से मिलते हैं—'**पाटम्बर अम्बर** तजि गूदरि पहिराऊँ' (१६६) तथा 'तुम्हरे भजन सबहिं सिंगार, किंकिनि नूपुर पाट पटंबर, मानौ लिये फिरै घरबार' (४१)।

१—प्रा० भा० वे०, पृ० १४७ आचारांग की टीका में 'गौडविषय विशिष्ट कार्पासिक' दिया गया है किन्तु निशीथ ७, (पृ०४६७) में दूसरी व्याख्या है 'दुगुल्लो रुक्खो तस्स वागो धेत्तु उदूखले कुट्टरज्जति पाणिएण ताव जाव भूसी भूतो ताहे कच्चति दुगुल्लो', अर्थात् दुकूल वृक्ष की छाल के रेशे पानी में कूट कर अलग कर लेते हैं और उनसे सूत कात कर बनाते हैं। यही व्याख्या ठीक लगती है। ऐसा लगता है कि लोग ठीक अर्थ भूल कर प्रत्येक महीन धुले वस्त्र को दुकूल कहने लगे।

२—प्रा० भा० वे०, पृ० ५४
प्रा० भा० वे०, पृ० ६०
हर्ष० सां० अ०, पृ० १५

पुत्र-जन्म पर नंद पट-पाटम्बर भी दान करते हैं—

'एकनि कौं भूषन पाटंबर, एकनि कौं जु देत नग हीर' (६४३)

अथवा—'हीरा-रतन-पटंबर हमकौ दीन्हे ब्रज कै भूप' (६५६)

या —'मनि मानिक पाटंबर-अंबर लेत न बनत विभूति' (६५४)।

सारी के पट का भी उल्लेख किया गया है—'कंचुकि झीनि, झीनि पट सारी, चंदन सरस सुछंद' (४४३३)।

यहाँ पट के अतिरिक्त 'झीनि'[१] शब्द की ओर भी ध्यान जाता है। पद्मावत में भी 'झीनि' का उल्लेख है (पहिरे सुरंग चीर धनि झीना—३३६।२)।

हिंडोला शीर्षक कुछ पदों में रंगीन या पांच रंग के पाट की डोरी का वर्णन है—

'पंचरंग पाट कनक मिलि डोरी, अतिही सुघर बनावनौ' (३४५०)

अथवा—'पंच रंग बर पाट-पवित्रा बिच बिच फौंदा गोहनौ

नाचति सखी संगीत परस्पर, पहिरि पवित्रा सोहनौ'

तथा—'पंचरंग-बरन पाट की डांड़ी, अतिहीं सौंज बनाई'।

पाट या पट शब्द वस्त्र-खंड के अर्थ में आते रहे हैं। 'पट्ट' शब्द अत्यन्त प्राचीन है तथा रेशम का द्योतक था[२]। सूरसागर की उपर्युक्त पंक्तियों मे पट या पाट शब्द रेशमी वस्त्र का ही पर्यायवाची ज्ञात होता है। कृष्ण, राधा तथा द्रौपदी के वस्त्रों में रेशमी वस्त्रों का उल्लेख अधिक स्वाभाविक है। अंबर के साथ प्रयुक्त होने के कारण व सूती तथा रेशमी वस्त्रों मे भी संभवत: अन्तर किया गया है। 'पंच रंग' पाट की डोरी के लिए अन्य पदों में 'बहुरग रेसम बरूहा' प्रयुक्त किया गया है अतः 'पचरंग पाट' का अर्थ भी पांचरंग के रेशम से बनी डोरी अधिक उपयुक्त होगा।

कुछ स्थलों पर पट शब्द साधारण वस्त्र खंड के लिये भी लिया जा सकता है—

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० २३—हर्ष के वस्त्रों में भी वासुकि के केंचुल के समान अत्यन्त महीन श्वेत फेन जैसे अधरवास का उल्लेख है। बाण ने इसके लिये 'मग्नांशुक' शब्द भी प्रयुक्त किया है। बाण ने अन्य विशेषण 'अकठोररम्भागर्भकोमल', 'निःश्वासहार्य' तथा 'स्पर्शानुमेय' दिये हैं। (पृ०७९) अंग्रेजी में इसी को 'वेट ड्रेपरी' भी कहते हैं। मुग़ल काल में इनको 'बाफ्त-हवा' विशेषण देते थे (पृ०७९)।

२—प्रा० भा० वे०, पृ० २६, २७, २८, ६५— जैनग्रंथ जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति में 'पट्टगारं' रेशमी वस्त्र बिनने वाले व्यक्ति के लिये आया है (पृ० २६)। आचारांग सूत्र में (२।५।१।४) भी पट्ट शब्द रेशम का बोधक है। (पृ०२७) महाभारत के सभापर्व में (२।४७।२२) वाह्नीक तथा चीन के बने कीटज तथा पट्टज वस्त्रों का उल्लेख है। वाल्मीकि रामायण में (१।१८।५) राम-दर्शन प्रसंग में क्षौम व पट्ट के पांवड़े बिछाने का उल्लेख है। चीन-पट्ट का अर्थ चीन का बना रेशमी कपड़ा था (पृ० २८)।

पृ० ६५, दिव्यावदान (पृ० ३१६) में रेशमी वस्त्र के लिए पट्टांशुकचीन, कौशेय तथा धौत-पट्ट शब्द आये हैं। (पृ० १४८) आचारांग टीका में (२,५, १,३) 'पट्ट सूत्र निष्पन्नानि' व्याख्या है। हर्ष० सां० अ०, पृ० ७८—जैनआगम के अनुयोगद्वार सूत्र में कीटज वस्त्र पांच प्रकार के बताये गये हैं—पट्ट, मलय, असुंग, चीनासुंय तथा किमिराग। पट्ट से पाट-संज्ञक रेशम तथा किमिराग से सुनहरे रंग के मूंगा रेशम का अनुमान होता है। पृ० ६८, १५५, : पट्ट शब्द मुकुट के अर्थ में भी आया है, जैसे शीर्षपट्ट।

'पट कुचैल, दुरबल द्विज देखत, ताके तंदुल खाये (हो)' (७)
या—'द्रुपद सुता पट हीन करन कौ दुस्सासन अभिमानो' (२५०)
तथा—'सुमिरत नाम, द्रुपद तनया कौ पट अनेक बिस्तार्यौ' (१७)।

सूरसागर में पट के ये दोनों अर्थ बहुत स्पष्ट रूप से अलग-अलग नहीं जा सकते हैं। आजकल पट शब्द वस्त्र के अर्थ में आता है या फिर अक्सर घूंघट या पर्दे के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

८—कहीं-कहीं रेशमी साड़ी या धोती के लिए पटौले या पटौरी (२५६, २३११) [सं० पट्टकूल, पत्रोर्ण] शब्द कृष्ण तथा राधा के वस्त्रों में मिल जाते हैं :—

'जाकै मीत नंदनदन से ढकि लइ पीत पटोलें' (२५६)
या—'अंग मरगजी पटोरी राजति छबि निरखत रीझि। ठाढ़े हरि' (२३११)।
होली प्रसंग मे भी 'इक लै पोंछति ललित पटोलनि' आया है।

गुजराती पटोल वस्त्र आज भी प्रसिद्ध है। पाटन के पटोलों में रंगीन सूत की बुनाई में भी 'भातें' [सं० भक्ति] बनाते है[1]। पटोल के मूल मे सं० 'पट्टकूल' शब्द है। इसका तथा 'दुकूल' का 'कूल' एक ही है[2]। पटोर[3] [सं० पत्रोर्ण] रेशम को क्षीरस्वामी ने कीड़ों की लार से बना बताया है। गुप्तकाल मे पत्रोर्ण को क़ीमती मानते थे तथा यह एक प्रकार का धुला रेशम होता था। पद्मावत तथा मानस में भी 'पटोरी' रेशमी सारी या धोती का उल्लेख आया है[4]।

९—सूरसागर मे प्रयुक्त अन्य उल्लेखनीय शब्द रेसम (६५९, ३४४९) [फ़ा० अबरेशम] है। यह प्रायः पालने तथा हिंडोले की डोरी के विशेषण रूप मे आया है—

'पंचरंग रेसम लगाउ, हीरा मोतिनि मढ़ाउ' (६५९)
तथा—'बहुरंग रेसम-बरूहा, होत राग झकोर'। (३४४९)।

आजकल अंग्रेज़ी शब्द 'सिल्क' के अतिरिक्त 'रेशम' शब्द सबसे ज़्यादा प्रयुक्त होता है। फ़ारसी उद्गम होने के कारण स्पष्ट ही है कि यह शब्द मुसलमानी संस्कृति के साथ ही आया होगा।

कुछ पदों मे तनसुख (४४३५) [तन + सुख] नामक वस्त्र का उल्लेख हुआ है। तनसुख सम्भवतः अद्धी का फूलदार कपड़ा होता था। प्रायः इन सभी स्थलों में गोपियों के शृंगार के अवसर पर तनसुख की सारी किसी अच्छे वस्त्र की सारी के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। आईने-अकबरी में सूती कपडो की सूची मे तनसुख का नाम है। एक थान का मूल्य चार रुपये से पाँच मोहर तक था[5]। गोपियाँ उद्धव से कहती हैं :—

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० ७४

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० ३७

३—हर्ष०सां० अ०, पृ० ७७—'लकुचवटादिपत्रेषु कृमिलालोर्णाकृतं पत्रोर्णम्'—क्षीरस्वामी, 'पत्रोर्णं धौतकौशेयं बहुमूल्यं महाधनम्'—अमरकोश।

४—प० सं० व्या०, ६४८।१ 'पदुमावति नइ पहरि पटोरी' १८५।२: 'मैं कोरी संग पहिरि पटोरा' १८५।२ 'लहरि पटोरे' (३२९।१)-नामक भारी रेशमी लंहगा शादी में वर-पक्ष वाले कन्या के लिए भेजते थे। अवधी में ये शब्द आज भी प्रयुक्त होते हैं।

प्रा० भा० वे०, पृ० १५५—गुप्तयुग में मंदसोर के बने वस्त्र बहुत प्रचलित थे। वर्णन से यह 'पटोल' नामक वस्त्र लगता है।

मानस, बाल०, ३२६—'कम्बल बसन विचित्र पटोरे।'

५—आईने अ०.पृ० २०८

'ह्यां हैं तरल तर्योना काकें; अरु तनसुख की सारी' (४४३५)।

गोपियों के दधि-दान, रास, हिंडोला, होली, आदि प्रसंगों के शृंगार-संबंधी पदों में ही प्रायः उल्लेख मिलता है :—

'जुवती अंग सिंगार संवारति'।

★ ★ ★ ★

'छुद्रघंटिका कटि लंहगा रंग, तन तनसुख की सारी।

सूर ग्वालि दधि बेंचन निकरी, पग नूपुर-धुनि भारी, (२११६)।

भक्ति के उपकरणों में **वल्कल** (३६३) [सं० वल्कल] का उल्लेख स्वाभाविक है। वल्कल वस्त्र वृक्ष की छाल से बनते थे तथा प्राचीन काल में साधु मुनि तथा ब्राह्मण वर्ग के लोगों में प्रचलित था। बौद्ध भिक्षुओं को वल्कल पहनने की अनुमति न थी[1]। अमरकोष में वस्त्रों के चार प्रकार मिलते हैं[2]। छाल के रेशे से निर्मित वस्त्र 'वल्क' नाम से वर्णित है। अतएव सूरसागर में भी भक्ति-संबंधी पदों में वल्कल का उल्लेख स्वाभाविक ही है—'असन-काज प्रभु बन-फल करे। तृषा हेत जल झरना भरे। पात्र-स्थान हाथ हरि दीन्हे। बसन काज वल्कल प्रभु कीन्हे।' (३६३)।

नवम स्कन्ध में भी बनवासी राम का प्रथानुसार रेशमी तथा बहुमूल्य वस्त्रों का त्याग कर वल्कल वस्त्र अथवा **द्रुम-चर्म** (४८१) धारण करना उचित ही है—'ह्वै विरक्त सिर जटा धरे, द्रुमचर्म भस्म सब गात'—४८२।

१०—वस्त्रों की बनावट के सम्बन्ध में कमखाब या ब्रोकेड की तरह के वस्त्र का बोध भी एक पद द्वारा होता है। शिशु कृष्ण के 'झगुलि' की बनावट ऐसी ही बताई गई है—'झीनीयै झगुलि **तामे कंचन तगा**' (६५७)। तुलसी ने 'जरकसी' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है।[3] सोने चाँदी के तारों के वस्त्र बनाने की कला प्राचीन भारत में भी थी। आज भी धनी वर्ग में इस प्रकार के वस्त्र प्रचलित हैं, तथा बनारस इनके बुने जाने का प्रधान केन्द्र है। सदैव से ये वस्त्र भारत से विदेशों में जाते रहे हैं।

सूरसागर में कुछ स्फुट प्रसंगों में **तूल** (२६८, ४६) का निर्देश भी है। यह दीपक के साथ प्रायः आया है—'गृह दीपक, धन तेल, तूल तिय, सुत ज्वाला अति जोर' (४६) अथवा 'तेल-तूल-पावक-पुट भरि धरि बनै न बिना प्रकासत' (३६६)। इसके अतिरिक्त **सेमर** (१०२, १६६) [सं० शाल्मलः, शाल्मलिः] की ओर भी ध्यान जाता है—'अंब सुफल छांड़ि, कहा सेमर कौं धाऊँ' (१६६)। सेमर की रुई के अर्थ में भी तूल का प्रयोग हुआ है—'सेमर फूल सुरंग अति निरखत, मुदित होत खग भूप। परसत चोंच तूल उघरत मुख परत दुःख कैं कूप।' इस प्रकार अधिकतर मिथ्या सांसारिक आकर्षणों का उदाहरण सेमर की रुई से दिया गया है। लंकादहन प्रसंग में तूल के साथ **सन** (५४२) [सं० शण] का उल्लेख भी है—'सन अरु सूत चीर पाटम्बर, लौ लंगूर बंधाए। तेल-तूल पावक-पुट धरिकै, देखत चहै जरौ।'

तूल तथा सन शब्द प्राचीन हैं। बौद्ध साहित्य में 'सनी' वस्त्र का उल्लेख है ही।[4]

१—प्रा० भा० वे०, पृ० ३१, (महावग्ग ८।२८।२-३)

२—प्रा० भा० वे०, पृ० १४४

३—तुलसी, गीता० ४२ 'लसत झंगूली झीनी दामिनि की छवि छीनी,
सुंदर बदन सिर पगिया जरकसी।'

४—प्रा० भा० वे० पृ० ३१

उसके बाद भी निर्धन लोग सन की बनी धोतियाँ पहनते थे। आईने अकबरी में सन पटसन से रस्सियाँ बनाने का ज़िक्र है।[१] तूल के अर्थ में आज साधारणतः 'रुई' शब्द बोला जाता है, जो सेमल तथा कपास दोनों के लिए ही आता है। सूर ने भी आकरुई (३४७३) द्वारा रुई शब्द भी तूल के अर्थ में प्रयुक्त किया है —'उड़ियै उड़ी फिरति नैनन संग, फर फूटैं ज्यौं आकरुई' (३४७३)। कातिकी फ़सल में पटसन या फुलसन नामक पौधा लगाते हैं। इसी के ऊपरी रेशे से सन तैयार किया जाता है। तुलसी ने भी वल्कल तथा मृग के चर्म का उल्लेख मानस में किया है।[२] पद्मावत में भी 'पाट' शब्द रेशम के अर्थ में आया है।[३] वस्त्र बनाने वालों के लिए पटवन्ह या पटुवन्हे [सं० पट्टवाय] शब्द भी आये हैं।[४]

३—वस्त्रों के रंग तथा रंगाई

११—सूरसागर में स्त्री पुरुषों के वस्त्रों के साथ-साथ बराबर उनके रंगों का निर्देश भी किया गया है। सारी का कुसुंभी रंग उस समय का प्रिय रंग ज्ञात होता है—'झूलन आईं रंग हिंडारैं। पंचरंग बरन कुसुंभी सारी, कंचुकि सौंधैं बोरैं' (३४५६) अथवा 'नख-सिख सजि सिंगार ब्रज-जुवती, तनु डंड़िया कुसुभी बोरी की।' (३४६०)। कृष्ण के राधा-रूप वर्णन में भी इस शब्द का उल्लेख आया है —'स्याम अंग कुसुंभी नई सारी' (३४१७) अथवा 'स्याम अंग कुसुंभी नई सारी कल गुंज की भाँति, इत नागरि नीलाबर पहिरे जनु दामिनि घन कांति।' (२७७३) तथा 'सांवरे तन कुसुभी सारी।' (२७८३)।

उपर्युक्त पद्यांशों में इस रग की तुलना गुजा फल अथवा दामिनि से होने के कारण इसके सही वर्ण का भी अनुमान हो जाता है। कुसुम पुष्प के पौधे का नाम कर्र है जिनमे अलग-अलग लाल तथा पीले दो वर्णो के फूल आते है। इनसे ही रंग भी तैयार होता है। वर्षा ऋतु में पद्मावती ने भी इस रग का चोला पहन लिया था।[५]

१२—दूसरा अधिक उल्लिखित रंग नीला है। नीलाम्बर सारी के अनेक उल्लेख हैं। बलराम, राधा तथा गोपियों के वस्त्र प्रायः इस रग के बताए गए है—'नील बसन भामिनि बनी' (३४८५) अथवा 'उत गिरिधर नीलाम्बर सारी घूंघट ओट निहारें' (२७७०)। सारी की किनार प्रायः लाल बताई गई है—'लाल ढिगनि की सारी' (१३१२)। ढिगनि का अर्थ किनार है। सारी पांच रंगों[६] की भी रंगी जाती थी—'अंग पचरंग सारि' (१६६१) अथवा 'पंचरंग सारी बहुत दिवाई' (३५२८)। आजकल सतरंगी सारी या इंद्रधनुषी भाँति की सारी रंगने की प्रथा चल रही है। जायसी ने सात रंगों का उल्लेख किया है।[७] सूर ने बनमाल का रग अवश्य

१—आईने अ०, पृ० १८६

२—मानस, अयोध्या०, १६५ 'पितु आयस भूषन बसन तात तजे रघुबीर।
बिसमउ हरषु न हृदय कछु पहिरे वल्कल चीर।'

३—प० सं० व्या०, २६१।६ 'दुहुँ दिसि गेंडुवा औ गलसुई। कांचे पाट भरी धुनि रुई।'

४—पं० सं० व्या०, ३८५।४ 'भल पटवन्ह खरबार सँवारे'
३२६।१, 'पटुवन्ह चीर आनि सब छोरे'।

५—प० सं० व्या०, ३३७।७ 'हरियर भुम्मि कुसुंभी चोला'।

६—'श्वेतो रक्तस्तथा पीत : कृष्णो हरितमेव च।'

७—प० सं० व्या०, ३२६।५ 'सातहुँ रंग जो चित्र चितेरे' ५५३।२ 'सातहुँ रंग सो सातहुँ पँवरी'।

सतरंगी बताया है जो इंद्रधनुष के समान शोभा देता था—'की बनमाल लाल उर राजहि की सुरपति धन चारु' (२६७६) अथवा 'इंद्रधनु नहिं बन-दाम बहु सुमन के' (२६७६) ।

१३—अनेक रंगों का निर्देश भी कई पदों में है—'चुहि चुहि चूनरि बहुरंगनौ' (३४४८) या 'रंग रंग बहु भाँति के गोपनि पहिराए' (३६६०)। चुंदरी रंगने की कला के संबंध में बताया जा चुका है। चुहचुह अथवा डहडहौ (३१२६)—'नीलाम्बर ओढ़े ही आए, अति डहडहौ नयौ' शब्द चटक रंग के बोधक है। इसको आज चोखा [सं० चोत्ता—चोक्ख + क] रंग भी कहते हैं।

कृष्ण के बहुनायकत्व सम्बन्धी पदों में उनके नवरंगी रूप तथा रंग-मय होने का चित्रण अनेक पदों में है—'आजु बनौ नवरंग पियारौ' अथवा 'आजु बने नवरंग छबीले' (३२६३, २२६४) तथा 'अंग अंग रंग भरि आए हो।' (३१७५)। कृष्ण जन्मोत्सव पर नाइन के सम्बन्ध में भी कवि ने यही कहा है—'नाइन बोलहु नवरंगी' (६५८)।

१४—सारी के अन्य रंगों में लाल या सुरंग[1] भी उल्लेखनीय है—'पहिरे चीर सुरंग सारी', 'सारी सुरंग मिलि' तथा 'सारी सुरंग सुही' (६४२)। गोपियों का उपमान लाल मुनिया के झुंड से लेकर अत्यन्त सुन्दर चित्र खींचा गया है—

> 'मुख मंडित रोरी रंग, सेंदुर मांग छुही
> उर अंचल उड़त न जानि सारी सुरंह सुही
> मनु लाल-मुनयनि पांति पिंजरा तोरि चली' (६४२)[2]।

सारी लाल तथा पीली दोनों रंगी जाती थीं—'पीत अरुन तन चीर' (३५३३) 'नीलाम्बर पाटंबर सारी, सेत पीत चुनरी अरुनाए' (१४०२)। इसी प्रकार कंचुकी, लंहगा तथा ओढ़नी के रंग प्रायः लाल तथा नीले ही बताये गये हैं—'नील लंहगा, लाल चोली (३४५०)[3] अथवा 'सारी सुरंग मिलि, नील लंहगा, सोभ कंचुकि लाल', (३४५६)। थोड़े ही स्थलों मे अंगिया तथा उपरना का रंग श्वेत बताया गया है—'स्वेत अंगिया अंग' (३४४६) तथा 'पहिरे राती चूनरी, सेत उपरना सोहे हो' (४४)। अंगिया का रंग लाल पीला अथवा कुसुंभी भी रंगा जाता था—'राती पीरी अंगिया पहिरे, नव तन झूमक सारी' (३४६१), 'कंचुकि कुसुम सुरंग' (३४८५), 'नीलाम्बर कंचुकि सुरंग तनु' (३४६०)। स्त्रियाँ अंगिया दो रंगों की भी पहनती थी—'अंगिया नील मांडनी राती' (१६७१), 'लाल चोली नील उड़िया' (१७८६)। अजंता के कुछ चित्रों मे कई रंगों की अथवा बुन्दीदार कंचुक चित्रित हैं। कभी पीठ का रंग कत्थई व सामने का लाल है।

१५—कृष्ण तथा बलराम के वस्त्रों मे क्रमशः पीले तथा नीले रंगों का अधिकांश रूप से उल्लेख है। कृष्ण के परम्परागत पहनावे में पीताम्बर है अतः इसके अनेक उल्लेख स्वाभाविक है[4]—'दाऊजी कहि स्याम पुकार्‌यौ। नीलाम्बर कर ऐंचि लियौ हरि, मनु बादर तैं चंद

१—प० सं० व्या०, ३२६।५ 'सुरंग चीर भल सिंघल दीपी।'
१८५।७ 'पदुइनि पहिरि सुरंग तन चोला।'

२—प० सं० व्या०, १८४।६, ७, 'सबै सुरूप पदुमिनी जाती, पान फूल सुंदर सब राती
'करहि कुरेरैं सुरंग रंगोली, औ चौवा चंदन सब गोली।'
५६०।२, ३, 'बरन बरन सारी पहिराई—रायमुनी पिंजर हुति छूटी।'

३—प० सं० व्या०, ३२६।२ 'फुंदिया और कसनिया राती'।

४—तुलसी, मानस; ३२७ 'पियर उपरना कांखासोती 'पीत पुनीत मनोहर धोती।'
तु० ग्रं०, गीता०, १०३ 'प्रथित चूनरी पीत पिछौरी'।

उजार्यो' (४०७) 'पीताम्बर कहँ भयो तुम्हारो कीधौं लियो गहो' (३१३४)

अथवा—'भीजैगो पियरो पट, आवत है मेहरा' (३१६५)

तथा 'पीत बरन लखि, पीत बसन उर, पीत धातु अंग लावै', (३१६७)। पीत पट का उपमान प्रायः तड़ित है—'तड़ित किधौं पटपीत' (२६७५)।

राधा तथा कृष्ण के वस्त्रों में भी नीले तथा पीले रंगों का ही मिलान है—'नील पीत दुकूल, स्यामल गौर अंग विकार', 'गौर स्याम मिलि नील पीत छबि' (३४५०)। 'लै कारी कामरी उढ़ाई' (२६०८) कमरी का रंग अवश्य काला बताया गया है। उनकी पाग में जावक या महाउर का रंग लगने का उल्लेख अनेक बार है—'सिथिल पाग दस्तार की जावक रंग भोने' (३१३१) 'लटपटी पाग महाउर पागी' (३२६३)। शिशु कृष्ण की चौतनी का रंग प्रायः लाल बताया गया है—'सिर लाल चौतनी' (७०७)। 'पीत झगुलिया' (७२५, ७५०) के साथ एक जगह झगूली चित्र विचित्र (७३1) भी बताई गई है।

१६—कहीं-कहीं अनेक रंगों के नाम एक साथ दिये गये है—'पहिरे बसन अनेक बरन तन, नोल, अरुन, सित पीत (३४८७)[1] अथवा—'नये बसन आभूषन पहिरत, अरुन सेत पाटंबर कोरी' (३५२६) पद २५३० मे अनेक रंगों के नामों की सूची-सी मिल जाती है—

'स्याम-रंग रांचो ब्रज नारी। और रंग सब दीन्हें डारी ।।
कुसुम-रंग गुरुजन पितु माता। हरित रंग भगिनी अरु भ्राता ।।
दिना चारि में सब मिटि जैहै। स्याम रंग अजराइल रैहै ।।
उज्जवल रंग गोपिका नारी। स्याम रंग गिरिवर के धारी ।।
स्यामहि में सब रंग बसेरो। प्रगट बताइ देउं कह फेरो ।।
अरुन सेत सित सुन्दर तारे। पीत रंग पीताम्बर धारे ।।
नाना रंग स्याम गुनकारी। सूर स्याम-रंग घोष कुमारी ।।'

इन पक्तियों मे यह संकेत भो है कि सफ़ेद तथा काला मूल रंग है तथा काले रंग पर दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता। सूरसागर मे इस प्रकार एक-एक रंग के कई-कई पर्यायवाची शब्द भी मिलते हैं जैसे लाल के सूचक सूहा, सूही, लाल, राता,[2] अरुन, लोहित [अ० लअ्ल, सं० रक्त, अरुण, लोहित], सफ़ेद के लिए सित,[3] उज्जवल, गौर तथा धवल [सं० श्वेत, उज्वलं, गौरं, धवलं], काले के लिये कारा, स्यामल, स्याम, कृष्ण [सं० श्यामल, श्याम, कालः कृष्णः] तथा पीले के लिये पियरा, पीत [सं० पीत] तथा हरे के लिए हरा तथा हरित [सं० हरितः] आदि।

१७— रंगों के वर्ण भी जगह-जगह उपमा या रूपक द्वारा स्पष्ट किये गये हैं। प्रायः नीला रंग बादल के वर्ण का बताया गया है—'स्याम तनु घन नील मानौ' या 'मानौ नव जलद पर दामिनी की कला' (२६५१)। पीला वर्ण दामिनि या स्वर्ण सा वर्णित है—'कनक बरन तनु पीत पिछौरी' (२१४८)। सफ़ेद रंग का वर्ण चूना, बक-पंक्ति आदि से मिलाया गया है—

१—प० सं० व्या०, ३२६।६ 'पेमचा डोरिआ औ बीदरी। स्याम सेत पियरी हरी'। १८४।५ 'बरन बरन पहिरे सब सारी'।

२—प० सं० व्या०, ५५६।१ 'बिछावन राता'।

३—प० सं० व्या०, ३३६।६ 'सेत बिछावन सौर सुपेती'।

'हृदय चून रंग' (२५२७) अथवा—'नहीं बग पांति वर मोति-माला' (२६७६) ! सफ़ेद दांतों व अधरों और लाल मसूड़ों के उपमान, निम्नलिखित हैं :—

'कुंद दसन' (२५०५), 'दाड़िम दसन' (२३६५) 'दसन की दुति तड़ित मानौ' (२४४०) अथवा 'अधर बिद्रुम' (२४४१)।

१८—इन रंगों के अतिरिक्त फाग या होली शीर्षक पदों में जिन वस्तुओं अथवा फूलों आदि से रंग बनाये जाते थे उनके नाम भी दिये गये हैं। इन अनेक प्रकार के फूलों तथा धातुओं से रंग बनाये जाते थे—

'हाथनि लै भरि-भरि पिचकारी, नाना रंग सुमन बोरी की' (३४६०)

या—'बहु बिधि सुमन अनेक रंग छवि, उत्तम भाँति धरे' (३४७१)

तथा—'धूरि धातु रंग घट भरे' (३५३२)।

फूलों के रंगों में **टेसू** (३४६२) [सं० किंशुक] **केसरि** (३४६७) [सं०केसरम्, केशरम्] **कुमकुमा** (३४७२) [सं० कुंकुमम्], **कुसुंभ** (३४६८) [सं० कुसुभ] अथवा **कुसुम** [सं० कुसुमं] के रंग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—'टेसू-कुसुम निचोइ के, रंगभीनी ग्वालिनि' (३४८५) या 'टेसू कुसुम निचोई कै (री) अस केसरि कौ रंग' (३४६२) 'कनस-कलस केसरि भरि ल्याई, डारि दियौ हरि पर ढोरी की' (३४६०) तथा 'कनक कलस कुमकुम भरि लीन्है, कस्तूरी तामे घसि घोरी' (३५३६)।

१६—**टेसू** [सं० किंशुक] अथवा पलाश चैत के महीने में होली के समय में फूलता है। इसका पीले वर्ण का रंग होली मे खेला जाता है। इसके फूल एक साथ खिलते हैं तो ऐसा लगता है मानो वन में आग-सी लग गई है। सूरसागर मे टेसू के रंग का उल्लेख है—'द्वादस बन रतनारे देखियत चहुँ दिसि टेसू फूले' (३४७२)। जायसी ने भी टेसू फूलने का वर्णन किया है।[१] आइने अकबरी में भी केसू या टेसू के संबंध में लिखा गया है।[२] पलाश के वृक्ष से अनेक उपयोगी वस्तुएँ भी बनती हैं जैसे पतली डंडियों से साधारण कत्था, छाल से रस्सी और कागज़ तथा पत्ते से दोने। इस वृक्ष से गोंद भी प्राप्त होती है। उपनयन-संस्कार में ब्रह्मचारी का दंड, यज्ञ-पात्र आदि भी बनते है। पाणिनि ने आषाढ़ या पलाश का उल्लेख किया है जो उपनयन मे काम आता था।[३] सूरसागर मे दोने बनने का उल्लेख है—'दोना-पलास के' (१०८३)। साहित्य में पलाश से संबंधित अनेक उपमायें व रूपक मिलते हैं।

२०—दूसरा पौधा **केसर** का है। इससे भी रंग बनाते थे। इसका रंग ललाई लिए हुए पीला या सोने के समान होता है। सूरसागर में इसके रंग का वर्ण बताया गया है—'जरद केसर' (३४८६) या 'फल गुंजा की भाँति', 'जनु दामिनि' (२७७३)। उसको केसरिया रंग कहते है। पद्मावत में भी 'कुकुँह-बानी' (केसरिया), 'कुसुम फूल' तथा 'केसर' :सोनजरद: शब्द मिलते हैं।[४] आईने अकबरी से ज़ाफ़रान (केसर) के लगाने तथा चुनने आदि

१—प० सं० व्या०, ३५३।३ 'भोज मंजीठ टेसू वन राता'।

२—आईने अ०, पृ० १८३

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, अध्या० ३, पृ० १३२

४—प० सं० व्या०, २८५।१ 'फिरा अरगजा कुंकुंह-बानी'
३२७। 'कुसुम फूल जस'
३२६। 'सोन जरद जस केसर'।

की उस समय की प्रचलित विधियों का ज्ञान होता है।[१] इसका पौधा ढलुवाँ जगह पर लगाते हैं जो जाड़े में फूलता है। प्रत्येक फूल में तीन केसर होते हैं। केसर चुनने का ही काम कठिन होता है। श्रीनगर के पास के गाँव पनपूर में सबसे अधिक केसर उगाने का निर्देश आईने-अकबरी में है। आज भी स्पेन, फ़ारस तथा चीन में केसर होती है किन्तु काश्मीर की सबसे अच्छी मानी गयी है। केसर का उपयोग वैद्यक शास्त्र में दवा की तरह भी है। इसकी सुगंध तथा रंग अत्यन्त चित्ताकर्षक होते हैं अतः मीठे पकवानों मे भी डालते हैं। **कुमकुमा** (३५१६) रंगों के पाउडर से भरी हुई लाख की गेंद होती थी जो किसी व्यक्ति विशेष की ओर फेंक कर मारते थे। शरीर से टकरा कर इसके रंग बिखर जाते थे। होली शीर्षक इन पदों में कुमकुमा का उल्लेख अनेक बार हुआ है।

फुलेल रंग (३४६०) [सं० पुष्पतेल—फुल्लएल—फूलएल—फुलाएल—फुलेल] का उल्लेख भी है—'कनक-कलस कोटिक कर लीन्हे, भरि फुलेल रंग घोरी की।' घड़ों में सुगन्धित तेल भरकर रंग घोल लेते थे जो फुलेल रग कहलाता था। **रंग मजीठी** (४११०) [सं० मंजिष्ठ] का निर्देश भी है जो इसकी छाल से बनता है।

२१—इन फूलों के रंगों के अतिरिक्त अन्य नाम **चोवा** (३४६१) **चंदन** (३५१०) [सं० चंदन] **अगरु** (३४६१) [सं० अगरु-ऊद लकड़ी] **अरगजा** (३४६१) [सं० अगरु], **कपूर** (३५०५) [सं०कर्पूरः, कर्पूरं] **अबिर** (३४७२) [अ० अबीर], **गुलाल** (३४५६) [फा० गुल्लाल] तथा **बंदन** (३४८५) [स० वंदनीया] आदि प्रायः सभी एक साथ होली शीर्षक पदों में मिल जाते हैं—

'चोवा चंदन अगरु अरगजा, छिरकतिँ नगर गली' (३४६१)

'चोवा चंदन अबिर कुमकुमा, छिरकत भरि पिचकारी' (३४७२)

अथवा—'पिय प्यारी खेलैं जमुन-तीर। भरि केसर कुमकुम अरु अबीर।' (३४७४)

'घसि मृग मद चंदन अरु गुलाल। रंगभीने अरगज वस्त्र माल।'

तथा—'चोवा चंदन अगरु कुमकुमा सोहै माट भरे।' (३५१५)।

२२—चंदन, अगरु तथा कपूर वृक्षों से प्राप्त होता है। आईने अकबरी में इनके बारे में लिखा गया है। अबुलफ़ज़ल ने संदल (चंदन) के संबंध में लिखा है[२] कि यह चीन से भारत में लाया गया था। यह लाल, सफेद व पीला तीन रंग का होता है। आजकल दक्षिण भारत में कुर्ग, हैदराबाद, करनाटक तथा नीलगिरि पर अधिक होता है। मलयगिरि का चंदन विशेष रूप से प्रसिद्ध है—'मलय चंदन लेप कीन्हें' (२४५६)। चंदन से इत्र; तेल तथा जलाने की धूप बनाते हैं तथा इसकी लकड़ी से भी अनेक वस्तुएँ बनती हैं। चंदन अपनी सुगन्धि के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध है तथा शीतल[३] होने के कारण लोग पानी में घिस कर शरीर पर

१—आईने अ०, पृ० १७६

आईने अ० पृ० १६२—एक सेर केसर का मूल्य बारह से बाइस रुपये तक तथा कमंदी केसर का एक रुपये से तीन मोहर तक था। काश्मीरी केसर आठ से बारह रुपये तक मिलती थी।

२—आईने अ०, पृ० १७३—चंदन का प्रति मन मूल्य बत्तीस से पैंतीस रुपये तक था (पृ० १६२)।

३—प० सं० ध्या०, 'चंदन बिरिख सुहाई छांहा' ५५३।४, 'चंदन चरचि लाव नित बेना' ३३६।४

लगाते थे। इसकी सुगंधि तथा शीतलता के कारण वृक्ष पर सांपों के लिपटे रहने का उल्लेख साहित्य में बहुत आया है।

आईने अकबरी में अगरु के बारे में बताया गया है तथा उसके भेद भी दिये गये है[१]। यह एक वृक्ष की जड़ ऊद (अगरु) होती है। इसको गुजरात से लाने तथा उस समय चंपानेर में पैदा होने का जिक्र भी है। इसकी सुगन्धि के कारण लोग इसे जलाते थे, और बदन मे लगाते थे तथा खाने के काम भी आता था। आजकल अगर के वृक्ष अधिकतर आसाम, बंगाल, खसिया तथा मर्तबान की पहाड़ियों तथा भूटान में पाये जाते हैं। सिलहट में अगरु का इत्र बनता है और मद्रास तथा बंबई मे अगरबत्ती।

२३—तीसरा वृक्ष कपूर का है जो आईने अकबरी में हिन्द महासागर तथा चीन का बताया गया है[२]। लकड़ी के अन्दर कपूर नामक की डली के समान व बाहर गोद की तरह दिखायी देता है। साफ़ करने से ही इसका रंग सफ़ेद हो जाता है। कपूर के अनेक भेद तथा बनाने की विधि भी दी गई है। यूनान मे कपूर को ठंडा व हिन्दुस्तान मे गर्म मानते है। भीमसेनी कपूर का उल्लेख भी है[३]। आजकल कई वृक्षा से कपूर निकालते है जो अधिकतर दारचीनी क़िस्म के है। प्रधान वृक्ष दारचीनी और कपूरी देहरादून व नीलगिरि पर मिलते हैं। कलकत्ते तथा सहारनपूर के कपनी बाग़ों मे भी कुछ वृक्ष है। दारचीनी जीलानी (जिसका पत्ता तेजपात व छाल दालचीनी कहलाती है) से भी कपूर बनता है। यह दक्षिणी भारत, लका तथा बरमा मे अधिक होता है। सुमात्रा तथा बोर्नियों मे बरास वृक्ष से कपूर बनाते हैं। चीन व जापान मे भी कपूर बनाया जाता है। कपूर की सुगधि भी अच्छी होती है। आईने अकबरी में चोवा बनाने की विधि भी दी गई है[४]। यह अगर की लकड़ी से बनाते हैं। एक सेर अगर से दो से पन्द्रह तोले तक चोवा निकल आता है। अरगजा भी मेद, चोवा, बनफ़शा, गेहला, गुलाब, चंदन तथा कपूर आदि के मिश्रण से बना सुगंधित द्रव्य है। आईने अकबरी में इसके बनाने की विधि वर्णित है तथा गरमी मे शरीर मे लगाने का उल्लेख है[५]। चदन बंदन गुलाल आदि के सूखे चूरे से अथवा इन सभी सुगंधित पदार्थों का रंग मे मिला कर होली खेलने का ही बराबर सूरसागर में वर्णन है। एक तो इनमें से कुछ द्रव्य शीतल होते है दूसरे सुगंधित होने के कारण मनहर ज्ञात होते होंगे—

'मृगमद साख जवादि कुमकुमा केसरि मिलै मिलै मथि घोरी' (३४८६)
'चंदन कपूर चूर फैंटनि भराइ री' (३५०५)
'कनक कलस कुमकुम भरि लीन्हौं, कस्तूरी तामैं घसि घोरी' (३५२६)
'नव केसरि अरगजा घोरि' (३४६७)
'कुमकुम चंदन अरगज घोरे' (३५१९)।

२४—उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लिखित **मृगमद** (३४५९,३४२६) [सं० मृगमद] तथा **साख जवादि** (३४८६) मृग तथा गंधबिलाव नामक पशुओं से प्राप्त सुगंधित द्रव्य है। मृगमद या कस्तूरी (फा० मुश्क) मृग की नाभि से प्राप्त होता है। आईने अकबरी में सुगन्धियों की

१—आईने अ०, पृ० १७१
२— ,, ,, पृ० १६८
३—प० सं० व्या०, ३३६।४ 'कर्पूरभिवसेना'।
४—आईने अ०, पृ० १७३

सूची में कस्तूरी तथा शाख या ज़बाद का विस्तृत वर्णन है[1]। हिन्दी में इसी को जवादि कहते हैं। यह द्रव्य गंधबिलाव या मुश्कबिलाव नामक नेवले के समान पशु से प्राप्त होता है। सुमात्रा से इसके लाने का उल्लेख भी है। यह अफ्रीका में भी होता है। इसी प्रकार की तीसरी वस्तु **बंदन** (३५१६,३४८५([सं० वदनीया] भी है। इसे गोरोचन भी कहते हैं जो गाय से प्राप्त होता है तथा इसका वर्ण पीला होता है। होली शीर्षक अनेक पदों मे वंदन की चर्चा है—'कोउ बंदन मांड़ति' (३५१६) 'बूका बंदन सांति' (३४२५) तथा 'चंदन बंदन ऊपर सीचैं' (३५१४)। इसी को संभवतः हरिताल कहते है जिससे पीला रग बनाया जाता था।

२५—इनके अतिरिक्त होली में **अबीर** (३५१०) [अ०] तथा **गुलाल** (३४५६) [फा० गुल्लाल] डालने की अभी तक प्रथा है। अबीर तो अबरक के चूर्ण से बनता है तथा गुलाल भी लाल रंग का चूरा सा होता है। अबीर के रंग भी बताये गये हैं—'बूका सुरंग अबीर उड़ावत' (३४८८) तथा 'बरन पचासक अबिर संवारे' (३५१०)। **रोरी** 'चंदन बंदन रोरी, केसरि मृगमद घोरी (३५३५) [सं० रोचनी] भी लाल रंग का चूर्ण होता है। होली के अवसर के अतिरिक्त कृष्ण-जन्मोत्सव पर भी कवि ने यह चित्र खीचा है —'चोवा चंदन अबिर गलिनि छिरकावन रे' (६४६)[2]। सूरसागर मे होली के इन नैसर्गिक रंगों मे लाल तथा पीले रंग विशेष रूप से मिलते है—'पीत अरुन रंग नाए सिर तैं' (३५१०)

अथवा—'उन पटपीत किये रंगराते, इन कंचुकी पीत रंग बोरी' (३४८६)

'सौंधैं भर्यो कमोर, लाल रंग होरी (३४८४)

'कुसुम-बरन रग घोरि' (३४६८)।

केसर तथा किंशुक के रंग बनाने के कारण उनके वर्ण भी लाल तथा पीले होना उचित ही है।

२६—रंग में भीगने का भाव भी अनेक प्रकार के शब्दों मे प्रकट किया गया है—

'खेलत हैं अति **रसमसे रंगभीने** हो' (३४८१)

'**रंगभीजी** ग्वालिनि' (३४८५) '**रंगरांची** ग्वालिनि' (३४८५)

'अति लोहित दृग **रंगमँगे** खेलत बने, दोउ रंगभीने' (३५१३) ' '**भीने** रंग कौन के हो लाल' (३१७०) 'स्याम-रंग-**रसपागी**' (२५२७) तथा 'उन पट-पीत किये रंगराते[3] इन कंचुकी पीत रंग बोरी' (३४८६)। इन पंक्तियों द्वारा सूर के भाषा पाण्डित्य की ओर स्वतः ध्यान चला जाता है।

सूरसागर से स्त्री पुरुषों के तत्कालीन प्रादेशिक प्रिय रंग लाल, नीला तथा पीले ज्ञात होते हैं। यह रंग उस समय सरलता से तैयार हो जाते थे। काले, हरे तथा सफ़ेद का उल्लेख बहुत कम स्थलों में है। मिश्रित रंगों जैसे बैगनी तथा रंगों के हल्के वर्ण जैसे आसमानी, गुलाबी, धानी आदि नाम भी नहीं मिलते है। उत्तर से दक्षिण तक गावों में आज भी नीले तथा लाल रंग के परिधान अधिक दिखाई देते है। कुमायूं प्रदेश में अवश्य पहाड़ी स्त्रियाँ अधिकतरकाले लंहगे पहने दिखलाई पड़ती हैं। यों ये चटक रंग लोगों को अधिक अच्छे लगते है किन्तु गांवों में इनके अधिक पहनने का कारण यह भी है कि इन रंगों में मैल नहीं उभरता है। पुरुषों ने

१—आईने अ०, पृ० १६२—१७० अबुलफ़ज़ल ने एक तोला कस्तूरो का मूल्य एक से साढ़े चार रुपए तक बताया है।

२—तु० ग्रं०, गीता १।२, 'वीथिन्ह कुंकुम कींच, अरगजा, अगर, अबीर उड़ाई'।

३—प० सं० टी०, ४२६।१ 'भयेउ रंग राता'।

रंगीन धोती पहनना छोड़ दिया है। विवाह के अवसर पर अवश्य प्रायः वर को पीली धोती पहननी पड़ती है।

४—ओढ़ने तथा बिछाने के वस्त्र

२७—सूरसागर में ओढ़ने तथा बिछाने के काम में आने वाले थोड़े से शब्द मिल जाते हैं। इनमें से सर्वप्रथम उल्लेखनीय शब्द कामरि, कमरी या कांवरि (१०७१,१०८५,४४३३) [सं० कम्बलः कम्बली-कामरी-कांवरि] है। कृष्ण के परिधानों में कमरी का विशेष स्थान है। गोचारण-प्रसंग में कृष्ण के कंधे पर पड़ी कामरि का अनेक बार वर्णन हुआ है—'सोई हरि काँधे कामरि, काछ किए, नाँगे पाइनि, गाइनि टहल करैं' (१०७१) अथवा 'सूरदास काँधे कामरिया और लकुटिया कर कौं' (२१३२) तथा 'हाथ लकुट कामरि काँधे पर' (४२६६)। कृष्ण के साथी ग्वाल बाल भी बन जाते समय अपनी-अपनी कमरी ले जाना नहीं भूलते—

'ग्वाल मंडलीं में बैठे मोहन बट की छाँह, दुपहर बेरिया सखानि संग लीने'
एक दूध, फल, एक भगरि चबेना लेत, निज निज कामरी के आसननि कीने।'(१०८५

कामरी का रंग प्रायः काला बताया गया है—

'कान्ह काँधें कामरिया कारी, लकुट लिये कर घेरै हो' (१०७०)

अथवा—'तुम कमरी के ओढ़नहारे, पाटंबर नहिं छाजत।
सूर स्याम कारे तन ऊपर, कारी कामरि भ्राजत।' (२१३५)।

काली कमरी से संबंधित मुहावरों का भी अनेक पदों में प्रयोग किया गया है—

'सूरदास कारी कमरी पै चढ़त न दूजो रंग' (३३२)

अथवा—'धोये रंग जात नहिं कैसेहुँ ज्यों कारी कमरी' (४१४४)।

बल्लभ संप्रदाय में कमरी ईश्वर की शक्ति-स्वरूपा विद्या माया की प्रतीक मानी गई है। सूरसागर में भी कई स्थलों में इसका संकेत मिलता है। इस दृष्टि से पद (२१३३) बहुत महत्वपूर्ण है—

'यह कमरी कमरी करि जानति।
जाके जितनी बुद्धि हृदय मे, सो तितनौ अनुमानति ।।
या कमरी के एक रोम पर, वारौं चीर पटंबर।
सो कमरी तुम निंदति गोपी, जो तिहुँ लोक अडंबर ।।
कमरी के बल असुर संहारे, कमरिहिं तैं सब भोग।
जाति पाँति कमरी सब मेरी, सूर सबै यह जोग ।।'

एक और पद (२१३४) भी ध्यान देने योग्य है—'धनि धनि कामरी मोहन स्याम की।' कंबल शब्द वैदिककालीन है[1] तथा बहुत समय तक ऊनी वस्त्रों के साधारण अर्थ मे आता रहा था। तुलसी तथा जायसी ने भी कंबल का उल्लेख किया है[2]। आजकल जनपदी बोली में कंबर या 'कम्मर' कहते हैं। सूरसागर में भी कंबर शब्द कहीं-कहीं प्रयुक्त किया गया है—'दीजै कान्ह कांधे कौ कंबर' (२६०६)।

१—प्रा० भा० वे०, पृ० १०, अथर्व० (१४।२।६६)
२—तुलसी, मानस, बाल० ३२६—'कम्बल बसन विचित्र पटोरे।'
प० सं० व्या०, १२६।६ 'कंसे ओढ़ब कांवरि कंथा'।

२८—कृष्ण के जन्मोत्सव पर चादर :परि० ७: [फा० चादर] दान देने का उल्लेख है—'काहूँ कौ चादर दई हो काहूँ दीनी खोर'। बोली में 'चादरा' या 'चद्दर' कहते हैं। यह शब्द प्रायः ओढ़ने तथा बिछाने दोनों प्रकार के वस्त्रों का बोधक है। ओढ़ने वाली चादर की लंबाई चौडाई शाल से अधिक होती है। शाल बेहतर क़िस्म के गर्म कपड़े का तथा प्रायः कढ़ा हुआ होता है। दो पर्त की चादर को दोहर कहते हैं। यहाँ ओढ़ने वाली चादर की ओर संकेत ज्ञात होता है।

कुछ पदों में **गूदरि** (१६६) का उल्लेख है—'पाटम्बर अम्बर तजि गूदरि पहिराऊँ'। फटे पुराने वस्त्रों से ओढ़ने या बिछाने का जो वस्त्र बनाते हैं उसे 'गूदरि' या गूदड़ी कहते हैं। पुराने कपड़ों तथा कपड़ों की कतरन आदि को गूदड़ कहते हैं। कवि ने **चीर पुरातन** (४३११) द्वारा इस भाव को स्पष्ट किया है— पहिरि मेखला चीर पुरातन, फिरि फिरि फेरि सियाए।' (४३११)। ऊपर की पंक्ति में पाटम्बर-अंबर छोड़ कर 'गूदरि' धारण करने से यही अर्थ स्पष्ट होता है। भ्रमरगीत के योग संबंधी पदों में गूदरि तथा **कंथा** (४४२३) का उल्लेख अनेक बार किया गया है। योग के अन्य उपकरणों में इनका भी स्थान है। यह दोनों पुराने वस्त्रों से बनाये गये साधारण वस्त्र हैं, अतः सांसारिक सुखों की ओर से विमुख योगी तथा योगिनियों के लिये इनका उपयोग उचित ही है किन्तु भला राधा तथा गोपियाँ कैसे धारण कर सकती हैं—

'सिंगी सेल्ही भसमऽरु कंथा, कहि अलि काके गरें परैगौ' (४३२७)

अथवा—'कंचुकि झीनि झीनि पट सारी चंदन सरस सुछंद
अब कंथा एकै अति गुदरी क्यों उपजी मति मंद' (४४३२)।

उनकी विरह-व्यथा ही स्वतः योग है—

'बिरह भसम चढ़ाइ बैठीं, सहज कंथा चीर
हृदय सिंगी टेर मुरली नैन खप्पर हाथ' :४३१२:।

जायसी ने भी रतनसेन के योगी रूप में कथा का उल्लेख किया है[1]। आजकल भी स्त्रियाँ घर में ही पुरानी धोतियों की कई पर्तें मिलाकर कथरी बनाती हैं जो प्रायः बिस्तर पर दरी के समान बिछाने के काम आती है। वे डोरे डाल कर उसमें फूल पत्तियाँ आदि बनाकर आकर्षक रूप देने का यत्न करती हैं। साधु सन्यासी आदि कथरी ओढ़ते भी हैं। सूरसागर में ओढ़ने या पहनने के उल्लेख ही हैं। पुराने वस्त्र के लिये सूरसागर में **जीरन** :३४१: [सं० जीर्ण] अथवा **पुरातन** (४३११) शब्द कई स्थलों में मिलते हैं—'जीरन पट कुपीन तन धारि'। जायसी ने इसी के लिये चिरकुट शब्द प्रयुक्त किया है[2] [चिरकुटः अवधीः, सं० चीर+कुट्ट (काटना, छेदना)]। सूरदास जी ने **चुरकुट** (१४७०) शब्द चूर-चूर करने के अर्थ में प्रयुक्त किया है। इन्द्र गोवर्द्धन के संबंध में अपना क्रोध प्रकट करते हैं—'बज्र-घातनि करौं चुरकुट देउँ धरनि मिलाइ।' (१४७०)।

२६—साधु योगी आदि **मृगचर्म** (४१२३, ४१५६) [सं० मृगचर्म] या **त्वचामृग** (४३०८) भी काम में लाते थे। गोपियाँ उद्धव की योग शिक्षा से अत्यन्त चिन्तित थीं—'बचन दुसह लागत अलि तेरे ज्यौं पजरे पर लौन, सृंगी, मुद्रा, भस्म, त्वचामृग अरु अवधारन पौन' (४३०८) अथवा 'मुद्रा भस्म विषान त्वचामृग ब्रज जुवतिन नहिं भाए' (४१२३)।

१—प० सं० टी०, १२६।५ 'कंथा पहिरि डंड कर गहा।'
२७६।७ 'काढ़हु कंथा चिरकुट लावा। पहिरहु राता दगल सोहावा।'
२—प० सं० टी०, २७६।७ 'काढ़हु कंथा चिरकुट लावा'

मृगचर्म का पर्यायवाची शब्द मृगछाला (४१५६) भी मिलता है—'ऊधो कहँ सूंगी अरु सेली, केती भस्म जनाऊं' सोलह सहस सुंदरी काजैं मृगछाला कहँ पाऊँ।' (४१५६) तथा 'धरि आसन मृगछाल' (४३५६)।

शिव-संबंधी पदों में भी मृग-चर्म का उल्लेख है—

'उमा कौं छाँड़ि, अरु डारि मृगचर्म कौं, जाइकै निकट रहे रुद्र जोई (४३७)।

वैदिक काल से ही चमड़े व खालों का उपयोग बिछाने तथा ओढ़ने के लिए होता आया है। मृगचर्म पवित्र माना जाता था और यज्ञादि के अवसर पर विशेष रूप से उपयोग मे आता था। साधु तथा योगी मृगचर्म ओढ़ते भी थे। आज भी मृगचर्म पवित्र माना जाता है तथा धार्मिक कृत्यों मे विशेष रूप से काम में आता है। मानस में तो मृगचर्म संबंधी प्रसंग महत्वपूर्ण हैं ही। रत्नसेन के योगी रूप मे जायसी ने बघछाला का उल्लेख किया है[1]।

३०—चटाई के समान बिछाने की वस्तुओं मे कुसासन (३४१) [सं० कुशासन] तथा कुस-साथरी[2] (५६५) [सं० कुश] भी उल्लेखनीय शब्द है—

'कुस-आसन दै तिनहिं बिठायौ' (३४१)

अथवा—'नातौ मानि सगर सागर सौं कुस-साथरी पर्‌यौ' (५६६)

अथवा, 'कुस-साथरी बैठि इक आसन बासर तीनि बिताए' (५६५)।

कुस [सं० कुश] एक प्रकार की भूंडदार घास होती है। इसकी लम्बी तथा पतली पत्तियों से ही आसन बनाये जाते हैं। इसकी एक दूसरी क़िस्म दाभ [सं० दर्भ[कहलाती है जिससे पितरों का तर्पण करते हैं। हाथ में कुश लेकर स्नान करने का उल्लेख सूरसागर में भी है—

'साकपत्र लै सबै अघाए न्हात भजे कुस डारी' (१२२)।

विवाह-सस्कार में कन्यादान भी कुशोदक से लेते है। इसका उल्लेख तुलसीदास ने किया है[3]। कुश का आसन मृगचर्म के समान ही पवित्र माना जाता था तथा यज्ञादि के अवसर पर बिछाते थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी यज्ञ के उपकरणों में कुश घास का उल्लेख है तथा पवित्र बताई गई है[4]।

आतिथ्य सत्कार में सदैव ही सर्वप्रथम अर्घासन, अरघासन [सं० अर्घ्यासन] देने की प्रथा रही है। सूरसागर में कई स्थलों में इसका उल्लेख किया गया है, विशेषकर किसी मुनि पंडित आदि के आगमन पर—

'महर भवन रिषिराज गए।

१—मानस, अरण्य० २७ 'सीता परम रुचिर मृग देखा। अंग-अंग सुमनोहर वेषा। सुनहु देव रघु बीर कृपाला। एहि मृग करि अति सुंदरछाला। सत्यसंध प्रभु बधि करि एही। आनहु चर्म कहति वैदेही। तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुर काजु संवारन।'

प० सं० टी०, १२६।५, ६ 'कर उदपान कांध बघ छाला'।

२—तु० ग्रं, गीता०, पृ० ३६० 'कुस-साथरी देखि रघुपति की हेतु अपनपौ जानी'।

३—तु० ग्रं० जानकी०, १६१ 'अगिनि थापि मिथिलेस कुसोदक लीन्हेउ, कन्यादान विधान संकलप कीन्हेउ'।

४—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, अध्याय ६, पृ० ३७१

चरन धोइ चरनोदक लीन्हौ, अरघासन करि हेत गए।' (७०३)

अथवा—'ता गृह रिषि अगिरा सिधाए

अर्घासन दै तिनि बैठाए।' (४१६)।

इस प्रथा पर तुलसीदास जी के काव्य से भी प्रकाश पड़ता है[1]। जायसी ने कहीं-कहीं आसन या सिंहासन के लिए पाट शब्द प्रयुक्त किया है।[2]

५—स्त्रियों का पहनावा

३१—राधा और गोपियों के वस्त्राभरणों के वर्णन संबंधी अंशों द्वारा उस समय के पहनावे का पता चलता है। यह पहनावा प्रमुख रूप से पश्चिमी उत्तर प्रदेश की ग्रामीण स्त्रियों का था। वस्त्रों के संबंध मे विशेष रूप से दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध के रासपंचाध्यायी, जलक्रीड़ा, पनघट-लीला, दान-लीला, रूप-वर्णन, मान-लीला, झूलन, बसंत-लीला शीर्षक अंशों मे विशेष उल्लेख मिलते है। इसमे तीन वस्त्र प्रमुख थे—ओढ़नी, कंचुकी, तथा लहगा। भ्रमर-गीत के पदों मे गोपियाँ 'कंथा' न पहनने का उल्लेख करती है (४३१२) क्योंकि यह तपस्विनियाँ पहनती थी। कुछ पदो (१६६१,२०८३) मे एक साथ अनेक वस्त्राभूषणो के नाम मिलते है। **ओढ़नी** (७३४) और **उढ़निया** (१३१२) लंहगे के साथ सिर पर ओढ़ी जाती थी। कृष्ण के पहनावे में भी **ओढ़नी** का वर्णन है—'लाल ढिगनि की सारी ताकौं, पीत उढ़निया कीनी' (१३१२) अथवा 'पीत उढ़नियाँ कहाँ बिसारो' (१३११)। आजकल भी सिर पर ओढने के वस्त्र को ओढ़नी कहते है। यह पांच हाथ लम्बी तथा तीन हाथ चौड़ी होती है।[3] यह शब्द 'ओढन' से संबंधित है—[सं० उपवेष्ठन, प्रा० आवेड्ढन][4]। **चूनरी** (४४) तथा **चूनरि** (परि० ११२) का उल्लेख अनेक पदों मे किया गया है—'चुहचुह चूनरि बहुरंगनौ' (३४५०) अथवा 'नयौ पितांबर, नई चूनरी, नई नई बूंदनि भीजति गारी' (१३०३)। विनय शीर्षक पदों मे माया संबंधी एक पद मे 'राती चूनरी' (४४) का निर्देश है। चुंदरी मे एक विशेष प्रकार की रंगाई होती थी। राजस्थान, गुजरात, पंजाब तथा विशेष रूप से साँगानेर मे आजकल भी ऐसी रंगाई होती है। इसमे कपड़ा बाँध-बाँध कर रंगा जाता है अतएव इसे बाँधनू की रंगाई भी कहते है। अन्य-अन्य भाँत की चूनरी जयपुर में 'भाँत-भतूल्या' कहलाती है तथा मेरठ में 'भाँत-भँतीली'। इसके लिए संस्कृत शब्द 'भक्ति' था। इंद्रधनुष की भाँत की चूनरी भी बनती है। चूनरी हल्के व बारीक सूत की बनती है। हर्षचरित में इसी के लिए 'पुलक-बंध' तथा 'भक्ति' शब्द आए हैं। बाँधनू की रंगाई का यह उल्लेख प्राचीनतम है।[5] एक अन्य प्राचीन शब्द 'फुट्टक' भी संभवतः इसी छपाई का बोधक

१—मानस, बाल०, ३१६ 'अरघु देइ आसन बैठाए'।

२—प० सं० टी०, ५५६ 'तहाँ पाट राखा सुलतानी'।

३—कृ० जो०, प्र० ११, अध्या० २—हेमचंद्र ने ओढ़ना के लिये देशी नाम-माला (१।१५५) में 'ओडढण' शब्द लिखा है।

४—हि० अनु०, आश्विन मार्गशीर्ष २००७ अं० ३—'हिन्दी के सिलाई संबंधी शब्द और उनकी व्युत्पत्ति।

५—हर्ष० सां० अ०, पृ० २३, ७३-७४ 'बहुविधभक्तिनिर्माणचतुरपुराणपौरपुरान्ध्रिबध्यमानैर्बद्धैश्च'

था ।[१] जायसी ने गुजरात के छपे वस्त्रों का परिचय दिया है ।[२] लंहगे के साथ ओढ़ने के अन्य वस्त्रों में दुपटि (परि० ७) [सं० द्वि + पटः] और उपरैना (४४, १६१८) शब्द भी मिलते हैं । उपरैना स्त्री-पुरुष दोनों के वस्त्रों में प्रयुक्त हुआ है । चीर-हरन-लीला में गोपियों के उपरना छीनने का वर्णन किया गया है—'लिए उपरना छीनि सबनि के, जहाँ तहाँ कुंजनि अरुझाए' (२१३०) । माया संबंधी पद (४४) मे 'पहिरे राती चूनरी, सेत उपरना सोहै (हो)' मिलता है । इस पद में उपरना चूंदरी के ऊपर ओढ़ने का वस्त्र बताया गया है । उपरना (उपरि । आवरण) आज भी चूंदरी या ओढ़नी के ऊपर ओढ़ते हैं । यह चूंदरी से बड़ा होता है—पाँच हाथ चौड़ा तथा छः हाथ लम्बा ।[३] दुपटिया बढ़िया कपड़े की ओढ़नी होती है ।[४]

३२—घांगरी ([सं० घर्घरा, घर्घरी, घर्घरिका] अथवा घाघरी शब्द सूरसागर में कम मिलता है । यह अधिक घेर का लँहगा होता है । इसमें चौबीस से तीस तक पाट होते हैं । छोटी तथा क्वाँरी लड़कियाँ घघरिया पहनती हैं ।[५] लँहगा (४४,३४५०) । [सं० लंक + अंगा] सूरसागर के अनेक पदों में मिलता है—'नील लंहगा, लाल चोली' (३४५०) अथवा 'दच्छिन चीर तिपाइ कौ लँहगा, पहिर विविध पट मोलनि महंगा ।' (३५१६) ।[६] लँहगे के चार भाग होते हैं—'नेफा, घेर, संजाप या गोट तथा लामन अथवा गोट को रंगीन पट्टी ।' नेफे के खुले भाग को 'नीबिया' कहते है । धोती के सामने की चुन्नट को भी नीबी कहते हैं ।[७] सूर ने उसी अर्थ में 'नीबी' शब्द प्रयुक्त किया है । राधा के शोभा वर्णन में 'चाल, गज शृङ्खला नूपुर, नीबि नव-रुचि ढाल' (३०६०) अथवा 'नोवी ललित गही जदुराई' (१३००) । आर्य स्त्री-पुरुष 'नीवि' नामक तहमतनुमा वस्त्र भो पहनते थे । नीवि की व्युत्पत्ति 'नि' = नीचे और 'वी' = ढकना से की गयी है । डा० सरकार तामिल शब्द 'नइ' = बुनना से करते हैं और उसे चौड़ा बुना हुआ किनारा मानते हैं ।[८] जायसी ने 'फुंदिया' शब्द संभवतः फुँदनेदार नीवीबन्ध के लिए प्रयुक्त किया है ।[९] बालिका राधा के वस्त्रों में फरिया (१३२२,१३२६,१२६०) शब्द ही अधिकतर मिलता है—'जसुमति राधा कुँवरि सँवारति—सारी चीरि नई फरिया लै, अपने हाथ बनाई ।' (१३२२) तथा 'तिल चांवरी गोद करि दीन्हीं फरिया दई फारि नव सारी' (१३२६) । छोटी लड़कियों के लँहगे को अब भी फरिया कहते है । तहसील अतरौली, अनूपशहर,

---

१—प्रा० भा० वे०, पृ० ६६—'फुट्टक' :दिव्यावदान पृ० (३१६) शब्द संभवत: चुंदरी अथवा छींट के अर्थ में आया है तथा 'पुष्पपट्ट' (ललित-विस्तर पृ० १४१) फूलदार वस्त्र के अर्थ में ।

२—प० सं० टी०, ३२६।२ 'छाएल पंडुआए गुजराती' का उल्लेख जायसी ने भी किया है ।

३—कृ० जी० प्र० ११, अ० २

४— ,, ,, ,,

५—कृ० जी० प्र० ११ अध्याय २, 'घग्घर' हेमचंद्र देशी नाम-माला २।१०७

६—अशरफ़ के अनुसार दक्षिण के देवगीर तथा महादेवनगरी अच्छे कपड़े के लिये प्रसिद्ध थे । अच्छे प्रकार की मलमल के पूरे टुकड़े का मूल्य १०० टांक तक था ।

७—कृ० जी, प्र० ११ अध्याय २

८—प्रा० भा० वे०, पृ० १७, १८

९—प० सं० टी०, ३२६।२ 'फुंदिया और कसनिआ राती' ।

सिकंदराराऊ तथा कासगंज में यह शब्द लँहगे के अर्थ में बोला जाता है किन्तु तहसील इगलास, कोल, हाथरस, तथा सादाबाद में ओढ़नी के अर्थ मे।[१] पद्मावत में फरिया के लिये **फारी** शब्द आया है।[२]

३३—स्त्रियों का तीसरा वस्त्र 'चोली'[३] (२१७२) [सं० चोली] 'अंगिया' (३४४६) [सं० अंगिका] अथवा **कंचुकी** (१३६२) [सं० कंचुकः, कंचुली, कचुलिका] था। 'नील लँहगा, लाल चोलो', (३४५०), 'अंगिया नील' (१६७१) 'कसनि कंचुकि बंद' (३०६८) आदि वर्णन अनेक पदों में मिलेंगे। चोलो में प्रायः अंगिया के समान बंद नहीं होते है। दोनों ओर से बढ़े कपड़े को खींचकर बाँध लेते हैं अथवा डोरी डाली जाती है। अगिया में चार बंद होते हैं और पेट व पीठ खुली रहती है। 'सूरसागर' में भी **बंद** या **तनी** का उल्लेख है—'कसनि कंचुकी वंद' (३ ६८) 'तनी चोली की तोरी' (३४८८)। अगिया की सजावट भी बताई गई है जैसे 'कटाव की अंगिया' (२१५८) तथा 'बहु नग जरे जराऊ अंगिया' (२०६३)। कुछ स्थलों में इसके अलग-अलग भागों के नाम भी मिलते हैं—'अंगिया नील **मांडनी** रातो' (१६७१) अथवा 'नील कंचुकी **मांडनि** लाल' (१७६८)। अंगिया के सामने टके हुए तिकाने साज को [सं० मंडन-सजावट] मांडनी या लहर कहते हैं।'**अंतरौटा** अवलोकि कै, असुर महामद माते (हो)' (४४) में **अंतरौटा** शब्द आया है। अंतरौटा [सं० अंतरपट] अंगिया के सामने नीचे किनारे पर लटकती पट्टी होती है। यह इस तरह जोड़ते हैं कि पेट ढक जाता है। इसका नीचे का भाग नाभि तक लटकता रहता है। इसे 'घाट' भी कहते हैं।[४]

३४—ब्रजप्रदेश मे प्रचलित ऊपर के पहनावे के अतिरिक्त **सारी**[५] (६४२,२११६,१६६१, ३४१२) [सं० शाटिका, शाटकः] शब्द बहुत बार आया है। सारी के साथ कंचुकी का उल्लेख प्रायः मिलता है। लंहगे के साथ भी सारी का उल्लेख बहुत से पदों मे है—'पगनि जेहरि, लाल लंहगा, अंग पंचरंग सारि' (१६६१) या 'छुद्र घंटिका, कटि लँहगा रंग, तन तनसुख की सारी' (२११६)। इन स्थलों मे संभवतः साड़ी शब्द ओढ़नी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आज भी राजस्थान में लँहगे के साथ ओढ़ने वाले वस्त्र को 'साड़ी' या 'हाड़ी' कहते है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई ओढ़नी से अधिक होती है अर्थात् ढाई गज़ के स्थान पर चार गज़। सूर ने साड़ी के रंगों कुसुभी' (३४५६) 'पंचरंगी' (१६६१) आदि के साथ-साथ किनार का भी उल्लेख कई पदों

१—कृ० जी० प्र० ११, अध्या० २

२—प० सं० टी०, ३२६।२—फारी या फरिया एक विशेष प्रकार का लंहगा था जो सामने की ओर सिला नहीं रहता था। इसमें सामने 'फड़का' नामक पटली लटकती थी। कुछ जैन तथा राजस्थानी चित्रों में यह वस्त्र पहने हुए स्त्रियाँ चित्रित हैं। पटली के दोनों ओर खुले तार छूटे रहते हैं। प्रायः लड़कियां तथा नई उम्र की स्त्रियाँ ही फरिया पहनतीं हैं। बुंदेलखण्डी तथा ब्रजभाषा में फरिया ओढ़नी को कहते हैं।

३—हर्ष० सां० अ०, पृ० ५६—थानेश्वर की स्त्रियां कंचुक पहनती थीं। लगभग छठी शताब्दि में हूणों के आने के बाद चोली या कुर्ता पहनने की प्रथा आरंभ हुई थी। अहिच्छात्रा की खुदाई में चोली पहने स्त्री-मूर्तियां मिली हैं।

४—कृ० जी०, प्र० ११, अध्या० २

५—प्रा० भा० वे० पृ० ३७ साड़ी को सट्ट या साटक कहते थे—जातक (४३१) ३, २६६ : :बलित्थग साटको—जातक (३२४, ३, पृ० ५५)।

में (१३११,१३१२,१३१३) किया है जैसे 'लाल ढिगनि की सारी'। टिगनि अथवा किनार का रंग प्रायः लाल ही बताया गया है। कुछ पदों में तनसुख की सारी का उल्लेख है—'तन तनसुख की सारी' (२११६, ४४३५)।[१] तनसुख संभवतः तंज़ेब या अद्धी की तरह का बढ़िया फूलदार कपड़ा होता था। वस्त्रों की बनावट के प्रसंग में इसके सम्बन्ध में बताया जा चुका है। कुछ पदों में 'झूमक सारी' का वर्णन है—"झूमक सारी तन गोरैंहो" (३४१२)। झूमक साड़ी या ओढ़नी में सोने चांदी के झुमकों या मोती के गुच्छों की कतार इस तरह लगाते हैं कि वह माथे पर आए। 'चूनरी सारी' (२०६५) का उल्लेख भी है। यह सारी राजस्थान की बांधणी रंगाई से रंगी जाती थी। चूंदरी मे किनारे लाल बाक़ी पीली भी होती है। डंडिया (३४६०) तथा पटोरी (२३११) साड़ियाँ भी उल्लेखनीय है। डडिया [हिन्दी डांड़ी-रेखा] छड़ीदार अथवा ऐसी साड़ी को कहते है जिसमे बीच की लम्बाई में गोटा टाककर रेखाएँ बनाई जाती है। पटोरी के संबंध में बताया जा चुका है। पल्ले के कोने को खूँट कहा गया है—'नीलाम्बर गहि खूंट चूनरी हँसि-हँसि गांठि जुराई।' (३४६७)। अंचल (२०५५) आंचल (३०७३) [सं० अंचल] सारी के सामने का भाग है—'अंचल चंचल गति'।[२] अथवा 'उर उड़त अंचल उघार मुख' तथा 'उड़त अंचल लटकै बेनी दपट झपटे मोर' (३४४६)।

३५—अन्य वस्त्रों मे सूथन (१६७२) उल्लेखनीय शब्द है। यह एक दो पदों में ही मिलता है। इससे स्पष्ट है कि ब्रजप्रदेश के हिन्दू वर्ग में इसे पहनने की प्रथा अधिक न थी। 'सूथन जंघन बांधि नाराबंद, तिरनी पर छबि भारी' (१६७२) अथवा 'नाराबंदन सूथन जघन' (१७६८) का उल्लेख है। हर्षचरित मे तीन प्रकार के पाजामों—स्वस्थान, पिंगा, और सतुला के नाम मिलते है। पाजामें की तंग मोहरी में पिंडली कसी रहती थी।[३] पाजामे का आम रिवाज (प्र० शती ई० पू०) शकों के समय से इस देश में हुआ और गुप्त राजाओं ने सैनिक-वर्दी मे रक्खा। इसी को पाजामा (फ़ा० पायजामा) भी कहते हैं। तंग मोहरी का पाजामा अलीगढ़ी पाजामा कहलाता है सं० [स्वस्थान-सुत्थान-सूथन-सूथना]। गणपति शास्त्री की टीका के अनुसार—संपुटक जांघों की रक्षा के लिये एक विशेष वस्त्र होता है। कोई-कोई टीकाकार इसे सुथना या सूथन कहते है। पाजामे के लिए आजकल भी सुथना [सं० सूत्रनद्ध] शब्द मिलता है।[४] सूथन के साथ ध्यान देने योग्य दूसरा शब्द नाराबंद (१६७२) [फ़ा० बंद] आया है। बौद्धकाल में इसी के लिये 'कायबध' शब्द मिलता है।[५] नाराबंद [फ़ा० कमरबंद] नेफ़े में डाला जाता है। बोलियों में इसे 'जारवन' 'जरिवन' अथवा 'इजारवन्न' भी कहते है।[६] कमरबंद आजकल कई प्रकार के बनते है—बुनैना, बटैना, फुलना, झब्बुआ तथा बादला।[७] सूरसागर मे यह विस्तार नहीं मिलते हैं।

१—'तनसुख की सारी लही'–हरिदास
'तनसुख की सेज लाल'—केशवदास

२—अंचल को पल्ला (सं० पल्लव-पल्लअ-पल्ला) भी कहते हैं किन्तु सूरसागर में प्रयुक्त नहीं किया गया है। संस्कृत साहित्य में 'पल्लव' शब्द अधिक प्रयुक्त हुआ है।

३—हर्ष० सां० अ०, पृ० १४८

४—प्रा० भा० वे०, पृ० ५४

५—प्रा० भा० वे०, पृ० ३५

६—हि० अनु०, आश्विन मार्गशीर्ष २००७, अंक ३ 'हिन्दी के सिलाईस बंधी शब्द तथा उनकी व्युत्पत्ति।'

७—कृ० जी०, प्र० ११, अध्या० २

३६—अनेक पदों में घूंघट (१७६८, १२७६) [सं० अवगुंठन] का उल्लेख है। यह नेत्र-संबंधी तथा रास पंचाध्यायी शीर्षक अंशों में अधिक प्रयुक्त हुआ है। कृष्ण-प्रेम के कारण गोपियों ने लोक-लज्जा सूचक घूंघट छोड़ दिया—

'नाच कह्यो तब घूंघट छोर्‌यौ, लोक लाज सब फटकि पछोर्‌यौ' (१२७६) अथवा 'कोउ न रहत घर घूंघटवारी' (३४८६)। हिंडोले में भी घूंघट का निर्देश है—'हंसि हाव-भाव कटाच्छ घूंघट गिरत लेति सम्हारि' (३४५६)। कृष्ण के रूप के प्यासे राधा तथा गोपियों के नेत्र घूंघट की आड़ नहीं मानते—

'मेरे माई लोभी नैन भये।........
रहत न घूंघट ओट भवन में, पलक कपाट दिए।' (२६१६)
अथवा 'मनु घूंघट पट में दुरि बैठ्यौ, पारधि रति-पति ही कौ' (२३२०)
तथा 'दै घूंघट-पट ओट नील, हंसि कुँवरि मुदित मुख मोरे।' (१३५०)
और 'सबै हिरानी हरि-मुख हेरैं।
घूंघट-ओट-पट-ओट करैं सखि हाथ न हाथनि मेरैं' (२२७१)

घूंघट का वर्तमान पर्दे वाला रूप मुसलमानों के साथ आया था। प्राचीन काल का अवगुंठन इस रूप में नहीं था।[१] मालती के वेश में हर्षचरित में भी अवगुंठन का उल्लेख है। बाण ने देहाती स्त्रियों के वर्णन में ही घूंघट का उल्लेख किया है। मुसलमानों से रक्षा के लिए इसका प्रचार बढ़ा। ग्रामीण वर्ग की हिन्दू स्त्रियाँ मुसलमान स्त्रियों के समान बुर्का या अलग कपड़े का पर्दा (Veil) काम में नहीं लाती थीं। बाहर के व्यक्तियों के सामने अपनी साड़ी का पल्ला खींचकर ही मुख ढाँक लेती थीं।[२] सूरसागर में भी ऐसे ही अवगुंठन का वर्णन मिलता है। तुलसीदास ने एक स्थल मे विवाह के अवसर पर प्रचलित घूंघट की प्रथा का संकेत किया है।[३]

सूरदास जी के समकालीन कवियों तुलसी तथा जायसी ने भी प्रायः इन सब वस्त्रों का उल्लेख किया है। तुलसी द्वारा स्त्रियों के पहनावे में प्रयुक्त प्रमुख शब्द चूनरी, सारी, तथा पिछौरी हैं।[४] तुलसी ने वस्त्राभूषणों का वर्णन सूर के समान विस्तार से नहीं किया है। पूर्वी उत्तर प्रदेश में लँहगा तथा ओढ़नी पहनने की प्रथा अधिक न थी। यों जायसी ने पद्मावती-शृङ्गार-वर्णन आदि प्रसंगों में सारी के साथ लहरपटोर नामक लँहगे, फारी, कसनिया तथा कंचुकी का उल्लेख भी किया है। 'चंदन चीर' या 'चोला'[५] के साथ-साथ रंगाई तथा छपाई के भी विस्तार दिये गए हैं।[६]

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० २३, 'नीलांशुकजालिकमेव निरुद्धार्धवदना'
२—अशरफ़, पृ०२४४, मनूची, भाग १, पृ० ६२
३—तु० ग्रं०, बरवै, १६—'का घूंघट मुख मूँदहु नवला नारि?
चांद सरग पर सोहत यहि अनुहारि।'
४— ,, ,, गीता०, पृ० ३२६ 'राजति राम जानकी जोरी।........
मंगलमय दोउ, अंग मनोहर ग्रथति चूनरी पीत पिछौरी।'
५—प० सं० टी०, पद ३२७
६—प० सं० टी०, पद ३२६ 'पटुवन्ह चीरि आनि सब छोरे'

६—पुरुषों का पहनावा

३७—सूरसागर में कृष्ण के रूप-वर्णन से सम्बन्धित दशम स्कंध के अनेक पदों में उनके वस्त्रों का विस्तृत वर्णन है। राम, बलराम, नन्द तथा गोप आदि के वस्त्रों के उल्लेख भी जहाँ-तहाँ हैं। कृष्ण के वस्त्रों मे कवि ने प्रधानरूप से उनके परम्परागत वस्त्राभूषणों का वर्णन किया है जैसे—पीताम्बर, कुंडल, मोरमुकुट आदि। फिर भी कृष्ण के वर्णित वस्त्रों तथा अन्य स्कन्धों के कुछ उल्लेखों से हम सूरकालीन ब्रज प्रदेश में प्रचलित ग्रामीण वर्ग के पहनावे का अनुमान अवश्य लगा सकते हैं। यह लोग धोती, पटका तथा दुपट्टा पहनते थे। कभी-कभी जामा या ढीला कुर्ता भी पहना जाता था। सिर पर पगड़ी या टोपी और पैर में जूते होते थे।

३८—कृष्ण के वस्त्रों में धोती के लिये **काछनी** (३०७) [काछ लगाकर धोती पहनना, सं० कच्चा से] शब्द बहुत से स्थलों मे प्रयुक्त हुआ है—'काछनी कटि पीत दुति, कमल-केसर-खंड' (३०७), 'कटि कछनी किंकिनि-धुनि बाजति' (२००७), तथा 'सुभग कटि काछनी राजति, जलज केसरि-खंड' (१२५१)। 'काछनी' की दोनों लांगें पीछे घुरस ली जाती हैं। यह आधी जांघ तक का चुन्नटदार पहनावा भी होता है जो आजकल रामलीला या मूर्तियों के शृङ्गार में पहनाते हैं। 'काछा' [सं० कच्चा = कमरबन्द] साधुओं के लंगोट को भी कहते है।[1] हर्षचरित में 'कच्चा' का उल्लेख हुआ है।[2]

कृष्ण के परम्परा से आये हुए पहनावे में **पीताम्बर** (१२४३, २०२०) [सं०] **पीत-पट** (१२४६, १९९४) [सं०], तथा **पीत-बसन** (२००७) [सं०] उल्लेखनीय हैं। कृष्ण के रूप-वर्णन शीर्षक पदों में पीली धोती तथा पीला दुपट्टा दो प्रमुख वस्त्र माने जा सकते हैं। **पट, बसन** तथा **अम्बर** शब्दों की व्याख्या वस्त्र के पर्यायवाची शब्दों के सिलसिले में की गई है। यह शब्द कुछ पदों में धोती के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—'पीताम्बर कटि-तट छवि सुन्दर'[3] (१२४३), 'कनक मेखला कटि पीताम्बर' (१९८६), 'पहिरि पितम्बर, चरन पांवरी, ब्रज-बीथिनि मैं जात' (१९८६) तथा 'कटि-तट सुभग पीत-पट राजत, अदभुत वेश बनावत' (१९९४), और 'कटि-तट पीत-बसन, सुदेस' (१२५१)। कुछ पदों में उत्तरीय या दुपट्टे के अर्थ में मिलते हैं जैसे—'कटि कछनी किंकिनि धुनि बाजति चरन-चलत नूपुर रव लाये। ग्वाल मंडली मध्य स्याम घन, पीत-बसन दामनिहिं लजाये।' (२००७) अथवा—'तड़ित किधौं पीत-पट,' (२९७५), 'की दामिनि कौंधति चहुँ दिसि की सुभग पीत-पट फेरनि' (२९७६) 'मोर-मुकट कुंडल, बनमाला, पीताम्बर फहरावै' (२०२०) तथा 'रोहिनि सुत, जसुमति सुत की छबि, गौर स्याम हरि-हलधर-गात। नीलांबर, पीताम्बर ओढ़े, यह सोभा कछु कही न जात।' (१८३३)। इन पदों में वस्त्र फहराने का उल्लेख है अतः उत्तरीय ही होना चाहिए। बलराम के उत्तरीय का रंग पीला (पीताम्बर) न होकर नीला (नीलांबर) है, यह ध्यान देने की बात है।

३९—**धोती** (१६०२) [सं० धोत्रिका-धोत्तिया-धोत्ती-धोती] का उल्लेख कृष्ण सम्बन्धी पदों में कम है, किन्तु नन्द के वस्त्रों में कई पदों मे मिलता है। गोपियाँ कृष्ण के मथुरा जाने

१—हि० अनु०, 'कुछ सिलाई संबंधी शब्द तथा उनकी व्युत्पत्ति'

२—हर्ष० सा० अ०, पृ० २१, 'कद्याधिकक्षिप्तपल्लवं'।

३—मानस, बालकाण्ड, २३३ 'केहरि कटि पट पीत धर सुषमा सील निधान।
देखि भानुकुल भूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान।'

" " २४४ 'कटि तूनीर पीतपट बांधे'

" " २१९ 'पीत बसन परिकर कटि भाथा'

के बाद व्यंग्य करती हैं—'दधि अरु भात हाथ करि लेते, लै कुंजनि मै खात । अब सुनियत है धोती पहिरे, चढ़े खराऊँ न्हात ।' (४४४५) । नन्द जमुना में स्नान के लिए गए तो वरुण उन्हें बांध कर ले जाते हैं । इस प्रसंग में 'धोती' शब्द प्रयुक्त हुआ है—'यह कहि नन्द गये जमुना-तट । लै धोती-झारी विधि कर्मट' (१६०२) व 'धोती झारी तट पै परि' (१६०२) । धोती को जनपदी बोली में 'धोबती' भी कहते हैं ।[1] 'धौत्त' शब्द का अर्थ कपड़ा[2] है । आजकल धोती एक लांग की अथवा दो लांग की पहनी जाती है । फेंट लगाने की भी कई विधियाँ प्रचलित हैं, जैसे किसान काम के समय दुलंगी फेंटिया बँधात बांधते है ।[3] लपेट के लिए **फेंट** शब्द भी आया है—'फेंट कसे अबीर भोरी की' या 'फेंट गुलाल भराइ कै' (३४६२) । आजकल इस अधोवस्त्र के लिये धोती शब्द ही प्रचलित है ।[4] पाश्चात्य प्रभाव से समाज के कुछ वर्गों में यह पहनावा उठता जा रहा है और उसका स्थान मुसलमानी पहनावे पाजामे तथा पश्चिमी पहनावे पैंट ने ले लिया है । फिर भी बंगाल, दक्षिणी भारत आदि भागों मे धोती ही अधिक पहनी जाती है । ग्रामीण वर्ग के पहनावे मे पाश्चात्य प्रभाव का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है और धोती उनके पहनावे का प्रमुख अंग है ।

४०—कंधे पर डालने वाले वस्त्र-खण्ड के लिए सूरसागर मे कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं—**दुपटि** (परि० ७) [सं० द्वि-पटः]—'काहू को दीनी दुपटि हो, करि करि पीरे **छोर**'[5] (परि० ७) । कृष्ण के वस्त्रों मे 'दुपटि' शब्द प्रायः प्रयुक्त नही हुआ है । उनके वस्त्रों मे पीताम्बर, पीतपट, तथा पीतबसन के अतिरिक्त उत्तरीय के अर्थ में **उढ़निया** (१३११, १३१२) [ओड्ढण] शब्द ही अधिकांश पदों मे मिलता है—'पीत उढ़निया कहाँ बिसारी' (१३११) अथवा 'लाल-ढिगनि की सारी ताकौं पीत उढ़निया कीन्हीं (१३१२) । इसी अर्थ में एक नया शब्द **पामरी** (२०७५) प्रयुक्त हुआ है :—

'ओढ़े पीरी पामरी (हो) पहिरे लाल निचोल ।
भौंहैं कांट-कटीलियां (मोहिं) मोल लियौ बिनु मोल ।' (२०७५)

पामरी शब्द बहुत कम प्रयुक्त किया गया है । **निचोल** (२०७५) [सं० निचोलः] का अर्थ ओढ़नी या चादर है किन्तु यहाँ सभवतः धोती अथवा शरीर के ऊपरी भाग के किसी वस्त्र के अर्थ में लिया जा सकता है ।

स्त्री-पुरुष दोनों **उपरैना** या **उपरना** (६२६, १६८६, ३१०२) [सं० उपरि + आवरण] ओढ़ते थे क्योंकि विनय पदों में माया-वर्णन मे तथा राधा के वस्त्रों मे उल्लेख होने के साथ ही कृष्ण के वस्त्रों मे भी आया है—'बलि उपरैना गिरिधर लाल' (१६८६) व 'उघरि गयौ उर तै उपरैना, नख-छत बिनु गुन माल' (३१०२) अथवा 'उपरैना मुरली लई' (३५२७) । उपरैना

१—कृ० जी०, प्र० ११, अध्या० १

२— ,, ,, ,, ,, डा० सु० कु० चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिंदी पृ० १०१

३—कृ० जी०, प्र० ११, अध्या० १

४—अमरकोश में धोती के लिये 'अंतरीय' 'उपसव्यान', 'परिधान' तथा 'अधोशुक' आदि पर्याय मिलते हैं । इनके अर्थों में क्या भेद थे, यह स्पष्ट नहीं है ।

५—संस्कृत में छोर के लिए 'पटान्त' शब्द है— 'राजा पटान्तेन फलकमाच्छादयति' हर्ष रत्नावली नाटिका, निर्णय सागर प्रेस, च० सं०, पृ० ६२
हर्ष० सं० अ०, पृ० ७४ 'उभयपटान्तलग्न', पृ० ६८ 'मग्नाशुकपटान्त'

वस्त्रों के ऊपर चादर की तरह ओढ़ते थे। हर्षचरित में भी राजाओं के वस्त्रों में 'आच्छादनक' नामक हलकी चादर का वर्णन है। मथुरा संग्रहालय में सूर्य तथा उनके अनुचर की मूर्तियाँ चादर ओढ़े हुए हैं। अजन्ता के भित्ति चित्रों में भी चादर चित्रित की गई है। चादर ओढ़ने की प्रथा सासानी पहनावे से आई थी।[१]

कृष्ण के वस्त्रों में **पिछौरी** (२००३, ४६४) [सं० पच्च + पट्ट] भी ओढ़ने वाले वस्त्र के अर्थ में आया है—'राजनि पीत पिछौरी, मुरली बजावै गौरी' (२००३)। यही शब्द नवम-स्कंध में राम-लक्ष्मण आदि भाइयों के वस्त्रों मे धोती के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—'कटि-तट पीत पिछौरी बांधे, काकपच्छ धरे सीस' (४६४)। आजकल भी किसानों के जाड़े में ओढ़ने की बड़ी चादर को 'पिछौरी' कहते है।[२]

४१—**पटुका** (परि० ७) [सं० पटः अथवा पट्टिका] का उल्लेख बहुत कम है तथा कृष्ण-संबंधी वस्त्रों में नहीं मिलता है। अन्य स्थलों में आया है जैसे कृष्ण-जन्मोत्सव पर—'काहू को पटुका दियौ हो'। हर्षचरित मे राजाओं के वस्त्रों के वर्णन में 'शस्त' शब्द का उल्लेख है। शंकर ने 'शस्त' का अर्थ पट्टिका डोर किया है।[३] पटका बांधने की प्रथा भारत में शकों द्वारा आई तथा गुप्तकाल में भी चलती रही। बौद्ध तथा जैन साहित्य में स्त्रियाँ भी पटके [कायबंध] के समान वस्त्र कमर में कलात्मक ढंग से बांधती थी। यह पटके बांस के रेशे, चर्मपट्ट, ऊनी पट्टी, बटे हुए चोल वस्त्र आदि के बनते थे।[४] आजकल पटके को फेंटा या कमरफेंटा भी कहते हैं।[५] सूरसागर में भी **फेंटा** (१५३) इसी अर्थ में मिलता है—'माया को कटि फेंटा बांध्यौ' (१५३)। उत्तर प्रदेश के गाँवों में फेंटा बांधने की प्रथा अब भी चल रही है। शहरों में भी विवाह के अवसर पर वर को कमर में पटका बांधना पड़ता है।

प्रथम स्कंध में राजा के वैराग्य लेने के सिलसिले में **कुपीन** [सं० कौपीन] वस्त्र का निर्देश भी है—'जीरनपट कुपीन तन धारि, चल्यौ सुरसरी सोस उघारि।' यह संन्यासियों के पहनने की चीर अथवा लंगोटी होती है। प्राचीन काल से ही-साधु संन्यासी इस प्रकार का वस्त्र पहनते आए हैं।

४२—सिले हुए वस्त्रों मे **बगा**, **झगा** तथा **चोलना** शब्द मिलते हैं। बगा तथा झगा बालक कृष्ण के वस्त्रों में आये हैं अतः इन शब्दों का विवेचन उस स्थान पर ही किया गया है। **चोलना** (१५३) [सं० चोल-ढीला वस्त्र] भी विनय पदों में ही मिलता है। कृष्ण के वस्त्रों में सिले कपड़ों का उल्लेख कहीं नहीं है। इसका यही कारण हो सकता है कि सूर ने कृष्ण को प्रधानरूप से परम्परागत वस्त्राभूषणों से ही सुसज्जित किया है। उस समय के प्रचलित सिले कपड़ों—चोलना, कबा, आदि का उन्होंने अन्य स्थलों पर उल्लेख मात्र कर दिया है जैसे—'काम-क्रोध को पहिरि चोलना कंठ विषय की माल' (१५३)। हर्षचरित में 'चीन चोलक' नामक कोट राजाओं के वस्त्रों में आया है। यह एक तरह का ऊँचा कोट था जो चीन से शकों द्वारा भारत में लाया गया था।[६] पदमावत में 'चोला' शब्द लंहगे के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—'तारा मं

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० १५३

२—कृ० जी०, प्र० ११, अध्याय १—कबीर ने पिछौरी के लिए 'पछेवड़ा' शब्द प्रयुक्त किया है।

३—हर्ष० सां० अ०, पृ० १५४

४—प्रा० भा० वे०, पृ० ३६

५—कृ० जी०, प्र० ११, अध्या० १

६—हर्ष० सां अ०, पृ० १५१, १५२

पहिर भल चोला' (१८४।३)[1] । आजकल साधु-मुल्ला जो ढीला सा लम्बा कुर्ता पहनते हैं उसे भी 'चोला' कहते हैं ।

परि० ७ मे[2] 'काहू कौ पटुका दियो हो, काहू कुलह कबाइ' में 'कबा' शब्द विचारणीय है । यों तो 'कबा' नामक वस्त्र अकबर तथा जहांगीर के समय मे अत्यधिक प्रचलित था । आइने-अकबरी में भी इसके बारे में दिया गया है कि यह एक तरह का रुई का कोट-नुमा वस्त्र था । मनूची[3] ने भी कबा का उल्लेख किया है कि एक लम्बा खुला हुआ गाउन होता था । उस समय के पहनावे का प्रधान अंग होने पर भी सूरदास ने इसका उल्लेख बहुत कम किया है । होली-प्रसंग में **बागे** (३५२०) का नाम भी आया है—'नाना रंग गये रँगि बागे ।' इसकी व्याख्या बच्चों के वस्त्रों में है । एक स्थल में 'मरगजे तन के बागे' (३४४४) भी वर्णित है ।

४३—**पाग, पगा** (६४६, ५५८, १६८६, ३१०३) अथवा **पगिया** (३६७८) तथा **पागरी** (परि० ७) [सं० पटकः] पगड़ी के अर्थ मे मिलते है । नवम स्कन्ध के रावण-मंदोदरी संवाद में मंदोदरी रावण से कहती है—'तृन दसननि लै मिलि दसकंधर कंठनि मेलि पगा' (५५८) । पगड़ी बदलने की प्रथा मित्रता की द्योतक थी । कृष्ण के वस्त्रों में 'पाग' के रंग तथा बांधने के ढंग का वर्णन मिलता है—'रोकि रहत गहि गली सांकरी, टेढ़ी बांधत पाग' (६४६) अथवा 'बलि कुंतल बलि पाग लटपटी (१६८६) । कृष्ण फूलों से अलंकृत पाग भी पहनते थे—'फूलनि सौं लाल पाग, लटकि रही बाम भाग, सो छबि लखि सानुराग, टरति न मनतैं' (१६६३) । कृष्ण की पाग प्रायः लाल रंग की बताई गई है । कुछ पदो मे जावक का रंग लग जाने का भी उल्लेख हैं—जावक सौं कंह पाग रंगाई, रंगरेजनि कोउ मिलि बाला' (३१०३) अथवा 'सूर देखि लटपटी पाग पर जावक की छबि लाल' (३१०३)। इस विनय पद्यांश में मनुष्य के अहंकार का सुन्दर चित्र है :—

> 'कबहुँक कूदि सभा मैं बैठ्यौ, मूंछनि ताव दिखायौ ।
> टेढ़ी चाल, पाग सिर टेढ़ी टेढ़ै-टेंढ़ैं धायौ । (२०१)

पाग छोटी पगड़ी को कहते थे । इसे प्रायः हिन्दू या राजपूत पहनते थे । राजपूतों को पगड़ी दक्षिणी ढंग की पगड़ी से संभवतः आई थी ।[4] पगड़ी (उष्णीष) भारत के प्राचीनकालीन पहनावे में भी थी । स्त्रियाँ भी कभी-कभी उष्णीष पहनती थीं । अथर्ववेद (१५।२।१) में 'उष्णीष' का सर्वप्रथम उल्लेख है । पगड़ी बांधने तथा अलंकृत करने के ढंग मे बराबर परिवर्तन होते रहे हैं । हर्ष में 'पांडर उष्णीष' का उल्लेख है ।[5] मुग़ल बादशाह भी मोतियों तथा बहुमूल्य रत्नों से अलंकृत पगड़ी पहनते थे । बर्नियर ने भी इसका उल्लेख किया है । पगड़ी को आजकल स्वाफ़ा या साफ़ा, मुड़ाइसा, मुड़ासा [सं० मुण्डवासक] तथा हिमामा [अ० इमामा][6] भी

१—प० सं० टी०, पृ० १७६

२—परि० ७ में वस्त्रों के कुछ ऐसे नाम एक साथ दिये गये हैं जो सूरसागर में, बहुत कम आए हैं या नहीं मिलते हैं जैसे कबा, पटका तथा दुपटि । परि० १ के पद संदिग्ध समझे गए हैं ।

३—मनूची, पृ० ३४०

४—कौमुदी, पृ० ८५

५—हर्ष० सां० अ०, पृ० ४४

६—क़ु० जी०, प्र० ११, अध्याय १

कहते हैं । आजकल भी राजस्थान, पंजाब तथा दक्षिण में साफ़ा बांधने की प्रथा चल रही है । उत्तर प्रदेश के गाँवों में अवश्य साफ़ा दिखाई पड़ जाता है । यहाँ की गर्म लू से बचने में इस पहनावे से बहुत सहायता मिलती है। साफ़े की लपेट को भी **फेंट**, **पेंच** या **बंधन** कहते हैं—'बांधत फेटैं पाग सँवारी' (३५२०), 'लटपट पेंच सँवारति' (२६५४) तथा 'लटपटी सिरपंच छूटे बंधान लागे' (३२६१)।

परि० ७ में 'कुलह कबाइ' का उल्लेख है । बालक कृष्ण के पहनावे में कुलही शब्द बराबर प्रयुक्त हुआ है । **कुलह** (परि० ७) [फा० कुलाह] शकों द्वारा भारत में आई थी । सांची के अर्धचित्रों तथा अजन्ता के भित्ति-चित्रों मे कुलाहनुमा टोपी मिलती है । संस्कृत 'खोल' ईरानी 'कुलाह' का रूपान्तर था ।[१]

४४—सूरसागर मे जूते के पर्यायवाची शब्द **पांवरी** (१६६१) **पनहियां** (४६३) [सं० पदनद्धा, पदनद्धी] और **पद्त्राण** (४८२) [सं० पदत्राण] मिलते हैं—'पहिरि पितंबर; चरन पांवरी, ब्रज बीथिनि मै जात' (१६६१) । नवम स्कंध मे राम लक्ष्मण आदि भाइयों की शरक्रीड़ा शीर्षक पदों मे—'खेलत फिरत कनकमय आंगन पहिरे लाल पनहियां' (४६३) तथा दशरथ-विलाप शीर्षक पदों मे—'बिन रथ रूढ़, दुसह दुःख मारग, बिन पद-त्रान चलै दोउ भ्रात' (४८२) वर्णन है । कृष्ण के रूप-वर्णन में जूते का उल्लेख कम किया गया है । एक तो कृष्ण के सगुण रूप के परम्परागत पहनावे में जूते का स्थान नहीं है तथा गांव के अहीर ग्वाला आदि वर्ग के लोग जूते कम पहनते होंगे । आज भी निर्धनता के कारण यह वर्ग जूते[२] कम ही पहन पाता है । पदमावत में भी खड़ाऊँ अथवा पादुका के अर्थ मे 'पाँवरि' शब्द मिलता है—'पाँवरि पांव लीन्ह सिर छाता' (१२६।७) अथवा 'पावरि तजहु देहु पग पैरी'[३] (खड़ाऊँ उतार कर पनही पहनो) । पद्मावत में 'पाँवरि' पाँवड़े के अर्थ में भी मिलता है ।[४] सूरसागर के कृष्ण संबंधी उल्लेखों में पांवरि पादुका के अर्थ में ही आया है । नवम स्कन्ध में राम के 'पदत्रान' तथा 'पनहियां' जूते के अर्थ में आए हैं । कृष्ण की पादुका के लिए **खराऊं** (४४४५) शब्द भी कहीं-कहीं आया है—'अब सुनियत है धोती पहिरे, चढ़े खराऊँ न्हात ।'

४५—सूरसागर द्वारा दरबारों में प्रचलित **सिरोपाव** (१२०४, ३५५७) [सिर + पांव] देकर सम्मानित करने की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है । कंस ने अक्रूर को सिरोपाव देकर नन्दपुत्र को बुलाने भेजा—'कहि खवास को सैन दै, सिरोपाव मंगायौ अपने कर लै करि दियौ, सुफलक-सुत लीन्हौ' (३५५७) । कंस द्वारा नन्द को भी सिरोपाव[५] दिया गया—'दियौ सिरपाव

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० १५५

प० सं० टी०, ४६६।४ 'जेबा खोलि राग सों मढ़े'

२—प्रा० भा० वे०, पृ० १७६—महाव्युत्पत्ति में जूते के लिये उपानह, पादुका, पादवेष्टनिका और संडपूल शब्द आए हैं। संडपूल भारतीय मुंडा जूते से सम्बन्धित हो सकता है ।

पृ० २०—यजुर्वेद में 'उपानह' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख है ।

३—प० सं० व्या०, २७६।२ पैरी—पनही, जूता (अवधी)

४—प०सं० टी०, १६७।६ 'पांवरि होउ जहां ओहि पावा'

('स० पादपट्ट-पायवट्ट-पांवड़-पांवड़ा')

५—विवाह के अवसर पर दिये जाने वाले पांच वस्त्र 'पहिरावनी' कहलाते हैं । अथर्ववेद :९।५।२५: में भी पंचवस्त्रों का उल्लेख है—'पंच रुक्मा पंचनवानि वस्त्रा पंचास्मै धेनवः कामदुघा भवन्ति'

नृपराव ने महर कौं' (१२०५)। सिरपाव में जैसा कि शब्द से ही पता चलता है कि सिर से पैर तक की पूरी पोशाक होती है। इसमें पाग, अंगा, दुपट्टा, पाजामा तथा पटका होता है। पहिरावनि[1] (३५१७) का फाग प्रसंग में उल्लेख है—'रंग रंग पहिरावनि दई' (३५१७) अथव राधा शृंगार वर्णन में 'मनहुँ देति पहिरावनि अंग' (२८०१)। यह भी सिरोपाव का ही अर्थ देता है। आज कल भी यह प्रथा चल रही है।

कृष्ण गाय चराने के लिये जाते थे तो लकुट[2] (२०२४, २०५८) [सं० लगुडः, लकुटः, लगुलः,] भी अपने साथ रखते थे। 'कंचन-लकुट' का उल्लेख गोचारण शीर्षक पदों मे है—'आगे जाइ कनक-लकुटी लै, पंथ संवारि बतावै' (२०५८) अथवा—

'घट भरि देहु लकुट तब दैहौं।
हौं हूँ बड़े महर की बेटी, तुम सौ नहीं डरैहौ॥
मेरी कनक लकुटिया दैरी, मैं भरि दैहौ नीर।' (२०२४)
तथा 'कटि कछनी, कर लकुट मनोहर, गोचारन चले मन अनुमानि' (१८३३)।

आज भी ग्रामीण पुरुष बाहर जाते समय हाथ मे एक लाठी अवश्य रखते हैं। ग्वाले भी गाय चराने के लिये जाते समय छोटा-सा डण्डा लिये रहते हैं। 'लकुट' छोटे डण्डे के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। नन्द अपने गांव के 'महर' थे और विष्णु के सगुण रूप कृष्ण के रूप-वर्णन में विशेष वैभव तथा सम्पदा सूचक वस्तुओं का स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है। इसी को ध्यान में रखकर शायद कवि ने'लकुट' कनक की बताई है। गोवर्द्धन-धारण प्रसंग में गोप ग्वालों के लकुट रखने का ज़िक्र भी है—

'स्याम कहत नहिं भुजा पिरानी, ग्वालनि कियौ सहैया।
लकुटिनि टेकि सबनि मिलि राख्यौ, अरु बाबा नन्दरैया।' (१५८३)

माया नटी के वर्णन में—'माया नटी लकुटि कर लीन्हे कोटिक नाच नचायौ' (४२) द्वारा नटियों के लकुट लेकर नृत्य करने की ओर संकेत है।

तुलनात्मक

४६—सूर के समान तुलसी ने वस्त्राभूषणों का वर्णन नहीं किया है। राम कृष्ण तथा अन्य देवताओं के सगुण रूप वर्णन में उन्होने उनके परम्परागत वस्त्रों मे पीत बसन तथा पीताम्बर का उल्लेख किया है।

तुलसी ने विवाह के अवसर पर वर-वधू की सज्जा का संक्षिप्त वर्णन अवश्य किया है। वर के वस्त्रों मे पीत धोती, कटिसूत्र, पीत जनेऊ, मुद्रिका, पियर उपरना, कुंडल, तिलक तथा दुलहन की वेशभूषा में चूनरी तथा पीत पिछौरी का उल्लेख है। राम की शोभा का सुन्दर वर्णन है—

(१) 'पीत पुनीत मनोहर धोती, हरत बाल रबिदामिनि जोती।
कल किंकिनि कटिसूत्र मनोहर, बाहु बिसाल बिभूषन सुन्दर।
पीत जनेउ महाछबि देई, करमुद्रिका चोरि चित लेई।
सोहित ब्याह साज सब साजे, उर आयत भूषण उर राजे।
पियर उपरना कांखासोती, दुहुं आँचरन्हि लगे मनि मोती।

१—प० सं० टी०, ४८८।१ 'पान दीन्ह राघौ पहिरावा'

२—कृ० जी०, प्र० ८, अध्याय २—अंधेरा होने पर पशुशाला (सार) में जाते समय किसान सन की सेंटी जलाकर हाथ में ले लेते हैं उसे भी 'लकूटी' कहते हैं।

नयन कमल कल कुंडल काना, बदनु सकल सौन्दर्ज निधाना ।
सुन्दर भृकुटि मनोहर नासा । भाल तिलकु रुचिरता निवासा ।
सोहत मौरु मनोहर माथे । मंगलमय मुकुता मनि गाथे ।'[१]

(२) 'सोभा सींव सुभग दोउ बीरा । नील पीत जलजाम सरीरा ।।
मोरपंख सिर सोहत नीके । गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के ।।
भाल तिलक श्रमबिन्दु सुहाये । श्रवन सुभग भूषन छबि छाए ।।
बिकट भृकुटि कच घूघरवारे । नव सरोज लोचन रतनारे ।।'[२]

पद्मावत में पुरुषों के वस्त्रों से सम्बन्धित शब्दावली बहुत कम है। पद्मावती के शृङ्गार तथा रूप वर्णन की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। रत्नसेन के प्रारम्भिक जोगी रूप के बाद विवाह के अवसर पर वर रूप में जो वर्णन है उसमें मुकुट, सोने के जड़ाऊ कुंडल, लाल दगला तथा पनही का उल्लेख मिलता है। दगला मोटे वस्त्र का रुईदार अंगरखा होता था। इसी को आईने अकबरी में 'गदर' नामक वस्त्र बताया गया है। चित्रावली में राजा की वेश-भूषा में 'दगल' का उल्लेख है।[३]

७—बच्चों का पहनावा

४७—सूरसागर के नवम-स्कन्ध में दशरथ-पुत्रों के शर-क्रीड़ा सम्बन्धी दो पदों में उन बालकों के वस्त्रों का वर्णन भी किया गया है—'खेलत फिरत कनकमय आंगन, पहिरे लाल पनहियां' (४६३) तथा 'कटि-तट पीत पिछौरी बाँधे, काकपच्छ धरे सीस' (४६४)। कवि ने उन बालकों के बारे में इतना ही कह कर सन्तोष कर लिया है किन्तु दशम स्कन्ध के प्रारम्भिक अंश में शिशु तथा बालक कृष्ण की शोभा तथा रूप-माधुर्य का अनेक पदों मे बारबार वर्णन करके भी उसे तृप्ति नहीं होती। उन्होंने जन्म से लेकर बड़े होने तक सब संस्कारों के साथ ही हर नई बात जैसे दांत निकलना, घुटने चलना, पैरों चलना, बोलना, आदि का चित्र सा खींच दिया है। बलराम सम्बन्धी भी कुछ अंश है। इन पदों के आधार पर हम सूर के समय में प्रचलित बच्चों के वस्त्रों पर कुछ प्रकाश डाल सकते हैं।

छोटे बच्चों के सिले हुये वस्त्रों में झंगुलिया (७२५) झंगूली (७३५) झंगुली (७०७) झंगुलि (६५७) तथा झगा (६५७) प्रमुख वस्त्र ज्ञात होता है। अनेक पदों में इसकी चर्चा की गई है—'पीत झगुंलिया की छवि छाजति, बिज्जुलता सोहति मनु कन्दहि' (७२५) अथवा 'स्याम बरन पट पीत झंगुलिया' (७५०) या 'कुलही चित्र बिचित्र झंगूली'[४] (७३५) 'छोटौ बदन छोटियै झिगुली' (७५१)। कृष्ण के जन्मोत्सव पर ढाढ़ियों को भी दान दिया गया—'देवै को बड़ौ महर, देत न लावै गहर, लाल की बधाई पाऊं, लाल कौ झगा' (६५७)। झगुली का रंग पीला ही बताया गया है। बड़े होने पर भी कृष्ण का प्रिय रंग पीला था। एक स्थान पर कमखाब से बने झगा का जिक्र है—'प्रफुलित ह्वै के आनि, दीनी है जसोदा रानी, झीनीयै झगुलि तामैं

१—मानस, बालकाण्ड, ३२७
२—मानस, बालकाण्ड, २३३
३—प० सं० टी०, पृ० २६३ ३४०।२ 'दगल चीर पहिरहिं बहुभांती'
२७६, 'पहिरउ राता दगल सुहावा'
४—तु० ग्रं०, गीता० पृ० २६१, 'कुलही चित्र बिचित्र झंगूली'
— [illegible] 'पीत झंगुलिया तन पहिराई' (१६६)

कंचन-तगा' (६५७)। कमख़ाब के वस्त्र भारत में प्राचीन काल से ही बनते रहे हैं। मुगलकाल में तो बादशाह तथा बेगमों को यह वस्त्र बहुत प्रिय था और बहुत-सा धन कमख़ाब के वस्त्रों पर व्यय किया जाता था। आजकल भी बनारस की बनी 'ब्रोकेड' प्रसिद्ध है। 'झगा' एक प्रकार का ढीला कुर्ता होता था। आजकल भी कहो-कही विवाह मे निकरौसी के समय यह वर को पहनाया जाता है।[१] झगा का ही अल्परूप झगुला या झंगुलिया है। यह बच्चों को पहनाया जाता है। इस कुर्ते को विशेष प्रकार से सीते हैं। गले में एक चौड़ी-सी पट्टी लगाकर उसमें फ़ीता डाल कर खींच कर बांधा जाता है। आजकल इसी वस्त्र को 'झबला' भी कहते हैं।

एक अन्य वस्त्र बगा, बागे (६५७, ७१३) [फा० बाग] का उल्लेख भी है—'नाचैं फूल्यौ अँगनाइ, सूर बकसीस पाइ, माथे कै चढ़ाइ लीनौ लाल को बगा' (६५७) अथवा 'मेरे कहैं बिप्रनि बुलाइ, एक सुभ घरी धराइ' बागे चीरे बनाइ, भूषन पहिरावौ' (७१३)। बगा अगरखे से मिलता-जुलता एक वस्त्र होता है। इसमें सीने पर तीन बन्द लगाए जाते हैं तथा लम्बाई घुटने तक होती है। आजकल कहीं-कहीं 'बागा' पगड़ी तथा दुपट्टा दोनों को मिला कर कहते हैं।[२]

८—बिना सिले वस्त्रों मे पीत पट (७१५), पिछौरी (७६६) ओढ़नी (७३४) तथा निचोल (७१२) मिलते हैं। ये शब्द बाद के कृष्ण सम्बन्धी पदों में भी मिलते हैं। शिशु कृष्ण ने घुटनों चलना आरम्भ कर दिया है—'आंगन खेलत घुटुरुनि धाये।....

उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट-पीत उढ़ाये।

नील जलद पर उडुगन निरखत, तजि सुभाव मनु तड़ित छपाये' (७२२)

फिर वे पैर-पैर चलने लगते है—'मनिमय आंगन नन्द कैं खेलत दोउ भैया....नील पीत पट ओढ़नी[३] देखत जिय भावै।' (७३४)। बाद के पदों में भी बलराम के वस्त्रों का रंग नीला वर्णित है। दोनों बालक आंगन में दौड़-दौड़ कर खेलने लगे हैं—

'पियरी पिछौरी झीनी और उपमा न भीनी।

बालक दामिनि मानौ ओढ़े बारौ बारि-धर।' (७६६)

इस पद में पिछौरी सम्भवतः ओढ़नी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वर्षगांठ के अवसर पर माता यशोदा ने उबटन लगा कर, स्नान करवा कर लाल निचोल (७१२) [सं० निचोल = चादर, ओढ़नी, घूंघट, पलंग-पोश, डोली का परदा; सं० निचोलकः = जाकेट, अंगिया, उरस्त्राण] पहनाया—'सिर चौतनी डिठौना दीन्हौ, आँखि आँजि पहराइ निचोल (७१२)। बाद में भी एक दो पदों में कृष्ण के वस्त्रों में निचोल शब्द प्रयुक्त किया गया है—'ओढ़े पीरी पामरी (हो) पहिरे लाल निचोल।' (२०७५) दोनों स्थानों पर इस वस्त्र का रंग लाल ही बताया गया है। इन पदों में यह शब्द सम्भवतः शरीर के उर्ध्वभाग के किसी वस्त्र, कुर्त्ता अथवा जाकेट आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

४६—इन वस्त्रों के अतिरिक्त बच्चे टोपी भी पहनते थे। टोपी के लिये दो शब्द प्रमुख रूप से प्रयुक्त हुए हैं—'चौतनी' (७३४, ७०७) [चार + तनी] प्रायः लाल बताई गई है—'भाल तिलक मसि-बिन्दु विराजत, सोभित सीस लाल चौतनियाँ' (७२४) तथा 'तन झँगुली सिर लाल चौतनी' (७०७)। चार या छः 'तनी' या पतली पट्टियां लगा कर यह टोपी बनती

१—कृ० जी०, प्र० ११, अध्या० १

२—कृ० जी०, प्र० ११, अध्या० १

३—सु० ग्रं०, गीता०, पृ० २८६, पद २७—'नीलपीत मनसिज-सरसिज मंजुल'

नयन कमल कल कुंडल काना, बदनु सकल सौन्दर्ज निधाना।
सुन्दर भृकुटि मनोहर नासा। भाल तिलकु रुचिरता निवासा।
सोहत मौरु मनोहर माथे। मंगलमय मुकुता मनि गाथे।'[१]

(२) 'सोभासींव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाम सरीरा॥
मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुमकली के॥
भाल तिलक श्रमबिन्दु सुहाये। श्रवन सुभग भूषन छबि छाए॥
बिकट भृकुटि कच घूघरवारे। नव सरोज लोचन रतनारे॥'[२]

पद्मावत में पुरुषों के वस्त्रों से सम्बन्धित शब्दावली बहुत कम है। पद्मावती के शृङ्गार तथा रूप वर्णन की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। रत्नसेन के प्रारम्भिक जोगी रूप के बाद विवाह के अवसर पर वर रूप में जो वर्णन है उसमे मुकुट, सोने के जड़ाऊ कुंडल, लाल दगला तथा पनही का उल्लेख मिलता है। दगला मोटे वस्त्र का रुईदार अंगरखा होता था। इसी को आईने अकबरी में 'गदर' नामक वस्त्र बताया गया है। चित्रावली में राजा की वेश-भूषा में 'दगल' का उल्लेख है।[३]

७—बच्चों का पहनावा

४७—सूरसागर के नवम-स्कन्ध में दशरथ-पुत्रों के शर-क्रीड़ा सम्बन्धी दो पदों में उन बालकों के वस्त्रों का वर्णन भी किया गया है—'खेलत फिरत कनकमय आंगन, पहिरे लाल पनहियां' (४६३) तथा 'कटि-तट पीत पिछौरी बाँधे, काकपच्छ धरे सीस' (४६४)। कवि ने उन बालकों के बारे में इतना ही कह कर सन्तोष कर लिया है किन्तु दशम स्कन्ध के प्रारम्भिक अंश में शिशु तथा बालक कृष्ण की शोभा तथा रूप-माधुर्य का अनेक पदों मे बारबार वर्णन करके भी उसे तृप्ति नहीं होती। उन्होंने जन्म से लेकर बड़े होने तक सब संस्कारों के साथ ही हर नई बात जैसे दांत निकलना, घुटने चलना, पैरों चलना, बोलना, आदि का चित्र सा खींच दिया है। बलराम सम्बन्धी भी कुछ अंश है। इन पदों के आधार पर हम सूर के समय में प्रचलित बच्चों के वस्त्रों पर कुछ प्रकाश डाल सकते है।

छोटे बच्चों के सिले हुये वस्त्रों में झंगुलिया (७२५) झंगूली (७३५) झंगुली (७०७) झंगुलि (६५७) तथा झगा (६५७) प्रमुख वस्त्र ज्ञात होता है। अनेक पदों में इसकी चर्चा की गई है—'पीत झगुंलिया की छवि छाजति, बिज्जुलता सोहति मनु कन्दहि' (७२५) अथवा 'स्याम बरन पट पीत झंगुलिया' (७५०) या 'कुलही चित्र बिचित्र झंगूली'[४] (७३५) 'छोटौ बदन छोटियै झिगुली' (७५१)। कृष्ण के जन्मोत्सव पर ढाढ़ियों को भी दान दिया गया—'देवै को बड़ौ महर, देत न लावै गहर, लाल की बधाई पाऊं, लाल कौ झगा' (६५७)। झगुली का रंग पीला ही बताया गया है। बड़े होने पर भी कृष्ण का प्रिय रंग पीला था। एक स्थान पर कमखाब से बने झगा का जिक्र है—'प्रफुलित ह्वै के आनि, दीनी है जसोदा रानी, झीनीयै झगुलि तामैं

१—मानस, बालकाण्ड, ३२७
२—मानस, बालकाण्ड, २३३
३—प० सं० टी०, पृ० २६३ ३४०।२ 'दगल चीर पहिरहिं बहुभांती'
२७६, 'पहिरउ राता दगल सुहावा'
४—तु० ग्रं०, गीता० पृ० २६१, 'कुलही चित्र बिचित्र झंगूली'
मानस, बाल १९९, 'पीत झंगुलिया तनु पहिराई' (१९९)

कंचन-तगा' (६५७)। कमखाब के वस्त्र भारत में प्राचीन काल से ही बनते रहे हैं। मुगलकाल में तो बादशाह तथा बेगमों को यह वस्त्र बहुत प्रिय था और बहुत-सा धन कमखाब के वस्त्रों पर व्यय किया जाता था। आजकल भी बनारस की बनी 'ब्रोकेड' प्रसिद्ध है। 'झगा' एक प्रकार का ढीला कुर्ता होता था। आजकल भी कहो-कही विवाह मे निकरौसी के समय यह वर को पहनाया जाता है।[१] झगा का ही अल्परूप झगुला या झंगुलिया है। यह बच्चों को पहनाया जाता है। इस कुर्ते को विशेष प्रकार से सीते हैं। गले में एक चौड़ी-सी पट्टी लगाकर उसमें फ़ीता डाल कर खींच कर बांधा जाता है। आजकल इसी वस्त्र को 'झबला' भी कहते हैं।

एक अन्य वस्त्र बगा, बागे (६५७, ७१३) [फा० बाग] का उल्लेख भी है—'नाचै फूल्यौ अँगनाइ, सूर बकसीस पाइ, माथे कै चढ़ाइ लीनौ लाल कौ बगा' (६५७) अथवा 'मेरे कहैं बिप्रनि बुलाइ, एक सुभ घरी धराइ' बागे चीरे बनाइ, भूषन पहिरावौ' (७१३)। बगा अगरखे से मिलता-जुलता एक वस्त्र होता है। इसमें सीने पर तीन बन्द लगाए जाते हैं तथा लम्बाई घुटने तक होती है। आजकल कहीं-कहीं 'बागा' पगड़ी तथा दुपट्टा दोनों को मिला कर कहते हैं।[२]

८—बिना सिले वस्त्रों मे पीत पट (७१५) पिछौरी (७६६) ओढ़नी (७३४) तथा निचोल (७१२) मिलते हैं। ये शब्द बाद के कृष्ण सम्बन्धी पदों में भी मिलते हैं। शिशु कृष्ण ने घुटनों चलना आरम्भ कर दिया है—'आंगन खेलत घुटुरुनि धाये।....

उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट-पीत उढ़ाये।

नील जलद पर उडुगन निरखत, तजि सुभाव मनु तड़ित छपाये' (७२२)

फिर वे पैर-पैर चलने लगते हैं—'मनिमय आंगन नन्द कैं खेलत दोउ भैया....नील पीत पट ओढ़नी[३] देखत जिय भावै।' (७३४)। बाद के पदों में भी बलराम के वस्त्रों का रंग नीला वर्णित है। दोनों बालक आंगन में दौड़-दौड़ कर खेलने लगे हैं—

'पियरी पिछौरी झीनी और उपमा न भीनी।

बालक दामिनि मानौ ओढ़े बारौ बारि-धर।' (७६६)

इस पद में पिछौरी सम्भवतः ओढ़नी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वर्षगांठ के अवसर पर माता यशोदा ने उबटन लगा कर, स्नान करवा कर लाल निचोल (७१२) [सं० निचोल = चादर, ओढ़नी, घूंघट, पलंग-पोश, डोली का परदा; सं० निचोलकः = जाकेट, अंगिया, उरस्त्राण] पहनाया—'सिर चौतनी डिठौना दीन्हौ, आँखि आँजि पहराइ निचोल (७१२)। बाद में भी एक दो पदों में कृष्ण के वस्त्रों में निचोल शब्द प्रयुक्त किया गया है—'ओढ़े पीरी पामरी (हो) पहिरे लाल निचोल।' (२०७५) दोनों स्थानों पर इस वस्त्र का रंग लाल ही बताया गया है। इन पदों में यह शब्द सम्भवतः शरीर के उर्ध्वभाग के किसी वस्त्र, कुर्त्ता अथवा जाकेट आदि के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

४६—इन वस्त्रों के अतिरिक्त बच्चे टोपी भी पहनते थे। टोपी के लिये दो शब्द प्रमुख रूप से प्रयुक्त हुए हैं—'चौतनी' (७३४, ७०७) [चार + तनी] प्रायः लाल बताई गई है—'भाल तिलक मसि-बिन्दु विराजत, सोभित सीस लाल चौतनियाँ' (७२४) तथा 'तन झँगुली सिर लाल चौतनी' (७०७)। चार या छः 'तनी' या पतली पट्टियां लगा कर यह टोपी बनती

१—कु० जी०, प्र० ११, अध्या० १

२—कु० जी०, प्र० ११, अध्या० १

३—सु० ग्रं०, गीता०, पृ० २८६, पद २७—'नीलपीत मनसिज-सरसिज मंजुल'

है और इसका आकार गोल होता है। आजकल भी बच्चे इस प्रकार की टोपी पहनते हैं।[१] तनी कपड़े की दोहरी सिली पतली-सी पट्टी को कहते हैं। सूर ने भी 'तनी' शब्द प्रयुक्त किया है— 'तनी चोली की तोरी' (३४८८)।

टोपी के अर्थ में एक दूसरा शब्द **कुलही** (७२६, ७७८) तथा **कुलहिया** (७५०) [फा० कुलाह] भी मिलता है—

'कुलही लसति सिर स्यामसुन्दर के बहुबिधि सुरंग बनाई।
मानो नवघन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई।' (७२६)

या 'सिर कुलही पग पहिरि पैंजनी, तहाँ जाहु जहं नन्द बबा रे' (७७२)

या 'सीस कुलहिया चौतनियाँ (७५०)

कुलही कुलाह के आकार की छोटे बच्चों की टोपी होती है। इसमें चार तनी होने पर 'चौतनिया' कुलहिया (७५०) कहते होंगे। बच्चों की टोपी कई रंगों की भी बनाते होंगे, इसीलिये श्याम कृष्ण के शरीर पर रङ्ग-बिरङ्गी टोपी की उपमा बादलों के ऊपर इंद्रधनुष से दी गई है।[२]

८—स्त्रियों के आभूषण

५०—सूरसागर में राधा तथा गोपियों के आभूषणों का अनेक पदों में विस्तार से वर्णन किया गया है। यह विशेषतः कृष्ण के मथुरा-गमन से पहले के संयोग प्रेम संबंधी पदों में है। कुछ पदों में (१६६१, २०६३, २१५८, २११६, ३४५०) केवल आभूषणों के नामों की मात्र सूची दी गई है। इनमें से कुछ प्राचीन तथा कुछ विदेशी नाम हैं। अलंकार-शास्त्रियों ने स्त्रियों के बारह आभूषण माने हैं—शीशफूल, टीका, बाली, बेसर, कंठश्री, हार, बाजूबंद, चूड़ी, कंगन, अंगूठी, किंकिणी तथा नूपुर। जायसी ने इसका उल्लेख पद्मावत में कई स्थलों पर किया है।[३] धीरे-धीरे अनेक प्रकार के आभूषण प्रचलित हो गए। सूरसागर मे भी इन बारह आभरणों के अतिरिक्त अन्य बहुत से नाम मिलते हैं।

सूरदास जी ने आभूषणों के लिए प्रधानतया **आभूषन** (१२४६) [सं० आभूषण], **भूषन** १६५५) [सं० भूषण], **आभरन** (१८०२) [सं० आभरण] तथा **अभरन** (१६२५) पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त किये हैं, जैसे—'रचि आभरन सिंगार, अंग सजि, ज्यां रतिपति सजनी' (२८०२), 'अङ्ग अभरन उलटि साजे' (१६२५), 'अग अंग अभूषन' (२६४४) तथा 'जब देखैं उलटे भूषन' (१६५५)। कहीं-कहीं **गहना** (परि०८) [सं० ग्रहणक, ग्रहणग्र, गहना] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है—'गहनो अगढ़ गढ़ायो।' जायसी तथा तुलसी ने भी प्रायः यही शब्द प्रयुक्त

१—मानस, बालकाण्ड, दो० २४३ 'पीत चौतनीं सिरन्हि सुहाई। कुसुमकलीं बिच बीच बनाईं।

२—तु० ग्र० गीता०, पृ० २६२ 'सादर सुमुखि विलोकि—सुधि न अपनियां' ३१ सूरसागर के 'आदर सहित विलोकि—सुधिन अपनियां' में बहुत साम्य है। एक नये शब्द 'नगकनियां' के अतिरिक्त वस्त्राभूषाणों की बिलकुल एक ही शब्दावली है।

३—प० सं० व्या०, २६६।३-८ 'पुनि कानन्ह कुंडल पहिरेई....
बारह अभरन एइ बखाने, ते पहिरे बरहो अस्थाने।'

किये हैं ।[१] आजकल गहना तथा जेवर [फा०] के अतिरिक्त बोलियों में 'माल' या 'चीज' शब्द भी बोले जाते हैं । ऊपर के अंशों से शरीर के प्रत्येक अंग पर जेवर पहनने की प्रथा की ओर भी संकेत किया गया है--'अग अंग आभूषन' (२६४४) अथवा 'अंग-अंग आभूषन की छवि कापै होइ बखान' (३०६४) ।

जेवर प्राय: मोती, सोने-चाँदी के या जड़ाऊ बनाए जाते हैं । सूरसागर में सोने या मोती के अथवा रत्नजटित आभरणों के उल्लेख ही प्रमुख रूप से किये गए हैं । इस प्रकार के जेवर बहुमूल्य व सुन्दर होते हैं । सूरसागर मे अधिकतर आभूषणों के नाम ही दिए गए हैं, किन्तु कहीं-कहीं आभूषण विशेष की बनावट के बारे मे भी बताया गया है, जैसा कि आगे आभूषणो की व्याख्या में बताया जायगा । कहीं-कहीं साधारण तथा सभी आभूषणों के बारे मे भी बताया गया है, जैसे—'सूरदास कंचन के अभरन ले झगरिनि पहराई' (६३४) अथवा 'मनिमय भूषन मंगनौ' (३४५०) तथा 'कनक खचित मनिमय आभूषन ।' **मनिमय** या **मनि भूषन** (३४५०, १६७३) का उल्लेख अनेक बार हुआ है —'मनिमय भूषन षट अंग साजै' (परि० १०८) अथवा 'कंबु कंठ नाना मनिभूषन' (१६७३) । जड़े हुए गहनों के लिये **जराइ** (३२३१), **जराऊ** (२०६३) या **रतन-जटित** (१७७८) भी कहा गया है । कहीं-कहीं जड़ाऊ जेवर से उपमा भी दी गयी है —'स्याम तनु घन नील मानौ, तड़ित तनु सुकुमारि । मनौ मरकत कनक मंजुत, सच्यौ काम सँवारि' (२६०७) । जायसी ने भी जड़ाऊ जेवरों का वर्णन किया है ।[२]

५१—**मांग** के ऊपर पहनने का एक आभूषण **मांगपाटी** [सं० मङ्ग–प्रा० मंग-मांग] होता है—'मांग पाटी सुभग' (१६६०) । शृंगार तथा प्रसाधन के सिलसिले में मांग मोती से भरने का उल्लेख किया गया है । **मस्तक** पर पहनने के तीन चार आभरणों के नाम सूरसागर में दिये गये है—**चंदक**, **चन्द्रिका** (२०५७, ७१५) [स० चद्रिका], **बेंदी** (२४६६) [सं० विंदु] **सीसफूल** [२११६) [सं० शीर्ष + फूल] तथा **टीकौ** (२१५८) [सं० तिलक] । माथे पर लटकता हुआ अर्द्धचंद्राकार आभूषण चंद्रक कहलाता है । यह एक शृंखला से माग के ऊपर लटका लिया जाता है । चंदक या चंदवा चांदी का भी बनाते हैं तथा अन्य प्रकार से भो । इसमें तीन शृंखलाएं होती है । बीच वाली मे चांद के आकार की पत्तियां लगी होती हैं जो माग के ऊपर आती है । शेष दोनों कानों के ऊपर लटकती रहती हैं जिनमें झुमके लगे होते है[३] । पनघट-लीला, २०५७ में चंदक की उपमा महावत से दी गयी है—

'चंदक मनहुँ महाउत मुख पर' । बालक कृष्ण की 'चंद्रिका मानिक' (७१५) का उल्लेख किया जा चुका है ।

बेंदी या टीका चंद्राकार होता है तथा एक शृंखला से बंधा हुआ माथे पर लटकता

१—प० सं० व्या०, ११० 'चांद सूरज अरु गहने' ।
मानस, बालकाण्ड, २४८, 'भूषन सकल सुदेस सुहाये, अंग-अंग रुचि सखिन्ह बनाये ।'

२—प० सं० व्या०, २६७, 'पहिरि जराऊ ठाढ़ि भौ बरनि न आवै भाउ' ।
३१६।५, 'कंचन करी चढ़ी नग जोती ।
बरमा सौ बेंधा जनु मोती ।'
४४०।६, 'कंचन करी रतन नग बना ।
जहां पदारथ सोह न पना ।'

३—प्रा० ग्रा०, पृ० १३८

रहता है। इसे प्राय: नगों से जड़ा हुआ बनाते हैं और किनारे मोतियों की झालर होती है। बेंदी या बिंदी चांदी की भी बनाते हैं। इसका दूसरा नाम बेना भी है। सूरसागर में नग इसकेजड़े होने का वर्णन है—'गोरें भाल बिंदु सेंदुर पर टीका धर्यौ जराऊ' (२११६) तथा 'जराइ कौ टीको' (२१५८) या 'बदन बिंद, जराइ की बेंदी' (३२४६)। शीशफूल का आकार फूल के समान गोल होता है। इसको बोर, बोरला या बोरिया कहते हैं। राधा नग [फा० नगीं, नगीन:] से जड़ा शीशफूल पहनती हैं—'सीसफूल अति लसत नग जर्यौ, ता पर सेस सीसमनि वारत' (२८०७)। सादा शीशफूल भी पहना जाता था—'कबहूँ राखति सीसफून लटकाइ कै' (२८०८)। झूला झूलते समय माथे का शीशफूल भी ताटंक के साथ ध्यान आकर्षित करता है—'श्री सीसफूल, अमोल तरिवन, तिलक सुदर भाल' (३४५६)। श्री (३४५६) या सिरी[1] भी माथे की टिकुली या बेंदी नामक आभूषण को कहते हैं। परि० ७ में 'काहूँ दीन्ही खोर' का उल्लेख है। खोर या खौर माथे के एक आभूषण को भी कहते है। नागमणि पहनने का उल्लेख भी है—'मनि-नाग सीस धरि' (३२३६)। आजकल राजस्थान, गुजरात एवं मध्यप्रदेश में बोर पहने हुए स्त्रियां दिखायी देती है। विवाह के अवसर पर प्राय: वधू को बेंदी या टीका पहनाने की प्रथा चली आ रही है। इसको सौभाग्यसूचक भी मानते हैं। सूरसागर मे भी यह संकेत है—'सीसफूल, मनि-नाग सीस धरि, मनु सुहाग को छत्र तनायौ' (३२२६)। मोहनजोदड़ो की खुदाई मे सिर पर बांधने की दस-बारह इंच लंबी सोने की पत्तियां सी मिली हैं। सिन्धु-सभ्यता के इस आभरण से मिलता-जुलता आभरण 'पात' आज भी दक्षिणी-पूर्वी पंजाब मे पहना जाता है। हर्षचरित मे सिर के कुछ इसी प्रकार के आभरण बालपाश तथा मस्तक की चटुला-तिलक मणि का उल्लेख है। गुप्तकालीन स्त्री मूर्तियों के मस्तक पर यह मणि देखी जा सकती है।[2]

५२—कान के आभूषणों मे कुंडल (२७६६) [सं०] अत्यन्त प्राचीन हैं जिसे स्त्री तथा पुरुष दोनां ही समान रूप से पहनते थे।[3] कृष्ण का तो यह प्रिय अलंकार था ही, ब्रज की स्त्रियां भी इसे पहनती थीं। राधा के कानों में सूर्य या बिजली के समान देदीप्यमान कुंडलों[4] का वर्णन कई जगह है—

'कुंडल झलमलात झलकत अति चकाचौंध नैन न ठहरात' (२७६६)
स्रवननि कुंडल रबि सम ज्योती' (३५१६)

१—प० सं० व्या०, ४७२।७ 'सिरी जो रतन मांग बैसारा।
जानहुँ गगँन टूटि निसि तारा।'

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० २३, १५५, १७ 'ललाटलासव सीमन्तचुम्बी चटुला-तिलक मणि:'

३— ,, ,, ,, पृ० ४७, 'कुंडलमणिकुटिलकोटिबालवीणा' (हर्ष चरित)
साधना भूमि की स्त्री के कानों में द्वितीया के चंद्र के समान दन्तपत्र का कुंडल था।

४—प० सं० व्या०, ११०, 'कुंडल कनक रचे उजियारे'
४७६, 'मनि कुंडल चमकहिं अति लोने।
जनु कौंधा लौकहिं दुहुँ कोने।
दुहुँ दिसि चांद सुरज चमकाहीं।
नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाहीं।'

मणिजटित कुंडल के संबंध में भी पता चलता है—'मनि कुंडल ताटंक बिलोल' (१७६८)। ताटंक तथा कुंडल की शोभा अवर्णनीय थी—

'कुंडल सँग ताटंक एक भए जुगल कपोलनि झांई' (१७५६)।

कान के इस दूसरे आभूषण **ताटंक** (१६१६, १७७८) [सं० ताटंकः], **तरिकौ** (२१०५) [सं० तालकः, ताटंकः] या **तर्यौना, तरिवनि, तरौन** [२८२३, २०६३, ६४२] का आभूषण संबधी प्रायः सभी पदों में निर्देश हुआ है। इससे यही सिद्ध होता है कि उस समय का यह प्रिय तथा अधिक प्रचलित आभूषण था। यह फूल के आकार का गोल रोनोंदार टॉप्स होता है, अतएव इसकी उपमा कई जगह चक्र से दी गई है—

'चक्र तर्यौना' (३२३१) अथवा 'की मनमथ-रथ-चक्र कि तरिवन, रवा रचित सह-साज।
स्रवन कूप की रँहट-घंटिका, राजत सुभग समाज॥ (३०६३)

गोपियों तथा राधा के ताटंक का वर्णन अनेक स्थलों पर किया गया है:—

'स्रवन तरिवन-छबि को कबि कहै निबारि' (३६४५)

'सुभ स्रवननि तरल तरौन, बेनी सिथिल गुही' (६४२)

दधिदान प्रसंग मे कृष्ण द्वारा आभूषण छीनने के सिलसिले में भी निर्देश है—'नकबेसरि खुठिला, तरिवन कौ' (२०६३) तथा 'मोती बगरि रहे सब बन म, गयौ कान कौ तरिकौ'। (२१०५) मुरली ध्वनि से बेसुध हो ब्रज की स्त्रियां उलटे ताटंक पहन लेती हैं—स्रवन ताटंक उलटे सवारो'। (१६१६) जडाऊ ताटंक का उल्लेख भी है—'स्रवन मनि ताटंक मंजुल' (२७५१) या 'तरिवन स्रवन रतन मनि भूषित'। (२७३६) नोलम जड़े ताटंक का वर्णन भी किया गया है—'ताटंक गंड पर, रतनजटित मनि नीलो (१७७८) कहीं कहीं अत्यन्त सुन्दर उत्प्रेक्षा द्वारा वर्णन है—

'सुभग स्रवन तरिवन मनि भूषित इहिं उपमा नहिं पार,
मनहु काम विधि फंद बनाए, कारन नंदकुमार।' (२११६)

आजकल इसे तरकी कहते हैं। ग्रामीण स्त्रियां अक्सर पहनती है। इसकी घुंडी मोटी होने के कारण कान का छेद खूब बड़ा किया जाता है। घुडी पर प्रायः ताड़ का पत्ता लपेट लिया जाता है। पहले सभवतः इसे ताड़ के पत्ते से बनाते होंगे, अतः इसका यह नाम पड़ गया होगा। गांव में लाख की तरकी भी पहनी जाती है।

इसका एक अन्य नाम **वीरैं** (३२२६) या **बीरे** (३४४६) था, जिसका आकार भी चक्र या सूर्य-शशि के समान बताया गया है तथा सोने का रत्नजटित—'काननि की वीरैं अति राजति मनहुँ मदन रथ चक्र चढ़ायौ' (३२२६)

अथवा—'कनक जटित जराइ बीरे कबिनु उपमा पाइ
सूर ससि द्वै एक ब्रज मैं, उगे मानौं आइ।'

५३—थोड़े से ही स्थलों में अवतंस (३२३०) [सं० अवतंसः] का उल्लेख भी है—मिलि राजत अवतंस'। यह बालो के समान कान का एक आभरण है। बाण ने हर्ष के आभरणों में 'श्रवणावतंस' का उल्लेख किया है जिसे संभवतः कुंडल के ऊपर पहनते थे।[1]

करन-फूल (२८०७, २८०८) [सं० कर्ण+फूल] का उल्लेख भी ताटंक के समान हो अनेक बार किया गया है। यह करन फूल (एक छोटा सफेद फूल) की अनुकृति पर बनाया जाता है। कर्णफूल भी ब्रज की स्त्रियों का प्रिय आभरण ज्ञात होता है—'करनफूल कर लिये संवारति,

---

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० ४७

(२८०७) या 'मानौ कर्नफूल चारा कौ' (३२२८) आजकल ग्रामीण बोली में इसे 'कनफूल' भी कहते हैं। कभी-कभी कर्णफूल के बीच में शीशा जड़ कर भी बनाते हैं। जायसी ने भी नाक के कर्णफूल का उल्लेख किया है।[१]

कान के छेद मे पहने जाने वाले अन्य आभूषणों में खुठिला, खुटिला (२०६३) (३२३१) तथा खुंभि या खुंभी (२०५७, १६७३) भी थे। 'खुंटिला सुभग जराइ के मुक्ता मनि छबि देत, प्रगट भयो घन मध्य तैं, मनु ससि नखत समेत, में जड़ाऊ खुटिला का वर्णन है। जायसी ने सभवतः इसी के लिए खूंट या खूटी नाम दिये हैं जिसका आकार दीपक के समान होता था।[२] ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने 'खुटी' नामक आभूषण का उल्लेख नायिका के अलकारों में किया है (वर्णरत्नाकर पृ० ४) तथा उसे 'खुन्ती' नाम भी दिया है (पृ०[३] ४६)। खुमी या खुभी लंवग की अनुकृति पर बनाते थे। सूरसागर में उसके आकार की ओर संकेत है—'खुभिनि जराव-फूल दुति यौं, मनु द्वै ध्रुव-गति रजनी'[४] (२८०२) 'मोतिनि हार जलाबल मानौ, खुभी दंत झलकावै (२०५७)। जड़ाऊ खुभी भी वर्णित है—'खुभी जराइ जरी है' (१६७३)।

५४—कान का अन्य आभरण झूमक, झूमका (६५८, १७६८) भी था। यह कान से नीचे लटकता रहता है और इसे उल्टी कटोरी की अनुकृति पर बनाते हैं। इसमें किनारे मोती की झालर होती है और बीच में लटकन। यह कर्णफूल के साथ भी पहना जाता है। रासनृत्य प्रसंग में कान के हिलते हुए झुमकों का वर्णन है—'अंचल चंचल झूमका' (१७९८) 'चंचल चलत झूमका', अचल अद्भुत है वह रूप, (१६७५)। कृष्ण जन्म पर भी दाई को नेग में देने का उल्लेख है—'लाख टका, अरु झूमका (देहु) सारी, दाइ को नेग'। इस आभूषण के अधिक उल्लेख नहीं हैं। लगता है ताटंक तथा कर्णफूल पहनने की अधिक प्रथा थी। आजकल गाँवों में प्रचलित कान के आभरणों मे तरकी, कनफूल, ऐरन (Earring अं०) बारी या वाली लौंग, ढार तथा बिरिया आदि के नाम लिये जा सकते हैं तथा शहरों में प्रचलित तरह-तरह के टॉप्स, बाली, तथा इयरिंग के। सूरकालीन प्रचलित आभरणों में मोती की बाली का प्रमुख स्थान था, किन्तु न जाने क्यों सूरसागर मे इसका उल्लेख नहीं है। वाण ने हर्षचरित में बालिका-शब्द प्रयुक्त किया है।[५] तथा काशिका हिरण्य 'वल्ली' आया है।[६] पद्मावत में भी 'बारी' शब्द मिलता है।[७]

५५—नाक के प्रमुख आभूषणों में नथुनी, नथ, (२६४५, २७४६, ३०६३) [सं० नस्त-नत्थ-नाथ-नथ], बेसरि, नकबेसरि (६९०, २०६३, ३५१९) [सं० द्वयस्र-बेसर]

१—प० सं० व्या० ४२।१५, 'करनफूल पहिरे उजियारा'

२— ,, ,, ११०।४ 'तेहि पर खूंट दीप दुइ बारे। दुइ ध्रुव दुऔ खूंट बैसारे।'
४७६।७ 'खूंट दुहूँ ध्रुव तरई खूटीं। जानहुँ परहिं कचपची टूटी।'

३—प० सं० व्या०, पृ० १०७।४

४— ,, ,, ११०।५ 'पहिरे खुंभी सिंघल दीपी।
जानहुँ भरी कचपची सीपी।'

५—हर्ष० सां० अ०, पृ० २३ 'बकुलफलानुकारिणीभिः तिसृभिःमुक्ताभिः कल्पितेन बालिका युगलेन।'

६—हि० अनु०, आश्विन मार्गशीर्ष २००८, अंक ३
'दस हिन्दी शब्दों की निरुक्ति'—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

७—प० सं० व्या० ३१८।६, 'बारी टाड सलोनी टूटी'

तथा बुलाक (परि० ११) [तुर्की बुलाक़] का निर्देश है। इनमें सब से अधिक बेसर[1] या नकबेसर का वर्णन है—'सुभग बेसरि निरखि काम लाजै' (१६६०)। बेसर आकार में 'छोटी नथ के समान होती है, किन्तु नाक के बीच के छेद में बुलाक़ के समान पहनी जाती है। इसमें मोती माणिक्य या मूँगे पड़े होते हैं जिनका उल्लेख सूरसागर के अनेक पदों मे है—'नासा मुक्ता गोल' (२२३६) 'बेसरि के मुक्ता मनिनि' (३२३१), 'नासा की बेसरि अति राजति, लागे नग अनमोल' (३४७५) तथा 'बेसरि बनी सुभग नासा पर मुक्ता परम सुढार (३२२८)। कहीं-कहीं अलंकारों द्वारा अत्यन्त सुन्दर चित्र खीचा गया है—'बंकित भौंह, चपल अति लोचन, बेसरि रस मुकुताहल छायो मानो। मृगनि अमी भाजन भरि, पियत न बन्यौ दुहूँ ढरकायौ, (३२२६)। बेसर में गजमोती भी लगाए जाते थे—'नकबेसरि लटकैं गजमोती' (३५१६)। राधा तथा सखियों के बेसर छीनने के प्रसंग से संबंधित अनेक पद (२५७१-२५७४) हैं। 'बेसरि छीनति हौ बेकाजहिं जाहु न घरहिं चली' (२५७४)। यशोदा की नाक की बेसर का उल्लेख भी है—'लटकति बेसरि जननि की' (६६०)।

इसके बाद नथ[2] का वर्णन किया गया है—'नासा नथ अतिहीं छबि राजति, अधरनि बीरा-रंग' (२६४५)। नथ वृत्ताकार चूड़ी की तरह पतले सोने के तार से या खोखली बनाते हैं जिसमें मोती व मूँगे पड़े रहते हैं। यह नाक के एक तरफ छेद में पहनी जाती है तथा एक ओर कपोल पर पड़ी अधर तक लटकती रहती है :—

'नासा नथ-मुकुता के भारहिं, रह्यौ अधरतट जाइ।
दाड़िम-कन सुक लेत बन्यौ नहिं कनक फंद रह्यौ आइ।' (२११६)

तथा—'नासा-नथ-मुक्ता बिबाधर प्रतिबिंबित असमूच।
बींध्यौ कनक-पास सुक सुन्दर करक-बीज गहि चूंच।' (३०६३)

आजकल नथ पहनने की प्रथा कम हो गयी है। किन्तु कुमायूँ प्रदेश के पहाड़ी पहनावे में नाक की बड़ी सी नथ का प्रमुख स्थान आज भी है। अन्य स्थानों में विवाह के अवसर पर प्राय: वधू को नथ भी पहनाई जाती है। नथ भरतुल तथा खोखली दोनों प्रकार की बनती है। कभी-कभी इसका आकार इतना होता है कि भार संभालने के लिए कलावे के डोरे या मोती की लड़ी से बाँध कर एक ओर कपोल पर डाल कर बाल में बाँध देते हैं। पठान काल से पहले भारतीय साहित्य व कला में नथ का चित्रण नहीं हुआ है।[3] नाक के बीच के छेद में जौ के आकार की बुलाक़ पहनी जाती है। इसका उल्लेख प्राय: शिशु कृष्ण के आभरणों में ही अधिक है। हिन्दू काल में नाक में आभूषण पहनने की प्रथा नहीं थी। मुसलमानी संस्कृति के सम्पर्क में आने के बाद ही नाक में आभरण पहने जाने लगे।[4] आज भी संसार के अधिकांश देशों में नाक में ज़ेवर पहनने की प्रथा नहीं है। पाश्चात्य प्रभाव से भारत में भी नगरों में नाक छिदवाने की प्रथा कम होती जा रही है। स्त्रियाँ नाक में ज़ेवर पहनती भी हैं तो लंवग या फूल के आकार की या हीरे आदि की जड़ी छोटी कील सी।[5]

५६—गले के आभूषणों की संख्या सबसे अधिक है। सर्व प्रथम माल (३०७) [सं०

१—प० सं० व्या०, ३१८, 'बेसरि टूटी'
२— ,, ,, १५१४ 'परी नाथ कोइ छुअइ न पारा'
३—प० सं० व्या० पृ० १५। ४
४— ,, ,, २८८। ४
५— ,, ,, २६६ 'पुनि नासिक भल फूल अमोला'

माला] या हार (६३३)[१] [सं० हारः] ही कई प्रकार के बताए गये हैं। पुरुषों के आभूषणों में मोती [सं० मुक्ता] की माला का प्रमुख स्थान है, उसी प्रकार यह स्त्रियों में भी प्रिय थी—'सुभग मोतिन हार' (१६६१) अथवा 'उर मुकुता की माल' (१६७३) या 'चिबुक-तर कंठ श्रीमाल मोतिन छवि' (१६६०)। दधि-दान प्रसंग में कृष्ण द्वारा मोती की माला तोड़ कर मोती बिखेर देने का चित्रण अनेक पदों में है - 'हरि तोरी मोतिनि की माला' (२१४६) या 'हार तोरि बिथराइ दियौ' (२१०२)। मोती की माला की उपमा प्रायः सुरसरी से दी गयी है—'मुक्तामाल टूटि यों लागत, जनु सुरसरी अधोगति लीनी' (२६११)। केवल एक लड़ की मुक्तावलि (३५१६) [मुक्तावली] या मोतिन लर (१६११) भी पहनी जाती थी—'मनु ससि मोतिन लर दीनी' (२६११) या 'कंठ कपोत मुक्तावलि हार। जनु जुग गिरि बिच सुरसरि धार (३५१६)। दधि दान प्रसंग मे मोती की लड़ का अनेक पदों मे उल्लेख मिलता है (२१५१, २१५२, २१५७)—'मोतिनि लर तोरयौ' (२१०४); 'काहे को मोतिन लर तोरी हम पीताम्बर लैहै' (२१५५)। हिंडोला शीर्षक पदों में भी अन्य आभरणों के साथ मोती के हार का वर्णन है—'मनिमय भूषन कंठ मुकुतावलि, कोटि अनग लजावनौ' (३४२०)। हाथी के मस्तक से एक प्रकार के मोती निकलने की कल्पना है जिसे गजमौक्तिक कहते हैं। इस प्रकार के मोतियों की माला का भी उल्लेख है –'कठसिरी उर पदिक बिराजत गजमोतिनि के हार' (३२२८)।

५७—राधा का कृष्ण से मिलने के लिए अपना मोती का कंठा तोड़ने का सुन्दर प्रसंग है। कई पदों मे (२५८५-२५६५) माला ढूंढने के बहाने राधा का घर से जाना और पुत्री की इस लापरवाही के लिए माँ की झुँझलाहट व क्रोध का कलात्मक चित्रण है—'जाहु तहीं मोतिसरी गवाई। तबहीं तौ घर पैठन पैहौं अब ऐसें ढंग आई' (२५६०)। 'हार बिना ल्यायै लड़बौरी घर नहिं पैठन दैहौं' (२५६३)।

मोतिसिरी या मुतिसिरी [स० मोक्तिक + श्री] मोती का कंठा होता था। इसी प्रसंग में मुतिसिरी के चौसर (२५६३) एवं बहुमूल्य होने का उल्लेख भी है—'चौसर हार अमोल गरे कौ, देहु न मेरी माई' (२५८७)।

अथवा—'इक इक नग सत सत दामिनि कौ, लाख टका दै ल्याई' (२५६०)

या —(लाख टका की हानि करी तैं सो जब तोसौ लैहौं' (२५९३)

दधि-दान प्रसग मे मोती के नौ लड़ के हार अथवा नौसरि हार (२१०५) का उल्लेख भी है—'मैं कत तोर्‌यौ हार नौसरि कौ।'

मोती के हार के अतिरिक्त सोने की या जड़ाऊ माला पहनने की प्रथा भी थी। शिशु कृष्ण की नार काटने के नेग मे दाई कंचन हार (६३४) के स्थान पर यशोदा के गले में पड़े मनिमय जटित हार (६३३) के लिए झगड़ती है—

'मनिमय जटित हार ग्रीवा कौ, वहै आजु हौं लैहौं' (६३३)

अथवा 'कंचन हार दिये नहिं मानति तुहीं अनोखी दाई' (६३४)

तथा 'उठी रोहिनी परम अनंदित हार-रतन लै आई (६३६)

राधा तथा गोपियों के आभूषणों में भी मोती तथा माणिक्य के हार का वर्णन मिलता है—'मानिक मोती हार रंग कौ' (२०६३)।

१—तु० प्र०, गीतावली, पृ० ३४२ 'जुगुल बीच सुकुमारि नारि इक राजति बिनहिं सिंगार।
इंद्रनील, हाटक, मुकुतामनि जनु पहिरे महि हार।'

अथवा—'मानिक मध्य पास चहुँ मोती-पंगति झलक सिंदूर,
रेग्यौं जनु तम-तट तारागन ऊगत घेर्‌यौ सूर' (३०६३)।

५८—जैसा कि नाम से ही अनुमान होता है **दुलरी** (१६६१,३२७५) [सं० द्वि+यष्टि] तथा **तिलरी** (२०६३)[सं० त्रि+यष्टि] दो या तीन लड़ की माला को कहते हैं। यह मोती के अतिरिक्त सोने के दानों से भी बनती है। सोने के पत्तरों को गुह कर भी तिलरी बनाई जाती है। ब्रज की स्त्रियाँ दुलरी व तिलरी भी पहनती थी—'कंठश्री दुलरी बिराजति, चिबुक स्यामल बिंद' (१६६१) अथवा 'कंठसिरी दुलरी तिलरी उर' (२०६३)। कहीं-कहीं स्पष्ट कर दिया गया है कि यह मोती की है—'मोतिनि की दुलरी' (३२७५)। गले में एक साथ कई प्रकार के हार पहिनने की प्रथा भी थी—'कंठसिरी, दुलरी तिलरी लर और हार इक नौसरि कौ (२१५८)।

ऊपर के पद्यांशों में **कंठश्री** या **कंठसिरी** नाम आये हैं। यह गले का कंठा होता है जो गले में चिपटा हुआ-सा पहना जाता है। यह सोने का अथवा जड़ाऊ दोनों प्रकार का होता है। आजकल इसे कठा या कंठी कहते और वे प्रायः मोती के या सोने के बड़े-बड़े अण्डाकार दानों को पोह कर बनाते हैं। जायसी ने भी पद्मावती के आभरणों में मोती की माला तथा कठश्री के नाम दिये हैं।[1]

सूरसागर मे हीरे के हार[2] का भी उल्लेख है जो माणिक्य मोती के हार से भी मूल्यवान होता है—'बीच-बीच हीरा लगे (नंद) लाल-गरे कौ हार' (६५८)।

५९—जड़ाऊ **लटकन** लगी हुई सोने की **सकरी** (१६७३) [सं० शृङ्खला] का उल्लेख भी है—'सकरी-कनक, रतन मुक्तामय लटकन, चितहि चुरावै' (१६७३)।

सोने या चाँदी की गले मे पहनने की जंजीर को सकरी कहते है। आजकल इस प्रकार के जड़ाऊ लटकन (Pendant) के साथ बारीक चेन पहनने की प्रथा बहुत है। लटकन किसी भी चीज से लटकती वस्तु को कहते है। यह नथ, बेसर, कलगी या बाजूबन्द सभी में होती है—'भूषन भुजा ललित लटकन बर, मनहुँ मिल्यौ अलिपुंज सुहायो।'

ग्रीवा के अन्य आभूषणों मे **हमेल** (२०६३, २७५५) [अ० हमायल] तौकी, (२१५८) [अ० तौक़] तथा **खंगवारौ** (परि० ८)[देश०] थे। सिक्कों अथवा उस आकार के टुकड़ों को पोह कर हमेल बनाते हैं। पहले इसे अशर्फी या रुपयों से बनाते थे 'कंठ हमेल सजावत हैं'(२७५५)या 'सुनि राधा अब तोहिं न पत्येहौं। और हार चौकी हमेल अब तेरे कंठ न नैहौं' (२५६३) आदि उल्लेखों में हमेल के आकार आदि के संबंध मे कुछ नहीं बताया गया है। तौक़ एक चन्द्राकार आभूषण होता हैं, जो गले से लगा हुआ पहना जाता है। इसमें एक चौड़ी सी पट्टी सी होती है, जिसके नीचे घुँघुरू लगे होते हैं। यह सोने तथा चाँदी दोनों की बनाते हैं। मुसलमान स्त्रियाँ अक्सर चांदी की पहनती हैं। मुसलमान लोग अपने बच्चों को इसी प्रकार का ताबीज़ पहनाते हैं जो किसी मिन्नत को पूरा करने के लिए पहनाया जाता है। कभी-कभी मुसलमान स्त्रियाँ भी ऐसा ताबीज़ पहन लेती हैं। सूरसागर में तौक़ का बहुत कम उल्लेख है और है भी तो आभरण के लिए—'एते पर है तौकी' (२१५८)। सूरसागर मे खंगवारों का उल्लेख भी बहुत ही कम है—'रतन जटित, खँगवारौ गर को जसुमति लै पहिरायौ' (परि० ८)। खँगवारौ को आजकल हँसुली कहते हैं।

१—प० सं० व्या०, १११, 'कंठसिरी, मुक्ताहल माला सोहै अभरन गींव।'
३२१, 'लरे मुरे हिय हार लपेटी सुरसरि जनु कालिंदी भेंटी।'

२—प० सं० व्या० २६६ 'हीर हार नग लाग अमोला।'

पद्मावत में भी 'हांसु' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[1] यह आजकल सोने या चाँदी तथा भरतुल अथवा खोखली दोनों प्रकार की बनाई जाती है। यह भी तौक़ के समान ही गले से लगा हुआ चंद्राकार आभरण है, किन्तु यह गोला होता है चिपटा नहीं। उपर्युक्त पंक्ति में यह रत्नजटित बताया गया है।

६०—कनछेदन शीर्षक के एक पद (७६८) में यशोदा के गले की धुकधुकी का उल्लेख आया है—'जसुमति की धुकधुकी सु उर की' (७६८)। धुकधुकी में पदक के आकार का आभरण हृदय पर लटकता रहता था। इसीलिए इसका नाम धुकधुकी पड़ा। मध्यकालीन साहित्य में इसके पर्याय 'उरबसी' और 'जुगनी' मिलते हैं। धुकधुकी के पर्यायवाची नाम पदिक (३२२८) [सं० पदकः] या जुगुनू सूरसागर में भी है। हमेल के बीच में नीचे एक चौकोर टुकड़ा पड़ा रहता है जिसे चौकी (२१५८, ३२२६) [सं० चतुष्कः] कहते हैं। हृदय पर पड़ी हुई चौकी बहुत बार वर्णित है—'हृदय चौकी चमकि बैठी, सुभग मोतिन हार' (१६६१) या 'चौकी चमकति उर लागी' (१७६२)। अधिकांश स्थलों में जड़ी हुई सोने की चौकी का उल्लेख है:—

'नगनि जरित की चौकी' (२१५८), 'चौकी पर नग बन्यौ बनायौ'(३२२६) या 'चौकी हेम चंद्रमनि लागी, रतन जराइ खचाइ' (१६०३)।

चंद्र या चंद्रकान्त मणि एक प्रसिद्ध मणि थी जिसके बारे में कृष्ण के आभरणों में भी उल्लेख किया जा चुका है। यह एक सफेद पत्थर होता था जिस पर चन्द्रमा की किरणें पड़ने से पानी की बूंदे टपकने लगती थीं। आइनेअकबरी में भी इसका उल्लेख है।[2] हमेल में बीच का टुकड़ा पान के आकार का भी होता है और तब उसे पनवा कहते हैं।[3]

६१—ऊपर के ग्रीवा संबंधी आभरणों के उल्लेखों से स्पष्ट ही है कि गले में एक साथ कई प्रकार के आभूषणों के पहनने की प्रथा थी। मोती की माला भारत का प्राचीन आभरण है। हर्षयुग में मोती की एकावली बहुत पहनी जाती थी। कालिदास तथा बाण ने इसके अनेक बार उल्लेख किये हैं तथा गुप्तकालीन मूर्ति व चित्रकला में मध्य में इन्द्रनील सहित मोती की माला का बहुत चित्रण हुआ है।[4] शुंगकालीन मूर्तिकला में इस प्रकार का कंठा देखा जा सकता है। पाणिनि ने 'ग्रैवेयेक' नामक जिस आँभरण का उल्लेख किया है वह भी शुंगकालीन मूर्तियों में मिलता है तथा तौक़ से मिलता-जुलता है। हमेल, तौक़ तथा धुकधुकी आदि मुसलमानों के आने के बाद पहने जाने लगे थे। आजकल नगरों में स्त्रियाँ प्रायः मोती व रत्नजटित माला तथा सोने की जंजीर के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न आकार के दानों की पुही हुई माला भी पहनती हैं। इनके नाम-भेद दानों के आकार-भेद से ही हैं, जैसे मटरमाला, जौमाला, शंखमाला, तथा चम्पाकली। ग्रामीण स्त्रियों के गले में पहनने के ज़ेवरों में अभी भी हंसली, हमेल, तौक़ तथा गुलूबंद नाम लिए जा सकते हैं।

६२—हाथ में कोहनी के ऊपर पहनने के आभूषणों में तीन नाम उल्लेखनीय हैं—टाड़ (४६७८) [अर्द्ध० प्रा० टड्डय = टूटुवां, अंगद या वलय], बहुँटा, बहूँटनि (२१५८,

---

१—प० सं० व्या०, ३८४।८ 'कंत कसौटी घालि के चूरा गढ़े कि हांसु' (सं० अंस = कंधा, सं० अंसालिका = हंसली)

२—आईने०, पृ० ४८

३—ग्रा० श०, पृ० १३८

४—हर्ष० सां० अ० पृ० १६८

२०६२)[सं० बाहुस्थ, प्रा० बाहुट्ठ, स्त्री० अ० बहूँटी] तथा **बाजूबंद** (२११६) [फा० बाजूबन्द], टाड़ अथवा बहूँटा प्रायः बाजूबन्द के ऊपर पहना जाता है—'बहुँटा, कर-कंकन, बाजूबंद, एते पर है तौकी' (२१५८)।

अथवा —'बहु नग जरे जराऊ अँगिया, भुजा बहूँटिन वलय संग कों (२०६३)। कृष्ण-विरह में गोपियों की कलाइयों के कंगन कोहनी के ऊपर तक पहुँचने लगे—कर-कंकन तैं भुज टाड़ भई' (४६७८)। यह वर्गाकार आभरण ढाई या तीन मोड़ का होता है। इसे आजकल अलीगढ़ क्षेत्र की कृषक भाषा में 'बलडांड़ा' या 'टड्डा' कहते हैं। तहसील भांट में यह बहुँटा ही कहा जाता है।[1] इसी प्रकार का एक बार मुड़ा हुआ वृत्ताकार आभरण अनन्त या बरा होता है जिसे प्राचीन काल में स्त्री तथा पुरुष दोनों ही पहनते थे। जायसी ने भी पद्मावती के आभरणों में टाड़ का उल्लेख किया है।[2]

बाजूबन्द चौकोर टुकड़ों को पोह कर बनवाया जाता है। इसका फुंदना कोहनी तक लटकता हुआ अत्यन्त आकर्षक ज्ञात होता है। एक बाजूबन्द में प्रायः बीस से तीस तक टुकड़े होते हैं। इन टुकड़ों के ऊपर बूँदें सी बनाई जाती हैं। टाड़ तथा बाजूबन्द दोनों ही प्रायः खोखले या पत्तर चढ़ाकर बनाये जाते हैं तथा सोने-चांदी दोनों के बनते हैं। जायसी ने बाजू-बन्द के लिए 'बाँहूँ' शब्द प्रयुक्त किया है।[3] इसी प्रकार के अन्य आभरण 'बिजायठ' तथा 'जोशन' भी हैं। सूरसागर में बाजूबन्द के साथ उसके लटकते हुए फुंदने के संबंध में भी बताया गया है—

'कुच कंचुकी, हार मोतिन के, भुज बाजूबंद सोहत
डारनि चुरी, करनि फुँदना बने कंज पास अलि जोहत' (२११६)

अथवा—'पग-पग पटकि भुजनि लटकावत फूंदा करनि अनूप।' (१६७५)

६३—**कलाई** के उस समय के प्रचलित प्रायः सभी आभूषणों के नाम सूरसागर में मिल जाते हैं—'**कंकन, कंगन** (२८०१, ६१७, ६४२) [सं० कंकणः], **पहुँची, पहूँचिया** (६४१, ७३५, १६७४) **चूरा, चूरौ** (७०७, ३५१६, ३४४४) [सं० चूड़ा], **चुरी** (१७६८) तथा **वलय** (३४४६, २०६३) [सं० वलयः]। बालक कृष्ण की रत्नजटित पहुँची का उल्लेख दशम स्कन्ध के प्रारंभिक पदों में है ही, किंतु यह ब्रज-युवतियों की आभरण सूची में भी है—'अंगुरिनि मुंदरी, पहुँची पानि' (१७६८) तथा 'लसति कर पहुँची उपाजै, मुद्रिका अति जोति' (१६७४)। पहुँची में सोने या चांदी के गोल दाने पोह कर तीन पक्तियों में एक कपड़े पर टांके जाते हैं। इसको घुण्डी से बांध कर चूड़ी आदि अन्य आभरणों के आगे कलाई में पहनने की प्रथा थी।

हाथों के आभरणों में कंगन का सबसे अधिक उल्लेख हुआ हैं। दही मथते समय, नृत्य करते समय तथा हिंडोले पर झूलते समय कंगन बजने की सुन्दर ध्वनि का वर्णन है—

['दधि लै मथति ग्वालि गरबीली,
रुनक झुनक कर कंकन बाजे, बांह डुलावत ढीली। (६१७)
अथवा 'नूपुर किंकिनि कंकन चुरी। उपजत मिस्रित ध्वनि माधुरी' (१७६८)

१—कृ० जी०, प्र० ११, अध्याय ४
२—प० स० व्या० २६६।५ 'बांहन्ह बाँहू टाड सलोनी'
११२।६ 'बाँहूँ कंगन टाड सलोनी'
१—प० सं० व्या०, ११२।६, 'बाँहूँ कंगन टाड सलोनी'

राधा तथा ब्रज-युवतियों के हाथों पड़े कंगन की शोभा का वर्णन भी अनेक पदों में है—
'कर कंकन, कंचन थार, मंगल साज लिये' (६४२)

या—'बहुरि फिरि राधा सजति सिंगार

....

कर कंकन, काजर, नकबेसर, दीन्हौ तिलक लिलार' (२८०१)

दाई भी यशोदा से नेग में हार व कंगन पाती है—'दीन्हौ हार गरैं, कर कंकन मोतिनि थार भरे' (६३५)।

कंगन एक प्रकार का खड़ुआ होता है जिसमें ऊपर दाने या कंगूरे से उठे रहते हैं। यह चूड़ियों के आगे पहनते हैं। आजकल कंगन पहनने की काफ़ी प्रथा है। ग्रामीण बोली मे इसे 'ककना' भी कहते है। जायसी ने कंगन मे रत्न जड़े होने का वर्णन किया है।[1] रत्नजटित ब्रेसलेट को **गजरा** कहते थे। सूरसागर में इसके उल्लेख कम ही है—

रत्न-जटित गजरा, बाजूबन्द सोभा भुजनि अपार

फूँदा सुभग फूल फूले मनु, मदन बिटप की डार' (३२२८)

मुग़लकालीन आभरणों में गजरा का भी प्रमुख स्थान था। विवाह में कंकण मोचन की भी प्रथा होती है। इसका नाम भी कंगन है, किन्तु यह कलावे मे मांगलिक वस्तुयें बांध कर बनाया जाता है। सूरसागर के नवम स्कन्ध में राम-सीता विवाह व राधा-कृष्ण के गंधर्व विवाह के प्रसंग में इस कगन के भी उल्लेख मिलते हैं —

'कर कपै कंकन नहिं छूटै' (४६६)

अथवा—'प्रथम ब्याह बिधि होइ रह्यो हो कंकन-चार बिचारि

रचि रचि पचि पचि गूथि बनायो नवल निपुन ब्रज नारि' (१६६१)।

अथवा—'दुलहिनि छोरि दुलह कौ कंकन' (१६६१)।

६४—एक दो पदों में **कटक** (१६८६) [सं० कटक:] का उल्लेख भी है— 'कटक कंगन भास।' सोने के कड़े पहनने की प्रथा प्राचीन काल से है। कड़ा अनन्त के समान बीच में से खुला होता है तथा प्रायः दोनों ओर मगर या सिंह आदि का मुख बना होता है। वहाँ से मोड़ कर कलाई में आगे पहन लिया जाता है। बाण ने हर्षचरित में मालती के एक हाथ की कलाई में पड़े सोने के नाहरमुखी कड़ों का उल्लेख किया है जिनके मुख पर पन्ने जड़े हुए थे।[2] हाथ के सभी आभरणों के जोड़े दोनों हाथों में पहने जाते हैं। आजकल विदेश में तथा भारत में भी कहीं-कहीं (विशेषकर पंजाब या दिल्ली मे) कुछ आभरण कड़ा या ब्रेसलेट एक हाथ में ही पहनने की प्रथा भी है। पद्मावत में 'हथोड़ा'[3] [सं० हस्तपाटक][4] शब्द हाथ के कड़े का अर्थ देता है।

भारतीय हिन्दू स्त्रियों की सौभाग्य सूचक वस्तुओं, जैसे सिन्दूर बिछिआ, तथा टीके

१—पं० सं० व्या०, ४५१, 'जो पहिरें कर कंगन जोरी।
लहै तो एक एक नग कोरी।
४२८, 'औ दोसर कंगन कर जोरी
रतन लागि तेहि तीस करोरी।'

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० २३ 'मरकतमकरवेदिकासनाथ हाटककटक'

३—प० सं० व्या०, ३७१२ 'रचे हथौड़ा रूपइं डारी।
चित्र कटाउ अनेग संवारी।'

४—(सं० हस्तपाटक-हत्थपाटक-हथकड़ा-हथउड़ा-हथोड़ा)

के अतिरिक्त कांच की रंगबिरंगी चूड़ियों का प्रमुख स्थान है। इनके बिना किसी भी विवाहिता स्त्री का शृङ्गार अधूरा माना जायगा। अतएव सूरसागर में भी अनेक बार चुरी या वलय के उल्लेख स्वाभाविक ही हैं—

'नूपुर किंकिन कंकन चुरी' (१७६८)।

'डारनि चरि चरि चुरी बिराजति' (०६५)।

तथा—'भुजा बहूँटनि बलय संग कौ' (२०६३)।

मानलीला में भी चूड़ी का निर्देश है—'हस्त-बलय पट नील न धारौ' (३४४६)। चूड़ियाँ सोने की भी बनाई जाती थीं। 'कनक-बलय' (६६)। आज इन्हें कांच की चूड़ियों के साथ मिला कर ही प्रायः स्त्रियाँ पहनती हैं। 'कर कंकन चूरा गजदंती' (३५१६) में हाथी-दाँत के चूड़ा का वर्णन है। शिशु कृष्ण संबंधी पदों में तो चूड़ा हाथ और पैर के कड़े के अर्थ में आया है। हाथीदाँत की बनी चूड़ियों के समूह को भी, जो कलाई से कोहनी तक पहनी जाती हैं तथा आगे से पीछे बराबर बड़ी होती चली जाती है चूड़ा कहते हैं। कुछ जातियों में आजकल इसे सौभाग्य सूचक मानते हैं तथा कहीं-कहीं यह वधू को ही पहनाया जाता है, जैसे खत्रियों तथा पंजाबियों में।

आजकल हाथ के अन्य आभरणों में ग्रामीण स्त्रियाँ ही अधिकतर छन्नी व पछेली भी पहनती हैं। कुछ वर्ष पहले तक शहरों में भी स्त्रियाँ ये सब तरह-तरह के आभरण पहनती थीं। किंतु यहाँ अब कोहनी के ऊपर के आभरण दिखाई ही नहीं देते हैं। कलाई में भी सोने की चूड़ी, बेलचूड़ी, कड़ा तथा कंगन आदि अधिक पहने जाते हैं।

६५—सूरसागर में अँगूठी के कई पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त किये गये हैं—**मुद्रिका** (१६७१) [सं०], **मुँदरी** (५५७) [सं० मुद्रिका] तथा **अँगूठी** (१३०) [सं० अंगुष्ठिका] राम-कथा में मुद्रिका के प्रसंग के अतिरिक्त ब्रज की स्त्रियों की उँगली की अंगूठी का शोभा-वर्णन भी अनेक पदों में है—

'करज मुद्रिका किंकिनी कटि, चाल गज गति बाल' (३४६०)

'कर पल्लवनि मुद्रिका सोहति' (१६७१)

अथवा—'अँगुरिनि मुँदरी, पहुँची पानि' (१७६८)

दधि-दान प्रसंग में कृष्ण द्वारा अन्य आभूषणों के साथ अँगूठी छीनने का उल्लेख भी है—

'झटकि लई कर मुद्रिका, नासा मुक्ता गोल
इक मुँदरी की होइगौ, कान्ह तिहारौ मोल' (२१३६)

ऊपर के पद्यांशों से स्पष्ट ही है कि मुद्रिका अथवा मुँदरी शब्दों का प्रयोग ही अधिक है। अँगूठी शब्द बहुत कम मिलता है जो आजकल अधिक बोला जाता है। मुँदरी संभवतः चाँदी की बनती है तथा अँगूठी सोने की। पाणिनि ने आंगुलीय[१] तथा बाण ने 'उर्मिका'[२] शब्द प्रयुक्त किये हैं। जायसी ने पद्मावत में अंगूठी शब्द का अधिक प्रयोग किया है तथा प्रायः सोने की व नग जड़ी हुई बतायी है।[३] आजकल भी चाँदी के घुँघुरूदार छल्ले, सादी सोने की अथवा एक नग या कई नगों की अँगूठियाँ पहनने की प्रथा है। स्त्री तथा पुरुष दोनों ही अँगूठी

१—इंडिया एज् नोन टु पाणिनि, अध्याय ३, पृ० १३०

२—हर्ष० सां० अ, पृ० १५ 'कम्बुनिर्मितउर्मिका'

३—प० सं० व्या०, ११२।५ 'जो पहिरे नग जरी अंगूठी'
४२२।५ 'सो नग लेउं जो कनक अंगूठी'

पहनते हैं। कुछ लोग रत्नों के लाभ के लिए भी अंगूठी में जड़वा कर पहनते हैं जैसे नीलम, हीरा, मूंगा, लहसुनिया आदि। इनमे विशेषकर नीलम के संबंध में अनेक विश्वास हैं। मुग़ल काल में अंगूठे में आरसी पहनने की बहुत प्रथा थी।[१] इसमें छोटा-सा दर्पण भी लगा होता है। आश्चर्य है, कि सूरसागर में इसको स्थान नहीं दिया गया है।

६६—व्रज की स्त्रियाँ **कमर** मे बजने वाली **करधनी, किंकिनि** (१६७२) [सं० किंकिणि] या छुद्रघंटिका (३०६८) [सं० क्षुद्रघंटिका] पहनती थीं। 'कटि किंकिनि छबि रोरी' (१६७२) अथवा 'रुनित नूपुर चरन छुद्र कटि घंटिका, कनक तन-गौर छबि उमगि उपरैन की।' (३०६८) तथा 'छुद्र घंटिका कटि लंहगा-रंग तनसुख की सारी। सूर ग्वालि दधि बेंचन निकरी पग-नूपुर-धुनि भारी।' (२११६) किंकिणी सोने की भी पहनी जाती थी—'कनक किंकिनी नूपुर कलरव कूजत बाल मराल' (१६७३)।

सारी को करधनी या पटके से बाँधने की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है। इसके लिए वैदिककालीन (शतपथ ब्राह्मण १।३।१।५) शब्द 'रसना' था। कालिदास ने भी यह शब्द प्रयुक्त किया है।[२] माला के डोरे के अर्थ मे सूरसागर मे अवश्य **'रसना'** शब्द आया है—तुम्हरेइ गुन ग्रंथित करि माला, रसना-कर सौं टार' (३२०५)। छोटी-छोटी घंटियाँ लगी हुई मेखला क्षुद्रघंटिका कहलाती थी। मुग़लकाल में यह काफ़ी प्रचलित थी। किन्तु उससे पहले की मूर्तिकला में भी इसका चित्रण हुआ है। यक्षिणी चंदा तथा जगय्यपेट से मिली यक्षीमूर्ति की कमर में यही आभरण है।[३] आजकल करधनी प्रायः जंजीरों से बनाते हैं जो बीच-बीच में चौकोर ठप्पों में जुड़ी होती है। यह सोने तथा चाँदी, दोनों की बनती हैं। इसके लिए 'कटि मांडनी' तथा 'कटिजेब' शब्द प्रचलित हैं किन्तु अधिक बोले जाने वाले शब्द 'करधनी' तथा 'तगड़ी'[४] ही हैं। जायसी ने भी छुद्रावलि या 'छुद्रघंटि' का उल्लेख किया है।[५]

६७—राधा तथा गोपियाँ **पैरों** मे भी बजने वाले **नूपुर** (३०६७) [सं० नूपुरं] या **घुँघुरू** (३४८०) पहनती थीं। नूपुर सोने के मणिमय होते थे—

'चरन महावर नूपुर मनिमय, बाजत भाँति भली' (३२३७)।

अथवा—'मनिमय नूपुर कुनित किंकिनी, कल कंकन झनकारनौ' (३४५०)

तथा 'ढाढ़िनि कौ सोने को नूपुर गहनौ अगढ़ गढ़ायौ' (परि० ८)

नूपुर एक शृंखला में पोह कर पैरों में पहने जाते थे—'चाल गज शृंखला नूपुर नीबि नवरुचि ढाल' (३०६७)। बजने वाली खोखली गोली को घुँघुरू कहते है—'घुँघुरू घंट घुमाइ, ग्वालि मदमाती हो' (३४८०)। नूपुर की उपमा कामदेव के सूर्य[६] से दी गयी है—

१—आरसी से संबंधित मुहावरा 'हाथ कंगन को आरसी क्या' बहुत प्रसिद्ध है।

२—कालिदास, कुमारसम्भव, सर्ग ५, श्लोक १०,
अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तथा सरागमस्या रसनागुणास्पदम्।'

३—प्रा० भा० वे०

४—कृ० जी०, प्र० ११, अध्याय ५ 'प्लाट के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति नागरिका सं० प्रा० तागड़िया है।'

५—प० सं० व्या० २९६, 'कटि छुद्रावति अभरनपूरा'
२९६।७ 'छुद्रघंटिका कटि कंचन तगा'

६—मानस, बालकाण्ड, २३०, 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि—
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही'

'कामिनि आजुहि आनि रहैगो, काम-कटक लै कुंज झंडा तर।
चरन रुनित नूपुर रन-तूरा, सुनत स्रवन काँपिहिंगे थरथर।।' (३०७३)

पैरों के अन्य प्रमुख आभरण जेहरि (३२२८) तथा पैंजनि (१६७६) [सं० पाद-शिंजनी] थे। पैंजनि भी घुँघरूदार प्रायः चाँदी की बनती है। रास-नृत्य प्रसंग में विशेष रूप से शरीर के बजने वाले सभी आभरणों का उल्लेख है—

'चरन रुनित नूपुर, कटि किंकिनि, कंकन करताल' (१७५४)।

अथवा—'नृत्यत अंग अभूषन बाजत

....

'कंकन चुरी किंकिनी नूपुर पैंजनि बिछिया सोहति' (१६७६)।

अथवा—'नूपुर किंकिनि कंकन चुरी। उपजत मिश्रित ध्वनि माधुरी' (१७६८)

सूरसागर में जेहरि प्रायः जड़ाऊ ही बताई गई है—'जुगुल जंघ जेहरि जराव की' (३२२८) जेहरि कड़ियों की पट्टी से बनाते हैं। सूरसागर मे भी इसकी शृंखलाओं की ओर संकेत है—'पग जेहरि जंजीरनि जकर्‌यौ, यह उपमा कछु आवै' (२ ५७)

जेहरि को 'पायल' 'पायजेब' या 'रेशमपट्टी' भी कहते हैं। आजकल अलीगढ़ क्षेत्र में कहीं-कहीं इसी को रमझौल कहते हैं। अनूपशहर में इसे 'गूजरी' तथा तहसील सादाबाद में 'जेहरि' कहते है[1]। पैरों के अन्य प्रचलित आभरण लच्छा, छागल, अनोखे, झांझ तथा कड़े हैं। जायसी ने पायल [सं० पादपाल-पायवाल-पायाल-पायल] तथा 'चूरा का उल्लेख किया है[2]।

६८—विवाहिता हिन्दू स्त्रियाँ पैरों की उँगलियों में बिछिये (१६७६, २७७४) तथा अंगूठे में अनवट [अंगुष्ठ-अंगुट्ठ--अंगउट्ठ-अनवट] पहनती हैं। पहले बिछिये बड़े व घुँघरूदार होते थे जो चलते समय बजते थे। निम्नलिखित पंक्ति के 'झमकनि' शब्द से यह संकेत है—'पग जेहरि बिछियनि की झमकनि' चलत परस्पर बाजति' (२७७४)। बिछिये प्रायः चांदी के ही पहने जाते हैं। चांदी के छल्ले के ऊपर फूल,मछली, मंदिर आदि विभिन्न प्रकार के आकार बनाये जाते है। कमर तथा पैरों के आभरण अधिकतर चाँदी के ही पहने जाते हैं। सूरसागर में अनवट के भी विशेष उल्लेख नहीं मिलते हैं, किन्तु पद्‌मावत में बराबर है[3]। आजकल अनवट पहनने की प्रथा बहुत कम हो गई है। विवाह के अवसर पर ये अवश्य वधू को पहनाये जाते हैं।

कृष्ण के राधिका या गोपिका रूप धारण प्रसंग मे भी कई पदो मे अनेक आभरणों के नाम दिये गये हैं—'प्रिया-अभूषन मांगत पुनि पुनि, अपने अंग बनावत है' (२७५५) अथवा—'स्याम-तनु प्रिया भूषन बिराजै' (२७६६)।

मुरली ध्वनि से 'अंग की सुधि बिसरी' (१८००) तथा 'जाकौ मन जहँ अँटकै जाइ। ता बिनु ताकौं कछु न सुहाइ।' (१७६८) आदि कारणों के फलस्वरूप शरीर में उल्टे या ग़लत अवयवों पर आभरण धारण करने से संबंधित भी कई पद हैं—

'हार लपेट्‌यौ चरन सौं।

'स्रवननि पहिरे उलटे तार। तिरनी पर चौकी शृंगार' (१७६८)

अथवा—'करहु सिंगार संवारि सुंदरी, कहत हंसत हरि बानी

१—कृ० जी० प्र० ११, अ० ५

२—प० सं० व्या०, २६६,६ 'औ पायल पायन्ह भल चूरा'

३—प० सं० व्या०, २६६ 'पूरा पायल अनवट बिछिया'

जब देखें अँग उलटे भूषन तब तरुनी मुसुक्यानी' (१६५४)

तथा 'अँग अभरन उलटि साजे, रही कछु न सम्हारि।' (१६२५)

६६—तुलसी ने भी प्राय: स्त्रियों के इन्हीं सब आभरणों के उल्लेख किये हैं। उन्होंने सूरदास जी के समान अवश्य अनेक स्थलों में इतने विस्तार से वर्णन नहीं किया है।[1] सूरसागर में में वर्णित प्राय: सभी आभरण सोने मोती के रत्नजटित व बहुमूल्य हैं। इस प्रकार के आभरण ब्रज की ग्वाल-स्त्रियों द्वारा पहनना यों उतना स्वाभाविक नहीं है किन्तु कृष्ण की आराध्या राधा और गोपियों के रूप-सौंदर्य वर्णन में इसे उचित ही कहा जायगा।

सूरसागर में कुछ पद केवल आभूषणों की सूची मात्र हैं। काव्य-कला सौंदर्य की दृष्टि से उनमें से कुछ का पृथक कोई स्थान नहीं है। किन्तु इनसे ब्रज की ग्वालिनों का चित्र अवश्य सामने आ जाता है। उनमे से कुछ पूरे पद नीचे दिये जा रहे हैं :—

१—बनी ब्रज-नारि-सोभा भारि।

पगनि जेहरि, लाल लंहगा, अंग पँच रँग सारि॥
किंकिनी कटि, कनित कंकन, कर चुरी झनकार।
हृदय चौकी चमकि बैठीं, सुभग मोतिन हार॥
कंठश्री दुलरी बिराजति, चिबुक स्यामल बिंद।
सुभग बेसरि ललित नासा, रीझि रहे नँदनंद॥
स्रवन बर ताटंक की छबि, गौर ललित कपोल।
सूर-प्रभु बस अति भए है, निरखि लोचन लोल॥ (१६६१)

२—जुवती अग-सिंगार सँवारति।

बेनी गूंथि, माग मौतिनि की, सीसफूल सिर धारति॥
गोरै भाल बिंदु सेंदुर पर, टीका धर्यौ जराउ।
बदन चंद पर रबि तारा-गन, मानौं उदित सुभाउ॥
सुभग स्रवन तरिवन मनि-भूषित इहि उपमा नहिं पार।
मनहु काम विवि फंद बनाएं, कारन नंदकुमार॥
नासा नथ मुकुता के भारहि, रह्यो अधर-तट जाइ।
दाड़िम-कन सुक लेत बन्यौ नहि, कनक फंद रह्यो आइ॥
दमकत-दसन अरुन अधरनि तर, चिबुक डिठौना भ्राजत।
दुलरी अरु तिलरी बंद तातर, सुभग हमेल बिराजत॥
कुच कंचुकी, हार मोतिन के, भुज बाजूबंद सोहत।
डारनि चुरी करनि फुँदना-बने, कंज पास अति सोहत॥
छुद्रघंटिका कटि लंहगा रंग, तन तनसुख की सारी।
सूर ग्वालि दधि बेंचन निकरीं, पग नूपुर धुनि भारी॥ (२११६)

१—तु० ग्रं० रामलला, नहछू, पृ० ४

**'काने कनक तरीवन, बेसरि सोहइ हो।
गजमुकुता कर हार कंठमनि मोहइ हो॥
कर कंकन कटि किंकिनि नूपुर बाजइ हो।
रानी के दीन्हीं सारी तौ अधिक बिराजइ हो॥'**

३—एक हार मोहि कहा दिखावति ।
नख-सिख लौ अंग-अंग निहारहु; ये सब कतहिं दुरावति ।।
मोतिनि माल जराइ कौ टीकौ, करनफूल नकबेसरि ।
कंठसिरी दुलरी तिलरी तर, और हार इक नौसरि ।।
सुभग हमेल, कटाव की अंगियाँ, नगनि जरित की चौकी ।
पहुँटा, कर-कंकन, बाजूबंद, एते पर है तौकी ।
छुद्रघंटिका पग नूपुर जेहरि बिछिया सब लेखौ ।
सहज-अंग-सोभा सब न्यारी, कहत सूर ये देखौ ।। (२१५८)

४—सहज रूप की रासि राधिका भूषन अधिक बिराजे ।
मुख सौरभ संमिलित सुधानिधि कनक लता पर छाजे ।।
बंदन-बिंदु धारि मिलि साभित, धम्मिल नीर अगाध ।
मनहुँ-बाल-रवि रस्मिनि-संकित; तिमिर कूट ह्वै आध ।।
मानिक मध्य, पास चहुँ मोती-पंगति, झलक सिंदूर ।
रह्यो जनु तम तट तारागन, ऊपर घेर्यो सूर ।।
की मनमथ-रथ-चक्र कि नरिवन रवा रचित गह-साज ।
स्रवन-कूप की रैंहट घंटिका, राजत सुभग समाज ।।
नाना-नथ-मुकता, बिबाधर प्रतिबिंबित असमूच ।
बैठ्यो कनक-पास सुक सुंदर, ... क-बीज गहि चूंच ।।
कहँ लगि कहौं भूषननि भूषित, अंग-अंग के रूप ।
सूर सकल सोभा श्रीपति कै, राजिव-नैन अनूप ।। (२०६३)

९—पुरुषों के आभरण

७०—कृष्ण के रूप माधुर्य तथा शोभा संबंधी पदों में वस्त्रों के साथ उनके प्रिय आभूषणों का उल्लेख भी अनेक स्थलों में किया गया है । वस्त्रों के समान इसमें भी कुछ तो उनके परंपरा द्वारा निश्चित आभूषण हैं तथा कुछ सूर के समय में प्रचलित माने जा सकते हैं ।

कृष्ण बड़े हो कर भी पहले के समान ही कानों में कुंडल (२४४२) [सं० कुंडलं] पहनते थे जिसका आकार भी प्रायः पूर्ववत् मकर के समान ही था—'स्रुति मंडल कुडल मकराकृत' (१२४४) अथवा 'चलित कुंडल गंड-मंडल झलक ललित कपोल' (१२४५)। कोहनी से ऊपर पहनने के दो प्रमुख गहने थे—अंगद (१०६९) [सं० अंगदं] तथा केयूर (११३०) [सं० केयूरः, केयूरं] । केयूर अत्यन्त प्राचीन आभूषण है । बाल्मीकि[1] रामायण तथा हर्षचरित[2] में इस शब्द का उल्लेख मिलता है । स्नान के समय यशोदा उनके सभी आभूषण उतार कर रख देती है—

'अंग अभूषनि जननि उतारत ।

१—वाल्मीकिरामायण, किष्किंधा० 'नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ।
नूपुरेत्वाभिजानासि नित्यं पादाभिवन्दनात् ।'

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० ४६, हर्ष की बाहों में जड़ाऊ केयूर था । उनके अन्य आभरणों में कुण्डल ('कुंडलमणिकुटिलकोटिबालवीणा') एवं श्रवणावतंस था ।

दुलरी ग्रीव माल मोतिन की, लै केयूर भुज स्याम निहारति
छुद्रावली उतारति कटि तें, सैंति धरति मनही मन वारति ।' (११३०)
अथवा 'कंबु-कंठ भुज नैन विसाला, कर केयूर कंचन नग-माला ।' (१२४३)

कोहनी के ऊपर पहनने का यह आभरण सोने का मंडलाकार था जिसे बरा या अनन्त भी कहते हैं । इसे स्त्री तथा पुरुष दोनों ही समान रूप से पहनते थे । कलाई के आभूषणों मे पहुँची (१२५६) तथा कंकन (२८३७) के नाम लिये जा सकते हैं—'रत्नजटित पहुँची कर राजति, अँगुरी सुदर भारी' (१२५६) तथा 'कर कंकन छबि ।' मुद्रिका (१२४३)[सं०] का उल्लेख कई पदों में हुआ है—'पल्लव हस्त मुद्रिका भ्राजै' (१२४३) । नवम स्कन्ध में हनुमान-सीता प्रसंग के कई पदों में राम की मुद्रिका के अतिरिक्त एक अन्य शब्द मुँदरी [सं० मुद्रिका] भी प्रयुक्त हुआ है—'मुँदरी दूत धरी लै आगें तब प्रतीति जिय आई' (५३१) । आजकल अधिक उम्र के लोग कनिष्ठा तथा अनामिका में जो अँगूठी पहनते है उसे प्रायः मुँदरी कहते है ।[1] मुंदरी अक्सर चांदी के तार की बनती है तथा अंगूठी सोने की ।[2] नवम स्कन्ध मे ही मुद्रा (५३२) [सं०] शब्द भी मिलता है—'कहां वै राम, कहां वै लछिमन, क्यों करि मुद्रा पायो' (५३२) । मुद्रा किसी नाम की छाप या सिक्के को भी कहते हैं । गोरखपंथी-साधु मुद्रा नामक आभूषण कान में पहनते हैं । यह प्रायः काँच या स्फटिक का होता है । सूर ने मुद्रा इस अर्थ मे भी प्रयुक्त किया है—'मुद्रा भस्म, विषान, त्वचा-मृग ब्रज जुवतिनि नहिं भाए' (४१२३) मुद्रिका का पर्याय अँगूठी (५३०) [सं० अंगुष्ठिका-अंगुट्ठिआ-अगुट्ठी-अंगूठी] सूरसागर मे मिलता है—'तब कर काढ़ि अंगूठी दीन्ही, जिहिं जिय उपज्यौ धीर'[3] (५३०) ।

७१—गले के आभूषणों में मोती की माला का उल्लेख सबसे अधिक है—'मुक्तामाल नंदनंदन उर' (१२५६), 'दसनदमक मोतिन-लर ग्रीवा, सोभा कहत न आवै' (१०६६) तथा 'विधि-बाहन भच्छन की माला, राजत उर पहिराये' (१०३५) । कृष्ण के गले में पड़ी मोती की बड़ी सी माला की शोभा अवर्णनीय है । कवि ने उसका अलंकार युक्त वर्णन अनेक पदों में किया है—

'मोतिन-माल दुहूँधा मानौ, फेन लहरि रस-कूल ।'
या—'मुक्तामाल नंद-नंदन-उर, अर्घ सुधा-घट भ्राजति ।
तनु श्रीखंड मेघ उज्ज्वल अति, देखि महाबलि साजति ।' (१२५६)
अथवा—'नैन-मीन, मकराकृत कुंडल, भुज सरि सुभग भुजंग ।
मुक्तामाल मिली मानौ, द्वै सुरसरि एकै संग ।।'

मोती को माला दुलरी (११३०) [द्वि + लड़ — स० यष्टि] या दोलड़ी भी पहनी जाती थी—'दुलरी ग्रीव माल मोतिन की' (११३०) दुलरी सोने की भी बताई गई है—'केसर की खौरि, कुसुम की दाम अभिराम, कनक-दुलरि कंठ पीताम्बर खोहीं' (२०१८) ।

मोती के हार के साथ कृष्ण अन्य प्रकार को मालायें भी पहनते थे । वे वन में गायें चराने जाते थे, अतः वहाँ फूलों तथा गुंजा या तुलसी की माला पहन लेना स्वाभाविक ही था—'भुजा

१—कृ० जी०, प्र० ११, अध्याय ४
२—प्रा शा०, पृ० १४०
३—(इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि), पृ० १३० । अष्टाध्यायी में अंगूठी का पर्याय 'आंगुलीय' दिया गया है ।

दंड तट सुभग घाट घट **बनमाला** तरु कूल' (१२५५),'ललित बर त्रिभंग सु तनु **बनमाला**[१] सोहैं (१२८०)। **बनमाला** [सं० वनमाला] जंगली फूलों की माला को कहते हैं। यह कृष्ण का प्रिय अलंकरण होने के कारण उनका एक नाम 'वनमाली' [सं० वनमालिन्] भी है। उसके अतिरिक्त **गुंजावनमाल** (१०६७) [सं० गुंजावनमाला], **मंदारहार** (२००२) [सं०] तथा **तुलसीमाल** (१०४५) [सं०] का उल्लेख भी किया गया है—

'संध्या समय गोप गोधन संग बन तैं बनि ब्रज आवत।
उर गुंजा बनमाल, मुकुट सिर, बेनु रसाल बजावत॥'

या—'केसर की खौर किये **गुंजा बनमाल** हिये'
उपमा न कहि आवै जेती नखियाँ।' (२००३)

अथवा—'उर पर **मंदार-हार**' (२००२) तथा 'स्याम देह दुकूल दुति मिलि, लसति **तुलसी-माल**'[२] (१२४५)।

गुंजा को घुघंची भी कहते हैं तथा इसकी झाड़ी होती है। इसका रंग आग के समान होता है। गुंजा एक रत्ती के बराबर होती है। अतएव सोना आदि तौलने में इसका उपयोग होता है। मंदार को अर्क या धतूरा कहते हैं। मंदार मूँगे का वृक्ष भी होता है। इन्द्र के नंदन-कानन के पाँच प्रसिद्ध वृक्षों में मदार वृक्ष का स्थान है। तुलसी की खुशबूदार झाड़ी होती है तथा यह कभी-कभी दवा की तरह काम में आती है। कुछ लोग तुलसी की पूजा करते हैं।

७२—इन सभी प्रकार की फूलों की मालाओं के अतिरिक्त **बैजंती-माल** (३४५०) [सं० वैजयन्ती] भी उल्लेखनीय है। वैजयन्तिका तो मोती के हार को कहते हैं किन्तु वैजयन्ती विष्णु की माला विशेष है। कुछ स्थलों में कृष्ण के हृदय पर शोभित **कौस्तुभमणि** (१२४३) [सं० कौस्तुभः + मणिः] का वर्णन भी किया गया है—'पल्लव हस्त मुद्रिका भ्राजै। **कौस्तुभ मनि** हृदय स्थल छाजै।' (१२४३)। यह समुद्र-मंथन में निकली थी, तथा इसे भगवान विष्णु अपने वक्षस्थल पर धारण करते हैं। विष्णु के अवतार माने जाने के कारण इस प्रकार के दोनों उल्लेख स्वाभाविक हैं।

कृष्ण के आभूषणों के सिलसिले में प्रसिद्ध चंद्रकांत मणि का उल्लेख भी मिलता है—'कटि किंकिनी चंद्र मनि संजुत।' **चंद्रमनि** (१२४३) [सं० चंद्रकान्तः + मणि] या चंद्रकान्त मणि तथा सूर्यमणि का उल्लेख आईनेअकबरी में भी किया गया है। उसमे लिखा है कि यह सफेद चमकता पत्थर होता है जिस पर चंद्रमा की किरणें पड़ने से पानी टपकने लगता है।[३] हृदय पर पदिक भी पहना जाता था—'हृदय पदिक की पांति दिपति दुति' (२८३७)।

७३—कमर के आभूषणों में सोने की या जड़ाऊ **मेखला** (१२५३, १२५१) [सं०] तथा **किंकिनी** (१२४३) [सं०] और **छुद्रावली** (११३०) [सं० क्षुद्रावलि] उल्लेखनीय हैं—'कनकमनि मेखला राजत' (२००३) अथवा 'कनक मनि मेखला राजत सुभग स्यामल अंग' (१२५१)। किसी वस्तु के मध्य भाग को चारों ओर से घेरने वाली मंडलाकार चीज़ को मेखला कहते हैं। प्राचीनकाल से ही धोती के ऊपर मेखला पहनने की प्रथा चली आ

१—क्रु० जी० प्र०, १२ अध्या० १३, फूलों के हार में माला के विरुद्ध गुंथाई होती है। इसमें एक फूल की पंखड़ियां दूसरे से मिली रहती हैं।

२—मानस, बाल का० २४३, 'कुंवर मनिकंठा कलित उरन्हि तुलसिका माल'

३—आई० अक० पृ० ४८

रही है। वैदिक काल में इसके लिए 'रसना' शब्द प्रचलित था।[1] बाण ने हर्षचरित में हर्ष द्वारा अधोवस्त्र के ऊपर पटके के पास मेखला पहनने का वर्णन किया है।[2] मेखला के अतिरिक्त बजने वाले कमर के आभूषण किंकिणी और क्षुद्रावलि हैं। किंकिणी में छोटे-मोटे घुँघुरू होते थे तथा क्षुद्रावलि में छोटी-मोटी घटियां एक मेखला में लगी रहती थीं। क्षुद्रावलि शुंग-युग की मूर्तिकला में भी मिलती है।[3] इनके संबंध मे स्त्रियों के आभूषणों मे भी बताया जा चुका है।

कृष्ण-संबंधी थोड़े से पदों मे उनके पैरों के नूपुर का चित्रण भी है—

'तरुनी निरखि हरि-प्रति अंग।

कोउ निरखि नख इंदु भूली, कोउ चरन-जुग-रंग।

कोउ निरखि नूपुर रही थकि, कोउ निरखि जुग जानु।' (१२५१)

सोने के जड़ाऊ नूपुर भी बनते थे।—'रतन जटित कंचन कल नूपुर।

मद-मंद गति चलत मधुर सुर॥' (१२४३)

आजकल बालकों और तरुण पुरुषों ने मेखला तथा नूपुर पहनना छोड़ दिया है। स्त्रियाँ अवश्य पहनती हैं। किन्तु पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप उनमे भी यह प्रथा उठती जा रही है।

७४—पुरुषों की अन्य सजावटों मे माथे पर केसर या चंदन का **तिलक** (१०६४, १०७८) [सं० केशरः, चंदन + तिलक] प्रचलित था—'बन्यौ तिलक, उर चंदन' (१०८४) 'पीत वसन, चंदन तिलक मोर मुकुट कुंडल झलक' (१०७८)। वे मृग-मद का तिलक भी लगाते थे—'सोभित तिलक रुचिर मृगमद' (३८२३)। मुगलकाल में उत्तरभारत के प्रायः सभी ब्राह्मण माथे पर तिलक लगाया करते थे।[4] आजकल भी तिलक लगाने की प्रथा ब्राह्मण वर्ग में अधिक है। तिलक खड़ी या पड़ी रेखा मे बनाते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं, जैसे—छापा (बहुत सी बूँदें) त्रिपुंड[5] (तीन पड़ी रेखायें), श्री (एक खड़ी पतली रेखा) तथा 'ऊर्ध्वपुण्ड' अंग्रेजी के 'यू' के बीच मे सीधी लाइन। त्रिपुंड का प्रयोग सप्तम शती में ही होने लगा था।[6] सूर के समय मे प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय का अपना अलग तिलक होता था।[7]

तिलक के अलावा वक्षस्थल तथा बांह पर भी केसर या चंदन की रेखाएँ खींचने की प्रथा थी। **खौर** (१०७८, १२५६) [सं० क्षुर = रेखा खींचना] का अनेक स्थानों पर सुन्दर वर्णन है[8]—'नागर कटि काछे, खौरि केसर की किये,' (१०७८) अथवा 'गए स्याम रवि-तनया के तट, अंग लसति चंदन की खौरी' (१२६०) तथा 'स्याम भुजन की सुदरताई चंदन खौरि अनूपम राजति, सो छवि कही न जाई।' (१२५६)। खौरि पड़ी चौड़ी एक रेखा होती है।

१—प्रा० भा० वे०, पृ० २२ :शत० ब्रा० १।३ १।१५:

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० ४६

३—प्रा० भा० वे०, पृ० ७१

४—अशरफ, भाग १, पृ० २७५-२७७

५—मानस, बाल० २६८ 'भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा'

६—हर्ष० सॉ० अ०, पृ० १५ 'सावित्री के माथे पर भस्म की त्रिपुंड रेखाय थीं।

७—कृ० जी०, प्र० १२, अध्याय १४

वल्लभिया तिलक—लाल रंग का अंग्रेजी का 'यू' :U:

निम्बार्क तिलक—सफेद 'यू'

रामानन्दी—सफेद 'यू' के बीच में लाल खड़ी रेखा

माध्वक—नाक के ऊपर कुछ 'यू' सा ही

८—मानस, बालकाण्ड २१६, 'तन अनुहरत सुचंदन खौरी'

तिलक तथा खौरि लगाने का रिवाज आज ब्राह्मण वर्ग में अधिक है। अन्य वर्गों में यज्ञ आदि के अवसर पर अवश्य माथे पर तिलक लगाया जाता है।

७५—कृष्ण की परम्परागत वेश-भूषा मे **मुकुट** [सं० मुकुट] का विशेष स्थान है। मुकुट में भी उन्हें मोर-मुकुट अत्यन्त प्रिय था। सूरसागर में **मोर-मुकुट** (११११) [सं० मयूर] के लिये अनेक शब्द तथा तरह-तरह के अलंकार मिलते हैं। इस संबंध में विशेष रूप से उल्लेखनीय शब्दावली यह है —**मोर-पखौवा**[1] (३७७२) [सं० मयूर + पक्ष], **बरही-मुकुट** (३४२२, १२५६) [सं० बर्हि:], **सिखी-सिखंड** (१०६४, ११६६) [सं० शिख-शिखंड] **सिखी-चन्द्रिका** (२८३७) [सं० शिखिन् + चंद्रिका] , **मयूर-चन्द्रिका** (७७२) तथा **किरीट-मुकुट** (६५८)। रूप सौंदर्य संबंधी प्रत्येक पद मे पीत पट तथा वेणु और कुंडल के साथ मोरमुकुट का वर्णन अवश्य ही किया गया है—

'सुंदर स्याम कमल दल-लोचन, हरि हलधर के भाई।
मुख मुरली सिर मोर पखौवा, बन-बन धेनु चराई।' (३७७२)
'बरही-मुकुट इंद्र-धनु मानहुँ तड़ित दसन-छबि लाजति' (१२५६)
'मनिमय जटित मनोहर कुडल, सिखी चंद्रिका सीस रहीं फबि' (२८३७)
'सिखी-सिखंड सीस, मुख मुरली, बन्यौ तिलक, उर चंदन।' (१०६४)
'सोभित सुमन मयूर चंद्रिका नील नलिन तनु स्याम' (७७२)
तथा 'क्रीट मुकुट सोभा बनी (सुभ) अंग बनी बनमाल' (६५८)

मयूर-पंख के बीच के सफेद भाग को चंद्रिका कहते है। आजकल राधा-कृष्ण के श्रृङ्गार में राधा का जो विशेष प्रकार का मुकुट पहनाते है उसे भी चंद्रिका कहते है[2]। सूरसागर मे वर्णित सभी प्रकार के मुकुट मोर के परो के बने बनाये गये है। किरीट मुकुट में एक आयताकार पट्टी के ऊपर पान के आकार की एक पंक्ति भी होती है जिसका बीच का पान बड़ा होता है। अर्जुन किरीट मुकुट पहनते थे।[3] मोरपखा या चँदोई मुकुट मे तीन मोर पख कलंगी की तरह लगते है। आज भी मंदिरों मे कृष्ण मूर्ति के श्रृङ्गार मे बागा (ऊपर से नीचे तक के दोनों वस्त्र जो आपस में जुड़े हुए बनाये जाते हैं) पटका तथा मोर मुकुट पहनाते है। जड़ाऊ सोने के मुकुट का उल्लेख भी है—'भूषन मुकुट जराइ जर्‌यो' (१६६८) अथवा 'कनक मनि मुकुट' (२७६६)।

मुकुट पहनने की प्रथा प्राचीन काल मे थी। गुप्तकाल की मूर्तियों तथा सिक्कों में मुकुट का चित्रण मिलता है। अजता के बोधिसत्व के चित्रों मे भी सिर पर प्रायः मुकुट ही चित्रित है। मोर मुकुट से अवश्य कृष्ण की ओर ही ध्यान जाता है।

कुछ स्थानों मे 'कुसुमपाग' का भी उल्लेख है— 'ललित वर त्रिभग-सुतनु, वनमाला सोहै।

१—मानस, बालकाण्ड, २३३ 'मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुमकली के।'

२—कृ० जी० प्र० १२ अध्या० १४

३—महाभारत: द्रोणपर्व, जयद्रथ वध, अध्या० ६, श्लोक २।१६
'किरीटमाली कौन्तेयो भोजातीक व्यशातयत्।' किरीट की पंक्ति 'किरीटमाल' कहलाती है।
गीता० अध्या० ११ श्लो० १७ में कृष्ण के विष्णु रूप में भी किरीट का उल्लेख है—'किरीटनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।।'

मानस, गीता० पृ० ३३०, 'भाल-तिलक, कंचन किरीट सिर, कुंडल लोल कपोलनि झाँई।

अति सुदेश कुसुम पाग उपमा कौ को है ।।' (१२२०)

७६—सूरसागर में कृष्ण का रतिनागर (दशम स्कन्ध) तथा नटवर (२८३७) रूप प्रमुख है। अलौकिक चरित से संबंधित थोड़े से पदों मे ही उनकी अमित शक्ति तथा साहस का वर्णन किया गया है। शेष सभी पदों में वह 'राजीव लोचन', 'मदनमोहन,' 'रसिक सिरोमणि', 'मनमोहन' या 'नटवर', 'नटनागर' हैं। ब्रह्म के आनन्द-रूप को ही प्रधानता दी गई है जिसने राधा तथा गोपियों को सांसारिक बंधन छोड़ने पर विवश कर दिया था—

'सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी' (१२९१)
'नटवर वेष पितांबर काछे, छैल भये तुम डोलत' (२२०४)
'कटि काछनी, चंदन खौरि, स्याम बरन सुदर घन ऐसे नट-नागर के जैये वारने' (१६६६)
'रच्यो रास मिलि रसिकराइ सौं, मुदित मँई गुन ग्रामिनि।' (१६६६)

'छैल' (२२०४) [सं० छवि + ऐल] या छैला आजकल कुत्सार्थक रूप में प्रयुक्त किया जाता है। छैल-चिकनियां खूब बने-ठने पुरुष को कहते हैं।

अष्टाध्यायी[1] में पुरुषों के लिए प्रयुक्त शक्ति-सूचक विशेषण 'पुरुष-व्याघ्र' 'हस्तिघ्न' तथा 'पुरुष-सिंह' सूरसागर में ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलेंगे। इसका कारण ऊपर दिया गया है। ब्रह्म के आनन्द रूप के प्रतीक कृष्ण के लिए ऐसे विशेषण कैसे दिये जा सकते थे ?

७७—तुलसीदास ने अपने सभी प्रमुख ग्रंथों मे राम, लक्ष्मण आदि के रूप-सौन्दर्य का वर्णन किया है।[2] कृष्ण संबंधी वर्णनों में तो मोरमुकुट, पीताम्बर तथा कुंडल के बिना चित्र पूरा हो ही नहीं सकता। जायसी ने भी रत्नसेन के आभूषणों में 'पहिरउ कुंडल कनक जराऊ' तथा 'झारहु केस मटुक सिर देहूँ'[3] आदि उल्लेख किये हैं। रत्नसेन की सभा में 'मुकुट बंध बैठे सब राजा' का वर्णन किया गया है।[4]

परिशिष्ट

श्रीकृष्ण के रूप माधुर्य तथा वस्त्राभूषण संबंधी दो संपूर्ण पद उदाहरणार्थ नीचे दिये जाते हैं—

स्याम-हृदय बर मोतिन माला। बिथकित भँई निरखि ब्रज-बाला ।।
स्रवन थके सुनि वचन रसाला। नैन थके दरसन नंदलाला ।।

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १२६

२—मानस, सुंदर० १३, 'तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुंदर।
चकित चितव मुँदरी पहिचानी। हरष विषाद हृदय अकुलानी।'
मानस, बा० ३२७, 'कलि किंकिनि कटि सूत्र मनोहर। बाहु बिसाल विभूषन सुंदर।'
पीत जनेउ महाछवि देई। करि मुद्रिका चोरि चितु लेई।
सोहत ब्याह साज सब साजे। उर आयत आभूषन राजे ।।
पियर उपरना कांखासोती। दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती ;
नयन कमल कल कुंडल काना।। बदनु सकल सौंदर्ज निधाना ।।'

३—प० सं० व्या० :२७६।५, ६:

४—प० सं० व्या० :४७।३:

कंबु-कंठ, भुज नैन बिसाला । कर केयुर कंचन नग जाला ।।
पल्लव हस्त मुद्रिका भ्राजै । कौस्तुभ मनि हृदयस्थल छाजै ।।
रोमावलि बरनि नहिं जाई । नाभिस्थल की सुदरताई ।।
कटि किंकिनी चंद्रमनि-संजुत । पीताम्बर, कटि-तट छबि अद्भुत ।
जुगल जंघ की पटतर को है । तरुनी-मन धीरज कौं जो है ।।
जानि जानु की छबि न सम्हारैं । नारि-निकर मन बुद्धि बिचारैं ।।
रतन जटित कंचन कल नूपुर । मद-मद गति चलत मधुर सुर ।।
जुगल कमल-पद नख मनि-आभा । संतनि-मन संतत यह लाभा ।।
जो जिहि अंग सु तहां लुभानी । सूर स्याम गति काहु न जानी ।। (१२४३)

सघन-कल्पतरु-तर मनमोहन ।
दच्छिन चरन चरन पर दीन्हे, तनु त्रिभग कीन्हे मृदु जोहन ।।
मनिमय जटित मनोहर कुडल, सिखी चंद्रिका सीस रही फबि ।।
मृग-मद तिलक, अलक घुघरारी, उर बनमाल कहां जु वहै छवि ।।
तनु घनस्याम, पीतपट सोभित, हृदय पदिक की पांति दिपति दुति ।।
तन बनधातु विचित्र बिराजति, बंसी अधरनि धरे ललित गति ।।
करज मुद्रिका कर-कंकन छबि, कटि किंकिनि, पग नूपुर भ्राजत ।।
नख सिख कांति विलोकि सखी री, ससि अरु भानु मगन तनु लाजत ।।
नख सिख रूप अनूप बिलोकत, नटवर वेष धरे जु ललित अति ।।
रूप-रासि जसुमति कौ ढोटा, बरनि सकै नहि सूर अलप-मति ।। (२८३७)

१० - बच्चों के आभूषण

७८—छोटे बच्चों को भी कुछ आभूषण पहनाने का रिवाज था । गले के आभरणों में **कठुला** (७०२, ७६६) [सं० कंठिका, कंठ + ला – एकलड़ा हार] प्रमुख था—'कठुला कंठ, बज्र केहरि-नख' (७०२), 'कठुला कंठ मंजु गजमनियाँ' (७२४) या 'कंचन कौ कठुला मनि मोतिनि बिच बघनहँ रह्यौ पोह (री), (७६६) । कठुला बच्चों की एकलड़ी माला होती थी । इसमें सोने अथवा चाँदी की चौकियां तारों में गूंथी जाती थीं । बीच-बीच में बाघ के नख, ताबीज आदि भी गूंथ दिये जाते थे । उपर्युक्त पंक्तियों में सूर ने इसी प्रकार के कठुला का वर्णन किया है ।

गले में **पदिक**[१], (७२४) [सं० पदकः] भी पहनाया जाता था—'पदिक उर हरिनख' (७२४) । पदिक को धुकधुकी भी कहते है । बालक कृष्ण कभी-कभी गले में कमल की माला पहनते थे – '**जलज-माल** गुपाल पहिरे, कहा कहौं बनाइ' (७८८) या 'कंठ कमल दल माल की' (७२३) ।

मोती की **माला** (७८८) [सं० माला] का उल्लेख भी कुछ पदों में है—'स्वाति-सुत माला विराजत स्याम तन इहिं भाइ' (७२८) ।

७६ –कवि ने गोपाल के माथे की **लटकन** (७१७, ७२२) [सं० लटन—झूलना, हिन्दी

१—तु० ग्रं०, गीता०, पृ० २६२—
'पहुँची करनि, पदिक हरिनख उर, कठुला कंठ मंजु गजमनियां'

लटकना से] का विशेष रूप से अनेक पदों मे वर्णन किया है—'लटकन लटकत ललित भाल पर' अथवा (७१७) 'भाल बिसाल ललित लटकन मनि, बाल दसा के चिकुर सुहाये'(७२२)। अनेक मणियों से जड़े लटकन की चर्चा भी की गई है—'नील, सेत अरु पीत लाल मनि लटकन भाल रुलाई। मनि गुरु-असुर देवगुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई।' (७२६)। किसी भी आभूषण मे लटकते भाग को लटकन कहते हैं। सिरपेंच या कलंगी की भी लटकन होती है। सूर ने संभवतः इसी अर्थ में 'लटकन' शब्द प्रयुक्त किया है। कुछ पदों मे 'चंद्रिका' (७१५) [सं०] नामक आभूषण भी वर्णित है—'कटि किंकिनी चंद्रिका मानिक' (७१५)। यह माथे पर पहनने का अर्धचंद्राकार आभरण है। इसके बीच मे नग तथा किनारे-किनारे मोती लटकते रहते हैं। ऊपर की पंक्ति में माणिक्य जटित चंद्रिका का वर्णन किया गया है।

कुछ स्थलों मे कान के आभूषण **कुंडल** (७४२) [सं० कुंडल] का जिक्र है। बड़े होकर भी कृष्ण कुंडल पहनते थे। घुँघराली लम्बी अलकों के साथ कुंडल की शोभा अद्वितीय थी—'कुंडल लोल कपोल बिराजत, लटकति ललित लटुरियां भ्रू पर' (७४२)। कृष्ण के कुंडल प्रायः मकराकृत ही थे—'कुंतल कुटिल, मकर कुंडल, भ्रुव नैन बिलोकनि बंक' (७२२)। मंडलाकार कुंडल पहनने की प्रथा प्राचीन भारत मे थी। अजन्ता के भित्ति-चित्रों में कुंडल मिलता है। बुद्ध के चित्रों मे भी प्रायः कान मे मंडलाकृत कुंडल चित्रित मिलता है। मुगलकाल मे राजपूत कानों में आभूषण पहनते थे। आजकल राजस्थान के कुछ भाग में अवश्य पुरुषों द्वारा कान मे आभूषण पहनने की प्रथा चल रही है।

८०—कनछेदन शीर्षक पदों में कान के अन्य आभूषणों **द्वं दुर** (७९८) [अ० दुर्र = मोती] तथा **मुरकी** (७९८) [अ० मुरकना—मुड़ना] का भी उल्लेख है। 'कंचन के द्वं दुर मंगाइ लिये, कहौं कहा छेदनि आतुर की। लोचन भरि-भरि दोऊ माता, कनछेदन देखत जिय मुरकी (७९८)।'

आजकल भी सोने की 'दुर' या 'मुरकी' कनछेदन मे पहनते है। दुर आकड़े की तरह लटकने वाली बाली होती है।[1] सोने के तार दो तीन बार चक्करदार लपेट कर बाली के समान मुरकी नामक आभूषण बनता है। दुर, कुंडल तथा मुरकी मिलते-जुलते आभूषण हैं। कुंडल की घुंडी दुर से बड़ी और पोली होती है।

नाक के गहनों मे एक पद में **नथनी** (७२३) [सं० नस्त-नस्थ, नाक का छेद, पशुओं की नाक का छेद जिसमें रस्सी बांधते हैं] का निर्देश भी है—हौं बलि जाऊँ छबीले लाल की।....मौतिन सहित नासिका नथुनी[2]' (७२३)। पठान काल से पहले 'नथ' नामक आभूषण का उल्लेख भारतीय साहित्य अथवा कला में नहीं मिलता है[3]। परि० पर ११ मे **बुलाक** [तुर्की बुलाक़] का उल्लेख भी है 'नाक बुलाक हलै री।' मुसलमान स्त्रियाँ ही बुलाक अधिक पहनती हैं। सोने की जौ के आकार का यह आभूषण नाक के बीच के छेद में पहना जाता है। यशोदा शिशु कृष्ण के पैरों व हाथों मे **चूरा** (७०७) [सं चूड़ा] भी पहना देती थीं—'तन भंगुली सिर लाल चौतनी, चूरा दुहुँ कर पाइ' (७०७)। इस

१—कृ० जी०, प्रक० ११, अध्या० ४

२—तु० ग्रं० गीता० पृ० २९२ 'ललित नासिका लसति नथुनियां' :३१:

३—प० सं० व्या० पृ० १५, 'परी नाथ कोइ छुवइ न पारा' पदमावत १५।४
संभवतः जायसी का यह नाथ संबंधी उल्लेख इसके प्रचार के शुरू का ही है, क्योंकि नया होने के कारण यह शब्द आभरणों का प्रतिनिधित्व कर रहा है।

वृत्ताकार आभूषण को 'कड़ा' भी कहते हैं। हाथों में एक अन्य आभूषण 'पहुँची' (७१५, ७३५, ७५१) [सं० प्रकोष्ठः] का प्रायः इन सभी पदों में उल्लेख है—'कर पहुँची' (७१५) 'पंकज-पानि पहुँचिया राजै, (७३५)। रत्नजटित पहुँची का वर्णन भी मिलता है—'पहुँची रतन-जराइ' (७५१)। कुछ दिनों पहले तक स्त्रियाँ इस आभूषण को शौक़ से पहनती थीं किन्तु अब पहुँची का रिवाज़ उठ गया है। बच्चों के आभरणों में भी इसका स्थान नहीं रहा है।

८१—पहले बच्चों को कमर में बजने वाली घुँघुरूदार **किंकिनी** (७१२) [सं० किंकिणी] अवश्य पहनाते थे।[1] सूर ने इसकी बनावट तथा ध्वनि का विशद वर्णन किया है—'कटि किंकिनि बनांइ' (७५१), 'कटि किंकिनि कूजै' (७५०) तथा 'किंकिनी कलित कटि हाटक रतन जटि' (७६६) और 'कनक रतन-मनि-जटित-रचित कटि किंकिनि कुनित पीतपट तनियां' (७२४)। वर्त्तमान समय का प्रचलित शब्द **करधनि** भी 'तनक कटि पर कनक-करधनि' (८०२) मे प्रयुक्त हुआ है। ये सभी आभूषण सोने के तथा बहुमूल्य रत्नों से जड़े हुए बताए गये हैं। इनके द्वारा कृष्ण की शोभा तथा नंद के वैभव का चित्र खींचा गया है।

छोटे बच्चो के पैरों मे भी घुघुरूदार आभूषण पहनाने की प्रथा थी जिससे चलते समय सुन्दर ध्वनि होती थी— 'पाइन मे नूपुर' (७१५) अथवा 'नूपुर कलरव मनु हसनि-सुत रचे नीड़ दै बांह बसाये' (७२२)[2] तथा 'त्यौं-त्यौं मोहन नाचै ज्यौं-ज्यौं रई घमर कौ होइ (री)। तैसिये किंकिनि धुनि पग नूपुर सहज मिले सुर दोइ (री)' (७६३)। **नूपुर** (७१५) [सं० नूपुरः] घुँघुरू के अर्थ में आता है। दूसरा प्रमुख आभूषण '**पैंजनि**,' (**पैंजनियां**) (७५०, ७२४) [सं० पादशिंजनी] है—'झुनक स्याम की **पैंजनियां**, जसुमति सुत को चलन सिखावति, अंगुरी गहि-गहि दोउ जनियां' (७५०)। अथवा —'अरुन चरन नख जोति जगमगति, रुनझुन करति पाइ **पैंजनियां**' (७२४)। ये पैर के आभूषण अधिकतर चांदी के ही बनते हैं। पैरों मे सोने के आभूषण पहनने की प्रथा आजकल भी कम है। पैंजनी घुँघुरूदार जंजीर से बनाते हैं।

८२—बच्चों के संबध मे प्राचीन काल से ही कुछ अन्ध-विश्वास भी प्रचलित है। इनके पीछे कुछ वैज्ञानिक तथ्य भी हो सकते है। बच्चों के गले में **केहरिनख** (७१५) [सं०] या **बघना, बघनियां** (७३१, ७०१) [सं० व्याघ्रनख] पहनाने की प्रथा इनमे से एक है। सूर इसका उल्लेख करना भी नहीं भूले है—'कठुला कंठ बघनहां नीके' (७३५)[3] 'रुचिर हार हिय सोहत **बघना**' (७३१) तथा 'घर घर हाथ दिवावति डोलति, बांधति गरै बघनिया' (७०१)। बाघ के नाखून का सोने के तार और मणिया स मिला कर गुंथा हार [सं० हारः] बनाया जाता

१—मनूची, पृ० ३६, ४०, मुग़ल काल में बच्चों को करधनी पहनाने की चर्चा मनूची ने की है।

२—तु० ग्रं० गीता०, पृ० २८७, 'नूपुर जनु मुनिवर कलहंसनि रचै नीड़, दें बांह बसाए' '२३:

३—तु० ग्रं० गीता०, पृ० २९०, 'कटि किंकिनी, पग पैजनि बाजै। पंकज पानि पहुँचिया राजै।
कठुला कंठ बघनहाँ नीके। नयन-सरोज मयन-सरसा के॥
लटकन लसत ललाट लटूरीं। दमकति द्वै द्वै दंतुरियां रूरीं॥

था। व्याघ्रनख में बज्र [सं० वज्र = हीरा] तथा प्रवाल [स०] डाल कर भी माला बनाते थे—

'परम सुदेस कंठ केहरिनख, बिच-बिच बज्र-प्रवाल' (७१५) अथवा 'कठुला कंठ, कुटिल केहरिनख, वज्रमाल बहु लाल अमोलनि' (७३९)।

हर्षचरित में बालक हर्ष को भी सोने मे व्याघ्रनख[1] जड़ कर पहनाने का प्रसंग है। गले में सूत्रबद्ध मूँगे का टेढ़ा टुकड़ा 'मडिके' था[2]। आज भी व्याघ्रनख काले डोरे में बांध कर कुछ लोग बच्चों को पहनाते हैं। बच्चे की अनिष्ट-रक्षा के लिए जंत्रहार (७५१) [सं० यंत्रहारः] पहनाने की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है—'राजत जंत्रहार' (७५१)। इसी प्रकार टोना टुटका करके आज भी माताएँ अपने बच्चों को ताबीज़ पहना दिया करती हैं।

८३—शिशु कृष्ण के माथे पर गोरोचन-तिलक (७१७, ७६६) [सं० गोरोचना] अथवा मृगमद (७०२) [सं० मृगमदः] शोभायमान था—'मसि बिन्दुका सुमृगमद भाल' (७०२) या 'बदन सरोज तिलक गोरोचन, लट लटकनि मधुकर-गति डोलनि' (७३९) अथवा 'चारु कपोल लोल लोचन, गोरोचन तिलक दिये' (७१७)। गोरोचन गाय के पित्ताशय से निकला एक सुगन्धित पीले रंग का द्रव्य होता है तथा मृगमद किसी-किसी हिरन की नाभि से निकली कस्तूरी को कहते हैं। कस्तूरी की सुगन्धि तो प्रसिद्ध है ही।

उनकी आखो मे काजल भी लगाना माता के लिए आवश्यक था[3]—'अंजन रंजित नैन' (७६६) [सं० अंजनः]। आज भी घरों में स्त्रियां दिये की बत्ती जला कर और उसके ऊपर किसी छोटे पात्र को रख कर उसकी कालिमा से काजल बना लेती हैं तथा उसमें कपूर आदि भी मिलाती हैं। उसके बाद कुदृष्टि से बचाने के लिए माता-यशोदा उनके माथे पर डिठौना (७१२) [सं० दृष्टि-बंधन, हि० डीठ[4]], मसि बिंदा (७३५) [सं० मसिविंदु] काजर बिंदु (७१६) [सं० कज्जलं विंदु] या चखौड़ा (७३२) लगाना भी नही भूलतीं—

'काजर बिंदु भ्रुव ऊपर री' (७१६)
'लट लटकनि सिर चारु चखौड़ा' (७३२)
'मुनि-मन हरत मंजु मसिबिंदा, ललित बदन बल-बालगुबिंदा' (७३५)[5]
'सिर चौतनी डिठौना दीन्हो' (७१२)
'चारु चखौड़ा पर कुंचित कच, छबि मुक्ता ताहू मैं' (७६५) आदि।

आज भी छोटे बच्चों को बुरी नजर से बचाने के लिए माथे पर काली रेखा या टीका लगाने की प्रथा दिखाई दे जाती है। चखौड़ा[6] ऐसी ही काली रेखा को कहते हैं।

८४—मुंडन के पहले बच्चों के बाल सुनहरे रेशम के समान तथा घुंघराले होते हैं।

१—पेट में भोंकने के लिये बाघ के नाखून के आकार का एक छोटा सा हथियार 'व्याघ्रनख' नामक होता था।

२—हर्ष० सां०, अ०, पृ० ६८ :'हाटकवद्धविकटव्याघ्रनखपंक्तिमंडितग्रीवके':

३—तु० ग्रं०, कविता०, पृ० १५७, 'तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नयन स् खंजन-जातक से'

४—कृ० जी० प्र० ११, अध्या० ४

५—तु० ग्रं०, गीता० पृ० २६१, 'मुनि मन हरत मंजु मसि-बुंदा, ललित बदन, बलि बालगुबिंदा।'

६—कृ० जी० प्र० ११, अध्या० ४, मांट तहसील में 'चखौड़ा' शब्द आज भी प्रचलित है।

सूर ने शिशु कृष्ण के इन बालों का सुन्दर वर्णन किया है—'कुटिल अलक बदन की छबि, अवनि पर लोलैं' (७१६) या—'गभुआरे सीस केस है, बर घूँघरवारे' (७५२)।

ब्रज प्रदेश में इन बालों को लटूरियाँ (७३४, ७२३) [सं० लट्वं = अलक, बाल की लट] तथा झंडूले[1] (७६६) [हि० झंड + ऊल] भी कहते हैं—

'छिटकि रही चहुँ दिसि जु लटुरियाँ' (७२३)

'लटकत ललित लटूरियाँ, मसि बिंदु गोरोचन' (७३४)

'उर बघनहाँ, कंठ कठुला, झँडूलेबार' (७६६)।

कुछ पदों मे बालकृष्ण के लम्बे जटा जुटली (७८८) [सं० जटा + जूट] जैसे झंडूले बालों वाले रूप की तुलना शिव जी से की गई है—

'सखि री, नंदनंदन देखु। धूरि धूसर जटा जुटली, हरि किये हर-भेषु' (७८८)।

यशोदा कृष्ण तथा बलराम के इन लम्बे बालों की चुटिया (७८०) [सं० चूडा] या बेनी (७६६) [सं० वेणी] गूंथ देती थीं—

'बेनी लटकत मसि-बुंदा मुनि-मन हर' (७६६)

अथवा, 'खेलत खात गिरावहीं, झगरत दोउ भाई

अरस परम चुटिया गहैं, बरजति है माई' (७८०)।

मुंडन के पहले बाल लम्बे हो जाने पर आजकल भी लड़कों के बाल बेणी रूप में बांध दिये जाते हैं। बीच में मांग निकाल कर दोनों ओर बालों को पट्टे में काढ़ने को काकपच्छ (४६४) [सं० काकपक्ष:] केश-विन्यास कहते हैं। यह देखने में कौए के परों के समान लगते हैं। हर्षचरित में बालक भंडि का केश-विन्यास काकपक्ष ही है। गुप्तकालीन कार्तिकेय की मूर्तियों में भी ऐसा ही मिलता है।[2] सूर ने नवम स्कन्ध के राम संबंधी पदों में काकपच्छ का उल्लेख किया है—'कटि-तट पीत पिछौरी बांधे, काकपच्छ धरे सीस' (४६४)। कृष्ण के बाल काकपच्छ ढंग के नहीं बताये गये हैं। राजा के पुत्र होने के कारण राम-लक्ष्मणादि के लिये ऐसा केश-विन्यास अधिक उपयुक्त था। राम के समान 'पनही' का उल्लेख भी कृष्ण की वेशभूषा में प्राय: नहीं किया गया है।

८१—तुलसी ने बालकों की वेश-भूषा में प्राय: इसी शब्दावली का प्रयोग किया है—'किंकिनि, पैंजनी, कठुला, पहुँची, नथुनी, बघनखा, तनियां, झँगुली, कछौटी, पगिया, पनहीं तथा नागफनी (कान का आभूषण) आदि। शिशु राम का रूप-माधुर्य देख अयोध्यावासिनी स्त्रियाँ ठगी सी खड़ी रह गईं—

'पग नूपुर औ पहुँची करकंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिये।

नवनीत कलेवर पीत झँगा-झलकैं, पुलकैं नृप गोद लिये।

अरविंद सो आनन, रूप मरंद, अनंदित लोचन भृंग पिये।'[3]

घुंघराले कुंडल तथा कुंडल की छवि अवर्णनीय थी—'घुंघरारी लटें लटकें मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलनि की। निवछावरि प्रान करै तुलसी, बलि जाउँ लला इन बोलन की,

---

१—कृ० जी० प्र० ११, अध्या० ४, आज कल कभी कभी 'झंडूले' शब्द के लिये 'जडूला' शब्द प्रयुक्त करते हैं—.चट × ऊल्ल—जडुउल्ल—जडूल × क—जडूला, जड़ अर्थात् गर्भ के बाल

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० ६८

३—तु० ग्रं० कविता०, पृ० १५७, १५८

कोसल्या आंगन में राम को पैरों चलना सिखा रही हैं—

ललित सुतहि लालति सचु पाये ।
कौसल्या कल कनक अजिर, महं सिखवनि चलन अँगुरियाँ लाए ।।
कटि किंकिनी, पैजनी, पांयनि बाजति रुनझुन मधुर रेंगाए ।
पहुँची करनि, कंठ कठुला बन्यो केहरिनख-मन-जरित जराए ।।
पीत पुनीत बिचित्र भँगुलिया; सोहति स्याम सरीर सोहाए ।
दँतियां द्वै द्वै मनोहर मुख छबि, अरुन अधर चित लये चोराए ।।१।।
चिबुक कपोल नासिका सुंदर भाल तिलक मसिबिंदु बनाए ।
राजत नयन मंजु अंजनजुत खंजन कंज मीन मद नाए ।
लटकन चारु भ्रकुटिया टेढ़ी. मेढ़ी सुभग सुदेस सुभाए ।।२।।[१]

सूर तथा तुलसी के बालक कृष्ण तथा राम के चित्रण में कितनी समानता है यह देख कर आश्चर्य नहीं होता । उस समय के प्रचलित पहनावे के साथ दोनों ने परंपरागत पहनावे का भी मिश्रण किया है । राम तथा कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाने के कारण उनका परम्परागत पहनावा भी बहुत कुछ मिलता है । गीतावली के कुछ पदों का सूरसागर के कुछ पदों से आश्चर्यजनक साम्य है ।

८६—वर्तमान काल में बच्चों को आभूषण पहनाने की प्रथा उच्च वर्ग के नागरिकों में उठ-सी गई है । इस वर्ग ने पश्चिमी प्रभाव के अन्तर्गत निकर, कमीज, पैंट, फ्रॉक अपना लिया है । किन्तु ग्रामीण जनता ने अपना पुराना पहनावा बच्चों के लिये भी नहीं छोड़ा है । गांवों में हाथ-पैर कमर आदि में चांदी के आभूषण, कुर्ता, कमीज झबला तथा टोपी आदि अभी भी चल रहे हैं । वहां कठुला व्याघ्रनख तथा डिठौना भी दिखाई देता है । कमर में अक्सर काले डोरे की करधनी पहना देते हैं । मुसलमानी संस्कृति के प्रभाव स्वरूप पायजामा, जांघिया, कमीज़ और कुर्ता आदि भी चल रहे हैं । सभी के वस्त्रों में रूमाल का भी महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया है ।

परिशिष्ट

बाल रूप संबंधी कुछ थोड़े से पदों द्वारा शिशु कृष्ण की मनमोहक शोभा तथा सज्जा का अनुमान लगाने में सरलता होगी । इनको पढ़ कर आंखों के सामने एक चित्र-सा खिंच जाता है—

(१) खेलत नँद-आंगन गोविन्द ।
निरखि-निरखि जसुमति सुख पावति, बदन मनोहर इंदु ।
कटि किंकिनी चंद्रिका मानिक, लटकन लटकत भाल ।
परम सुदेस कंठ केहरि-नख, बिच-बिच बज्र प्रवाल ।।
कर पहुँची, पाइन मैं नूपुर, तन राजत पटपीत ।
घुटुरुनि चलत, अजिर महँ बिहरत, मुख मंडित नवनीत ।
सूर विचित्र चरित्र स्याम के रसना कहत न आवै ।
बाल दसा अवलोकि सकल मुनि, जोग बिरति बिसरावै ।। (७१५)

(२) चलत लाल पैंजनि के चाइ ।
पुनि-पुनि होत नयौ-नयौ आनंद ,पुनि-पुनि निरखत पाइ ।
छोटौ बदन छोटियै झिंगुली, कटि किंकिनी बनाइ ।

२—तु० ग्रं० कविता० गीता पृ० २६१

राजत जंत्र-हार, केहरि-नख, पहुँची रतन जराइ।
भाल तिलक पख स्याम चखौड़ा जननी लेति बलाइ।
तनक लाल नवनीत लिये कर सूरज बलि-बलि जाइ ।। (७ १)

(३) छोटी-छोटी गोडियाँ, अँगुरियाँ छबीली छोटी,
नख-ज्योती, मोती मानो कमल दलनि पर।
ललित आंगन खेलै, ठुमकि-ठुमकि डोलै,
झुनुक-झुनुक बोलै पैंजनी मृदु मुखर ।।
किंकिनी कलित कटि हाटक रतन जरि,
मृदु कर-कमलनि पहुँची रुचिर वर,
पियरी पिछौरी झीनी और उपमा न भीनी,
बालक दामिनी मानो ओढे बारो बारि-धर।
उर बघ-नहां, कंठ कठुला, झड़ूले बार,
बेनी लटकन मसि-बुंदा मुनि-मनहर।
अंजन रंजित नैन, चितवनि चित चोरे
मुख-सोभा पर वारौं अमित असम-सर।
चुटुकी बजावत नचावति जसोदा रानी,
बाल केलि गावति मल्हावति सुप्रेम भर।
किलकि-किलकि हँसैं, द्वै-द्वै दँतुरियाँ लसैं,
सूरदास मन बसैं तोतरे बचन बर[1] ।। (७६६).

११ स्त्रियों की शृङ्गार तथा प्रसाधन सामग्री

८७—सूरसागर दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध के कृष्ण जन्मोत्सव, रामलीला, जलक्रीड़ा तथा राधा व गोपिका शृङ्गार-वर्णन, हिंडोला, बसन्तोत्सव और भ्रमरगीत आदि प्रमुख प्रसगों से सूरकालीन प्रचलित प्रसाधन सामग्री पर प्रकाश पड़ता है। साहित्य मे शृङ्गार के सोलह अंग कहे गए है— उबटन, मज्जन मिस्सी, स्नान, सुवसन, केश-विन्यास, अंजन, मांग मे सेंदूर, महावर, मेहदी, ठोढी पर तिल बनाना, बिंदी, अगराग-लेपन, आभूषण, फूलों की माला, तथा पान खाना। सूरसागर में भी **नवसत** (२४५०) या **षटदस** (२११५) शृङ्गार बताये गये हैं— 'नवसत सजे माधुरी अँग-अँग' (३२२६) अथवा 'स्यामा नवसत सजि सखि लै, कियौ बरसाने तें आवनौ' (३४१०) या 'सजे शृङ्गार नवसत जगमगि रहे अंग-भूषन' (१६७०) तथा 'षट-दस सहित सिंगार करति हैं अँग-अँग निरखि सँवारति' (२११५) तुलसी तथा जायसी ने भी सोलह शृङ्गार का उल्लेख किया है।[2]

१—तु० ग्रं०, गीता०, पृ० २६२ 'छोटीं छोटी गोड़ियां—तोतरे बचन बर' उपर्युक्त पद से बहुत अधिक मिलता है। ऐसा लगता है कि अन्तिम पंक्ति में 'सूरदास' तथा 'तुलसी' छापें ही केवल बदल गई हैं।

२—मानस, बालका० ३२२, 'नवसप्त साजे सुंदरी'
प० सं० व्या०, २६६—'पुनि सोरह सिंगार जस चारिहु जोग कुलीन।'
३००।१ 'अस बारह सोरह धनि साजे।'

शरीर के सोलह अवयवों को सजाना भी अंग-प्रत्यंग अथवा नख-शिख-शृंगार कहलाता था जिसकी ओर सूरसागर में भी संकेत हैं—'और त्रिया नख-सिख सिंगार सजि, तेरें सहज न पूरें'। (३०६२) अथवा 'वह सोभा निरखत अँग-अँग की, रही निहारि निहारि, चकित देखि नागरि मुख वाकौ तुरत सिंगार विसारि (३२२५) अथवा 'सकल सिंगार कियौ ब्रज बनिता, नख-सिख लौं भल ठानि' (३४७६)। शरीर के ये सोलह अवयव इस प्रकार हैं—चार दीर्घ—केश, उंगली, नयन, ग्रीवा; चार लघु—दशन, कुच, ललाट, नाभि; चार भरे हुए—कपोल, नितम्ब, जाँघ तथा कलाई तथा चार पतले—नाक, कटि, पेट तथा अधर[१]। सूर ने राधा रूप-वर्णन के अनेक पदों में (३२२८, ३२२९, ३०६६, ३०६७, ३०६४ में) इन अंगों के सौंदर्य का वर्णन किया है। इनमें कुछ पद उल्लेखनीय हैं—जैसे—'विराजति राधा रूप निधान' (३०६४). 'मनौ गिरिवर तैं आवति गंगा' (३०७२), 'नव नागरि हो (सकल) गुन आगरि हो' (३२३१) अथवा 'सहज रूप की रासि राधिका भूषन अधिक विराजै' (३०६३)। पद्मावत में भी पद्मावती का रूप-वर्णन इसी आधार पर किया गया है।[२]

८८—उपर्युक्त सभी प्रकार की शृंगार-सज्जा का चित्रण सूरसागर में मिल जाता है। राधा तथा गोपियों द्वारा उबटन लगाने का वर्णन अनेक स्थलों में है—'उबटि केसरि अंग' (३४४८) 'तब दोउ उबटि सखी अन्हवाए', रुचिर सिंगार सिंगारि बनाए' (३४४६)। मुरली-ध्वनि सुन कर बेसुध गोपियाँ बिना उबटन के ही शरीर-मर्दन करने लगीं—'अँग मरदन करिबे को लागीं, उबटन तेल धरी' (१६१८)। उबटन (१६१८) [सं० उद्वर्तनम्] का स्थान प्राचीन काल मे भी स्त्रियों की प्रसाधन-सामग्री में था। पाणिनि ने 'उर्द्वतक' का उल्लेख किया है।[३] बाण ने हर्ष-चरित में राज्यश्री के विवाह के सिलसिले में उबटन तैयार किये जाने का वर्णन किया है। स्त्रियाँ बलाशना ओषधि घी मे पकाकर और उसमें पिसे हुए कुमकुम को मिला कर उबटन तथा मुख-लेपन बना रही थीं।[४] आजकल भी विवाह के पहले इसी प्रकार की एक प्रथा 'हल्दी चढ़ाने' की है। विवाह के कई दिन पहले से ही वरवधू के उबटन लगाया जाता है। वर्तमान समय में प्रायः हल्दी सरसों व तेल से उबटन बनाते हैं। कभी-कभी चिरौंजी, केसर या संतरे के छिलके तथा दूध आदि से भी विशेष प्रकार का उबटन बनता है। हर्षचरित में घी का उबटन का उल्लेख है, किन्तु सूरसागर में भी आज के ही समान तेल के उबटन का संकेत कई स्थलों मे है—'लै तेल उबटनौ सानैं' (८०१) तथा 'तन उबटन तेल लगाए' (८०१) या 'तेल उबटनौ लै आगैं धरि' आदि (८०४)। तेल लगाने से उबटन सरलता से छूट जाता है। केसर के उबटन का भी उल्लेख सूरसागर में है—'कुमकुम उबटि कनक तन गोरी। अँग-अँग सुगँध चढ़ाइ किसोरी' आइनेअकबरी मे उबटन का अर्थ एक प्रकार का सुगंधित साबुन दिया गया है। इसको धूप लोबान, गुलाब, अर्कबहार, लादन, अगर, चंदन, कस्तूरी, सेव आदि अनेक पदार्थों के मिश्रण से बनाते थे।[५]

बालक कृष्ण संबंधी पदों मे मज्जन तथा स्नान का उल्लेख उबटन के बाद ही है—

१—प० सं० व्या०, पृ० २८८

२—प० सं० व्या० ४६७, 'प्रथम केस—ये सोरहौ सिंगार बरनि के करहिं देवता लालि।'

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, अध्याय 3. पृ० १३१

४—हर्ष० सां० अ० पृ० ७०

५—आईने अ० पृ० १६०, १६१

'तातौ जल जानि समोयो । अन्हवाइ कियो मुख धोयो ।
अति सरस बसन तन पोंछे । लै कर मुख-कमल अँगोछे ।' (८०१)
अथवा—'उबटि कान्ह अन्हवाइ अमोल' (७१२)
तथा—'जमुना तें जल भरि लै आऊँ, ततिहर तुरत चढ़ाऊँ ।
केसरि कौ उबटनौ बनाऊँ रचि रचि मैल छुड़ाऊँ ।' (८०३)

राधा तथा कृष्ण के विवाह के सिलसिले में भी **मंजन** (१६६४) [सं० मज्जन] का उल्लेख है—'बदन मंजन तें अंजन गयौ ह्वै दूरि ।' कृष्ण, राधा तथा गोपियों की यमुना मे जलक्रीड़ा से संबंधित अनेक पद हैं (१७७१-१७८७)—'जल-क्रीड़ा-सुख अति उपजायौ' (१७८१) अथवा 'न्हात सुख करत अति बढ़ी प्रीती' (१७७५) । इन पदों मे पानी से भींगे पट, लटों व शरीर के अंगराग के जल मे बहने का भी सुन्दर वर्णन है —'भीजि पट लपट्यौ सुभग उर, रही केसरि-चयन' (१७७६) 'लटकि रहो लट गीली' (१७७८) अथवा 'स्याम अंग चंदन की आभा, नागरि केसरि अंग । मलयज पंक कुंकुमा मिलिकै, जल जमुना इक रंग' (१७८०) । होली खेलने के बाद भी इसी प्रकार कुछ पद स्नान-सम्बन्धी हैं (३५२६-३५३१) 'जदुपति जल क्रीड़त जुवतिसंग । मृगमद मलयज केसरि कपूर, कुमकुमा कलित कृत अगरु चुर' (३५३०) । तुलसी तथा जायसी ने स्नान व मज्जन का वर्णन अनेक स्थलों में किया है ।[१] जायसी ने प्रायः उबटन के अर्थ मे मज्जन का उल्लेख किया है ।[२]

८६—राधा तथा गपियों के सुन्दर लम्बे और काले केशों का वर्णन अनेक पदों में है। रूप-शोभा को बढ़ाने मे केश का महत्त्वपूर्ण स्थान है, अतः इनका वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है। राधा के एड़ी-चुम्बी केश आकर्षक लगते हैं—'बड़े-बड़े बार जु एड़िनि परसत, स्यामा अपनैं अचल मे लियैं' (३२३५) । उनके **चिकुर** (१६७३, ३४७५) [स०], **केस** (१७७६) [सं० केश] अथवा **बार** (३२३५) मृदु तथा चिकने [स० चिक्कण] बताये गये हैं—

'अति सुदेस मृदु चिकुर हरत चित, गूँथे सुमन रसालहिं' (१६७३)

अथवा—'चिकने चिकुर छुटे बेनी हैं मिले बसन मैं डोलैं' (३४७५) । अनेक स्थलों में उनके **कुंचित** [सं०] केश या **अलक** [सं०] का वर्णन भी है—'कुंचित कुटिल अलक' (३२८३) 'कछुक कुंचित केस माई' (१७७६) अथवा 'राजति राधे अलक भली' (२३२१) । सामने के घुंघुराले बालों को अलक कहते हैं ।[३] पहले कुंकुम तथा कर्पूरादि के चूर्ण से टेढ़ी लट या बंक लट बनाते थे, इसीलिए अमरकोश में अलक का अर्थ 'चूर्ण कुंतल' दिया गया है ।[४] कुछ पदों में अलकों को सुलझा कर वेणी गूंथने का चित्रण है—'चली अलक सुरझावति' (२६४२)। कहीं-कहीं उनके मुख पर बिखरे बाल भी ध्यान आकर्षित करते हैं—'बिथुरी अलक सुथरे आनन पर' (२६२६।) 'लटैं उघरारी रहीं, छूटि छूटि आनन पै, भीजी हैं फुलेलनि सों' (२६२८) । **लट** (२६२८) [सं० लट्व] शब्द भी अलक का समानार्थक है । फारसी में इसको 'ज़ुल्फ़' कहते हैं जो फ़ारसी-उर्दू काव्य का एक प्रिय विषय रहा है ।

१—तु० ग्रं०, गीता० १०, 'चुपरि उबटि अन्हवाइ कै नयन-आंजे
प० सं० व्या०, २६६।१ 'प्रथमहि मंजन होइ सरीरू'
२६७।२ 'कै मंजन तब किएहु अन्हानू'
२—प० सं० व्या०, पृ० २८६ (२)
३—प० सं० व्या० ६६, 'घुंघुरवारि अलकें बिखभरी'
४—कु० जी०, प्र० ११ अध्याय ३

९० —बाल सुलझाने के बाद उनको दो भागों में कर लिया जाता है। बालों के बीच की रेखा को माँग कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—सीधी तथा टेढ़ी। सूर ने केश के बीच में सीधी माँग का उल्लेख किया है—'रची माँग साम-भाग राग-निधि' (२८०२)। मग (३४६७) या मांग (१६६०, १३२६) [सं० मङ्ग -प्रा० मंग-माँग] निकालने के लिए सूरसागर मे 'पारना' शब्द प्रयुक्त किया गया है—'बेनी गूथि माँग सिर पारी' (३४९७) अथवा 'किहिं कच गूदि माँग सिर पारी' (१३२६)। माँग को मोती से अलंकृत करने के सबध म भी कई पदों मे बताया गया है जिसके लिए 'माँग भरना' आया है—'मोतिनि माँग भर' (१६७३) अथवा 'मुक्ता माँग' (२३२१)। 'गज मोतिन सुदर लसत मंग' (२४६७) में 'गज मौक्तिक' का उल्लेख है। 'माँग पाटी सुमन' मे माँग को फूलो से सजाने का निर्देश है। केश मे फुलेल[१] [सं० पुष्प + तेल—फुल्लएल—फुलेल] या सुगंध लगाने का भी वर्णन है—'भीजी है फुलेलनि सों' (२६२८) या 'लाइ सुगंध बनाइ अभूषन' (४२८३) तथा 'जे कच कनक कटोरा भरि भरि मेलत तेल फुलेल' (४४३३) और कृष्ण-वियोग मे 'तेल-विहीन उनके केश ऐसे हो गए थे—'अलक जु हुती भुवंगम हू सी, बट लट मनहुँ भई।' (४०२२)। वैदिक तथा लौकिक संस्कृति मे मांग के लिए 'सीमन्त' शब्द प्रयुक्त होता था।[२] सस्कृत मे 'मङ्ग' एक प्रकार के रजन द्रव्य को कहते थे। धीरे-धीरे सीमन्त मे मंङ्ग लगाने के कारण सीमन्त को ही माँग कहने लगे।[३] सूरसागर मे दो एक स्थलों मे सीमन्त शब्द भी मिलता है—'सिर सीमन्त सँवारि' (२७३६)। पद्मावत मे प्रायः माँग शब्द ही प्रयुक्त हुआ है।[४]

९१—सूरसागर मे कई प्रकार के केश-विन्यास का निर्देश है। उनमें से सबसे अधिक बेनी (१२६०, १६९१, ३२३८) [सं० वेणी] गूंथने, गूंधने या गुहने, (३२३८, ३२४६, १३२६) [सं० ग्रथ् या ग्रन्थ] के उल्लेख है। बालिका राधा को भी वेणी ही प्रिय थी—'बेनी पीठि रुलति झकझोरी' (१२६०)। कृष्ण-जन्मोत्सव, रास, हिंडोला, होली आदि सभी प्रसंगों में ब्रज की स्त्रियों की केश-रचना पीठ पर पड़ी हुई वेणी ही है—'एक परस्पर बेनी गूंथति' व 'बेनी डोलति दुहूँ नितंबनि' (२०५७); वेणी ढीली बनाने व कई प्रकार की गुहने का वर्णन भी है—'बेनी सिथिल गुही (६४२) 'विविध बेनी रची' (१६०)। वेणी में फूल गुहने की प्रथा भी थी—'बेनी सुमन नितंबति डोलति' (१६७२['जिहिं सिर केस कुसुम भरि गूँदे, कैसे भस्म चढ़ाऊँ' (४३१०) तथा 'गूंथे सुमन रसालहिं' (१६७३)। कृष्ण द्वारा राधा की वेणी गूंथने का भी कुछ पदों मे चित्रण है—'मोहन मोहिनि। अंग सिंगारत बेनी, ललित ललित कर गूंथत सुंदर माँग सँवारत' (३२४६) अथवा 'बेनी सुभग गुही अपने कर चरननि जावक दीन्हों' (४२१९)। 'सुभग' अथवा ललित विशेषण कलात्मक ढंग से वेणी गूंथने के लिए आये है। साहित्य[५] मे केश या वेणी की उपमा सर्पिणी या अहिकुल से दी जाती रही है, अतः सूरसागर की यह उपमा नयी नहा है—

१—प० सं० व्या०, २७६, 'छोरहु जटा फुलाएल लेहू'

२—मेघदूत, उत्तरमेघ, 'सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्।'
हर्ष० सां० अ० पृ० २४ 'ललाटलासक सीमन्तचुम्बी चटुला तिलकमणिः'

३—कृ० जी० प्र० ११, अध्या० ३

४ प० सं० व्या०, १००।१ 'बरनौ मांग सीस उपराहीं'

५—प० सं० व्या०, ९९।५ 'लहरनि भरे भुजंग बिसहरे' ११५।२ 'बेनी नाग चढ़ा जनु कारी।' ३०२।५ 'बेनी बासुकि छपा पतारा।'

'पन्नगि सिर' (२३११) 'मनु बेनी भुवंगिनि परसत स्रवत सुधा की धार' (३२२८) अथवा 'बेनी गूंथन फूल सुगंध भरे, डोलत हरि बोलत न सकुच हियें। कुसुमो सारी, अलक झलक मनो अहिकुल बंदन सौं पूजा कियें' (३२३५) तथा—'अहि अनूप कबरी' (५०७)। प्रायः बालों के तीन भाग करके वेणी गुही जाती है। प्राचीन काल में क्रोधवती वियोगिनी अथवा विधवा स्त्रियाँ ही संभवतः एक वेणी बनाती थीं।[१] उस समय जूड़ा बांधने की प्रथा अधिक थी। हर्षचरित में मालती के केश-विन्यास में ढीले जूड़े का ही उल्लेख है।[२] अजन्ता के स्त्री-चित्रों में भी कई प्रकार के जूड़ों [सं० जूटक] का चित्रण है। गान्धार तथा मथुरा की मूर्तिकला में अवश्य फीते से बंधी चोटी मिलती है—जैसे प्रसिद्ध यक्षिणी चंदा की मूर्ति में। एक अन्य यक्षिणी के केश भी फीते से बांधे गये है तथा मौलिश्री के फूलों से अलंकृत है। गांधारकला में सुन्दर केश-विन्यास स्त्रियों के सिर खुले रहने के कारण दिखाई देता है। उनको शेखर से भी सजाया गया है।[३] मनूची ने भी स्त्रियों के केश-विन्यास के सिलसिले में जूड़े का उल्लेख किया है।[४] मुगल चित्रकला में हिन्दू स्त्रियों के बाल प्रायः जूड़े में बांधे हुए हैं तथा मुसलमान स्त्रियों के खुले लटकते हुए।[५]

६२—सूरसागर में जूड़े का उल्लेख नहीं है। एक दो जगह धम्मिल (३०६३) शब्द की ओर अवश्य ध्यान जाता है—'धम्मिल नीर अगाध' (३०६३)। तामिल देश के संस्कृत में 'द्रमिड़' या 'द्रविड़' सिंहली में 'दमिल' तथा यूनानी में 'दमरिके' आदि प्राचीन नाम हैं। इन्हीं शब्दों से 'धम्मिल' की व्युत्पत्ति का अनुमान होता है। यह केश-विन्यास सम्भवतः गुप्तकाल में दक्षिणी प्रभाव के फलस्वरूप उत्तरी भारत में प्रचलित हुआ। सिर के ऊपर का इस प्रकार का भारी जूड़ा अजन्ता के भित्ति चित्रों में भी अंकित है (१७वीं गुफा का प्रेयसी-चित्र)। कृष्णकालीन मूर्तिकला में इसका अँकन नहीं है। हर्षचरित में यशोवती की बेला नामक प्रतिहारी की केश-रचना धम्मिल ही है।[६] पद्मावत में इसी का समानार्थ शब्द खोंपा [ता० कोण्पु] शब्द प्रयुक्त हुआ है।[७] आज कल पूर्वी जनपदी बोली में माथे के बाल गोलाई में काटने का भी 'खोंपा काटना' कहते हैं।[८]

थोड़े से पदों में चोटी या चुटिया (७८०, ७८३) [सं० चूडा] शब्द मिलता है—'अरस-परस चुटिया गहै' (७८०) अथवा 'कान्ह कुँवर गहो दृढ़करि चोटी' (७८३)। सिर के पीछे पड़ी बालों की लट या पुरुषों की शिखा को भी चोटी कहते हैं। सूरसागर में इस अर्थ में भी यह शब्द बालक कृष्ण संबंधी पदों में प्रयुक्त हुआ है। विवाह के अवसर पर वेणियों से बने जूड़े को भी चोटी कह देते हैं[९], यों आजकल प्रायः चोटी या चुटिया वेणी का पर्यायवाची

१—वा० रामायण, अयोध्याकाण्ड, पूर्वार्द्ध १०।६ 'एक वेणी दृढं बद्ध्वा गतसत्वेव किन्नरी' अभिज्ञानशाकुन्तलम् (वियोगिनी शकुन्तला) 'वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः' मेघदूतम्, उत्तरमेघ, २६ 'गण्डाभोगात्कठिन-विषयामेकवेणीं करेण'

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० २३

३—प्र० भा० वे०, पृ० ६६, १०६

४—मनूची, पृ० ३६, ४०

५—कौमुदी, पृ० ३६

६—हर्ष० सां० अ०, पृ० ६६

७—प० सं० व्या० ६१।१ 'खोंपा छोरि केस मोकराई'

८—प्रा० श०, पृ० १४४

९—कृ० जी०, प्र० ११, अध्याय ३

शब्द हो गया है और सबसे अधिक बोला जाता है।

६३—दूसरी उल्लेखनीय केश-रचना **पटिया पारना** थी—'मुंडलो पटिया पारी चाहै' (४१६८)। इसमे माँग के दोनों ओर बालों को मोम से चिकना करते थे। इन्हीं पट्टियों को फूल पत्तियों से अलंकृत भी करते थे, जिसका उल्लेख जायसी ने भी किया है।[१] सिर के सब बालों के काट देने को 'सिर घोटना' या 'मूडना' कहते है। ऊपर की पंक्ति मे इसी से बना शब्द 'मुंड़ली' आया है। इन उल्लेखों के अतिरिक्त सूरसागर मे केश-विन्यास संबंधी एक अन्य महत्त्व-पूर्ण उल्लेख **कबरी** (१६७३,१७५४) है। इस शब्द का प्रयोग अनेक पदों में है—

'कबरी अति कमनीय, सुभग सिर राजति गोरी बालहिँ' (१६७३)।

'गिरत कुसुम कबरो केसनि तैं' (१७५४)।

तथा 'कबरी केस सुमन गहि राखे सो क्यों जटा बनावै' (४२७४)। कबरी केश-विन्यास अत्यन्त प्राचीन है। पाणिनिकृत अष्टाध्यायी में भी इसका उल्लेख है। संभवत: इसमें बालों की लटें फूलों से गुंथी जाती थीं।[२] सूरसागर के उपर्युक्त पद्यांशों में भी कबरी के साथ बराबर सुमन का निर्देश है।

आजकल कम उम्र की लड़कियों को प्राय: दो वेणी ही अधिक प्रिय हैं तथा स्त्रियाँ एक वेणी या जूडा बनाती है। दक्षिणी भारत मे जूड़ा या वेणी को फूलों से अलंकृत करने की प्रथा बहुत अधिक है। बिना फूलों का केश-विन्यास वहां शायद ही कभी दिखाई दे। वहां की स्त्रियों ने केश-विन्यास को कला ही बना लिया है।

६४—शृंगार के प्रसाधनों में नेत्रों के लिये अंजन का उपयोग किया जाता रहा है। इस अर्थ में सूरसागर में दो शब्द आये है—**काजर** (६४२,२८०७) [सं० कज्जलं] तथा **अंजन** (३०६२) [सं० अंजनं]। राधा तथा गोपियाँ भी आंख मे काजल लगाना नहीं भूलतीं—'काजर नैन दिये' (६४२), 'दरपन लै कजराहि सँवारत' (२८०७) अथवा 'आजु अंजन दियो राधिका नैन को' (३०६८) तथा 'भाल तिलक काजर चख' (४४३३)। प्राचीन समय मे भी काजल लगाने की प्रथा थी। पाणिनि ने 'त्रिककुद' पर्वत से 'त्रैकाकुंड' अंजन आने का उल्लेख किया है। यह पर्वत संभवत: सुलेमान पर्वत ही था जहां का अनुलेप सिन्ध तथा पंजाब में बिकता था। महाभारत (कर्ण पर्व ४४।१८) में भी एक पंजाबी गौरवर्णा स्त्री द्वारा त्रिककुद पर्वत का अंजन लगाने का उल्लेख है। पाणिनि ने एक अन्य अंजन कालकूट का भी उल्लेख किया है। यह संभवत: 'यामुन अंजन' अर्थात् यमुना के प्रदेश (देहरादून जिले) का था।[३] पद्मावती के शृङ्गार में भी अंजन का स्थान होना स्वाभाविक ही है।[४] आज भी स्त्रियाँ तथा बच्चों द्वारा काजल लगाने की प्रथा है। यह नेत्रों का सौंदर्य तो बढ़ाता ही है, साथ ही लाभदायक भी होता है।

१—प० सं० व्या०, ४७१।२ 'के पत्रावलि पाटी पारी। औ रुचि चित्र विचित्र सँवारी।'
२६७।३, 'रचि पत्रावलि'

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, अध्या० ३, पृ० १३२

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, अध्या० ३, पृ० १३१

४—प० सं० व्या०, २६८। 'बांक नैन औ अंजन रेखा। खंजन जनहुँ सरद रितु देखा।'
२६६। 'पुनि अंजन दुहुँ नैन करेई'
२६०।४ 'नैन कजल चखु रहै न मोरे'

आजकल प्रायः घरों में दिये की कालिख, घी और कपूर से साधारण काजल बना लेते हैं। इसी प्रकार की एक अन्य वस्तु सुरमा [फ़ा० सुरम:] भी है जो नीले रंग के एक प्रसिद्ध खनिज पदार्थ के चूर्ण से बनाते हैं। आजकल बरेली का सुरमा प्रसिद्ध है।

६५—सूरसागर में स्त्रियों की सज्जा में सेँदुर (६४२) [सं० सिन्दूर] का उल्लेख भी कई पदों में है—'सँदुर माँग छुही' (६४२)। विवाहिता हिन्दू स्त्रियों के लिए माँग में सिन्दूर लगाना आवश्यक है। इसको माँग भरना कहते हैं। विवाह-संस्कार में पति द्वारा 'सिन्दूर-दान' की प्रथा आज भी चल रही है जिसका उल्लेख तुलसी तथा जायसी ने भी किया है।[1] यह एक प्रकार का लाल चूर्ण होता है। सिन्दूर के समान ही लाल वर्ण का ईगुर (६५८) [सं० हिंगुल-इंगुल-इंगुर-इंगुर-ऐंगुर—रस सिंदूर] भी होता है। सूरसागर के पालना-वर्णन सम्बन्धी पद में इसका उल्लेख है—'रँगि ईगुर ढार सुढार' (६५८)। अभ्रक, पारद तथा गन्धक को घोंटकर लाल रंग का ईगुर या रस-सिन्दूर बनाते हैं। यह कृत्रिम हिंगुल है, किन्तु खनिज पदार्थ हिंगुल में भी पारद तथा गन्धक का मिश्रण होता है।[2] पदमावत मे कृत्रिम हिगुल बनाने की विधि की ओर संकेत है।[3] प्राचीन काल मे भी सिंदूर उपयोग में आता था। हर्षचरित में, हर्षजन्मोत्सव के सिलसिले मे, 'सिन्दूरपात्राणि'[4] का उल्लेख है। सूरसागर मे महावर के लिए दो शब्द आये है—जावक (१६७२) [सं०] तथा महाउर (३२८१,३१३८)। पैरों मे लगे हुए लाल महावर या जावक की शोभा का वर्णन इन शृंगार सबंधी अनेक पदों मे है—'नखनि रंग जावक की सोभा' (१६७२) तथा 'मानहुँ मीन महाउर धोये' (३२८१)। आज भी घरेलू उत्सवों तथा संस्कारों में विशेष रूप से स्त्रियाँ महावर लगाती है। सूर ने कृष्ण-जन्मोत्सव वर्णन में इस प्रथा पर प्रकाश डाला हे—'नाइन बोलइ नवरंगी (हो) ल्याउ महावर वेग' (६५८)। विवाह के समय वधू के पैरों में मेहदी तथा महावर लगाने की प्रथा आज भी चल रही है। कहीं-कहीं वर के पैरों में भी महावर लगाते हैं।[5]

बंगाल की स्त्रियों मे महावर अधिक प्रचलित है। महावर को आलता [सं० आलवर्तं] भी कहते हैं जिसका उल्लेख बाणकृत हर्षचरित मे भी है[6]। कालिदास ने 'लाक्षाराग' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है[7]। वर्तमान समय में मेहदी तथा महावर का स्थान एक प्रकार से नाखूनों पर लगाने के रंग 'नेल पेंट' ने ले लिया है।

६६—सूरसागर में शृङ्गार के अन्य अंगों, ठोड़ी पर तिल बनाने तथा फूल मालाओं का निर्देश भी स्थान-स्थान पर है—'चिबुक स्यामल बिंदु' (१६६१) अथवा 'चिबुक चारु तिल ताकि बनायौ' (३२२९)। बिंदु के समान काले प्राकृतिक चिह्नों को 'तिल' कहते है। मुख के

१—तुलसी, मानस, बालकाण्ड, ३२५, 'राम सीय सिर सेंदुर देहीं'
प० सं० व्या० ११०।१ 'सेंदुर अबहिं चढ़ा तेहि नाहीं'
४७१। 'कनक माँग जो सेंदुर रेखा, जनु बसन्त राता जग देखा।'
२९६।२ 'साजि माँग पुनि सेंदुर सारा'

२—प० सं० व्या०, २८६।७

३— ,, ,, , २९४।७

४—हर्ष० सां० अ०, पृ० ६६।

५—मानस बाल० ३२७। 'जावक जुत पद कमल सुहाये'

६—हर्ष० सां० अ०, पृ० ७२ 'विनयस्तालक्त-पाटलांश्च'

७—कालिदास, उत्तरमेघ, श्लो० ११, 'लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं'

गौर वर्ण पर काले छोटे तिल से विरोध के कारण सौन्दर्य की वृद्धि होती है। सूरसागर में इसका भी उल्लेख है—'चिबुक बिंदु बिच दियौ विधाता, रूप सींव निरुवारि' (२७३६)। प्राकृतिक चिह्नों की अनुकृति पर स्त्रियाँ काजल से अथवा गुदने से गुदवाकर तिल बना लेती थीं। जायसी भी इन दोनों प्रकार के तिलों का वर्णन करना नहीं भूले हैं।[१] आजकल भी कभी-कभी स्त्रियाँ ऐसा करती है, किन्तु इसकी प्रथा बहुत ही कम हो गयी है। अब शहरों में गुदना गुदाने की प्रथा नहीं रही है।

शृङ्गार का दूसरा प्रसाधन गले में फूलों का हार था। कृष्ण की प्रिय मालाओं का उल्लेख किया जा चुका है। राधा तथा गोपियों द्वारा माला पहनने का निर्देश भी हुआ है—'तिलक ललाट सोभित हार हिये' (६४२), 'सुमन सुगंध माल पहिराए' (३४४६) कहीं-कहीं फूलों से ही शृङ्गार करने के वर्णन भी है—'फूलनि नख सिख सिगार' (३५३५) अथवा 'करि सिंगार सब फूलनि ही कौ' (३५१०)। पाणिनि के समय तक में गले में माला पहनी जाती थी। ऐसे व्यक्तियों के लिए अष्टाध्यायी में 'मालाहारिणी' या 'मालाभारी' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। शिक्षा की समाप्ति पर लौटने वाले स्नातकों का विशेषण 'स्रगवी' (माला पहनने वाला) था, क्योंकि ब्रह्मचारी के लिये माला पहनना निषिद्ध था।[२] हर्षचरित से भी यशोवती तथा साधनाभूमि की स्त्री के गले में पड़ी पैरों तक लटकती लम्बी मालाओं का परिचय मिलता है।[३] हर्षकाल में सिर पर भी फूल-मालाएँ पहनी जाती थीं जैसा कि हर्ष-चरित से ज्ञात होता है।[४] इस प्रकार फूल मालाएँ पहनने की प्रथा अब नहीं रही है, किन्तु उत्सव संस्कारों आदि के अवसर पर फूल-मालाएँ भेंट करना आतिथ्य-सत्कार का सूचक है।

६७—इन पदों में माथे पर तिलक (६४२) [म०], बिंदु (१६७१,१६६४) [सं० बिंदु] या टीकौ (२३२०) [सं० तिलक] कई प्रकार की चीजों से लगाने के उल्लेख हैं। इनमें से रोरी (६४२) [सं० रोचनं], बंदन (१६७१) [सं० वन्दनः], चंदन (६४२), केसरि (२३२०), मृगमद (१६७३) तथा सेंदुर (१६६४) आदि उल्लेखनीय हैं—'मुख मंडित रोरी रंग' (६४२), 'बंदन-बिंदु निरखि हरि रीझे' (१६७१) 'चंदन तिलक ललाट' (३२२८) 'गोरैं ललाट सोहै सेंदुर को बिंद' (१६६४) 'सिर केसरि कौ टीकौ' (२३२०) तथा 'ससिमुख तिलक दियौ मृगमद' (१६७३)। गोल बिंदी के साथ केसर या मृगमद की आड़ी रेखायें भी लगाई जाती थीं—'केसरि-आड़ ललाट (हो), बिच सेंदुर को बिन्दु' (३२३१) अथवा 'माल लाल सिंदूर-बिंदु पर मृगमद दियौ सुधारि' (२७३६) या 'कुमकुम आड़ स्रवत स्रम-जल मिलि' (२३२१) तथा 'ता बिच बनी आड़ केसर की' (२७३२)। कृष्ण-जन्मोत्सव संबंधी पद में ब्राह्मणों का तिलक इसी प्रकार के अनेक सुगन्धित पदार्थों के मिश्रण से बनाये जाने का उल्लेख है—'घसि चन्दन चारु मँगाइ, विप्रनि तिलक करे। मथि मृगमद मलय कपूर माथैं तिलक किये' (६४२)। तिलक के चारों ओर चूनी (चुन्नी) या लाल के छोटे-छोटे कण चिपकाने की ओर भी सूरदास ने संकेत किया है—'ताटंक तिलक सुदेश झलकत खचित चूनी लाल' (३४६०)। कपोल पर या तिलक के चारों ओर इस प्रकार चुन्नी चिपकाने की प्रथा समकालीन जैन स्त्री-

१—प० सं० व्या०, १०६।३ 'तेहि कपोल बाएं तिल परा'
४६६।६ 'भौंह धनुक तिल काजर ठोड़ी'

२—इंडिया एज् नोन टु पाणिनि, अध्या० ३, पृ० १३१

३—हर्ष० सां० अ०, पृ० ६७,६१ 'धरणितलचुम्बनीभिः कंठकुभु ममालाभिः'

४— „ „ पृ० ५६, ६७

चित्रों में देखी जा सकती है। जायसी ने भी इसका उल्लेख किया है।[१] आज भी विवाह के अवसर पर कहीं-कहीं वधू को इस प्रकार सजाने का रिवाज है।

चाँद के समान गोल बिंदुली या बिंदी का भी वर्णन अनेक पदों में है—'भाल बेंदी-बिंदु इंदु लाजै' (१६६०) अथवा 'भाल बेंदी-बिन्दु महा छाजै'। मथुरा कला में छठी शताब्दी का एक स्त्री मस्तक इस प्रकार की गोल टिकुली से युक्त मिला है।[२] हर्षचरित में भी साधना-भूमि की स्त्री के मस्तक पर पद्मातपत्र के छायामंडल के समान बड़ी गोल टिकुली का उल्लेख है।[३] पदमावत के शृङ्गार संबंधी पदों मे भी तिलक की शोभा का वर्णन किया गया है।[४] आजकल भी भारतीय स्त्रियों को रोली या सिंदूर का टीका अथवा चमकदार टिकुली अत्यधिक प्रिय है। इसे सौभाग्यसूचक भी मानते है। गोल बिंदु के अतिरिक्त खड़ी और आड़ी रेखा या अन्य प्रकार के तिलक भी कभी-कभी लगाये जाते हैं; केसर, चंदन, तथा मृगमद आदि से तिलक लगाने की प्रथा अवश्य अब विशेष नहीं रही है। माथे पर टीका लगाने की प्रथा भारतीय है और विदेशों को स्त्रियाँ अनेक बार इसकी ओर आकर्षित हो जाती है।

६८—स्नानोपरान्त शरीर पर सुगंधित द्रव्यों के लेपन की प्रथा प्राचीन भारत में बहुत थी। इसका एक कारण सभवतः यहाँ की ग्रीष्म ऋतु है, जिसमें सुगंध-युक्त शीतल द्रव्य सुखप्रद लगते हैं। अतएव स्वाभाविक है कि सूरसागर में भी शृङ्गार संबंधी अनेक पदों में इसका उल्लेख हो। इनमे चोवा, चंदन, अरगजा, केसर, कपूर, मृगमद तथा अगरु आदि पदार्थ प्रमुख है—'चन्दन अरगजा सूर केसरि धरि लेऊँ, गंधिनि ह्वै जाऊँ निरखि नैननि सुख देउँ' (१६६३), तथा 'चन्दन अगरु कुमकुमा मिस्रित' (३३२६)। भ्रमरगीत प्रसंग में ब्रज की स्त्रियाँ अंगराग के स्थान पर भस्म लगाने की बात समझ नहीं पातीं—'चंदन छाँड़ि विभूति बतावत' (४१०६) अथवा 'चोवा चंदन और अरगजा जा सुख में हम राखी' (४२१६) अथवा 'मृगमद मलय कपूर कुमकुमा केसर मलिये साख' (४५५५)। जलक्रीड़ा तथा होली 'शीर्षक पदों मे भी अंगराग का उल्लेख आया है। विनय संबंधी पदों में भी कहीं कहीं निर्देश है—'खर कौं कहा अरगजा लेपन' (३३२) इन सभी सुगन्धित पदार्थों की व्याख्या रंग संबंधी अंश में की गई है।

पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी मे कई प्रकार की गन्धों तथा उनके बेचने वालों का उल्लेख किया है। गन्धों में केसर, शलालु, नरद, तगर, गुग्गुल तथा उशिर थे तथा उन्हीं के अनुसार बेचने वालों के नाम भी थे, जैसे शलालुकी या शालालुकी। प्राचीन समय में नलद सिन्धु प्रदेश तथा उज्जैन से मिस्र देश तक भेजा जाता था। अष्टाध्यायी में इसके अतिरिक्त स्नापक (नाई), उत्सादक, परिशेछक, पुलेपिका, अनुलेपिका तथा विलोपिक नाम भी मिलते हैं, जिनसे अंगराग-लेपन की प्रथा का ज्ञान होता है। अर्थशास्त्र में भी राजा के इन सेवकों का उल्लेख किया गया है।[५] हर्षचरित के अनेक स्थलों में चंदनादि विलेपन अथवा अंगराग के उल्लेख है[६]। कपूर, कक्कोल तथा लवंग भी उस समय की प्रचलित सुगंधों के आवश्यक अंग माने जाते

१—प० सं० व्या०, ४७२।४ 'तिलक सँवारि जो चूनी रची'

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० ६०

३— ,, ,, पृ० ६०

४—प० सं० व्या० १०१।५ 'तेहि ललाट पर तिलक बईठा'

५—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, अध्याय, ३ पृ० १३१, १३२

६—हर्ष० सां० अ०, पृ० २६, १३६, ७०, ६०

थे ।[१] आईने अकबरी में (आईने० ३०) सुगंधालय विभाग के अन्तर्गत अनेक प्रकार की सुगन्धों के नाम और उनको तैयार करने की विधियाँ दी गई है । सम्राट् इनका अत्यन्त प्रेमी था । इनमे से कुछ उनके द्वारा आविष्कृत थीं तथा कुछ प्राचीन थीं । फूलों के कुछ तेल भी बनते थे जो बालों तथा शरीर पर लगाने के काम आते थे ।[२] जायसी ने भी सूर के समान ही इनका अनेक स्थलों मे उल्लेख किया है ।[३]आजकल धूप, अगरु, गुग्गुल, चंदन आदि सुगन्धों की वर्तिका या चूर्ण जलाने की प्रथा अधिक है । शरीर पर लगाने के लिए इनके तथा फूलों के तेल या इत्र का उपयोग होता है जो ऋतुओं के अनुसार चुने जाते है ।

९९—शृंगार का अन्तिम प्रसाधन तमोर (३२३१) [सं० ताम्बूल] या बोरी (३२४६) [सं० वीटिका] था—'सुदर सुघर कपोल हो, रहे तमोर भरिपूर' (३२३१ अथवा 'बीरी मुख भरि' (३२४६) या 'लै बीरी अपने कर प्यारी' (३४४६) । पान की पीक का भी वर्णन है—'पीक कपोलनि तरिवन कैं ढिग झलमलाति मोतिनि छबि जोए' (३२८१) । चेहरे पर पीक की लालिमा की झलक गौर वर्ण तथा सुन्दर त्वचा की सूचक थी, अतएव साहित्य मे इसका उल्लेख प्रायः मिल जाता है । जायसी ने पदमावती के रूप वर्णन मे पान से लाल होठों तथा पीक का वर्णन भी किया है ।[४] पान की छोटी वीटिका में मिस्सी रख कर बनाते थे और उसको 'बोरी' कहते थे। सूरसागर मे बीरी के उल्लेख तो है, किन्तु जायसी के समान मिस्सी लगे हुए दांतों का पृथक् वर्णन नहीं है ।[५] मुगलकाल मे स्त्रियों मे मिस्सी लगाने का रिवाज बहुत था । पान को लपेट कर बनाने पर उसे बीड़ा या बीरा कहते थे । आजकल इसी को गिलौरी भी कहते हैं । आईने-अकबरी मे बीड़ा बनाने का ढंग भी दिया गया है । एक पान में सुपारी तथा कत्था, दूसरे में चूना लगा कर अलग-अलग लपेटने के बाद उसे रेशम से बाँध लेते थे । कभी-कभी उसमें कपूर कस्तूरी आदि डालते थे ।[६] जायसी ने पान की चीज़ों के बारे में भी बताया है ।[७] आजकल एक ही पान में चूना, कत्था, सुपारी, इलायची, पिपरमिंट और मसाला आदि डाल कर लौंग से बीड़ा बनाते हैं । आज यों पान खाने तथा आतिथ्य-सत्कार मे पान देने की प्रथा बहुत है, किन्तु नगरों मे आधुनिक शृंगार के प्रसाधनों में पान का स्थान ओष्ठरंजन (लिपस्टिक) ने ले लिया है । इस प्रकार मिस्सी लगाने की प्रथा भी नहीं रही है । पान खाने की प्रथा भारत की विशेषता है ।

१— ,, ,, पृ० १३०

२—आइने अ० पृ० १५८-१७६

३—प० सं० व्या०, २९०।३, ७ 'काहू हाथ चंदन के खोरी—
—भाँतिन्ह भाँति लाग तस मेदू'

४—प० सं० व्या०, १११।७ 'घूंटत पीक लीक सब देखा'
१०६।४ 'भए मँजीठ पानन्ह रँग लागे'
कुसुम रंग थिर रहा न आगे'
२९६।४ 'पुनि राता मुख खाइ तमोला'

५—प० सं० व्या०, १०७।१ 'दसन चौक बैठे जनु हीरा'
औ बिच बिच रँग स्याम गंभीरा ।'

६—आईने० अ०, पृ० १५५

७—प० सं० व्या० ३३६।४ 'अधर तँबोर कपूर भिवँसेना'
३०८। 'पान सुपारी खैर' २९०। 'कोई बीरा, कोइ लीन्हें बीरी ।'

१००—सूरसागर में राधा तथा गोपियों के इन शृंगार संबंधी पदों के अतिरिक्त मुरली तथा कृष्ण के बहुनायकत्व संबंधी पदों में उलटे शृंगार का वर्णन है—'करत शृंगार जुवती भुलांहीं—नैन अंजन अधर आँजहीं हरष सों, स्रवन ताटंक उलटे सँवारे' (१६६८) 'ललाट महाउर' (३१३८) अथवा 'कहुँ चंदन, कहुँ बंदन की छबि' (३२६३) आदि। शृंगार के अन्य अंग वस्त्राभूषण की व्याख्या अलग अध्यायों में दी जा चुकी है।

शृंगार की सहायक वस्तुओं में **मुकुर** (२८०६, २८१०) [सं०] या **दरपन** (२८०८) [सं० दर्पण] का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके बिना पूरा शृंगार करना संभव नहीं है। अतएव सूरसागर में भी दर्पण में मुख देख कर शृंगार करने का निर्देश है—'कर तें मुकुर दूर नहिं डारति' (२८०६) अथवा 'चंद उदौ मुख पेखि री दर्पन' (२६२६)। नेत्रों में अंजन तथा माथे पर तिलक लगाने के समय तो दर्पण की सहायता अवश्य ही लेनी पड़ती है—'दर्पन लै कजराहि सँवारत' (२८०७) अथवा 'कबहुँ केसरि आड़ रचति दर्पन हेरि' (२८०८)। शृंगार के उपरान्त राधा तथा गोपियाँ अपने ही प्रतिबिंब पर स्वयं मुग्ध हो उठती हैं—'मुकुर छाँह निरखि देह की दसा गँवाई' (२८१०) तथा 'अपनी छबि पर आपनौ तन-मन-धन वारैं।'

पाणिनि ने भी शृंगार संबंधी वस्तुओं मे दर्शन आदर्शवादि या काशिका शब्द दिये है। उनके समय में दर्पण दो प्रकार के होते थे—यथामुखीन (*flat*) या समुखीन (Convex)।[१] आजकल इसे शीशा या आईना (ऐना) ही अधिकतर कहते है। शीशे के अतिरिक्त केश-विन्यास के लिये दूसरी आवश्यक वस्तु कघे के संबंध मे सूरसागर मे नही बताया गया है। बाल काढ़ने का अवश्य निर्देश है—'काढ़त गुहत न्हवावत जैहै नागिनि सी भुइँ लोटी' (७६३)।

परिशिष्ट

सूरसागर के कुछ पद नीचे दिए जा रहे है। इनसे शृंगार करने की विधि का अनुमान सरलता से किया जा सकता है—

(१) प्यारी अंग सिँगार कियौ।
बेनी रची सुभग कर अपनैं, टीका भाल दियौ।।
मोतिनि माँग सँवारि प्रथम ही, केसरि-आड़ सँवारि।
लोचन आँजि स्रवन तरिवन छबि, को कबि कहै निवारि।।
नासा नथ अतिहीं छबि राजति, अधरनि बीरा-रंग।
नवसत साजि चीर चोली बनि, सूर मिलन हरि संग।। (२६४५)

(२) मोहन मोहिनि-अंग सिँगारत।
बेनी ललित ललित कर गूँथत, सुंदर माँग सँवारत।।
सीसफूल धरि, पाटी पोंछत फूँदनि झबा निहारत।
बंदन-बिंद जराइ की बेंदी, तापर बनै सुधारत।।
तरिवन स्रवन, नेन दोउ अंजन, नासा बेसरि साजत।
बीरी मुख भरि चिबुक डिठौना, निरखि कपोलनि लाजति।।
नख-सिख सजत सिँगार भाव सौं, जावक चरननि सोहत।
सूर-स्याम तिय-अंग सँवारत, निरखि आपु मन मोहत।। (३२४६)

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, अध्याय ३, पृ० १३१

कुछ शृंगार संबंधी पदों में अलंकारों की हो भरमार है। एक दो पदों में शिव तथा गोपिका की तुलना की गई है—

(३) सिव न अबध सुंदरी, बधो जिन।
मुक्ता माँग अनंग, गंग नहिं नवसत साजे अर्ध स्याम घन।।
भालतिलक उडपति न होइ यह, कबरि ग्रथित अहिपति न सहसफन।
नहिं बिभूति दधि-सुत न कंठ जड़, यह मृगमद चंदन चर्चित तन।
नहिं गजचर्म सु असित कंचुकी, देखि बिचारि कहाँ नंदी गन।
सूर सु हरि अब कृपा करि, बरबस गमर करत हठ हम मन।। (२७३१)

कहीं-कहीं पूरे पदों मे उत्प्रेक्षायें दी गई है जिनमें प्रचलित प्रिय उपमानों का अनुमान हो जाता है—

(४) प्रिय मुख देखौ स्याम निहारि।
कहि न जाइ आनन की सोभा, रही बिचारि बिचारि।।
छीरोदक घूँघट हातौ करि, सम्मुख दियौ उघारि।
मनौ सुधाकर दुग्ध-सिंधु तैं, कढ्यौ कलक पखारि।।
मुक्ता-माँग सीस पर सोभित, राजनि इहिं आकारि।
मानौ उड़गन जानि नवल ससि, आए करन जुहारि।।
भाल लाल सिंदूर-बिंदु पर, मृगमद दियौ सुधारि।
मनौ बंधूक-कुसुम ऊपर अलि बैठ्यौ पंख पसारि।।
चंचल नैन चहूँ दिसि चितवत, जुग खंजन अनुहारि।
मनौ परस्पर करत लराई, कीर बचाई रारि।।
बेसरि के मुक्ता में झाँई, बरन बिराजति चारि।
मानौं सुरगुरु सुक्र भौम सनि, चमकत चंद मँझारि।।
अधर बिंब बिच दसन बिराजत, दुति दामिनि चमकारि।
चिबुक बिंदु बिच दियौ विधाता, रूप सींव निरुवारि।।
तरिवन स्रवन रतन मनि-भूषित, सिर सीमंत सँवारि।
जनु जुग भानु दुहूँ दिसि उगए, भयौ द्विधा तम हारि।।
लाल माल कुच बीच बिराजति, सखियनि गुही सिँगारि।
मनहुँ धुईं निर्धूम अग्नि पर, तप बैठे त्रिपुरारि।।
सन्मुख दृष्टि परै मनमोहन, लज्जित भई सुकुमारि।
लीन्हीं उँमगि उठाइ अंक भरि, सूरदास बलिहारि।। (२७३६)

———

खंड २

खाद्य तथा पेय पदार्थ

१ भोजन सम्बंधी साधारण शब्द

१०१—सूरसागर के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध में कवि के आराध्य कृष्ण का कलेवा तथा ज्योनार वर्णन अनेक पदों में है। कुछ पद तो केवल खाद्य-पदार्थों की सूची मात्र हैं। काव्य-कला की दृष्टि से इनका महत्त्व न होते हुए भी सूरकालीन भोजन सामग्री पर इससे यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। इस दृष्टि से इस शब्दावली का विशेष महत्त्व है। इतने प्रकार का भोजन धनीवर्ग अथवा राजाओं के ही योग्य है। यह नंद-यशोदा की स्थिति के अनुकूल न होते हुए भी ब्रज के मंदिरों की भोग प्रणाली का स्मरण कराता है। आज भी वहाँ इसी प्रकार विस्तृत भोग लगाने की प्रथा चल रही है। जिन पदों में कृष्ण का चित्रण एक ग्वाल बालक के रूप में है वहाँ उनका वही प्रातः उठकर मक्खन रोटी के लिये मचलना, मां का समझा-बुझाकर तरह तरह के प्रलोभन देकर दूध पिलाना आदि परिवारों के नित्य-प्रति के अनेक अत्यन्त स्वाभाविक एव सुंदर चित्र है। ऐसे पद सूरसागर मे कम नहीं हैं तथा यही उसके प्राण हैं।

सूरसागर में चार समय के खानों का वर्णन है—

(१) प्रातःकालीन कलेवा अथवा कलेऊ (८२६,८३०) अथवा मुखारी (२५८३) [सं० मुखारिका, मुख = सारंभ]—'दतवनि लै दुहुँ करी मुखारी' (१०२५) 'कमल-नैन हरि करो कलेवा (८३०) तथा 'उठिए स्याम कलेऊ कीजै' (८२६)। ये शब्द सुबह के नाश्ते के लिये प्रयुक्त हुए हैं। अब प्रायः नाश्ता शब्द ही अधिक बोला जाता है अथवा उच्च वर्ग के नागरिकों मे चाय। चाय शब्द साथ में खाने की अन्य वस्तुओं का भी बोधक समझा जाता है। सूरसागर में कलेवे के अन्तर्गत फल, मेवा, मिठाई, दधि तथा दूध है। प्रातःकाल मक्खन-रोटी खाने का वर्णन भी कई पदों में है। आजकल नगरों में चाय अथवा दूध के साथ सुबह डबल रोटी-मक्खन खाने के विदेशी प्रभाव की तुलना सूरसागर में वर्णित रोटी-मक्खन से की जा सकती है। गाँवों में आज भी कलेवे में प्रायः दूध, दही, मट्ठा और रोटी खाने की प्रथा चल रही है।

१०२—(२) दोपहर का भोजन—इसके लिये सूरसागर में भोजन (८०१,८१६, १०१४,१८३१) [सं० भोजन] तथा ज्यौनार (१८३१) [सं० जेमनम्-भोजन करना भोज्य पदार्थ, प्रा० जैमणकार] शब्द आये हैं। भोजन शब्द खाद्य पदार्थों के साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा दिन के पूरे खाने के अर्थ में भी। गोवर्धन पूजा के प्रसंग में भोजन शब्द पहले अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है—'भोजन सब खैहैं मुँह माँगे' (१५१७)।[१] दिन के ज्योनार

१—मानस, बाल०, ३२९—'चार भांति भोजन बिधि गाई।
एक एक विधि बरन न जाई।' चर्व्य, चोष्य, लेह्य तथा पेय, चार प्रकार के खाद्य पदार्थ माने गए हैं।

प० सं० व्या०, ५६३—'न पाव भोजन गने उपास'

इंडिया एज् नोन टु पाणिनि, पृ० ९९-१०० 'भोज्याम् भाक्ष्य' (VII ३.६९)। कात्यायन ने भोज्य में खाद्य एवं पेय, दोनों पदार्थ माने हैं तथा भाक्ष्य में केवल खाद्य पदार्थ (Solid), द्रव्य नहीं। पतंजलि ने पाणिनि का अनुसरण किया है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में भाक्ष्य शब्द दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया है।

के अर्थ में भोजन में खाद्य तथा पेय पदार्थों की लम्बी सूची दी गई है—'भोजन बेगि ल्याउ कछु मैया, भूख लगी मोहि भारी, आजु सबारैं कछु नहिं खायौ, सुनत हँसत महतारी।' (१६१३) विनय पदों में भी यह इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—'ग्वालनि के सँग भोजन कीन्हौं, कुल कौं लाज लगाई।' तथा कुब्जा प्रसंग मे—'भोजन साथ सूद्र बाम्हन को तैसौ उनकौ साथ' (३७७०)। लोक में छप्पन अथवा बावन प्रकार के भोजन की ख्याति है[1] किन्तु उनकी सूची का अभी तक पता नहीं चला है। छप्पन भोग का उत्सव अन्नकूट उत्सव के बाद प्रतिवर्ष होता है। वर्ष में संभवतः प्रधान छप्पन उत्सव होते हैं। उनकी सामग्री एक ही दिन समर्पित करने के कारण यह नाम पड़ गया है। इस उत्सव में कई सौ प्रकार के पकवान होते हैं।[2] सूरसागर में एक जगह सत्रह सौ प्रकार का भोजन बताया गया है—'सत्रह सौ भोजन तहँ आए' (१०१४)। गोवर्धन पूजा के प्रसंग में भी अनेक प्रकार का भोजन था—'परुसत भोजन प्रातहिं तैं सब। रवि माथे तैं ढरकि गयौ सब।' (१५२६) अकबर के भोजन में सौ प्रकार का भोजन सदा रहता था। अकबरनामा से विदित होता है कि हेरात में हुमायूं के प्रातःकालीन नाश्ते में तीन सौ तथा दोपहर के खाने में बारह सौ प्रकार की तश्तरी परोसी गई थी[3]। भोजन की क़िस्मों के लिये **परकार**[4] (२०१] शब्द आता है। इन गिनितियों के अतिरिक्त भोजन की अन्य विशेषता थी—**षटरस परकार** (८०१,१०१४) [सं०]—'**षटरस परकार** मँगाए जे बरनि जसोदा गाए' (८०१) अथवा 'नंद भवन मैं कान्ह अरोगैं। जसुदा ल्यावैं षटरस भोगैं' (१०१४)। भोजन अथवा खाद्य पदार्थों के छः स्वाद[5] माने गए हैं—मधुर, कटु, अम्ल, तिक्त, कषाय तथा लवण। सूरसागर में इनमें से कुछ प्रधान स्वादों का निर्देश भी हुआ है—'**खारे खट्टे मीठे** हैं निधि' (१८३१) '**खाटी** कढ़ी बिचित्र बनाई' (१८३१) '**मधुर** महेरी गोपनि प्यारी' (१८३१) 'सोहै **मधुर मीठे** रस चाख्यौ' (१८३१), '**मीठे चरपर**' (१०१४) अथवा **तीछन** लगी नैन भरि आए' (८४२)। आजकल **चटपटा**[6] शब्द ज्यादा बोला जाता है। इन्हीं छः रसों के मिश्रण से और अनेक स्वाद होते हैं, जैसे खट्टा और मीठामिलाकर—**खटमिट्ठा**—'खटमिठे सिंघारे' (१५३ परि०)। रस के लिए **स्वाद** [सं० स्वादः] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है—'तिन सौं सबै **स्वाद** हरि लीन्हें' (१८३१)। आईने अकबरी (आईन०२६) में रसोत्पत्ति के कारण बताए गए है। उष्णता, शीतलता, माध्यमिक ताप आदि कारणों से ये भेद होते हैं, जैसे उष्णता सूक्ष्म पदार्थ को तीक्ष्ण, स्थूल को कड़ुआ तथा मध्यम प्रकृति को खारी बनाती है

कौटिल्य ने भी इसी प्रकार दोनों अर्थ लिए हैं—मांस सुरा-भाक्ष्य-भोजन (अर्थशास्त्र पृ० २१४) तथा 'भाक्ष्येषु सम्राटि' (पृ० २५२) १—२८४।४ 'पुनि बावन परकार जो आए। ना अस देखे न कबहूँ खाए।'

१—प० सं० व्या०,
५६२।५ 'कोइ परसहिं बावन परकारा'

२—प० सं० व्या, ५६२, (५)

३—प० सं० व्या, ५५०—पृ० ५६५ (८)

४—पं० सं० व्या०, ५६३।१, 'सब परकार फिरा हर फेरे'

५—मानस, बाल का०, ३७६, 'छरस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भांती।'

६—प० सं० व्या, ५४७।४ 'ऊपर तेहिं तंह चटपट राखा'

तथा शीतलता क्रमशः खट्टा, मुंह में लगने वाला तथा कसैला बनाती है। इसी प्रकार माध्यमिक ताप चिकना, मधुर तथा स्वादरहित करता है[१]।

१०३—खाना खाने के लिये प्रायः **जेंवन, जेंवत** (१८३१,१५२६) [सं० जेमनम्] शब्द का प्रयोग हुआ है—'जेंवत रुचि अधिकौ अधिकैया' (१८३१)। गोवर्धन लीला प्रसंग में भी बार-बार 'जेंवत' शब्द ही आया है—'उत जेंवत इत बातनि पागे। कहत स्याम गिरि जेंवन लागे' (१५२६)। आजकल ग्रामीण बोली में 'जीमना' शब्द भी बोला जाता है। तुलसी[२] तथा जायसी[३] द्वारा व्यवहृत शब्दावली में भी सूर के समान ही 'जेंवन' शब्द मिलता है। इसी शब्द से बना शब्द '**ज्यौंनार**' सूरसागर में प्रायः पूरे भोजन के अर्थ मे आया है—'यह ज्यौंनार सुनै जो गावै' (१८३१) अथवा 'तुरत करहु जेंवनार (१०१३)। आजकल कभी-कभी विवाह आदि के अवसरों पर बिरादरी के बहुत से लोगों के पंक्ति मे बैठकर भोजन करने या दावत को भी ज्यौनार कह देते हैं। मानस[४] में शिव तथा राम के विवाह पर तथा पद्मावत[५] मे 'रत्नसेन-विवाह' व 'बादशाह-भोज खंड' में ज्यौनार का विस्तृत वर्णन मिलता है।

खाने के अर्थ में **रसोई** (२४४) [सं० रसवती] शब्द सूरसागर मे भी मिल जाता है—'षटरस व्यंजन छाँड़ि रसोई, साग बिदुर-घर खाए' अथवा 'बहु व्यंजन बहु भाँति रसोई षटरस के परकार।[६] (१०१३)। आज भी लोग 'खाना तैयार है' के अर्थ में 'रसोई तैयार है' कहते हुए मिलेंगे; यों अब रसोई खाना बनाने वाले स्थान को कहते है।

१०४—**छाक** (१०७४,१०७७,१०७६,१०८२-८५,१०८६) संबंधी अनेक पद गो-चारण प्रसंग मे है। दोपहर या तीसरे पहर के समय ग्वालों या किसानो के लिए बाहर भेजा जाने वाला खाना छाक कहलाता है—'जाति-पाँति सबकी हौं जानौं बाहर छाक मँगाई' (२४४) 'सूरदास प्रभु सुनि हरषति भये घर तैं छाक मँगाई'। छाक में अधिकतर सदमाखन, मधु, मेवा, पकवान, चबेना, आदि ही कलेवा के समान होते थे—'सद माखन साजो दधि मीठौ, मधु मेवा, पकवान'(१०७४) अथवा—'लवनी, दधि, मिष्टान्न जोरि कै जसुमति मेरैं हाथ पठाई' (१०८०) छाक खाने में ग्वाल-बाल सहित कृष्ण बलराम इतने मग्न हो गए कि गायों का ध्यान भी न रहा—'जेंवत छाक गाइ बिसराई,

सखा श्रीदामा कहत सबनि सौं, छाकहि मैं तुम रहे भुलाई।
धेनु नहीं देखियत कहुँ नियरैं, भोजन ही मैं साँझ कराई ॥' (१०८६)।

प्रातःकाल ग्वालों की आवाज़ सुन बालक कृष्ण-बलराम अधूरा कलेवा करके भाग गए थे, अतः माता यशोदा का चिन्तित हो शीघ्र छाक भेजना स्वाभाविक ही है—

'आजु कलेऊ करत बन्यौ नहिं, गैयन सँग उठि धाए।
तुम कारन बन छाक जसोदा, मेरैं हाथ पठाए।' (१०७६)

१—आइने अ०, पृ० १५५-१५८
२—मानस, बाल०, 'भाइन्ह सहित उबटि अन्हवाए। छरस असन अति हेतु जेंवाए'
३—प० सं० व्या०, ५६३।६ 'सो जेंवन नहिं जाकर भूखा'
४—मानस, बाल०, ३२८ 'पुनि जेंवनार भई बहु भाँती'
 ९९ 'भाँति अनेक भई जेंवनारा'
५—प० सं० व्या०, २८३ 'पाँति पाँति बैठे भाँति भाँति जेंवनार'
 अथवा—'होइ लाग जेंवनार सुभारा'
६—प० सं० व्या०, पृ० ५५२ 'सीझि रसोई भएउ बिहानू'

अथवा—'प्रेम सहित ले चली छाक वह, कहँ ह्वैहै भूखे दोउ भाई ।' (१०७५)

अथवा—'ग्वालनि बोलि लियौ अधजेंवत, उठि दौरे दोउ भैया ।

तबहीं तैं मैं भोजन कीन्हौ, चाहति दियौ पठाइ ।

भूखे भये आजु दोउ भैया, आपुहिं बोलि मँगाइ ।' (१०७४) ।

कृष्ण-बलराम का अन्य बालकों के साथ वन में पलाश के दोनों में ही छीन झपट कर छाक खाने की प्रसन्नता का चित्रण बालकों की सहज प्रकृति का परिचायक है—'जेंवतऽरु गावत हैं सारँग की तान कान्ह, मखनि के मध्य छाक लेत कर छीने' (१०८५)

अथवा—'कमल-पत्र दोना पलास के सब आगें धरि परुसत जात ।

'ग्वाल-मंडली मध्य स्याम-घन, सब मिलि भोजन रुचि करि खात' (१०८३) ।

अलीगढ़ क्षेत्र की कृषक बोली मे छाक शब्द प्रत्येक समय के साधारण भोजन के अर्थ में भी आता है तथा दोपहर में बाहर भेजी जाने वाली रोटी के अर्थ में भी । वहाँ आज भी कलेऊ तथा ब्यारू, ब्यालू (बियारी) शब्द सुनने को मिल जाते हैं । दोपहर के भोजन को 'रोटी' भी कहते हैं ।[1] पश्चिमी उत्तर प्रदेश में कहीं कहीं पक्के खाने 'पूरी' को भी 'खाना' कह देते हैं—(अर्थात् खाना ले जाओ = पूरी ले आओ) ।

१०५—बियारी (८४५,८४६,१०१५) [सं० विकालः, विकालिकः—बिआल-ब्याल् + उक—ब्यालू] संध्या अथवा दिनान्तकालीन भोजन होता है—'सूरस्याम, कछु करौ बियारी, पुनि राखौं पौढ़ाइ' (८४४) । नींद से झुकी जाती हुई पलकों वाले एवं अलसाते हुए बच्चों का माँ के अनुरोध पर थोड़ा बहुत खाने का सुन्दर व स्वाभाविक चित्रण अनेक पदों में है— 'आलस सौं कर कौर उठावत, नैननि नींद झमकि रही भारी' (८४६) 'या' बार-बार जमुहात सूर प्रभु' (८४६) । बियारी मे दिन के भोजन के समान खाने के अनेक नामों की लम्बी सूची सभी पदों में प्रायः नहीं दी गई है । मिष्टान्न, लुचुई बरा तथा अचार की चर्चा ही विशेष रूप से की गई है । प्रातःकाल के समान ही बियारी के बाद दूध पिलाने का वर्णन भी अनेक पदों में किया गया है—'आछौ दूध औटि धौरी को, लै आई रोहिनि महतारी' (८४५) अथवा 'फूँकि फूँकि जननी पय प्यावति' (८४७) अथवा 'कछु कछु खाइ अँचयौ तव जम्हात जननी जाने । उठहु लाल कहि मुख पखरायौ तुमकौं लै पौढ़ाऊँ' (८४८) ।

१०६—पूजा के पकवान को भोग (१५१२, १५१८) तथा नेवज[2] (१५१०,११) [सं० नेवैद्यं] कहते हैं । गोवर्धन पूजा प्रसंग में विशेष रूप से इन शब्दों का अनेक बार उल्लेख हुआ है—'महरि सबै नेवज लै सेंतति' (१५११)

अथवा—'यह कहि-कहि देवता मनावति । भोग-समग्री धरति उठावति' (१५१२)

तथा—'ता देवहिं तुम भोग लगावहु' (१५१६) ।

अनाज अथवा नाज से बने व्यंजन[3] अन्न [सं०] कहलाते हैं—'भोग अन्न बहु भार सजायौ, अपनैं कुल सब अहिर बुलायौ' (१५१८) अथवा 'रोहिनि करति अन्न भोजन-तक'

१—कृ० जी०, प्र० ११, अध्याय ६

२—कृ० जी० प्र० ११, अ० ६, आजकल आषाढ़ शुक्लपक्ष में सोमवार या शुक्र को माता की पूजा के पकवान को विशेष रूप से नेवज कहते हैं ।

३—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ९९—अष्टाध्यायी : ।।।. २. ६८: में भोजन को अन्न व खाना खाने वाले को 'अन्नाद' कहा गया है ।

(१५१०)। नाज (१८३१) शब्द भी एक दो स्थलों में मिलता है—'मन रुचि होइ नाज के औंके' (१८३१)।

खाने योग्य तथा न खाने योग्य पदार्थों के लिए खाद-अखाद (१८६) [सं० खाद्य-अखाद्य] का उल्लेख भी है—'खाद-अखाद न छांड़ै अब लौं।' खाने के एक ग्रास को सूरसागर में कौर (१८३१,८४२) [सं० कवल-कवर-कउर-कौर] ही कहा गया है—'बरा कौर मेलत मुख भीतर' (८४२) या 'पहिलैं पनवारौ परसायौ। तब आपुन कर कौर उठायौ' (१८३१)। कौर को अलीगढ़ क्षेत्र में 'गसा' [सं० ग्रास] भी कहते हैं। पद्‌मावत[1] का 'कवर' तथा मानस[2] का 'कवल' शब्द भी इसी शब्द के अन्य रूप हैं।

१०७—खाने की समाप्ति पर खाने के पात्रों में अवशिष्ट पदार्थ जूठौ, जूठनि (१८३२,१८३१) कहलाते हैं। आराध्य की जूठन भक्तों को सौभाग्य से ही प्राप्त होती है—

'सूर जूठनि भक्त पाई, देव लोक लुभाइ' (१८३२)

अथवा—'बोलि दई हँसि जूठनि थारी' (१८३१)। छाक खाते समय कृष्ण सबका जूठा कौर स्वयं खाकर उनका जीवन सार्थक कर देते हैं—

'ग्वालनि कर तें कौर छुड़ावत,
जूठौ लेत सबनि के मुख कौ, अपनैं मुख लै नावत' (१०८६)

अथवा—'ब्रजवासी पटतर कोउ नाहिं।
ब्रह्म, सनक, सिव ध्यान न आवैं, इनकी जूठनि लै-लै खाहिं। (१०८७)

भारतीय स्त्रियों में पति की जूठी थाली में भोजन करने की प्रथा रही है। यह प्रथा पति के प्रति उनके श्रद्धामय स्नेह की सूचक थी। मंदिरों में प्रभु को भोग लगाने के बाद शेष पकवान प्रसाद के रूप में भक्तों को बाँटा जाता है।

आजकल शहरों मे 'कलेवा' शब्द का स्थान 'नाश्ते' तथा 'जलपान' ने ले लिया है। चाय अथवा काफ़ी का प्रचार भारत में अकबर के बाद हुआ था। अब तो धीरे-धीरे इन्होंने दूध का स्थान ले लिया है। 'ज्योनार' तथा 'बियारी' के स्थान पर 'खाना' अथवा 'भोजन' शब्द ही अधिकतर बोले जाते हैं।

२—अनाज और तेल

१०८—दालें—सूरसागर के दशम स्कन्ध मे खाने के सिलसिले में दालों के उल्लेख के अतिरिक्त कुछ नाम स्फुट प्रसंगों में भी मिलते हैं। दाल के लिए दारि, दारी, (१५१०, १०१४) शब्द प्रयुक्त हुए हैं—'बेसन दारि चनक करि बाँधौ' (१५१०)। पद १०१४ में रोटी और चावल के साथ कई दालों के नाम एक साथ दिये गये हैं—'मूंग, मसूर, उरद चन दारी। कनक फटक धरि फटकि पछारी।' पकाने के पहले आज भी दालें सूप या चलनी से 'फटक' 'पछोर' कर साफ़ कर ली जाती हैं। चन, चनक अथवा चना (१०१४,१५१०) [सं० चणक] तीन प्रकार से खाते थे—चने के साग या हरे चने की तरकारी, ('मीठे तेल चना की भाजी') दाल बनाकर तथा दाल के आटे अथवा बेसन से अनेक प्रकार के व्यंजन तथा रोटी बनाकर।

उरद मसूर [सं० मसुरः मसूरः—मसुरा—मसूरा] तथा मूंग [सं० मुद्‌गः] नाम

१—प० सं० व्या०, २८४ 'सहस सवाद सो पावै एक कवर जो खाइ'

२—मानस, बाल० ३२६, 'पंच कवल करि जेंवन लागे'

भी उपर्युक्त पद्यांश में दिये गये हैं। मूंग के तीन व्यंजन 'मूँग पकौरा' 'मूँग ढरहरी' तथा 'मुँगही' को चर्चा भी है (१०१४,१८३१)। पाणिनि की अष्टाध्यायी में तीन दालों का उल्लेख हुआ है—मुद्ग, माश तथा कुलत्थ[1]। हर्षचरित[2] मे स्थाण्वीश्वर के वर्णन में राज-माष, मूँग, धान तथा गेहूँ के खेतों का उल्लेख है। आईने अकबरी में जिसो[3] की सूची में दो प्रकार का चना—काबुली और काला, मसूर, मटर, मूँग, उरद तथा मोठ आदि नामों के साथ उनके मूल्यों का विवरण भी है। कूरी संभवतः अरहर को फलियों को कहते थे। आजकल पश्चिमो उत्तरप्रदेश में-उर्द तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में अरहर की दाल लोगों को अधिक प्रिय है। इन स्थानों मे ये दालें अधिक पैदा होती हैं। मूंग की दाल सबसे अधिक हल्की मानी जाती है तथा इसे बीमारी के बाद पथ्य में देते हैं।

सूरसागर में मटर, मोठ तथा अरहर के नाम न दिये जाने से अनुमान होता है कि ये दालें उस समय भी ब्रज-प्रदेश में कम खाई जाती थीं। तुलसी ने दाल शब्द का प्रयोग नहीं किया है। 'सूप' शब्द ही दाल के अर्थ मे आया है, किन्तु उन्होंने ओदन तथा भात दोनों शब्दों का प्रयोग किया है।[4] पाणिनि कृत अष्टाध्यायी में भी 'सूप' तथा 'ओदन' खाने की प्रथा का निर्देश है[5]। अंग्रेजी में भी 'सूप' शब्द है जिसे विभिन्न तरकारियों के रस से बनाते हैं तथा अंग्रेजी ढंग का खाना 'सूप' से ही शुरू करते हैं।

१०६—**चावल**—चावल के पौधे अथवा भूसा या छिलका चढ़े चावल को ही 'धान'[6] कहते है। **धान** (२४७३,४२२२) [सं० धान्यं] के पौधे को अन्य सभी नाजों से अधिक पानी की आवश्यकता होती है। कृष्ण के दर्शन के बिना गोपियों की अवस्था वर्षारहित धान के समान ही थी—'सूखति सूर धान-अंकुर सो, बिनु बरखा ज्यों मूल तुई' (२४७३)। कृष्ण के प्रति प्रेम तथा योग-साधना, दोनों का साथ असम्भव था। गोपियाँ उद्धव को यह तथ्य अनेक प्रकार से समझा देना चाहती थीं—'आये जोग सिखावन पाँड़े। —सूरदास तीनौं नहिं उपजत धनियां धान कुम्हाँड़े।' (४२२२)। 'धान को गांव पयार तैं जानो' (४२१८) आदि पद्यांशों से सूरदास के कृषि-ज्ञान का भी थोड़ा सा परिचय मिलता है।

चावल के लिये **चांवर** (१०१४) शब्द प्रयुक्त हुआ है—'नीलावती चांवर दिव-दुर्लभ' (१०१४)। धान को कूट कर उसका छिलका निकलने पर ही उसे चावल कहते हैं। चावल को **तंदुल** (४८४६,४८४७) [सं० तंडुल] भी कहते थे। सूरसागर में दशम-स्कन्ध-उत्तरार्द्ध के सुदामा प्रसंग में चावल का पर्याय 'तंदुल' ही दिया गया है—'सूर सुमति तंदुल चावल ही, कर पकर्‌यौ कमला भई धीरे (४८४६) अथवा 'तंदुल देखि अधिक आनंदित' (४८४७)।

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १०४

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० ५५

३—आईने अ० पृ० १२५-२६, मूंग की दाल प्रतिमन १८ दाम, चना-१६½ दाम. मसूर-१६ दाम, मोठ की दाल-१२ दाम, उरद-१६ दाम, कूरी-७ दाम, काला चना-६ दाम, तथा काबुली चना-१६ दाम।

४—तुलसी, मानस, बाल० ३२८

५—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १०४

६—अनाज के चार रूप बताए गए हैं:—

शस्यं क्षेत्रगतं प्रोक्तं, सतुषम् धान्यमुच्यते।
निष्तुषः तण्डुलः प्रोक्तः स्विन्नमन्नमुदाहृते॥

सूरसागर मे पके हुए चावल को भात (१०१४) [सं० भक्तं] तथा ओदनि (६०८) [सं० ओदनं] कहा गया है। खाने के अन्य व्यंजनों मे माता द्वारा भात भी परोसा गया है—'भात परोस्यौ भात सुरलभ' (१०१४)। गोचारण प्रसंग में कृष्ण द्वारा दधि व ओदन खाने का वर्णन कई पदों में है—'ओदन भोजन दै दधि काँवरि भूख लगे तैं खैहौं (१०३०)। नवम-स्कन्ध में माता द्वारा कौए को उड़ाकर सगुन निकालने के सिलसिले में भी दधि ओदन का उल्लेख हुआ है—'दधि ओदन दोना भरि दैहौं, अरु भाइनि में थपिहौं (६०८)।

११०—अष्टाध्यायी में भी पके हुए चावल के अर्थ में ही 'भाक्त' तथा ओदन' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। प्रारंभ में 'भक्त' का अर्थ अन्न ही था। जातक तथा अर्थशास्त्र में भी 'भाक्त' अथवा 'भाक्तिका' ऐसे दास तथा दासियों को बताया गया है जिनको अन्न के रूप में वेतन मिलता था। आजकल पाणिनि द्वारा प्रयुक्त 'भाक्त' के अर्थ में ही हिंदी 'भात' शब्द बोला जाता है। अष्टाध्यायी में पानी में पके चावल को, 'उदकौदन' अथवा 'उदौदन' तथा मांस के साथ बने चावल को 'मांसौदन' कहा गया है। ओदन के साथ शाक तथा सूप खाया जाता था[१]। आज भी दाल तथा तरकारी के साथ ही चावल खाने की प्रथा चल रही है, सूरसागर में अवश्य दूध तथा दही के साथ चावल खाने से संबंधित उल्लेख अधिक हैं, तुलसी के काव्य में भी ऐसे चित्र मिलते हैं।[२] छोटे बच्चे तथा गांवों में भी लोग अक्सर इस प्रकार चावल खाना पसन्द करते हैं।

जायसी ने ज्यौंनार के प्रसंग में 'चाउर' तथा 'भात' का उल्लेख किया है। ज्यौंनार भात से प्रारंभ करना शुभ माना जाता था इसका निर्देश भी है।[३] आजकल कुछ लोग रोटी खाने के बाद चावल खाना पसन्द करते हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश, बगाल, बिहार, तथा दक्षिण में लोगों का प्रधान आहार दाल तथा चावल ही है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में गेहूँ की पैदावार अधिक होने के कारण वहाँ रोटी का रिवाज है।

१११—सूरसागर मे चावल की दो क़िस्मों का ही वर्णन है—'नीलावती चांवर दिव दुर्लभ' (१०१४) तथा 'राइभोग' लियो भात पसाई' (१८३१)। राजभोग एक प्रकार का छोटा किन्तु सुगंधित धान है, जो बिखेर कर बोया जाता है। जायसी ने बादशाह के लिए सोलह सहस्र प्रकार के चावल परोसे जाने का उल्लेख किया है। उन्होंने सत्ताईस प्रकार के नाम भी गिनवाए हैं। इन नामों में रायभोग चावल भी है।[४] पाणिनि के समय में शालि तथा महाव्रीहि का विशेष स्थान था। सुश्रुत ने महाशालि का उल्लेख किया है जो महाव्रीहि से मिलता-जुलता होगा। पतंजलि ने भी मगध के शालि की प्रशंसा की है। युवानच्वांग ने मगध के चावल की तारीफ़ की है, जो संभवतः महाशालि अथवा सौगन्धिका चावल ही था।[५] आइने अकबरी में अनेक प्रकार की क़िस्मों में शालि का नाम दिया गया है।[६] अबुल फ़ज़ल ने लिखा है कि सम्राट्

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि—पृ० १०४

२—मानस, बाल० २०३, 'भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ'

३—प० सं० व्या०, ५४४। 'सीझहिं चाउर बरनि न जाहीं। बरन बरन सब सुगंध बसाहीं"

२८४। 'पहिले भात परोसैं आने। जनहुँ कपूर सुवास बसाने।'

४—प० सं० व्या०, ५४४।२

५—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १०२-१०३

६—आईने अ०, पृ० १२५

की पाकशाला के लिए प्रायः बहराइच से सुखदास, ग्वालियर से देवजीरा तथा राजौरी और नीमला से जिंजिन चावल मंगवाकर संग्रह किये जाते थे।[१] आज भी पूर्वी भारत के चावलों का विशिष्ट स्थान है। बस्ती का बांसमती, देहरादून का चावल तथा हंसराज आदि चावल प्रसिद्ध हैं। चावल पतला, लम्बा, सफ़ेद रंग का तथा सुगन्धित ही अच्छा माना जाता है।

११२—मोटे नाजों में सूरदास ने ज्वारि (४१४७) का उल्लेख किया है—'सूरदास मुक्ताहल भोगी हंस ज्वारि क्यों चुनिहै।' इसको 'जोन्हरी' भी कहते हैं। दोआब के निर्धन वर्ग में अक्सर ज्वार, बाजरा, मक्का तथा जौ के आटे की रोटी या इनको भूनकर खाते हैं। सूरसागर में जौ की चर्चा नहीं है। आइने अकबरी से उस समय प्रचलित सभी प्रधान जिंसों के नाम तथा उनके भाव का ज्ञान होता है।[२]

भाड़ में भुने हुए अनाज को चबैना (१०८५) [सं० चर्बणं] कहते हैं। इनमें चना, चावल, मक्का, ज्वार, तथा बाजरा प्रमुख हैं। सूरसागर के गोचारण-शीर्षक पदों में कृष्ण तथा ग्वाल बालकों का चबेना खाने का वर्णन है—

'ग्वाल मंडली मैं बैठे मोहन बट की छाँह, दुपहर बेरिया सखानि संग लीने। एक दूध, फल, एक झगरि चबेना लेत, निज-निज कामरी के आसननि कीने।' (१०८५)।

पद्मावत में जौ के चबेने के लिए 'बहुरि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस पंक्ति में भाड़ तथा बालू में भूनने का संकेत भी है।[३] चबेना खाने की क्रिया को 'चबाना' भी कहते हैं।[४] आज भी गरीब लोग कभी-कभी चबेना खाकर ही पेट भर लेते हैं। चावल को भूनने पर 'लइया', 'परमल' अथवा 'खील' कहा जाता है। यह भाड़ में भड़भूजा भूनता है।[५]

हरे धान को कूटकर तथा भूनकर बनाए हुए चिवड़े दाने को चिउरा (८२६) [सं० चिपुटः, चिपिटकः] कहते हैं। कलेवे के खाद्य पदार्थों में चिउरा भी था—'सकरी, चिउरा,

---

१—आईने अ०, पृ० ११७

२—आईने अक०, पृ० १२५, १२६—आईने अकबरी की रबी तथा खरीफ़ की जिंसों की सूची में आजकल के प्रायः सभी नाम, जैसे गेहूँ, कई तरह के चावल (शालि, सुखदास, दूनाप्रसाद, सामजीरा, दका आदि) दालें, जौ, बाजरा, जुआरी, अलसी, सरसों, लोविया, तथा केदू आदि का विवरण मिल जाता है। अकबर के बाद मक्का, ओट्स, मूंगफली, तम्बाकू तथा चाय एवं काफ़ी का भारत में प्रचार हुआ था। अकबरकालीन सावां, चेना, आल, नील आदि जिंसें अब नष्ट सी हो गई हैं।

३—प० सं० व्या०, ३५४।५ 'लागिउं जरै जरै जस भारू। बहुरि जो भूंजसि तबौं न बारू।'

४—तुलसी, कविता० ६६ 'आपने चना चबाइ हाथ चाटियत है'

५—कृ० जी० श०, प्र० १३, अध्याय ६, अमरकोष २।६।३०' वलोवेऽम्बरीषं भ्राष्टः (भ्राष्ट = भाड़) प्राकृत कोष में 'भाड' शब्द देशी लिखा है। खांड लगे भुने चने 'चनौरी' कहलाते हैं। यजुर्वेद (अ० १६ मंत्र २२) में भुने जौ को 'धान' कहा गया है। संस्कृत साहित्य में भी कहीं कहीं मिलता है। 'धाना भ्रष्टयवे स्त्रियः' (अमरकोष २।६।४७) यजु० १६।२२, धानानां, रूपं कुवलं परीवापस्य गोधूमाः।

अरुन खुवानो ।' मानस में भी दधि तथा चिउरा जनक द्वारा उपहार में भेजने की चर्चा[1] है । आजकल उसे 'चिउड़ा' या 'चूरा' भी कहते हैं तथा दूध में भिगोकर अथवा घी में भूनकर नमकीन खाते हैं ।

११३—**आटा**—सूरसागर में गेहूँ [सं० गोधूम] या उसके साधारण आटे का उल्लेख नहीं मिलता है । पद्मावत में 'गोहूँ' को धोने-पीसने तथा छानकर आटा तैयार करने के विस्तार हैं ।[2] । सूरसागर में गेहूँ के महीन आटे **मैदा** (८५६, १५१०) [फा० मैदः] का निर्देश कई स्थलों में है । गोवर्धन-पूजा के निमित नैवेद्य के लिए भी मैदा छानी गई थी—'मैदा उज्ज्वल करि के छान्यौ' (१५१०) । गेहूँ की खेती का अनुमान ईसा पूर्व ३००० तक में है, क्योंकि मोहनजोदड़ो में यह पाया गया है । वैदिक काल में 'गोधूम' तथा 'यव' प्रधान नाजों में से थे । 'धान्य' प्रारभिक वैदिक काल मे 'भुने यव' के अर्थ में आया है तथा 'वृहि' भी चावल के अर्थ में बाद के वैदिक काल में प्रचलित हुआ । ऋग्वेद में इनका उल्लेख नहीं है ।[3] पाणिनि के समय में कुछ व्यंजन गेहूँ के आटे से बनाए जाते थे ।[4] हर्षचरित में भी स्थाण्वीश्वर के खेतों के वर्णन में राजमाष, मूंग, धान तथा गेहूँ आदि अनाजों के नाम मिलते हैं ।[5] आईनेअकबरी में भी गेहूँ के बारीक आटे अथवा मैदे का उल्लेख ही अधिक है । दरबार के भोजन के लिए एक मन गेहूं से आधा मन मैदा, दो सेर दलिया तथा शेष भूसी निकलती थी । दलिया तथा भूसी घटाकर साधारण मैदा बनाई जाती थी । गेहूँ के सादे आटे को 'खुश्का' कहा गया है ।[6] अतः अनुमान होता है कि सूर के समय में गेहूं के अच्छे आटे को मैदा ही कहा जाता था ।

जैसा कि दालों के सिलसिले में बताया जा चुका है, मैदा के अतिरिक्त चने का आटा भी बनता था जिसे उस समय भी **बेसन** (८५६, ८५६, १५१०) कहते थे । इससे भी रोटी, पूरी तथा अन्य अनेक व्यंजन बनाए जाते थे । मैदा तथा बेसन को मिलाकर भी पूरी बनाते थे—'बेसन मिलैं सरस मैदा सौं, अति कोमल पूरी है भारी' (८५६) अथवा 'रोटी रुचिर कनक बेसन करि' (१८३१) । आजकल रोटी तथा पूरी दोनों ही गेहूँ के साधारण आटे से बनाते हैं । खास-खास अवसरों पर, विशेषकर विवाह के पकवान में मैदे की पूरी भी बनाने की प्रथा है । अन्य बहुत से नमकीन या मीठे पकवान भी मैदे से बनते हैं । निम्न श्रेणी के लोग चना, मक्का, बाजरा, ज्वार तथा जौ आदि के आटे की रोटी भी खाते हैं क्योंकि यह गेहूँ से ज्यादा सस्ता होता है ।

१—मानस, बाल०, ३०५—'दधि चिउरा उपहार अपारा'

२—प० सं० व्या०, ५४३।१,२ 'देखत गोहूँ कर हिया काटा । आने तहाँ होय जंह आटा ।तब पीसे जब पहिलेहिं धोए । कापर छानि मांड भल पोए ।। ३८०।५ 'मकु गोहूँ' कर हिय बेहराना ।

३—ग्लोरीज़ ऑफ़ इंडिया, पृ० ६७,

४—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १०६

५—हर्ष सां० अ०, पृ० ५५

६—आईने अ०, पृ० १२३ । आईने-अकबरी में (पृ० १२६) खुश्का (गेहूँ का आटा) प्रतिमन १५ दाम, मैदा २२ दाम, चने तथा जौ का आटा क्रमशः २२ दाम तथा ११ दाम दिया है । मोटे नाजों में लड़हरा (बाजरा) ८ दाम तथा जुआरी १० दाम प्रतिमन बिकती थी । मैदा तथा चने का आटा बराबर मूल्य में मिलता था ।

सूरसागर (परि० १५३) में सूजी की चर्चा भी है—'निबुग्रा लोन तेल तर सूजी।' गेहूँ से ही सूजी बनाते हैं। उपर्युक्त उल्लेख के सूजी से बने व्यंजन का अब रिवाज उतना नहीं है जितना कि सूजी के हलवे अथवा खीर का। सूजी को आजकल रवा भी कहते हैं।

११४—तिल और तेल—सूरसागर नवम स्कन्ध में दशरथ-अन्त्येष्टि-क्रिया प्रसंग में तिलांजलि देने की प्रथा की ओर संकेत किया गया है—'भस्म अंत तिल-अंजलि दीन्हीं, देव विमान चढ़ायौ' (४६४)। इस प्रकार अंजलि में तिल तथा जल लेने की प्रथा आज भ चल रही है। इसी से 'तिलांजलि' शब्द निकला है जिसका अर्थ 'छोड़ देना' है। सूरसागर में तिल के तेल अथवा तिल-तेल (२५४२) [सं० तिल-तैलं] का उल्लेख कई स्थलों मे है—'तिल-तेल सवादी, स्वाद कहा जाने घृत ही री' (२५४२)। घी से तेल को नीची कोटि में सदैव रक्खा गया है।[१] धनिक वर्ग घी का अधिक उपयोग करता है तथा निर्धन वर्ग तेल का, किन्तु कुछ तरकारियाँ तथा व्यंजन तेल के बने हुए भी स्वादिष्ट होते हैं। अतः सूरसागर मे भी तेल में तरकारी 'छौंकने' का वर्णन किया गया है—'छौंके तेलें' (१०१४) अथवा 'तेल तर सूजी' (परि० १५३)। तिल के तेल को 'मीठा तेल' भी कहते हैं—'मीठें तेल चना की भाजी' (१०१४)। सरसों के तेल को 'कड़ुआ' तेल कहते हैं। पद्मावत में इसका उल्लेख है।[२] आजकल तिल के तेल के स्थान मे उत्तरप्रदेश में सरसों का तेल ही अधिक प्रचलित है। बंगाल तथा दक्षिण में नारियल के तेल मे ही अधिकतर खाद्य पदार्थ बनाये जाते है। तेल किसी वस्तु के अर्क के साधारण अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। कुछ लोग तिल तथा सरसों के तेल बाल तथा शरीर में भी लगाते हैं। अन्य कई प्रकार का भी तेल बाल मे लगाया जाता है तथा फूलों के तेल से इत्र भी बनाते है।

पाणिनि ने नाज की सूची में तिल को भी स्थान दिया है।[३] काशिका के अनुसार गुड़ तिल तथा घृत मिश्र वस्तुओं के उदाहरण हैं। इनको उचित मात्रा मे मिलाकर प्रधान 'भाक्ष्य' पदार्थ का स्वाद अच्छा किया जाता था।[४] आईने अकबरी मे भी सफ़ेद तथा काले दोनों ही तिल ख़रीफ की जिंसों में हैं।[५]

३—मसाले

११५—दशम स्कन्ध के अन्तर्गत दधि-दान शीर्षक पदों में से पद २१४६ तथा २१४७ में मसालों के व्यापारी का रूपक दिया गया है। पद २१४६ तो मसालों के नामों की सूची मात्र है। इनमें निम्नलिखित मसालों के नाम आए हैं। कुछ नाम अन्य प्रसंगों मे भी मिल जाते हैं—

१—लौंग (२१४६) [सं० लवंग]

२—सुपारी (२१४६) सं० सुरंजनः— सुपारी का वृक्ष]

३—हींग (२१४६, २१४७, १०१४) [सं० हिंगुः]

१—आईने अकबरी में घी प्रतिमन १०५ दाम तथा तेल ८० दाम दिया है।

२—प० सं० व्या०, ५४६, करुए तेल कीन्ह बसिबारू'

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि—पृ० १०४

४— ,, ,, ,, पृ० १०१

५—आईने अ०, पृ० १२६ : सफेद तिल प्रतिमन २० दाम, काला तिल प्रतिमन १६ दाम।

४—मिरिच, मिरच, म्रिच[1] (२१४९, २१४७, १०१४, १८३१, ८०१) [सं० मरीचं—काली मिर्च][2]
५—पीपरि (२१४६) [सं० पिप्पल—पीपल का फल]
६—अजवाइन (२१४६) [सं० यवानी]
७—कूट (२१४६)
८—कायफर (२१४६)
९—सौंठि, सोंठ (२१४६, ८०१) [सं० शुंठी, शुंठि, शुंठ्यं]
१०—चिरइता (३२४६)
११—करजीरा (२१४६) [सं० कालः + जीरः, जीरकः, जीरणः]
१२—आल (२१४६)
१३—नारियर (२१४६) [सं० नारिकेल]
१४—मजीठ (२१४६) [सं० मंजिष्ठा]
१५—बाइबिडंग (२१४६, १५२८)
१६—बहेरा (२१४६) [सं० विभीतः, विभीतं, विभीतकं, विभीता]
१७—हर्रें (२१४६)]सं० हरीतकी]

११६—इन नामों के अतिरिक्त खाद्य पदार्थ तथा तरकारियाँ बनाने की विधि के सिलसिले में भी कुछ मसालों का उल्लेख हुआ है। बैंगन के भरते में खटाई (१८३१) [सं० काटुकं—खट्टापन] डाली गई थी—'भरता भँटा खटाई दीनो'। प्रायः खटाई कच्चे आम की फांकें सुखाकर बनाई जाती है, यों किसी भी खट्टी वस्तु की खटाई हो सकती है, जैसे नीबू, करौंदा या इमली की खटाई। एक स्थल में इमली की खटाई डालने का प्रसंग भी है—'अरुईहिं इमली दई खटाई' (१८३१)। पद्मावत मे खटाई के लिए 'चुक्क' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[3] आजकल 'खट्टाचूक'[4] बहुत अधिक खट्टे को कहते है। हींग तथा राई (१८३१) [सं० राजिका] का दधि मे डालने का वर्णन है—'हींग लगाइ, राइ दधि सांध्यौ' (१८३१)। राई से भी खट्टापन आता है। हरद या हरदी (१८३१) [सं० हरिद्रा] का उल्लेख कई पदों में हुआ है—'किंतिक भाँति केरा करि लीने, दे करवँदा हरदि रँग भीने' (१८३१) हलदी पवित्र भी मानी जाती है। पूजा की सामग्री में दूब, चावल तथा रोली के साथ हल्दी अवश्य रक्खी जाती है। नवम स्कन्ध में भी राम के प्रत्यागमन के समय आरती के थाल का इसी प्रकार का चित्रण है—'दधि-दूब-

१—अशरफ, भाग १, पृ० २०२—मुगलकाल में मिर्च तथा अदरक आदि कुछ मसाले गुजरात के कुछ भाग में खूब पैदा होते थे।

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ११५, मैरेय नामक मद्य बनाने के ढंग में मेशशृंगी छाल व गुड़ के साथ ही मरिच, पिप्पली तथा त्रिफला का उल्लेख भी है। मरिच काली मिर्च के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा पिप्पली लम्बी मिर्च के अर्थ में। आजकल दोनों को ही मिर्च कहते हैं तथा काली या गोल मिर्च कह कर भेद किया जाता है।
'मेषशृंगीत्क्वक्वाथाभिष्मुंती गुडप्रतीवायः पिप्पली-मरिच सम्भारस्त्रिफलायुक्ते वा मैरेयः।'

३—प० सं० व्या०, ५४८, 'चुक्क लाइ कै राँधे भाँटा'

४—कृ० जी०, प्र० ११, अ० ६—चुक (सं० चुक्र) अमरकोश २।९।३५

हरद, फल-फूल पान। कर कनक-धार-तिय करत गान।' (६१०)। हल्दी तथा चूना मिलने पर एक ही रंग, लाल मे परिवर्तित हो जाते हैं, अतएव प्रायः प्रेम की एकात्मकता का रूपक इससे दिया जाता है। गोपियों का अपने आराध्य कृष्ण के प्रति इसी प्रकार का प्रेम था—

'मानति नहीं लोक मरजादा हरि के रंग भजी।

सूर स्याम कौ मिलि, चूनौ हरदी ज्यों रंग रँजी॥ (२२४६)

११७—नमक के लिये लौन (१८३१) अथवा लोन (विनय) [सं० लवणं, फा० नमक] शब्दों का प्रयोग हुआ है—'भले बनाइ करेला कीने, लोन लगाइ तुरत वरि लीने।' सेंधा नमक को सेंधौ (१८३१) [सं० सैंधवः—सैंधवं] कहा गया है—'अजवाइन सेंधौ मिलाइ धरि' (१८३१)। नमक प्रमुख तीन प्रकार का होता है—सेंधा, सांभर तथा काला। खाने में प्रायः सेंधा या सांभर नमक डाला जाता है। नमक का अलग अस्तित्व नहीं है, वह खाने के पदार्थों में नमकीन स्वाद करने के लिए डाला जाता है। षटरस में इसका भी स्थान है।[1] ग्रामीण बोली में आज भी लोन अथवा नोन ही कहते हैं। पद्मावत में भी सेंधा नमक का जिक्र आया है।[2]

बेसन की रोटी मे नमक तथा अजवाइन डाली गई थी—'रोटी रुचिर कनक बेसन करि। अजवाइनि सेंधौ मिलाइ धरि।' (१८३१)। सरसों मेथी आदि साग हींग, हल्दी तथा मिर्च डाल कर छौंके गये थे तथा साथ ही उनमें अदरख (१०१४, १८३१) [सं० आर्द्रक, फा० अदरख] और आंवरे' (१०१४) [सं० आमलक] डाले गये थे—'हींग, हरद, मिर्च, छौंके तेले। अदरख[3] और आंवरे मेले।' जायसी ने अदरक को 'आदि' कहा है।[4] परि० ११३ में प्रयुक्त कलौंजी भी उल्लेखनीय है—'राइ करौंदा अंब कलौंजी।' प्योसर बनाने की विधि में 'सोंठ' तथा 'मिरिच' का उल्लेख भी है—'अति प्योसर सरस बनाई। तिहिं सोंठ मिरिच रुचि नाई (८०१)।

११८—इन मसालों के अतिरिक्त कपूर (१०१४, १८३१) [सं० कर्पूर] से तरकारियाँ तथा जल सुगंधित किया जाता था—'सालन सकल कपूर सुबासत' (१०१४) अथवा 'सीतल जल कपूर रस रचयौ' (१८३१)। सोहिलो शीर्षक पद (६५८) में चंदन तथा कपूर पीने का वर्णन है—'आठ मास चंदन पियौ (हो) नवएं पियौ कपूर' (६५८)। घनसार (४६८६) [सं०] कपूर का समानार्थी शब्द है। शीतलता प्रदान करने वाली वस्तुओं में कपूर का स्थान भी है—'पवन, पान, घनसार, 'सजीवन दधि-सुत किरनि भानु भई भुंजैं।' (४६८६)। तरकारियों में लहसुन तथा प्याज़ डालने के उल्लेख नहीं है। सात्विक भोजन में इनका स्थान होता भी नहीं। कुब्जा तथा कृष्ण के प्रति गोपियां यह व्यंग्य अवश्य करती हैं—'जैसे काग हंस

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि—पृ० १०२—कात्यायन ने लवण को केवल षटरस में ही स्थान दिया है तथा खाद्य पदार्थ का गुण माना है। किन्तु पाणिनि ने लवण को गुण अथवा इसके अतिरिक्त पण्य वस्तु (material commodity) भी माना है। उन्होंने लवण के व्यापारी को 'लवणिका' कहा है।

२—प० सं० व्या०, ५४५।४ 'सेंधा लोन परा सब हाँड़ी।'

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि—पृ० ११०—कुछ खाद्य पदार्थों में अदरक तथा मूली भी मिलाई जाती थी। इनको 'उपदंश' कहा गया है।

४—प० सं० व्या० ५४६ 'एकहि आदि मिरिच सिउं पीठे'

की संगति, लहसुन संग कपूर' (३७७०)। कपूर से सुवासित भोजन में लहसुन (३७७०) की गन्ध न होने का कारण भी इससे समझ मे आ सकता है। तुलसी ने भी लहसुन का उल्लेख निषिद्ध वस्तुओं में ही किया है।[१] प्याज़ को जन्मभूमि अफ्रीका है तथा लहसुन की सर्व प्रथम उत्पत्ति सिसली, दक्षिणी फ्रांस तथा एशिया के मध्य भाग में मानी गई है। एक प्रमुख मसाले **धनिया** (४२२२) [सं० धान्यं] का उल्लेख भ्रमरगीत शीर्षक पदों में एक स्थान पर किया गया है—'सूरदास तीनों नहिं उपजत धनिया धान कुम्हाड़े।' (४२२२)। आजकल तो हल्दी, धनिया तथा मिर्च का ही मसालों में प्रमुख स्थान है।

सुपारी का पर्यायवाची शब्द **पूंगीफल** (४६६) [सं० पूंगफल) नवम स्कन्ध के 'कंकण-मोचन' शीर्षक पद में है—'पूंगीफल-जुत जल निरमल धरि, आनी भरि कुंडी जो कनक की' (४६६)। हल्दी के समान सुपारी की गिनती भी शुभ वस्तुओं मे है। विवाह की लग्न में छाल-दार नारियल के साथ छिलके सहित सुपारियाँ भी होती है। उपर्युक्त पक्ति में भी सुपारी पड़े जल का कंकण के समय लाया जाना इसी की पुष्टि करता है।

आईने अकबरी मे भी मसालों की लम्बी सूची है। इनसे उनके प्रचलित मूल्यों पर भी प्रकाश पड़ता है। सूरसागर मे उल्लिखित नामों के अतिरिक्त इलायची, जीरा, सौंफ तथा दारचीनी आदि मसाले और हैं। खटाइयों की सूचो अलग है तथा लहसुन और प्याज़ तरकारियों में हैं। नमक आजकल से मँहगा था। एक मन नमक सोलह दाम में मिलता था।[२]

जायसी ने भी पद्मावत में बहुत से मसालों के नाम दिये हैं। बादशाह के भोज में मांस, मछली तथा तरकारियाँ आदि बनाने के वर्णन में यह नाम विशेष रूप से दिये गए है। कुछ नाम जिनका अभाव सूरसागर में खटकता है पद्मावत में मिल जाते हैं, जैसे—इलायची, सौंफ़, मेथी, जायफल तथा जीरा।[३] सिंहलद्वीप-वाटिका-वर्णन मे फलों के वृक्षों के साथ कुछ मसालों के वृक्ष भी गिनवाए गए हैं।[४]

आजकल भी प्रायः यह सभी मसाले उपयोग में आते हैं। कुछ के डालने का ढंग अवश्य बदल गया है, जैसे कपूर प्रायः तरकारियों में नहीं डाला जाता है, मीठे दही में अवश्य कभी-कभी डाला जाता है। इसी प्रकार आंवले का उपयोग भी इस रूप में कम ही होता है। उसका अचार या मुरब्बा अधिक प्रचलित है। कुछ मसाले इतने वर्षों बाद भी आश्चर्यजनक रूप से सूरसागर में वर्णित ढंग से ही डालते हैं, जैसे बैगन में खटाई, सागों में हींग और मिर्च तथा केले में हल्दी।

१—तुलसी, दोहा० ३५५ 'तुलसी अपनो आचरन भलो न लागत कासु।
तेहि न बसात जो खात नित लहसुन हू को बासु॥'

२—आईने अ० पृ० १२८

३—प० सं० व्या० ५४७।२ 'मेंथी कर तेहि दीन्ह धुंगारू'
५४८।४ 'जीर धुंगारि कले सब धरे'
५४९।५ 'मीठ महिउ औ जीरा लाका'
५४९।६ 'लौंग लाइची सिउ खंडि धरा'
४३९।६ 'जैफर लौंग सुपारी हारा। मिरिच होइ जो सहै न पारा।'
५४५।५ 'सीवा सौंफ उतारे धना। तेहि ते अधिक आव बासना।'
५४७।७ 'कुंकुरु परा कपूर बसाई। लौंग मिरिच तेहि ऊपर लाई।'

४—प० सं० व्या०, १८७।४ 'कोइ जैफर औ लौंग सुपारी'

गरम मसाला दक्षिणी भारत तथा पूर्वी द्वीप समूह में ही अधिकतर होता है। लौंग, काली इलायची, काली मिर्च, दालचीनी तथा तेजपात को ही आजकल गरम मसाला कहते हैं।

४—फल, मेवा, तरकारी

१२०—फलों का उल्लेख विशेष रूप से कलेवा तथा बियारी शीर्षक पदों (८२६-८३०) में है। भोजन (१०१४,१८३१) में भी अन्य विविध प्रकार के व्यंजनों के साथ कुछ फल भी थे। प्रातःकाल यशोदा शिशु कृष्ण को खाद्य पदार्थों के नाम बताकर शीघ्र उठकर कलेवा करने का आग्रह करती हैं—'उठिए स्याम कलेऊ कीजै। मनमोहन मुख निरखत जीजै॥

खारिक दाख खोपरा खीरा।
केरा आम ऊख रस सीरा॥
श्रीफल मधुर, चिरौंजी आनी।
सफरी चिउरा, अरुन खुबानी॥' (८२६)

अथवा—'खारिक दाख चिरौंजी किसमिस उज्वल गरी बदाम।
सफरी, सेव, छुहारे पिस्ता जे तरबूजा नाम॥' (८३०)।

भारतवर्ष के फलों मे आम का विशिष्ट स्थान है। यह उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त को छोड कर सारे भारत मे पैदा होता है और गर्मी तथा वर्षा के प्रारंभ में होता है। आम के दो प्रधान भेद है—चुसनी तथा क़लमी। पहली क़िस्म जंगली अवस्था में भी पाई जाती है, किन्तु दूसरी क़िस्म मे क़लम लगाते है। क़लमी आम भी अनेक प्रकार का होता है। इसमें लखनऊ का दसहरी व सफ़ेदा तथा बम्बइया, लँगड़ा, तोतापरी, फ़ज़ली आदि अनेक प्रसिद्ध क़िस्में है। सूरसागर मे सिर्फ़ आँव,[१] अंब, आम (१०१४,८२६) [सं० आम्रः] ही कहा गया है। संभवतः उस समय तक कलमी आम नहीं चल पाया था। आईने अकबरी में भी इसका ज़िक्र नहीं किया गया है। उस समय पंजाब में भी आम कम होता था। सम्राट् ने ही लाहौर में राजधानी बनाने पर वहाँ आम के पेड़ लगाना प्रारंभ किया था।[२] बर्नियर तथा मनूची[३] ने भी भारत के फलों में आम की बहुत तारीफ़ की है। बर्नियर ने लिखा है[४] कि ये गरमी में सस्ते व अधिक मिलते थे एवं बंगाल, गोलकुंडा तथा गोवा के श्रेष्ठ होते थे। भारत के प्राचीन काल के फलों में आम का स्थान है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में फलों के अन्तर्गत 'आम' तथा 'जम्बू' (जामुन) का ही उल्लेख किया है।[५] आम का फूल 'बौर', बच्चों द्वारा बजाने वाली गुठली 'पपैया' तथा पेड़ों का समूह 'अमराई' (आम्रराजि) कहलाता है।

सूरसागर में पके आम के अतिरिक्त कच्चे आम के अचार तथा खटाई के संबंध में भी बताया गया है—'निबुआ सूरन आम अथानो' (८५६) तथा 'आंब आदि है सबै सँधाने' (१०१४) कच्चे आम का यह उपयोग आज भी होता है।

१२१—ऊख अथवा ऊख-रस (एक० १, ८२६) [सं० इक्षुः + रस] भी सुबह के नाश्ते में पीने की प्रथा थी। ईख की खेती भारत में प्राचीन समय में भी होती थी। पाणिनि[६] ने खूब दूर तक फैले ईख के खेतों को 'इक्षु-वन' कहा है। इक्षु-रस से मद्य बनाने की प्रथा भी

१—प० सं० ध्या०, २८। 'फरे आंब अति सघन सुहाए'
२—आईने अ०, पृ० १२६
३—मनूची, भाग १
४—बर्नियर, पृ० २८१
५—इंडिया एज् नोन टु पाणिनि, पृ० ११०
६— „ „ „ पृ० १०६, ११७

थी। बाण[१] ने भी 'इक्षु-वन' का वर्णन हर्षचरित में किया है। पुराणों में ऊख की उत्पत्ति त्रिशंकु के लिये विश्वामित्र द्वारा निर्मित स्वर्ग में बताई गई है। आईने अकबरी में भी ऊख लगाने तथा उसके विभिन्न उपयोगों के अनेक विस्तार मिलते हैं। ईख कोमल तथा कठोर, दो प्रकार की होती है। कठोर से ही गुड़, शक्कर, कंद और मिश्री बनाते थे।[२] ईख के इन विभिन्न उपयोगों के कारण ही इसका अत्यधिक महत्त्व है। फ़ारसी में ईख को 'नैशकर' कहते हैं। जायसी ने मीठे रस से भरी ईख को ईश्वरीय देन माना है।[३] आज भी भारत में ईख की खेती बड़े पैमाने पर की जाती है। ईख का जो रस पीने के लिये पेरते हैं उसे पूर्वी ग्रामीण बोली में 'पेरुआ' रस कहते हैं।[४]

नागरिक भाषा में 'गन्ना' [सं० काण्डः—एक गांठ में दूसरी गांठ तक का भाग] शब्द ही प्रचलित है। ग्रामीण बोली में 'ऊख,' ऊखि, 'ऊंख,' 'उक्खड़' 'उखुड़' आदि कहते हैं। गन्ने के गोल काटे गए टुकड़ों को 'गड़ेरी' कहते हैं। सूरदास ने **गाँड़े** (४२२२) [सं० गंड—गाँठ अथवा जोड़-गन्ने में गांठें सी होती हैं और वहीं से प्रायः टुकड़े करते है] शब्द प्रयुक्त किया है। इसको 'पौरुवा' भी कहते हैं। साथ ही इस पंक्ति से हाथी को गन्ना प्रिय होने की बात भी बताई गई है—'कहु षट्पद कैसे खंयतु हैं, हाथिनि के सँग गांड़े' (४२२२)।

१२२—तरकारियों में कच्चे केले की तरकारी बनाने के साथ ही फलों में भी पके केले खाये जाने की चर्चा है। **कदली** (विनय) **केला** (१८३१, तथा **केरा** (८२६,१०१४) [सं० कदली] शब्द मिलते हैं 'छोलि धरे खरबूजा केरा। सीतल बास करत अति घेरा' (१०१४)। आइने अकबरी मे भी केले के पेड़ तथा फल का विस्तृत वर्णन है।[५] भारत के अतिरिक्त अन्य गर्म देशों, बर्मा, अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका, मलाया द्वीप तथा चीन आदि में भी केला होता है। एक पेड़ में एक 'गहर' आती है जिसमें सत्तर-अस्सी केले होते हैं। उसके बाद वह पेड़ गिरा दिया जाता है। आजकल 'चीनिया' तथा 'बम्बइया', दो प्रधान क़िस्में होती हैं। पद्मावत में '**केरा की घौरी**' (१८७।७) तथा 'ओनइ रही **केरन्ह की घउरी**' (३४।५) में 'घौरा' 'घौरी', 'घउरी' आदि शब्द 'गहर' के लिए मिलते हैं। उपर्युक्त पद्यांश में **खरबूजा** (१०१४) [फ़ा० खर्पज़ः, खरबूज़ः] भी छील कर रखने का उल्लेख है। आईने अकबरी से पता चलता है कि अकबर के राज्य में खरबूज़े खूब बिकते थे। भारत में ये चैत से ज्येष्ठ तक होते थे। ये मीठे मुलायम तथा खुशबूदार होते थे। क्वांर के आरंभ में काश्मीर से आने लगते थे फिर काबुल से तथा पूस में बदख़शाँ से मँगवाये जाते थे। इस प्रकार माघ तक सिलसिला नहीं टूटता था[६]। बर्नियर तथा मनूची ने भी यही लिखा है कि काबुल, बल्ख, बुखारा, समरक़न्द तथा ईरान से अनेक प्रकार के फल ख़रबूज़े, तरबूज़, सेब, नासपाती, अनार तथा अंगूर आदि लेकर काफ़िले आते थे। ये फल दिल्ली में मंहगे दामों पर बिकते थे। इनके बदले उन देशों को सोना-चांदी नहीं जाता था, किन्तु यहाँ के अन्य दूसरे सामान ही बाहर जाते थे। दिल्ली में फल का बाज़ार अलग ही था। अमीरों का प्रधान व्यय फल तथा मेवा पर हो होता था। खरबूज़े का बीज

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० १८३

२—आईने अकबरी, पृ० १४०

३—प० सं० व्या०, ४। 'कीन्हेसि ऊखि मीठि रस भरी'

४—ग्रा० श०, पृ० ४६, ११५

५—आईने अ०, पृ० १४६

६—आईने अ०, पृ० १३२

ईरान से भारत में आया था किन्तु यहाँ की ज़मीन उसके लिए उतनी अच्छी न होने के कारण फल की क़िस्म साधारण ही रही।[१] आज कल लखनऊ का ख़रबूज़ा प्रसिद्ध है जो छोटा किन्तु मीठा, मुलायम तथा रसीला होता है।

१२३—**तरबूजा** (८३०) [फा० तरबूज़ः] तथा **खुबानी** [फ़ा० ख़ूबानी] भी विदेश से लाये गए फल थे। तरबूज़ा भी दिल्ली में प्रायः साल भर अधिकता से मिलता था। दिल्ली के तरबूज़ों को बर्नियर ने मुलायम और मीठा बताया है[२]। विदेश से आने वाला तरबूज़ा अधिक मँहगा मिलता था। एक तरबूज़े का मूल्य क़रीब डेढ़ क्राउन होता था[३]। जायसी ने तरबूज़े को 'हिंदुआना' कहा है।[४] आजकल फर्रुख़ाबाद का तरबूज़ा प्रसिद्ध है। ख़ूबानी का रंग 'अरुन' बताया गया है। रंग के कारण ही अकबर के समय मे इस 'ज़र्द आलू' भी कहते थे। आजकल कुमायूं आदि पहाड़ी प्रदेश में यह अधिक होती है।

नारियर (२१४६) [सं० नारिकेल] का उल्लेख मसालों तथा मेवा के व्यापारी से संबंधित पद मे आया हैं किन्तु कहीं-कहीं उदाहरण भी दिया गया है—'ज्यौ मरकत कर होत नारियर तैसें इहौं अभागी' (१६२५)। इसके अतिरिक्त **गरी** (१०१४) तथा **खोपरा** (८२६ [सं० खर्पर] शब्द भी प्रयुक्त हुए है। नारियल के अन्दर के मुलायम गूदे को आज भी गरी कहते हैं। सूखे नारियल की गिनती मेवा में भी होती है। महाभारत तथा सुश्रुत में नारिकेल का उल्लेख है। बाण ने भी विंध्याटवी के फलों के वृक्षों में नारिकेलों का उल्लेख किया है।[५] आईने अकबरी मे इसका दूसरा नाम 'जौज़े-हिन्दी' बताया गया है। उसके विभिन्न उपयोगों का विवरण भी है, जैसे कच्चे नारियल का पानी पीते थे, पकने पर गरी खाई जाती थी औ उसके छिलके से चम्मच, प्याले व तूंबे बनाए जाते थे तथा छाल से रस्सी बनती थी। एकाक्ष नारियल को दो आँखों वाले से बेहतर मानते थे।[६] आज भी नारियल इन सब कामों में आता है। यह समुद्र तट के निकट अधिक होता है। इसका तेल भी निकाला जाता है। सूरसागर से केवल नारियल की गरी के बारे में ही पता चलता है।

१२४—अंगूर के लिए सूरसागर में **दाख** (८२९, ८३०) [सं० द्राक्षा] शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ मुनक्क़ा तथा किशमिश भी होता है। इस अर्थ में भी यहाँ यह शब्द लिया जा सकता है। पद ८३० में 'दाख' तथा 'किसमिस' दोनों का उल्लेख साथ दिया गया है। अतएव यहाँ अंगूर का अर्थ ही अधिक उपयुक्त होगा, अंगूर को ही सुखाकर किशमिश व मुनक्क़ा बनाते हैं। अकबर के समय में आषाढ़ से सावन-भादों तक अनेक प्रकार का अंगूर होता था। काश्मीर से भी अंगूर आता था जो एक दाम में आठ सेर मिलता था।[७] विदेश से आने वाला अंगूर काला तथा सफ़ेद दो प्रकार का होता था। आजकल भी अंगूर काश्मीर तथा काबुल आदि स्थानों से मंगाया जाता है तथा बरसात में अधिक मिलता है।

अंगूर के समान ही मंहगे फलों में **सेब** (८३०) का स्थान है। मुग़ल राज्य में कई

१—बर्नियर, पृ० २०३; मनूची, भाग १
२— „ „ २५०
३— „ „ २०३
४—प० सं० व्या०, ५४६।३, 'औ हिंदुआना बालबाँ खीरा'
५—हर्ष० सां० अ०, पृ० १८६
६—आईने अ०, पृ० १५१
७— „ „ पृ० १३१

प्रकार का सेब विदेशों से आता था। आजकल कुमायूं प्रदेश, हिमाचल प्रदेश तथा काश्मीर का सेब प्रसिद्ध है।

उपर्युक्त फलों की सूची में अनार जैसे प्रमुख फल का अभाव खटकता है, किन्तु ऐसा नहीं है कि सूरदास जी अनार से अनभिज्ञ हों। रूप-वर्णन संबंधी अनेक पदों में मोती के समान दाँतों की शोभा की तुलना दाड़िम[1] (५०७) [सं०] के दानों से की गई है—'दाड़िम दसन लरी' (५०७)। आजकल हमारे यहाँ दो प्रकार का अनार—'कन्धारी' तथा 'बेदाना' बिकता है। खड़ीबोली हिन्दी में अंगूर तथा अनार शब्द ही प्रचलित है।

१२५—अन्य प्रमुख फलों में श्रीफल (८२६) [सं०] तथा सफरी (८२६) [फ़ा० सफ़री = अमरूद] हैं। श्रीफल भारत का प्राचीन फल है। श्रीफल (३४४६) भी प्रायः उपमान रूप में आया है। इसको आजकल बेल कहते हैं। सफरी के स्थान पर अब 'अमरूद' अथवा 'बिही' शब्द ही बोले जाते हैं। अलीगढ़ क्षेत्र की कृषक बोली में 'सफ्ड़ी' भी कहते हैं। आईने अकबरी में तूरान आदि देशों से जाने वाले फलों में अमरूद तथा बिही का स्थान भी है।[2] इलाहाबाद के अमरूद आजकल अपना विशेष स्थान रखते हैं।

अन्य साधारण मौसमी फलों मे ककरी (१८३१) [सं० कर्कटि] तथा खीरा[3] (१८३१) के नाम लिये जा सकते हैं। ये आजकल क्रमशः गरमी तथा बरसात में होते हैं। लखनऊ की ककड़ी मशहूर है। सूरदास जी ने इनको तरकारियों की सूची में रक्खा है। ककड़ी को तरकारी तो अब भी बनती है तथा खीरे का रायता। अतः ये फल तथा तरकारी दोनों में ही रक्खे जा सकते हैं। आगे तरकारी की सूची में भी इनका उल्लेख किया गया है।

सिंघारे (परि० १५३) 'खटमिठे सिंघारे' का वर्णन किया गया है। इसका फल तिकोना और काँटेदार होता है जो तालाब की बेल में बरसात समाप्त होने पर फलता है। आजकल इसे कच्चा तथा तरकारी की तरह छौंककर नमकीन भी खाते हैं। व्रतों मे सिंघारे के आटे का हलुआ तथा पूरी खाने की प्रथा भी है। आईने अकबरी में भी कच्चा व भूनकर खाये जाने की चर्चा है।[4]

नवम स्कन्ध के 'हनुमान-अशोक-वाटिका' प्रसंग में फलों की विशेषता इस प्रकार बताई गई है—'अगनित तरुफल सुगंध मृदुल मिष्ट खाटे।'[5]

१२६—वर्तमान समय में पाये जाने वाले कुछ प्रमुख फलों की कमी की ओर ध्यान

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० ५५ 'द्राक्षा' तथा 'दाड़िम' शब्दों का उल्लेख है।
प० सं० ध्या०, ३४।४ दारिवं दाख देखि मन राता।
श्रीहर्ष, नैषध, १।८२ 'फलानि धूमस्य धवानधोमुखान् स दाडिमेदोहदधूपिनि द्रुमे'

२—आईने अ०, पृ० १३४, बिही १०-३० तक १ रु० की तथा अमरूद १०-१०० तक १ रु० से ६ रुपयों तक में मिलते थे। इस सूची में अमरूद तथा बिही दोनों अलग अलग नाम हैं, किन्तु आजकल ये शब्द प्रायः एक ही अर्थ में बोले जाते हैं और अमरूद शब्द अधिक प्रचलित है।

३—प० सं० ध्या०, ५४६।३ 'बालवाँ खीरा' अथवा 'बालम खीरा' जो खीरे की एक कोमल जाति है।

४—आईने अ०, पृ० १५२

५—मानस, अरण्य०, ३४ 'कंद मूल फल सुरस अति दीन्हें राम कहुँ आनि'।

जाता है, जैसे संतरा, नासपाती, लीची, जामुन, अनन्नास, फालसा, शरीफ़ा, बेर, खजूर तथा अंजीर। पद्मावत में सूरसागर के नामों के अतिरिक्त ऊपर दिए हुए प्रायः सभी नाम मिल जाते हैं जैसे 'अंजीरा', 'सदाफर,' (शरीफ़ा), 'तुरंज' (चकोतरा), 'नारंग,' 'तूत' (शहतूत), 'बैरि' (बेर), व 'निउंजी' (लीची), 'छोहारा 'आदि। इन फलों के वृक्षों का वर्णन सिंहल द्वीप की बाटिकाओं के वर्णन में है।[१] पद्मावती तथा सखियों का वाटिका में क्रीड़ा करने के प्रसंग में भी अनेक फलों के वृक्षों की सूची है। इनमें ऊपर बताए गये फलों के अतिरिक्त 'जांबु' तथा 'महुव' नाम भी मिलते है।[२] 'नागमती-पद्मावती विवाद खण्ड (४३३-४३९) में अनेक फूल व फलों की चर्चा है तथा बादशाह-मौज[३] खंड में भी मांस भर कर बनाये गए कुछ फलों का वर्णन है। इस प्रकार सूरसागर मे छूटे हुए प्राय· सभी प्रधान फल पद्मावत में मिल जाने से यह स्पष्ट है कि उस समय आज के प्रायः सभी फल होते थे।

आईने अकबरी की फलों को सूची भी इसी बात का अनुमोदन करती है। विदेशी तथा हिंदुस्तानी फलों की अलग-अलग सूची है तथा मूल्यों पर भी प्रकाश डाला गया है। इनमें देशी फलों मे अनन्नास, कमला (मीठी नारंगी), बेर, अमृतफल (नासपाती), अंजीर, तूत, सदाफल, खिरनी, महुआ तथा खजूर और विदेशी फलों में आलूबुखारा, अंजीर, छुहारा, शफ़तालू (आड़ू), आलूचा आदि फल सूरसागर में वर्णित फलों के अतिरिक्त मिलते हैं।[४]

हर्षचरित में उल्लिखित फलों से भारत के प्राचीन फलों का अनुमान होता है। इनमें द्राक्षा, दाड़िम, खजूर, आडू[५] नारिकेल, केला,[६] जामुन तथा सदाफल (शरीफा)[७] आदि नाम प्रमुख हैं। मुग़ल राज्यकाल में तरबूजा, खरबूजा, सेब, अमरूद, तथा नासपाती आदि जैसे वर्तमान काल के प्रमुख फलों का यहाँ प्रचार हुआ। बाबर कुछ श्रेष्ठ खरबूजे के बीज काबुल से लाया था जो उसने अपने आगरे के बाग़ मे लगाये थे। जोधपुर के अनार उस समय प्रसिद्ध थे।[८]

१—प० सं० व्या, ३४
२—प० सं० व्या०, १८७
३—प० सं० व्या०, ५४६
४—आईने अ०, पृ० १३४, १३५-१३७
हिन्दुस्तानी मीठे फल—(१३५) आम—१००—४० दाम—वर्षा
ऊख—२—१ दाम—जाड़ा
केला—२—१ दाम—वर्षा
अनार—प्रतिमन—८०-१०० दाम—वर्षा
सदाफल—१—१ दाम—सदा
खरबूजा—प्रतिमन—४० दाम—ग्रीष्म
तरबूजा—१-२—१० दाम—वर्षा का अंत
नारियल—१४ दाम—शरद
५—हर्ष० सां० अ०, पृ० ५५
६—हर्ष० सां० अ०, पृ० ७१
७—हर्ष० सां० अ०, पृ० १८९
८—अशरफ़, भाग १, पृ० २००

खट्टे फल

१२७—कुछ खट्टे फलों के नाम भी उल्लेखनीय हैं। प्रायः तरकारियाँ बनाने की विधि में ही इनका उपयोग बताया गया है। अरुई या घुइया में इमली (१८३१) [सं० अम्लफलं] की खटाई डाली गई थी—'अरुइहिं इमली दई खटाई'। केले की तरकारी में करवँदा, करौंदनि (१८३१) 'दे करवँदा हरदि रँग भीने' (८५६) से खट्टापन लाया गया था। 'राइ करौंदा' (परि० १५३) का वर्णन भी है। बियारी के भोजन में भी आम, नीबू, करौंदे आदि के आचार की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है—'निबुआ सूरन आम अथानो करौंदनि की रुचि न्यारी' (८५६)। इनमें सबसे अधिक महत्त्व निबुआ, निबुआनि[१] (८५६, परि० १५३, १८३१) का है—'अदरख अरु निबुअनि ठैहे रुचि' (१८३१)। उस समय सागों में आँवले (१०१४) [सं० आमलकं] भी डालने की प्रथा थी—'अदरख और आँवले मेले' (१०१४)।[२]

अकबर के समय में इन सभी फलों का खूब प्रचार था। इनके अलावा कमरख का नाम आईनेअकबरी मे और मिलता है। नीबू कागजी तथा एक प्रकार का वर्ष भर फलने वाला भी बताया गया है।[३] पद्मावत में भी इन सभी के साथ कमरख का नाम भी मिलता है। 'जंभीरा,' 'गलगल' तथा 'तुरंग' 'बिजौर' आदि नीबू की क़िस्मों का उल्लेख भी है तथा करौंदे की उपर्युक्त किस्म 'राय-करौंदा' की चर्चा भी है।[४] इमली के लिए जायसी ने 'इँबिली' या 'अँबिली' शब्द प्रयुक्त किए हैं।[५]

आजकल भी ये सभी खट्टे फल पाए जाते हैं। इनमे नीबू के अनेक उपयोग प्रचलित हैं। तरकारी, शरबत आदि में काम मे आने के साथ ही इसका अचार भी लोगों को अत्यधिक प्रिय है। यह कागजी, कठा तथा बिजौरी, तीन प्रकार का होता है; जैसा कि आईने-अकबरी में बताया गया है कि आज भी नीबू की एक क़िस्म ऐसी होती है जिसके पेड़ पर साल भर फल लगते रहते

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० १८६, विन्ध्यवन के वृक्षों में जंभीरी नीबू 'जंबीर' के पेड़ का उल्लेख भी है।

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ११७, मैरेय में त्रिफला डालते थे जिसमें आमलक स्वभावतः होता ही है।

३—आईने अ०, पृ० १५२—हिन्दुस्तानी खट्टे फल—नीबू—ग्रीष्म ४—१ दाम
आंवला—ग्रीष्म—प्रतिसेर—२ दाम।
खट्टे मीठे फल—इमली—ग्रीष्म—प्रति सेर—२ दाम
कमरख—शरद—४—१ दाम। करौंदा—वर्षा—प्रतिसेर-१ दाम

४—प० स० व्या०, ३४। २,३,६ 'नवरंग नीबू सुरंग जँभीरा। औ बादाम बट अँजीरा।
'गलगल तुरंज सदाकर फरे, नारंग अति राते रस भरे।'
'फरे तूत कमरख औ निउंजी, राय करौंदा बेरि चिरउंजी।'
१८७। 'दोई बिजौर'

५—प० स० व्या०, २८ 'आस पास धनि इँबली।
१८७ 'कोइ अँबिलि कोइ महुव खजूरी।'
'कोइ अँवरा कोइ बेर करौंदा'

हैं। आँवले[1] तथा करौंदे का अचार व मुरब्बा ही अधिक बनता है। करौंदा लाल तथा हरे, दो रंगों का होता है तथा इसका कटीला झाड़-सा होता है पकी इमली का उपयोग प्रायः खटाई के रूप में ही किया जाता है। इमली का वृक्ष खूब घना और बड़ा होता है।

मेवा

१२८—सूरकालीन प्रचलित मेवाओं का ज्ञान भी उपर्युक्त पदों (८२६, ८३०) से हो जाता है। फलों की सूचक शब्दावली के साथ ही मेवाओं के नाम भी दिये गये है। **मेवा** (८३०) [फ़ा० मेवः] शब्द ही सूरसागर में प्रयुक्त हुआ है—'अरु मेवा बहु भाँति-भाँति है षट्रस के मिष्ठान्न'।[2] विदेशी उद्गम होने के कारण स्पष्ट ही है कि सूखे फल खाने की प्रथा विदेशी सम्पर्क का प्रभाव थी। सूरसागर मे प्रायः सभी प्रधान मेवाओं के नाम मिलते हैं—

किसमिस (८३०) [फ़ा० किशमिश]
बदाम, पिंडबदाम (८३०, १०१४) [फ़ा० बादाम]
पिस्ता (८३०) [फ़ा० पिस्तः]
चिरौंजी (८२६)
चिरारी (१०१४)
गरी (१०१४, ८३०)
खारिक (८२६, ८३०)
छुहारे[3] (८३०)

पकवानों में भी मेवा और कपूर डालते थे—'गोझा गूँथे गाल गसूरी, मेवा मिलै कपूरनि पूरी।' कुछ प्रमुख मेवाओं की कमी की ओर अवश्य ध्यान जाता है जैसे—अखरोट, [सं० अक्षोटः], चिलगोजा [फ़ा० चिलग़ोज़ः], मखाना (भुना हुआ कमलगट्टा) तथा काजू [फ़ा० कजी = वक्रता, टेढ़ापन]। आईनेअकबरी को हिन्दुस्तानी सूखे फलों की सूची में नारयल, पिंडखजूर, अखरोट, चिरौंजी तथा मखाना आदि नामों के उल्लेख से भारत में पैदा होने वाली इन मेवाओं का पता चलता है। ईरान आदि देशों के फलों की सूची मे छुहारा, किशमिश, आबजोश (मुनक्का), अंजीर, बादाम, पिस्ता और चिलगोज़ा आदि प्रधान मेवाएं दी गई हैं।[4] वास्तव में फलों के साथ बाहर से ये भी मंगवाई जाती थीं।

१२६—पद्मावत मे फलों के वृक्षों में 'खजूरि,' 'बादाम,' 'अंजीरा,' 'किसमिस' 'चिरउँजी', 'छोहारा,' 'चिरौंजी'[5] का उल्लेख है।[6] बादशाह के लिये बनाए गए विविध प्रकार के

१—कृ० जी०, प्र० १२, अ० १८, फागुन सुदी एकादशी के दिन स्त्रियाँ आँवले के वृक्ष को देवता रूप में पूजती हैं तथा बेर, सिंगाड़ी व जल चढ़ाती हैं। कार्तिक शुक्ला नवमी के दिन भी इसकी ब्रह्म रूप में पूजा होती है।

२—मानस, बाल० २३३, 'बिबिध भाँति मेवा पकवाना'

३—आईने अ०, पृ० १५२, छुहारे के लिए पिंडखजूर प्रयुक्त हुआ है।

४—आईने अ०, पृ० १३६, १३४। विदेश से आने वाली प्रमुख मेवाओं के मूल्य इस प्रकार थे—बादाम—प्रतिसेर—११ दाम। पिस्ता—प्रतिसेर—९ दाम। चिलगोज़ा—प्रति सेर—८ दाम। छुहारा—प्रतिसेर—१० दाम। किसमिस—प्रति सेर—९ दाम।

५—प० सं० व्या, २८। 'औ घन तार खजूरि'

६— ,, ,, ३४।, १८७।

व्यंजनों में भी कई तरह की मेवा डालने का वर्णन मिलता है,[१] किन्तु सूरसागर के समान ही अखरोट चिलगोज़ा आदि कुछ वर्तमान मेवाओं का अभाव पद्मावत में भी है। वर्तमान समय की सबसे अधिक प्रिय मेवा काजू का उल्लेख तो आईने अकबरी में भी नहीं है। इससे यही अनुमान होता है कि काजू का प्रचार बाद में हुआ है।

आजकल जाडे में मेवा खाई जाती है, किन्तु मंहगी होने के कारण धनी वर्ग के खाद्य पदार्थों में ही इनको स्थान मिल पाता है। पहले के समान आज भी बहुत-सी मेवाएँ काबुल आदि स्थानों से आती हैं। भारत में अखरोट के पेड़ पहाड़ी जगहों, जैसे कुमायूं, गढ़वाल, हिमाचल प्रदेश में अधिकता से होते है तथा काजू दक्षिण भारत मे होता है। काश्मीर भी फल तथा मेवाओं के लिए अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

तरकारी

१३०—सूरसागर मे तरकारी के पर्यायवाची कई शब्द मिलते हैं। इन शब्दों के अर्थों में थोड़ा-सा भेद अवश्य किया जाता है। **तरकारी** (१५१०) [फ़ा० तर + कारी] उस पौधे को कह सकते है जिसके जड़, डठल, पत्तियाँ, फूल अथवा फल पका कर खाये जाते हैं। गोवर्द्धन-लीला प्रसंग मे यशोदा नैवेद्य के लिये विविध प्रकार के व्यंजनों के साथ तरकारियाँ भी बनाती है—'महरि करति ऊपर तरकारी। जोरति सब बिधि न्यारी-न्यारी' (१५१०) प्रायः पकी हुई तरकारी को **सालन** (१०१४, १८३१) [सं० सलवण--पकी मसालेदार तरकारी] अथवा **भाजी** (१०१४, १८३१) [हि० भाजना, भूनना] कहते हैं। कृष्ण-ज्यौंनार के सिलसिले में इन दो शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है—'सालन सकल कपूर सुवासत। स्वाद लेत सुन्दर हरि ग्रासत' (१०१४) या 'थार कटोरा जरित रतन के। भरि सब सालन विविध जतन के' (१८३१) अथवा 'बेसन सालन अधिकौ नागर' (१८३१)। इसी प्रकार 'भाजी' शब्द का भी कई बार उल्लेख हुआ है—'मीठे तेल चना की भाजी' (१०१४) अथवा 'भाजी भली भाँति दस कीन्हीं' (१८३१) द्वारा दस तरकारियों के बनाने का वर्णन है। आजकल दावतों आदि में कभी-कभी इतनी तरकारियां बनती हैं, यों प्रायः दो तीन तरकारियां बनाने का रिवाज है। तेल आदि में भुनी तरकारी के लिए भाजी से ही मिलता-जुलता शब्द 'भुजिया' बोला जाता है।

पत्ते वाली तरकारी प्रायः **साग** (१८३१) [सं० शाक] कहलाती है। सूरसागर में भी इसी अर्थ मे यह शब्द प्रयुक्त हुआ है—'साग चना मरसा चौराई (१८३१)। प्रथम स्कन्ध के विदुर-प्रसंग मे **साग-पत्र** अथवा **साग** (१३, २४४) [स० शाक + पत्रं] तरकारी के साधारण अर्थ में भी लिए जा सकते है—'कौरव-काज चले रिषि सायन, साक-पत्र सु अघाए' (१३) 'षटरस व्यंजन छांड़ि रसोई साग बिदुर घर खाए' (२४४)। यहाँ पर 'साग' अथवा 'साक-पत्र' साधारण अथवा निरामिष भोजन की ओर भी संकेत करता है। आजकल का 'साग-पात' भी इसी भाव को व्यक्त करता है। साग के ये दो अर्थ प्राचीन समय में भी थे। अष्टाध्यायी में 'भाक्ष्य' पदार्थों की सूची में 'सूप' (पकी हुई दालों, जैसे मुद्ग तथा माप का रस), 'पलल' (मांस) तथा शाक (तरकारी) बताये गये हैं।[२] अन्य स्थल पर मुख्य भोजन के साथ खाये जाने

१—प० सं० व्या०, ५५०।१ 'तहरी पाकि लोनि और गरी। परी चिरौंजी औ खुरहुरी।'

५४६।४ 'नारियर दाख खजूर छोहारे'

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १००

वाले अन्य पदार्थों में शाक (पत्तेदार तरकारी) 'भाजी' (पकी हुई तरकारी) तथा 'सूप' का उल्लेख हुआ है।[१]

जायसी ने 'तरकारी' तथा 'साग' का प्रयोग किया है[२] तथा तुलसी की शब्दावली में भी 'सागु' शब्द मिलता है।[३] यहाँ भी साग संभवतः पत्तेदार तरकारी के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। वर्तमान समय में प्रायः तरकारी तथा साग शब्द अधिक प्रचलित हैं। तरकारी कच्ची तथा पकी दोनों प्रकार की तरकारियों को कहा जाता है तथा साग प्रायः पत्तेदार को। एक अन्य शब्द 'सब्ज़ी' [फ़ा० = हरी तरकारी] भी सुनने में आता है।

तरकारियों के नाम

१३१—भोजन तथा ज्यौंनार से संबंधित पदों (१०१४, १८३१) में ही विशेष रूप से तरकारियों के बहुत से नाम एक साथ दिये गए हैं। कहीं-कहीं इनके पकाने की विधि तथा अन्य विशेषतायें बताने का भी प्रयत्न किया गया है। यह नाम इस प्रकार हैं—

(१) **बनकोरा** (१०१४)। यह नाम स्पष्ट नहीं है। आईने अकबरी की तरकारियों की सूची मे वर्णित यह 'ककोरा' या 'बनकरेला' नामक तरकारी हो सकती है।[४] **ककोरा** शब्द भी मिलता है। यह संभवतः कटीला परवल या 'खेकसा' नामक तरकारी है। झांसी क्षेत्र (१८३१)। में 'ककोरा' आज भी इसी अर्थ में बोला जाता है।

(२) **पिंडीक** (१०१४)। इस तरकारी का आजकल नाम सुनने में नहीं आता है।

(३) **चिचिंडी, चिचींडा** (१०१४, १८३१)। इसकी बेल होती है तथा फल धारीदार, लम्बा एवं पतला होता है। गांव मे कभी-कभी लोग इसकी कलियों को दीपक दिखाते है जिससे वह जल्दी से बढ़ जाये।[५] आईने अकबरी में 'चचेंडा' नाम दिया है तथा वह एक सेर दो दाम का बिकता था। आजकल भी इसे 'चचेंडा' अथवा 'चचेड़ा' कहते हैं। यह वर्षा ऋतु में होता है।

(४) **सीप** (१०१४)। आजकल की प्रचलित तरकारियों में इसका स्थान नहीं है।

(५) **पिंडारू** (१०१४)। आईने-अकबरी में पिंडालू नाम मिलता है। उसमें लिखा है कि इसकी बेल ऊपर चढ़ा दी जाती है, पत्ते पान के आकार के होते हैं तथा जड़ खोद कर पकाई जाती है।

(६) **कोमल भिंडी** (१३१४)। यह आजकल की प्रिय तरकारियों में है। यह प्रायः ग्रीष्म और वर्षा ऋतु मे होती है। भिंडी मुलायम ही अच्छी होती है, जैसा कि सूरसागर में भी स्पष्ट कर दिया गया है। भिंडी सर्वप्रथम भारतवर्ष में ही जंगली अवस्था में उगती हुई पाई गई थी। भिंडी को '**रामतरोई**' भी कहा जाता है—'खीरा रामतरोई तामैं। अरुचिनि रुचि अंकुर जिय जामैं।' कुछ स्थानों में रामतरोई शब्द लौकी के अर्थ में बोला जाता है।

(७) **सूरन** (८५६, १८३४) [सं० सूरणः] तल लिया गया था—'सूरन करि तरि।' इसका दूसरा नाम 'ज़मीक़ंद' है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह ज़मीन के अंदर होता है

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ११०

२—प० स० व्या०, ५४८।१ 'भाँति भाँति सीझी तरकारी'
 ५४८।७ 'छौंकि साग पुनि सोंधि उतारा।'

३—मानस, बाल० ७४। 'संबत सहस मूलफल खाये। सागु खाइ सत बरस गँवाए।'

४—आईने अ०, पृ० १३७, फल वाली सभी तरकारियाँ पकाकर खाये जाने वाले फलों के नाम से दी गई हैं।

५—कृ० जी०, प्र० १२, अध्याय १३

तथा इसका आकार बंडे से मिलता-जुलता है। यह चरपरा सा होता है इसलिए इमली आदि डालकर पकाते है। कहीं-कहीं दिवाली के दिन ज़मींक़ंद खाने की प्रथा है। हर्षचरित में उल्लिखित तरकारियों मे 'सूरणकंद' की चर्चा है।[१] आईनेअकबरी में अचारों की सूची में 'ज़िमींक़ंद' दिया गया है।

(८) तोरई (सरस) (१८३१) की बेल होती है। यह भी प्रायः गर्मी व बरसात में अधिक होती है। इसकी तरकारी हल्की मानी जाती है और लौकी के समान ही बीमारी के बाद पथ्य में दी जाती है। आईनेअकबरी मे एक सेर तुरई का मूल्य डेढ़ दाम बताया गया है[२] तथा इसके अचार डालने का भी उल्लेख है। जायसी ने तुरई तथा चचेंडा को ज़ीरा देकर छौंकने का उल्लेख किया है।[३] आज भी तुरई, चचेंड़ा तथा लौकी को जीरा डालकर छौंकने की प्रथा चल रही है।

(९) सेम (१८३१) [सं० शिबा, शिम्बिका] की लता होती है तथा सफ़ेद व हरी दो प्रकार की फलियाँ होती हैं। जाड़े की तरकारियों मे सेम का विशिष्ट स्थान है। आईनेअकबरी में 'सेंब' प्रतिसेर डेढ़ दाम की बताई गई है तथा इसके वर्षा में होने का उल्लेख भी है। पद्मावत मे भी 'सेंब' शब्द ही मिलता है।[४]

(१०) सींगरी (१८३१) मूली की फली को कहते हैं। सेम तथा सींगरी पकाने का वर्णन इस प्रकार है—'सेम सींगरी छौंकि झोरई।' 'झोरई' संभवतः 'झोल' (तरकारी के गाढ़े रसा या शोरबा) के अर्थ मे आया है। आजकल सेम तथा सींगरी प्रायः सूखी ही बनाई जाती है।

(११) भंटा (१८३१) [सं० वंगः] का भरता [देश०] खटाई डालकर बनाया गया था—'भरता भँटा खटाई दीन्ही'। आग में भून कर बैंगन का भरता आज भी बनाया जाता है तथा खटाई भी डालने का रिवाज चल रहा है, इस प्रकार आलू का भी भरता या 'चोखा' बनाते है। 'भंटा' के लिए अधिक प्रचलित शब्द बैंगन है। जिससे इसी रंग का नाम 'बैंगनी' या 'बैजनी' पड़ा है। ग्रामीण बोली मे 'भाँटा' भी कहा जाता है। यह प्रायः साल भर ही होता है। आईनेअकबरी में भी 'बैंगन' प्रतिसेर डेढ दाम दिया गया है।[५] वह प्राचीन काल की तरकारियों में से है, क्योंकि हर्षचरित में 'वंगक' की चर्चा है।[६] इसकी उत्पत्ति भारत में ही हुई थी। पद्मावत में भी बैगन बनाने का ढंग सूरसागर से मिलता हुआ है।[७]।

(१२) परवर (१८३१) भी लता पर ही होता है तथा गरमी व बरसात में फलता है। आईनेअकबरी की सूची में सबसे अधिक मँहगी तरकारी 'परवल' ही है—एक सेर बारह दाम का। आजकल भी मँहगी तरकारियों में ही इसकी गिनती है। बीमारी के बाद परवल भी दिया जाता है।

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० १८३

२—आईने अकबरी, पृ० १३६, १२६

३—प० सं० व्या०, ५४८।४ 'तोरई चिचिंडा डिंडसी तरे।
जीर धुंगारि कलै सब धरे॥'

४—प० सं० व्या, ५४८।७ 'रींधे ठाढ़ सेंब के फारा।'

५—आईने अकबरी, पृ० १३६

६—हर्ष० सां० अ०, पृ० १८३

७—प० सं० व्या०, ५४८।३ 'चुवक लाइ कै रींधे भाँटा।'

(१३) **फाँगफरी** (१८३१) लोनिका फांगी (१०१४) 'रुचिर लजालु लोनिका फांगी (१०१४)। आज की अधिक प्रचलित तरकारियों में इसका स्थान नहीं है।

(१४) **टेंटी**[1] (१८३१) करील के झाड़ पर लगने वाले गोल छोटे फल को 'टेंटी' कहते हैं। ब्रज प्रदेश में पकी टेंटी 'पेचूं' का अचार आज भी पड़ता है। अन्यत्र इसके खाने का रिवाज नहीं है। यह वहाँ की स्थानीय तरकारी ज्ञात होती है। करीलफल (१६८) 'जिहिं मधुकर अंबुज रस चाख्यौ क्यों करील फल भावै' (१६८) शब्द भी टेंटी का सूचक है।

(१५) **ढेंड़स** (१८३१) का वर्णन इस प्रकार मिलता है—'पोइ परवर फाँग फरी चुनि ॥ टेंटी ढेंढ़स छोलि कियौ पुनि ।'वर्तमान समय में प्रचलित 'टिंडे' को ब्रज आज भी ढेंड़स कहते हैं।

(१६) **कुनरु** (१८३१) [सं० कुन्दुरु] परवल के आकार की एक तरकारी है। पकने पर इसका फल लाल हो जाता है। इसकी बेल के पत्ते तुरई के पत्तों से मिलते हैं। बरसात में इस पर फल आते हैं। इसको सस्कृत मे 'बिम्ब' या 'बिम्बक' भी कहते हैं। साहित्य में लाल बिम्ब-फल होठों का प्रसिद्ध उपमान है। हेमचंद्र ने बिम्बफल के लिए 'कुंदीर' शब्द भी प्रयुक्त किया है।[2] आईनेअकबरी में 'कंदूरी' शब्द दिया गया है तथा मूल्य प्रति सेर डेढ़ दाम बताय गया है।[3] पद्मावत में भी साबित परवल व कुंदरु भूनने का वर्णन मिलता है।[4] आजकला कुंदरु की तरकारी कम ही घरों में बनाई जाती है।

(१७) **कचरी** (१८३१)। 'कचरी चारु चिचींडा सौर' या 'ककरी कचरी अरु कचनार्यौ'। इसकी बेल ककड़ी को तरह की होती है अब कचरी की तरकारी भी लुप्त-सी हो गई है।

(१८) **करेला** (१८३१) की भी बेल होती है। इसका फल कड़ुवाहट लिये हुए होता है, अतः खटाई आदि डाल कर इसे भूनते है और बड़ी उम्र के लोग ही प्रायः रुचिपूर्वक खाते हैं यह ग्रीष्म तथा वर्षा में अधिक होता है। आईनेअकबरी में करेले का भाव प्रतिसेर डेढ़ दाम दिया गया है।[5] सूरसागर के वर्णन 'भले बनाइ करेला कीने। लौन लगाइ तुरत तरि लीने' से पद्मावत का वर्णन 'करुई काढ़ि करेला काटे। आदी मेलि तरे किए खाटे' अधिक स्पष्ट व विस्तार से दिया गया है। उसमें मांस भरे हुए भाँटे का उल्लेख भी है।[6]

(१९) **फरी अगस्त** (१८३१)। 'फरी अगस्त करी अमृत सम' से इस फली के मीठे होने का अनुमान होता है। यह तरकारी भी अब प्रचलित तरकारियों में नहीं आती है।

(२०) **अरुई** (१८३१) खटाई डाल कर बनाई गई थी—'अरुईहिं इमली दई खटाई। जेंवत षटरस जात लजाई।' यह भी ज़मीन के अन्दर होती है। इसकी जड़ व पत्ते, दोनों की तरकारी बनती है। पत्ते से 'पतौरा' नामक व्यंजन बनता है। पद्मावत में 'अरिहन' अथवा बेसन

१—कृ० जी०, प्र० १२, अध्या० १३, ब्रज प्रदेश में टेंटी संबंधी अनेक लोकोक्तियाँ प्रसिद्ध है, जैसे 'काबुल में मेवा दई, ब्रज में टेंटी खाई।'

२—कृ० जी०, प्र० १२, अ० १३ (दे० ना० मा० २।३९-हेमचंद्र)

३—आईने अ०, पृ० १३६

४—प० सं व्या०, ५४८।५ 'परवर कुंदरू भूंजे ठाढ़े। बहुते घिमें चुरचुर कै काढ़े।'

५—आईने अ०, पृ० १३७

६—प० सं० व्या०, ५४८।६, ५४९।२ 'औरु जो मांसु अनूप सो बांटा।' भे फर फूल आंब औ भांटा।'

डाल कर घुइया बनाने का वर्णन है।[१] घुइया आज भी इस प्रकार बनाई जाती है। आज 'अरुई' शब्द से 'घुइया' शब्द अधिक प्रचलित है।

(२१) पेठा (१८३१) कई प्रकार का बनाया गया था—'पेंठा बहुत प्रकारनि कीन्हे। तिन सौं सबै स्वाद हरि लीन्हें।' यह भी बेल पर फलता है तथा कुम्हड़े के आकार का सफेद रंग का होता है। यह जाड़े में होता है। अन्य कई तरकारियों से पेठे का भाव अकबर के समय में अधिक था।[२] आजकल पेठे की मिठाई बनाई जाती है और उर्द की बरी में भी इसके टुकड़े डाले जाते हैं। पेठे के पगे हुए टुकड़ों को ही संभवतः सूरसागर में 'पेठापाक' बताया गया है (१०१४)। पद १८३१ में अनेक प्रकार का पेठा बनाने से भी यही तात्पर्य हो सकता है।

(२२) खीरा (१८३१)। यह फल बरसात के दिनों में लता पर होता है। सूरसागर में इसकी गिनती तरकारियों में है। अतएव इस सूची में भी उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। आजकल यह प्रायः फल की तरह कच्चा ही खाया जाता है तथा इसका रायता भी बनाते हैं। हर्षचरित में खीरे को 'त्रपुष' कहा गया है।[३] आईने अकबरी में खीरे व ककड़ी का अचार बताया गया है।[४] जायसी ने 'बालबां खीरा' मांस भर कर तैयार किया हुआ बताया है।[५]

(२३) रतालू (१८३१) 'सुंदर रूप रतालू रातौ। तरि करि लीन्हों अबहीं तातौ।' इस चित्रण से रतालू के रंग तथा तल कर बनाने पर प्रकाश पड़ता है। यह भी पता चलता है। कि रतालू गर्म व तुरंत का बना अधिक स्वादिष्ट होता है इसका पौधा आलू व शकरकंद के समान होता है। यह ज़मीन के अन्दर से निकलता है।

(२४) ककरी (१८३१) की भी खीरे की तरह की बेल होती है। यह गरमी में खरबूजे के साथ ही बिकती है। प्रायः गंगा या अन्य नदियों के रेतोले तट पर खरबूज़ा, तरबूज़ व ककड़ी लगाई जाती है। आजकल पतली ककड़ी फल की तरह खाई जाती है। मोटी व बड़ी ककड़ी की तरकारी भी बनाते हैं। सूरसागर में तरकारियों के साथ ही ककड़ी का उल्लेख है। हर्षचरित में अटवी कुटुम्बियों के घरों में राजमाष, त्रपुष, ककड़ी, लौकी तथा कुम्हड़े की बेलें चढ़ी होने का वर्णन है।[६] गांवों के घरों में तरकारियों की लताएँ इस प्रकार चढ़ी हुई आज भी दिखाई पड़ती हैं। 'सब ककरी करुई' (३९१४) से कभी कभी कड़वी ककड़ी निकलने की ओर संकेत है।

(२५) केला (१८३१)। 'कितिक भांति केला करि लीने। दे करँवदा हरदि-रँग भीने' वर्णन किया गया है। फलों के सिलसिले में केले का ज़िक्र किया जा चुका है। इसकी तरकारी आज भी कुछ इसी प्रकार से बनाते हैं।

१३२—स्फुट प्रसंगों में कुछ अन्य तरकारियों के नामों का उल्लेख हुआ है—

(२६) मूली। भ्रमरगीत प्रसंग में गोपियां व्यंग्य करती हैं—'मूली कै पातनि के क्वैना को मुक्ताहल दैहै।' मूली ज़मीन के अन्दर से निकाली जाती है। यह कच्ची व पकी हुई, दोनों तरह से खाई जाती हैं। मूली के पत्तों का साग भी बनाते हैं। आईने अकबरी की अचारों तथा

१—प० सं० व्या०-५४८।३ 'अरूई कहं भल अरिहन बाँटा'

२—आईने अ०, पृ० १३७ पेठा प्रति सेर ८ दाम था।

३—हर्ष० सां० अ०, पृ० १८३

४—आईने अ०, पृ० १२९

५—प० सं० व्या०, ५४६

६—हर्ष० सां० अ०, पृ० १८४

शाक भाजी की सूचियों में मूली का नाम भी है।[१]

(२७) **कुम्हाड़े, कदुवा, कुषमांड** (३६०४,१५१०,४५२०) [सं० कुषमांड] गोबर्धन पूजा के निमित्त बनाई गई मिठाइयों में कुम्हड़े की मिठाई भी थी —'कदुवा करत मिठाई घृत-पक' (१५१०)। इसके अतिरिक्त भ्रमर-गीत के प्रसंग में कुछ कहावतों में उल्लेख हुआ है—'आए जोग सिखावन पांडे—सूरदास तीनौं नहिं उपजत धनिया धान कुम्हाड़े' तथा 'उधौ राखियै यह बात—जोग अलि कुषमांड जैसो, अजामुख न समात'। कुम्हड़े का फल भी पेठे या तरबूज़ की तरह बेल पर आता है जो कि पकने पर पीले रंग का हो जाता है। ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु में यह अधिक होता है। पका हुआ कुम्हड़ा काफी दिनों तक खराब नहीं होता है। आईने अकबरी में 'कद्दू' प्रति सेर दो दाम का बताया गया है। जायसी ने भी कुम्हड़ा कई प्रकार से बना बताया है। आजकल इसके 'कद्दू,' 'गंगाफल,' 'काशीफल' अथवा 'सीताफल' आदि अनेक नाम प्रचलित हैं। कुम्हड़े की गिनती सस्ती तरकारियों मे होती है।

१३३—उपर्युक्त प्रचलित तरकारियों के अतिरिक्त कुछ फूलों या कलियों का 'सालन' भी बनाया गया था—

(२८) **फूल सहिजना** (१८३१) [सं० शोभांजनः] 'फूले फूल सहिजना छौंके। मन रुचि होइ नाज के औंके।' हर्षचरित मे बन-ग्राम की बाड़ियों में लगे गुल्मो मे 'शिग्रु' (शोभांजन) का उल्लेख भी है।[२] सूरण, तुलसी, वंगक तथा एरंड आदि के समान 'शिग्रु' भी प्राचीन समय मे प्रचलित था। आईने अकबरी मे भी 'संहजन' का नाम अचारों की सूची में है।[३] आज सहजन की फलियाँ बनाने की अधिक प्रथा है, किन्तु यह तरकारी लोगों की अन्य प्रिय तरकारियों में नहीं आ पायेगी। इसका वृक्ष बहुत ऊँचा नहीं होता है तथा फूल सफ़ेद रंग का होता है।

(२९) **फूल करील** (१८३१) [सं० करीरः प्रा० फुल्लं]। ब्रजप्रदेश मे करील की झाड़ियाँ खूब दिखाई देती हैं। आस पास तहसील मांट तथा हाथरस (अलीगढ़ जिला) तक भी करील होता है। इसकी काँटेदार झाड़ी होती है तथा पत्ते भी नहीं होते। चैत मे छोटे-छोटे गुलाबी रंग के फूल लगते हैं। इन्ही फूलों की तरकारी बनाने का निर्देश है। यह तरकारी भी फल 'टेंटी' के समान ही ब्रजप्रदेश मे प्रचलित है। कारण स्पष्ट ही है कि करील उसी क्षेत्र में होता है। सूरदासजी के समय में इन तरकारियों को खाने की प्रथा अधिक ज्ञात होती है, क्योंकि आइने अकबरी में भी करील के फलों व फूलों के अचार का उल्लेख है[४]।

(३०) **कली पाकर** (१८३१) [सं० पर्कटी]। इसका वृक्ष खूब बड़ा होता है। आईने-अकबरी के खट्टे मीठे फलों की सूची मे 'पाकर' का नाम भी मिलता है।[५] अब पाकड़ की फली की तरकारी बनाने की प्रथा कम हो गई है।

(३१) **कचनार्यौ** (१८३१) [सं० कांचनालः] का वृक्ष फागुन चैत में बैंगनी-से रंग के फूलों से अत्यन्त चिताकर्षक ढंग से भर उठता है। इसकी कलियों की तरकारी बनाने

१—आईने अ०, पृ० १२६
२—प० स० व्या०, ५४८।१ 'कहउ भांति कुम्हड़ा कै फारी'
३—हर्ष० सां० अ०, पृ० १८३
४—आईने अ०, पृ० १२६
५—आईने अ०, पृ० १२६
६—आईने अ०, पृ० १३७

की प्रथा आज तक चल रही है। आईने अकबरी में भी अचारों की सूची तथा शाक-भाजी में कचनार का उल्लेख है।

साग

१३४—प्रायः सभी प्रमुख सागों (पत्तेदार तरकारी) के नाम सूरसागर में मिल जाते हैं। साथ ही सूरकालीन प्रचलित साग बनाने के ढंग का अनुमान भी किया जा सकता है।

चौराई (१०१४, १८३१)। यह साग बरसात में होता है जो चिकना व कटीला तथा लाल या हरे, दो रंगों का होता है। इसका फूल सफ़ेद होता है। इसको 'चौलाई' या 'चौरैया' भी कहते हैं।

लाल्हा (१०१४)। वर्तमान काल के अधिक प्रचलित सागों में इसका स्थान नहीं है। संभवतः इसको ही आजकल 'लाही' कहते हैं।

पोई (१०१४)। इन सागों को पकाने का ढंग इस प्रकार था—'चौराई लाल्हा अरु पोई। मध्य मेलि निबुआनि निचोई।' यह साग भी आज कम दिखाई देता है। कहीं-कहीं इसकी पकौड़ी भी बनाते हैं।

सरसों (१०१४, १८३१)। जाड़े में यह साग होता है। इसका फूल पीले रंग का होता है। सरसों के बीज से 'कड़वा' तेल बनता है। सरसों के खेत फूलने पर अत्यधिक मनहर ज्ञात होते हैं।

मेथी (१०१४)। जाड़े में होने वाले प्रिय सागों में से है। इसके बीज का उपयोग मसाले की तरह भी होता है।

सोवा (१०१४, १८३१)। इसकी पत्तियाँ बारीक सी होती हैं और यह प्रायः मेथी के साथ भी मिला रहता है।

पालक (१०१४) [सं० पालकः]। इसके पत्ते बड़े व चिकने से होते है तथा जाड़े में अधिक होता है। साग के अतिरिक्त पालक की पकौड़ी और रायता भी बनाते हैं।

बथुआ (१०१४, १८३१) [सं० वास्तूक]। 'बथुवा राधि लियौ जु उतालक।' यह प्रायः जौ तथा गेहूँ के खेतों में उग आता है। साग के अतिरिक्त बथुए के पतौरे, रायता और रोटियाँ या पराठे भी बनाये जाते हैं। पद १८३१ में दही में बथुवा मिलाने का वर्णन है—'बथुआ भली भाँति रचि रांध्यो। हींग लगाइ राइ दधि सांध्यो।'

चना (१८३१)। 'साग चना मरुसा चौराई। सोवा अरु सरसों सरसाई।' चने का साग लोग बहुत रुचि से खाते हैं। यह साग मटर के साग की तरह कच्चा भी खाया जाता है।

मरूसा (१८३१)। इस साग के पत्ते चौलाई से मिलते-जुलते, किन्तु कुछ बड़े होते हैं।

ये सभी साग इस प्रकार छौंके गये थे—'सरसों, मेथी, सोवा पालक। बथुवा रांधि लियो जु उतालक। हींग हरद म्रिच छौंके तेले। अदरख और आंवरे मेले।' (१०१४) आज भी करीब-करीब इसी प्रकार ये साग बनाये जाते हैं। इनमें से पालक तथा मेथी के साग में अक्सर आलू भी डाला जाता है। सूरसागर की तरकारियों की सूची में ऋतुओं का विशेष ध्यान नहीं रक्खा गया है।

आईने अकबरी में 'शाक-भाजी' की सूची में सोवा,पालक, पोदीना, जीतू, पोई, चूका, बथुआ तथा चौलाई नाम दिये गये हैं[1]। व्यंजनों की सूची में एक साग नाम का व्यंजन भी है। यह पालक सोवा तथा अन्य सागों से बनता था। इसमें घी, प्याज, अदरक, काली मिर्च, लौंग,

---

१—आईने अ०, पृ० १२६

इलायची तथा मिसकाल विभिन्न मात्रा में डाल कर बनाते थे[१]। पद्मावत में साग छौंकने का उल्लेख है, किन्तु नामों के इतने विस्तार नहीं हैं[२]।

१३५—उपर्युक्त तरकारियों के नामों में कटहल के अभाव की ओर विशेष रूप से ध्यान जाता है। यह प्राचीन काल में भी प्रचलित था। हर्षचरित में वर्णित विन्ध्याटवी के वृक्षों में 'कटफल' (कटहल) भी है।[३] आईने अकबरी[४] व पद्मावत[५] में भी चर्चा है। आज भी कटहल पश्चिमी उत्तर प्रदेश में कम होता है। ब्रजप्रदेश में कम होने के कारण ही सूरसागर में संभवत: इसका उल्लेख नहीं हुआ है। आईने अकबरी में गोभी (करमकल्ला) का नाम भी मिल जाता है जो आजकल की प्रिय तरकारियों में से है। सूरसागर तथा पद्मावत दोनों में इसको स्थान नहीं मिला है। वर्तमान समय की अन्य अत्यन्त प्रमुख व प्रिय तरकारियाँ[६] फूलगोभी, गांठगोभी, आलू,[७] टमाटर, गाजर, शलजम तथा शकरकन्द आदि बाद मे भारत में प्रचलित हुई। अत: सूरसागर में इनका उल्लेख न होना स्वाभाविक ही है। आज तरकारियों में आलू का स्थान सबसे ऊँचा है। जाड़े की अन्य तरकारियों में हरी मटर की तरकारी का वर्णन भी सूरसागर में न होने से अनुमान होता है कि इस प्रकार मटर बनाने का ढंग उस समय नहीं चला था। 'लौकी' शब्द का भी अभाव है। पद्मावत में 'लौआ' परबती अर्थात् पहाड़ी लौकी की भाजी व रायता दोनों बनाने का उल्लेख है।[८] पश्चिमी उत्तर प्रदेश व राजस्थान आदि में अधिक होने वाली कमल की जड़ 'भसींड़ा' का भी ज़िक्र नहीं है। हर्षचरित में इसको 'शालूक[९]' तथा आईने अकबरी में ! 'सालक'[१०] कहा गया है।

तरकारी पकाने के भाव को व्यक्त करने के लिए भी सूरदास ने कई शब्दों का प्रयोग किया है—'छौंके, छौंकि (१०१४, १८३१) संधाने, सांधौं (१०१४) तरि (१८३१) राँध्यौ (१८३१) कीन्हें (१८३१) तथा धुंगारी (१८३१) आदि। इन सभी शब्दों के

१—आईने अ०, पृ० १२०

२—प० सं० व्या०, ५४८।७ 'छौंकि साग पुनि सौंधि उतारा'

३—हर्ष० सां० अ०, पृ० १८६

४—आईने अ० पृ० १३५ हिन्दुस्तानी मीठे फलों में उल्लेख है। दो कटहल एक दाम में बिकते थे।

५—प० सं० व्या०, ५४६।४ 'कटहर बड़हर तेउ संवारे'

६—श्री श्यामलाल मौर्य—हिमालय नर्सरी, देहरादून (साप्ताहिक हिन्दुस्तान) फूलगोभी तथा बन्दगोभी पश्चिमी योरोप में ही सर्वप्रथम पाये गये थे और शलजम भी योरोप से ही आई थी। गांठगोभी का जन्मस्थान जर्मनी है। गाजर पूर्वी योरोप तथा हिमालय के पश्चिमी भागों की देन है। आलू की उत्पत्ति के स्थान अमेरिका के पीरू व चिली नामक स्थान हैं। टमाटर व शकरकंद भी अमेरिका से आई है।

७—सन् १६१५ में आसफ़खाँ द्वारा सर टॉमस रो को दिए गए भोज में आलू का सर्वप्रथम उल्लेख है—आईने अ०, नोट, पृ० १३२

८—प० सं० व्या०, ५४८।२ 'में भूंजी लौआ परबतो'। रैता कहं काटे कें रती।'

९—हर्ष० सां० अ०, पृ० १८४

१०—आईने अ०, पृ० १३७

अर्थ में थोड़ा सा अन्तर है ।[१] पद्मावत मे भी प्राय: ये सभी शब्द प्रयुक्त हुए हैं—'भूंजी' 'भूंजे' 'सीझी 'रींधे' 'तरे' 'घुंगारि' 'कलै' 'कढ़ि' 'छौंकि' आदि । इनमे से प्राय: सभी शब्द आज भी तरकारी बनाने के विभिन्न ढंगों को व्यक्त करते हैं, जैसे तलना, भूनना, पकाना, या रांधना तथा छौंकना ।

'सौंधी[२]' (१८३१) शब्द एक विशेष प्रकार के खाने के स्वाद व सुगन्ध का सूचक है । सोंधा शब्द अब भी बोला जाता है, । 'चकाचौंधी' तथा छबीली (छाँछ) (१८३१) विशेषण अवश्य सूरसागर के अपने हैं ।

५—खांड आदि तथा दूध और उनके अन्य रूप

१३६—सूरसागर की खाद्य पदार्थों की सूचक शब्दावली में सभी प्रमुख मीठी वस्तुओं के नाम मिल जाते हैं । कनछेदन शीर्षक पद में (७६८) **गुर** [सं० गुड:] की चर्चा है—'हाथ सोहारी **भेली गुर** की ।' **गूँगौ गुर** (३५३) का निर्देश अनेक विनय पदों में ईश्वर संबंधी ज्ञान अथवा चरम अभिव्यक्ति के वर्णन की असमर्थता व्यक्त करने के लिए हुआ है । गन्ने के रस को पकाकर ही गुड़ बनाया जाता है । गुड़ पकाने की क्रिया का वर्णन भी प्रथम स्कन्ध के एक विनय पद में (६३) किया गया है—'रे मन अजहूँ क्यों न सम्हारै....रस लै-ले ओटाइ करत **गुर**, डारि देत है खोई । फिर औटाए स्वाद जात है, **गुर** तै **खांड** न होई ।' कनछेदन के समय बच्चे का ध्यान पीड़ा की ओर से हटाने के लिए मिठाई दे दी जाती है । गुड़ की भेली शुभ भी मानते हैं । गुड़ की बटी को **भेली** (७६८) कहते हैं । ढाई सेर की भेली 'अढ़ैया भेली' और पांच सेर की 'पसेरी भेली' कहलाती है । दस सेर की बटी को 'भेला' भी कह देते है । मुट्ठी से बनाई गई छोटी भेली 'मुठिया' या 'पिड़िया' कहलाती है । भेली का शीरा सबसे अधिक कड़ा या 'खरा' रक्खा जाता है ।

खांड (१०१४, १८३१, ६३) [सं० खाण्डव:] का उपयोग शक्कर की तरह अधिक होता था—'खीर खांड घृत लावनि लाडू' (१०१४) खीर खांड खीचरी सँवारी' (१८३१) अथवा 'खोवा खांड औटि है राख्यौ' (१८३१) । यह एक प्रकार की बिना साफ़ की हुई शक्कर होती है । ऊख-रस से ही खांड भी बनती है ।

शक्कर शब्द खांड के समान अलग से प्रयुक्त नहीं हुआ है, किन्तु **सक्करपारे** (८०१) [सं० शर्करा-पा० सक्खर-सक्कर, फा० शक्कर] में सक्कर शब्द प्रयुक्त हुआ है । हल्के पके हुए शीरे से राब बनाते हैं और उसी से शक्कर बनती है । प्राचीन साहित्य में राव को 'फाणित' कहते थे । दानेदार चीनी के लिये 'शर्करा' शब्द प्राचीन समय से ही प्रचलित है । अच्छे क़िस्म के गुड़ को अष्टाध्यायी में 'गुडे साधु' कहा गया है[३] ।

१—प० सं० ध्या, ५४८। ५४८ (४) कले [अ०] = तलना—स्टाइनगास, अरबी कोष पृ० ८५४

२—पं० सं० ध्या०, ५५०।४ 'सिखरन सोंधि' ५४८।७ 'साग छौंकि पुनि सोंधि उतारा'

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १०४। हर्ष० सां० अ०, पृ० ६४, १८१

उस समय मिश्री, मिसरी[1] (७०२, ८०१) अधिकतर दूध तथा दही में डाली जाती थी—'दधिहिं बिलोइ सदमाखन राख्यो, मिश्री सानि चटावै नंदलाल' (७०२) अथवा 'तुमकौ माखन दूध-दधि मिश्री हौं ल्याई' (८३७)। फाग के प्रसग में 'मेवा मिश्री बहुत रतन, दई सबनि भरि ओल' (३५३३) का वर्णन है। मिश्री के पाग से भी मिठाइयाँ तैयार की जाती थीं—'घृत मिष्टान्न सबै परिपूरन। मिश्री करत पाग कौ चूरन।' (१५१०)। मिश्री दानेदार शकर की छोटी टिकियों के रूप में बनती है। यह बच्चों को सदैव से प्रिय रही है। अब खांड़ तथा मिश्री के उपर्युक्त उपयोगों का स्थान अधिकांश रूप से वर्तमान शक्कर या चीनी ने ले लिया है।

१३७—अन्य प्रमुख मीठी वस्तुओं में सीरा (८०१, १०१४, १८३१) [फ़ा० शीरः = दूध, सं० क्षीर = दूध, फा० शीरीं-मीठा, शीरीनी = मिठाई] भी उल्लेखनीय हैं। व्यंजनों की सूची मे 'सीरा' को स्थान मिला है—'है कर्‌यौ सिरावन सीरा' (८०१) या 'जेंवत रुचि राख्यौ सीरा' (८०१) अथवा 'सीरा साजौ लेहु ब्रजपती' (१०१४)। अलीगढ़ क्षेत्र की प्रचलित ग्रामीण बोली में पानी की तरह पतली लपसी 'सीरा' कहलाती[2] है। यों सीरा अथवा शीरा का अधिक प्रचलित अर्थ चाशनी है। यह गुड़ शक्कर अथवा खांड़ को पकाकर बनाया जाता है और कुछ मिठाइयाँ शीरे मे डालकर बनाते हैं। इस प्रकार के रस का वर्णन सूरसागर में भी मिलता है—'घेवर अति घिरत चभोरे, ले खांड़ सरस रस बोरे' (८०१)। ईख का रस पहली कढ़ाई में पकाये जाने पर 'कचैला', दूसरी का 'पाका' तथा तीसरी का 'चासनी' [फ़ा० चाशनी] कहलाता है। इससे ही शक्कर राब व गुड़ बनता है। सिवार के पत्तों पर राब को ढाल देते है। उसमें से निकलने वाला द्रव पदार्थ भी 'सोरा' होता है।[3] सूरसागर में व्यंजनों की सूची में 'साजौ सीरा' उल्लिखित होने के कारण ज्ञात होता है कि इन स्थलों में पतली लपसी के लिए ही आया है। चाशनी के अर्थ में पाग, माक (१५१०, १०१४) का प्रयोग अधिक हुआ है। पाग के और कई अर्थ भी प्रचलित हैं जैसे कड़ाह में एक बार में जितना रस आता है वह 'पाग' कहलाता है।[4] खांड़ की चाशनी में पकी मेवाएँ भी 'पाग' ही कहलाती हैं[5]।

ग्रामीण बोलियों में इन मीठी वस्तुओं को साधारणतया 'मिठाई' भी कह देते हैं। सूरसागर के एक दो स्थलों में मिठाई (८४७) यही अर्थ देता है—'आछे ओट्यौ मेलि मिठाई'।

१३८—ईख के रस से बनी उपर्युक्त वस्तुओं के अतिरिक्त मधु (८०१, ७०७) [सं०] का भी खूब प्रचार था—'सद दधि माखन द्यौं आनी। तापर मधु मिसिरी सानी।' (८०१)। दही व मक्खन के समान खीर में भी मधु डालने का उल्लेख अन्नप्राशन संस्कार मे है—'कनक-थार भरि खीर धरी लै, तापर घृत-मधु नाइ' (७०७)। अन्नप्राशन की खीर में आज तक मधु डालने की प्रथा चल रही है। शहद की मक्खियों द्वारा एकत्रित किया गया फूलों का रस ही मधु[6] होता है। अतएव स्वास्थ्य के लिए लाभदायक इस नैसर्गिक रस की तुलना अन्य मीठी

१—ऋग्वेद, १०, ६१, १४ में मिश्री का उल्लेख हुआ है—'ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयःकीलालं परिश्रुतम्।

२—कृ० जी०, प्र० ११, अ० ६

३— ,, ,, , प्र० ६, अध्या० २

४—ग्रा० श०, पृ० ११२

५—कृ० जी०, प्र० ११, अध्याय ६

६—प० सं० व्या०, ४। 'कोन्हेसि मधु लावइ लइ माखी'

वस्तुएँ नहीं कर पाती हैं। मिठास भी इसकी अतुलनीय है। अतः 'मधु' से ही 'मधुर' शब्द बना है। प्राचीन काल में भी लोग मधु का उपयोग करते थे। अष्टाध्यायी मे साधारण शहद को 'क्षौद्र' बताया गया है।[१] हर्षचरित में भी 'मधु-चषक' अथवा 'मधु रस' के उल्लेख हैं।[२] वर्षों तक रक्खा गया शहद बिगड़ता नहीं है—और वैद्यक शास्त्र में इसकी अत्यधिक महत्ता है। आजकल 'शहद' शब्द ने 'मधु' का स्थान ले लिया है।

अकबर के समय में ऊपर दी गयी सभी वस्तुएँ प्रचलित थीं। आईने अकबरी में मिश्री, सफ़ेद कंद, व सफ़ेद तथा लाल शक्कर के नाम प्रचलित मूल्यों के साथ मिलते हैं।[३] इनमें सफेद कंद ही सारे देश भर में अधिक काम में लाई जाती थी। शहद भी सब जगह जमा किया जाता था, किन्तु साधारणतः उपयोग में कम आता था।[४]

आज गाँवों में तो अब तक गुड़, खांड तथा बूरा (बारीक पिसी शक्कर) का प्रचार अधिक है किन्तु नगरों में दानेदार सफ़ेद शक्कर ने ही प्रमुख रूप से इन सबका स्थान ले लिया है। मिठाई आदि में पिसी शक्कर काम में आती है। 'शक्कर' तथा 'चीनी' दो शब्द अधिक बोले जाते हैं। शक्कर की बनी एक मीठी वस्तु बताशा भी बच्चों को खूब प्रिय है। घरेलू उत्सवों आदि में बताशे बाँटने का चलन भी है। शहद अब नये तरीके से जमा किया जाने लगा है, किन्तु दूध दही आदि में डाल कर खाने का रिवाज उठ-सा गया है।

दूध और उसके अन्य रूप

१३६—कृष्ण-कथा में दूध दही तथा मक्खन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ग्वालों के मुखिया 'ब्रज-परगन-सिकदार महर' (६४७) नंद के घर में पाले गए बालक कृष्ण का समय अन्य बालकों के साथ गायें चराने, खेलने तथा दूध मक्खन व दही के लिये गोपियों को छेड़ने आदि मे ही बीतता था। माखन-चोरी तथा दधि-दान से संबंधित अनेक पद सूरसागर के उत्कृष्टतम पदों मे से हैं। माखनचोरी द्वारा उस परम आत्मा की कुछ विशेष आत्माओं पर कृपा तथा दधि-दान लीला द्वारा इन आत्माओं का परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पण एवं एकात्मता का रूपक खींचा गया है। वृंदावन तथा गोकुल की पृष्टभूमि में आराध्य कृष्ण के बाल-सुलभ स्वाभाविक दैनिक क्रियाकलाप के चित्रण के विरोध में अनेक पदों में उनकी अलौकिक शक्ति-सामर्थ्य का भी कवि बार-बार ध्यान दिलाता रहा है। दूध दही व मक्खन के लिए मां से मचलना, गोपियां के घरों से चुरा कर खाना आदि साधारण जीवन के स्वाभाविक चित्रों मे भी सच्चिदानंद परब्रह्म के अवतार कृष्ण के आनंद-रूप का दर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है।

बालक कृष्ण माता यशोदा की मथनी पकड़ कर मचलते हैं और दही नहीं मथने देते—

'जब दधि मथनी टेकि अरै'
आरि करत मटुकी गहि मोहन, बासुकि संभु डरै'। (७६०)

अथवा—'नंद जू के बारे कान्ह, छाँड़ि दे मथनियाँ
बार बार कहति मातु, जसुमति नँदरनियाँ
नैंकु रहौ माखन देऊँ, मेरे प्रानधनियाँ।' (७६३)

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १०४
२—हर्ष० सां० अ०, पृ० १६८
३—आईने अ०, पृ० १२८
४—अशरफ़, पृ० २१२

फिर कभी दही के पात्र में चलती हुई मथानी की ध्वनि के साथ शिशु कृष्ण किलकते व नृत्य भी करने लगते हैं।

'(एरी) आनँद सौं दधि मथति जसोदा, धमकि मथनियाँ घूमैं।
निरतत लाल ललित मोहन, पग धरत अटपटे भू मैं।' (७६५)

कलेवे मे अनेक प्रकार के व्यंजनों के होते हुए भी कृष्ण तथा बलराम को माखन-रोटी ही प्रिय है—

'क्रीडत प्रात समय दोउ वोर।
माँखन माँगत, बात न मानत, झँखत जसोदा-जननी तोर।' (७७६)

अथवा—'गोपालराइ दधि माँगत अरु रोटी।
माखन सहित देहि मेरी मैया, सुपक सुकोमल रोटी' (७८१)

अथवा—'हरि कर राजत माखन रोटी
मनु बारिज ससि बैर जानि जिय, गह्यो सुधा ससुधौटी।'(७८२)

छोटे बच्चों को दूध भात भी बहुत अच्छा लगता है—'दूध भात बहु परुसन आनी' (परि० १५३) ऐसा कौन सा शिशु होगा जो बिना पूरे शरीर में लपेटे हुए खाना खा ले। माखन तनक आपनैं कर लै, तनक बदन मैं नावत' (७६५)।

१४०—माँ के लिए बच्चों को दूध पिलाना सरल नहीं है। अनेक प्रलोभन देने के बाद किसी प्रकार वे दूध पीने को तैयार होते हैं— 'कजरी कौ पय पियहु लाल, जासों तेरी बेनी बढ़ै। जैसें देखि और ब्रज बालक, त्यों बल-बैस चढ़ै।'(७६२) या

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी।'(७६३)

अथवा—'मैया मोहिं बड़ौ करि लै री।
दूध-दही-घृत-माखन-मेवा, जो माँगौ सो दे री' (७६४)।

दिन तथा रात के खानों में घी, दूध-दही तथा मक्खन का विशेष आकर्षण था। ताजे दही व मक्खन मे मधु मिश्री मिलाकर खाने की प्रथा का निर्देष कई स्थानों मे है:—

'सद दधि माखन ल्यौं आनी। ता पर मधु मिसिरी सानी।' (८०१)

या—'तुमकौं माखन-दूध-दधि, मिस्री हौ ल्याई' (८२७)

या—'सद्द माखन, घृत, दह्यौ सजायौ, अरु मीठौ पय पीजै' (८०८)।

कजरी तथा धौरी गायों का दूध श्रेष्ठ समझा जाता था[1]—'धौरी को पय मोहि अति भावै (१०१४)' 'कजरी को पय पियहु लाल' '(७६२)। दूध अच्छी तरह औंटा हुआ व मलाई पड़ा अधिक स्वादिष्ट होता है। कृष्ण को कांचौ (७६३) दूध अप्रिय होना ठीक ही तो है— 'कांचौ दूध पियावति पचि पचि देति न माखन रोटी' (७६३) या—'आछौ दूध—नीकैं औटि जसोदा रच्यौ' (१०१४)

या—कछु बलदाऊ कौं दीजै। अरु दूध अधावट पीजै।
सब हेरि धरी है साढ़ी। लई ऊपर-ऊपर काढ़ी।' (८०१)

१—महाभारत काल में गाय का ही दूध व घी प्रचलित था। भैंस के दूध का उल्लेख नहीं है। [महाभारत, वन-पर्व, अ० १६० 'दुहन्ताश्चायजैडकं गोषु नष्टासु पुरुषाः।'

प्रायः रात होते ही बच्चों को नींद आने लगती है— मां को जल्दी होती है कि बच्चा कुछ खा ले, ऐसा न हो कि सो जाय। साधारण जीवन के माता व बच्चों के ये सभी चित्र सूरसागर के दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध में भरे पड़े हैं। यशोदा नन्हें मोहन को जल्दी-जल्दी कुछ कौर खिला कर शीघ्रता से गर्म दूध फूँक-फूँक कर पिलाने का उपक्रम करती है—'कनक कटोरा भरि लीजै यह पय पीजै अति सुखद कन्हैया। आछै औट्यौ मेलि मिठाई रुचिकर अँचवत क्यौं न कन्हैया।—'फूँकि फूँकि जननी पय प्यावति सुख पावति जो उर न समैया।' (८४७) तथा—बल मोहन दोऊ अलसाने।

कछु-कछु खाइ दूध अँचयौ तब जम्हात जननी जान्यौ। (८४८)

१४१—कृष्ण की लीलाओं में माखन-चोरी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। माखन-चोरी (८८२-९५९) शीर्षक अनेक सुन्दर पद हैं। भागवत की कृष्ण-कथा मे यह प्रसंग नहीं है। बाद में कवियों ने यह प्रसंग जोड़ कर भाव तथा कला प्रदर्शन का क्षेत्र और अधिक बढ़ा लिया।

माखन-चोरी प्रसंग बाल-विनोद होते हुए भी आगे की कृष्ण-गोपी प्रेम-लीला की नींव डालता है—'प्रथम करी हरि माखनचोरी।

ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन, आपु भजे ब्रज खोरी।
मन मैं यहै विचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाऊँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सबकैं माखन खाऊँ।
बाल-रूप जसुमति मोहि जाने, गोपिनि मिलि सुख भोग।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सों, ये मेरे ब्रज-लोग।' (८८६)।

यशोदा के पास उलाहने ले जाने वाली गोपियों का हृदय मन-ही-मन उनकी इस कृपा के फलस्वरूप आनंदोल्लास से भरपूर हो उठता है—

'गोपालहिं माखन खान दै।
सुनि री सखी मौन ह्वै रहिये, बदन दही लपटान दै।
गहि बहियाँ हौं लैकै जैहौं, नैननि तपनि बुझान दै।' (८९२)।

यशोदा के घर उलाहने लेकर जाना भी कृष्ण-दर्शन का बहाना मात्र ही है—

ग्वालिन उरहन कैं मिस आई।

'नंद-नंदन तन-मन हरि लीन्हौं, बिनु देखैं छिन रह्यौ न जाई।' (९२१)

या—'अपनौ गाउँ लेउ नंदरानी।
बड़े बाप की बेटी, पूतहिं भली पढ़ावति बानी।' (९४०)

या—'महरि तैं बड़ी कृपन है माई।
दूध दही बहु बिधि को दीनौ, सुत सौं धरति छपाई।
बालक बहुत नहीं री तेरे, एकै कुँवर कन्हाई।
सोऊ तौ घरहीं घर डोलतु, माखन खात चोराई।' (९४३)

या—'जसुदा कहँ लौं कीजै कानि।
'दिन प्रति कैसैं सही परति है, दूध-दही की हानि।' (८९८)।

१४२—बाल-सुलभ शरारतों तथा चातुर्य का चित्रण भी इन माखन-चोरी सम्बन्धित पदों में इतना सुन्दर है कि देखते ही बनता है—

'स्याम कहा चाहत से डोलत ?

\+ \+ \+

मैं जान्यौ यह मेरौं घर है, ता धोखैं मैं आयौ ।
'देखत हों **गोरस** मैं चींटी, काढ़न कौं कर नायौ ।' (८९७)

अथवा—'आपु गए हरुएँ सूनैं घर ।
सखा सबै बाहिर ही छाँड़े, देख्यौ **दधि-माखन** हरि भीतर ।
तुरत मथ्यौ दधि-माखन पायौ, लै-लै खात धरत अधरनि पर ।

× × ×

अंतर भई ग्वालि यह देखति मगन भई, अति उर आनन्द भरि ।
'सूर स्याम मुख निरखि थकित भई, कहत न बनै, रही मन दै हरि ।।' (९००)

अथवा—सूरदास प्रभु भलें परे फँद, देउँ न जान भावते जी कैं ।
'भरि **गंडूष**, छिरकि दै नैननि, गिरिधर भाजि चले दै कीकैं ।' (९०५)

तथा —'हरि सब भाजन फोरि पराने—रोवत पाए' (९४६) ।

यशोदा को नन्हें से मोहन को देखकर गोपियों की बातों पर विश्वास नहीं होता । उनको क्या पता कि उनका छोटा सा शिशु गोपियों के 'रसिक-सिरोमनि प्रभु' (९१६) हैं—

'अब ये झूठहु बोलत लोग ।
'पाँच बरस अरु कछुक दिननि कौ, कब भयौ चोरी जोग ।' (९१०)

तथा—'तब भये स्याम बरष द्वादस के, रिझै लई जुवती वा छवि पर ।' (९१९) ।

वह उनको भोला-भाला समझ कर तरह-तरह से समझाती हैं—
'अनत सुत **गोरस** कौं कत जात ?
घर सुरभी कारी धौरी को **माखन** माँगि न खात ।' (९४४) ।

इस प्रकार माखन-चोरी प्रसंग से ग्वालिनों के प्रेम का पूर्वाभास प्रारम्भ होता है—
'तन-मन की गति-मति बिसराई, सुख दीन्हौ कछु माखन खाइ ।
'सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, तुम्हरी लीला को कहै गाइ ।' (९१६)

अथवा—'देखो मेरे भाग की सुभ घरी' (९२०)

इस कथा से ही उलूखल-बंधन प्रसंग भी जुड़ा हुआ है । यमलार्जुन-उद्धार कथा कृष्ण के अलौकिक रूप का स्मरण कराती है । कृष्ण के तरह-तरह से यह समझाने—'मैया मैं नहिं माखन खायौ—ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ ।' (९५२) पर भी माता का क्रोध शान्त नहीं होता । फल यही होता है—'बांधौं आजु कौन तोहि छोरै (९६२) । यहाँ तक कि ग्वालिनों का मन भी व्याकुल हो उठता है—'देखो माई कान्ह हिलिकियनि रोवै । इतनक मुख माखन लपटान्यौ डरनि आँसुवनि धोवै ।' (९६५) अथवा 'कहा भयौ जो घर कैं लरिका चोरी माखन खायौ' (९७४) ।

१४३—आगे चल कर गो-दोहन (१०१८-१०२८) शीर्षक पदों में गाय का दूध दुहने का वर्णन है—'मैं दुहिहों मोहि दुहन सिखावहु' (१०१९) । दूध को **धार** बर्तन में गिरने के उल्लेख भी हैं—'कैसे **धार दूध** की बाजति' (१०१९) या 'धार अनतहीं देखि कै, ब्रजपति हँसि दीन्हौ ।' (१०२७) ।

दान-लीला (२०७८-२३१०) तथा वस्त्र-हरण-लीला प्रसंगों में इस प्रेम का चरम उत्कर्ष है । प्रेम में एकात्मता का भाव गोपियाँ बहुत देर में समझ पाती हैं—

'ऐसो दान, मांगियौ नहिं जौ हम पै दियौ न जाइ ।' (२०८०)

अथवा—'कान्ह अब लंगराई हौं जानी ।

'मांगत दान दही कौ अबलौं, अब कछु औरे ठानी ।' (२०९२)

या—'कान्ह कहत, दधि-दान न देहौं ?

'लेहौं छीनि दूध दधि माखन, देखति ही तुम रैहौं ।' (२१२६)

तथा—'जब दधि बेंचन जाहि मारग रोकि रहैं' (२१०९)।

वे यशोदा के सामने फिर भी छोटे बालक ही रहते है—

'बन मैं तरुन कन्हाइ घरहिं आवत ह्वै छौना।...........

दस कौ है धौं बीस कौ नैननि देखौ जाइ' (२१०९)।

जिन पदों में गोपियों को कृष्ण प्रेम का अनन्य भाव स्पष्ट करते है वे दार्शनिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनमें से कुछ पदों में स्पष्ट रूप से उनके अवतार लेने का हेतु और उनके आनंद-रूप का साक्ष्य दिया गया है—

'को माता को पिता हमारैं' (२१३८)

'भक्त-हेतु अवतार धरौं—जहाँ भाव तहँ तैं न टरौं' (२१४०)

दान देति को झगरौ करिहौ'

प्रथमहि यह जंजाल मिटावहु अब तुम हमहिं निदरिहौ (२१६२)

'झूठी बात कहा मैं जानौं'

'जो मौकौं जैसैं हि भजै री ताकौं तैसैं हि मानौं' (२१८१)

'कंस हेतु हरि जन्म लियौ' (२२२२)

तथा—'तुम कारन बैकुंठ तजत हौं, जनम लेत ब्रज आइ।

वृन्दावन राधा-गोपी सँग, यह नहिं बिसरयौ जाइ।' (२२३२) आदि

कृष्ण (पर-ब्रह्म) व राधा और गोपियाँ (उनकी कृपा दृष्टि से आनंदित आत्माएं अथवा उनकी आनंद प्रसारिणी शक्तियाँ) अलग-अलग नहीं हैं। उन्हें अलग समझना बुद्धि का भ्रम ही तो है—'सूर स्याम स्यामा तुम एकै, कह हँसिहै संसार' (२१७६)

'गोपी ग्वाल कान्ह द्वै नाहीं, ये कहुँ नैंकु न न्यारे' (२२२३)।

ग्वालिनों की बुद्धि का विभ्रम दूर हो जाता हैं। वे दान देकर अपना जीवन धन्य समझती हैं—'कान्ह माखन खाहु हम सु देखैं।

'सद्य दधि दूध ल्याई अवटि अबहिं, खाहु तुम सफल करि जनम लेखैं' (२२१४)

अथवा—'एक निमिष ब्रजवासिनि कौ सुख नहिं तिहुँ लोक बिचारी' (२२२४)

तथा—'धन्य ब्रज ललनानि कर तैं ब्रह्म माखन खात' (२२२१)।

१४४—उपर्युक्त प्रसंगों से संबंधित पदांशों में दूध के कई पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त हुए हैं—'**दूध** (८४५) [सं० दुग्धं] **पय, पयौ** (८०८,९११,४९०) [सं० पयस्] तथा **गोरस** (९२१) [सं० गोरसः]। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है सुरभी, कजरी अथवा धौरी आदि गायों का ताज़ा, अच्छी तरह औटा व मिस्री आदि से मीठा किया हुआ दूध श्रेष्ठ समझा जाता था। ताज़े के लिये **सद्, सद्य** (८०१, ८०८) [सं० सद्यस्] शब्द प्रयुक्त हुए हैं। प्राचीन साहित्य में दूध के लिये अधिक प्रचलित शब्द 'क्षीर' था। तुलसी ने दूध, गोरस के साथ 'छीर' कहीं-कही इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है[१]। वर्तमान 'खीर' शब्द का उद्गम यही है। अष्टाध्यायी

१—तुलसी, श्रीकृष्ण गीता० ५ 'मेरे कहां था कु गोरस'

तुलसी, गीता० बाल० १०४, 'सुखमा-सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अमिय मय कियौ दही री'

'संस्कृत' अथवा प्राप्त होते ही तुरंत खाने योग्य पदार्थ 'दधि', 'उदस्वति' (दूध का मक्खन) एवं 'क्षीर' बताये गए है। दूध व उसके अन्य पदार्थों को 'गाव्य' अथवा 'पयस' भी कहते थे जैसे, 'दधि-पयसी', 'दधि' आदि[१]।

सूरसागर मे गाय के थन से निकली धार को मुँह लगाकर पी लेने को घैया (१०८१) कहा गया है—'आई छाक अबार भई है, नैंसुक घैया पिएउ सबेरे' (१०८१)।

दूध तथा दही पर जमी हुई मलाई (१८३१) अथवा साढ़ी (८०१) [सं० सारः] का वर्णन भी मिल जाता है—'सब हेरि धरो है साढ़ी' (८०१),' 'साज्यौ दही अधिक सुखदाई। ता ऊपर पुनि मधुर मलाई। (८०८)। दही को साज्यौ या सजायौ' कहा गया है। ऐसे दही को आज 'थक्का' अथवा 'सजाव' भी कहा जाता है। ग्रामीण बोली में मलाई हटा लेने पर 'कट्टुई दही' कहलाता है। तुलसी[२] और जायसी[३] ने भी मलाई तथा साढ़ी शब्द प्रयुक्त किये हैं। शहरों मे 'मलाई' शब्द 'साढ़ी' से अधिक बोला जाता है।

१४५—दही के लिये दधि (८०१,७६४) दह्यौ, दही, दह्यिौ (६०७, ८०८) [सं० दधि] शब्द प्रयुक्त हुए हैं। दही जमाने का वर्णन इस प्रकार है—'धौरी धेनु दुहाइ छानि पय, मधुर आंचि मे औटि सिरायौ। नई दोहनी पोंछि पखारी धरि निरधूम खिरनि पै तायौ। तामैं मिलि मिस्रित मिसिरी करि, दै कपूर-पुट जावन नायौ।[४]सुभग ढकनियाँ ढाँकि बाँधि पट, जतन राखि छीकैं समुदायौ॥' (२२१८)। दूध दुहने या दही जमाने के पहले पात्र को थोड़े पानी से धोने को 'पखारना' या 'खँगारना' कहते हैं। दूध जमाने के लिये उसमें जो थोड़ा सा दही डाला जाता है वह आज भी 'जावन' कहलाता है। दही बिलोने से संबंधित अनेक पद हैं—'ठाढ़ी मथति जननि दधि आतुर, लौनी नंद-सुवन कौ' (७८३) या 'आनि मथानो दह्यौ बिलोवौं' (८४६) आदि में 'मथना' [सं० मन्थन] तथा 'बिलोना' [सं विलोनन] शब्द मिलते हैं। यही शब्द आज भी इस भाव को व्यक्त करने के लिए बोले जाते हैं। रई चलने की ध्वनि के लिए सूर ने 'धमरकौ' शब्द प्रयुक्त किया है—'त्यौं-त्यौं मोहन नाइ ज्यौं-ज्यौं रई धमरकौ होइ (री)। (७६६) ग्रामीण बोली मे 'खुरक', 'खुरकन' अथवा 'घमरा' आज भी कहते है। दही बिलोकर माखन (८०८,७१८) [सं० मन्थजं] निकाला जाता है। माखन से संबंधित प्रमुख प्रसंगों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। खाने के साथ तुलसी डाल कर गर्म किए मक्खन की चर्चा भी है—'सद माखन तुलसी दै तायौ। घिरत सुबास कचौरा नायौ।'(१८३१)। दही मथने पर जो घी सा ऊपर तैर जाता है वही लौनी, लवनी है[५] (८०१, ८०७, ७६५, ७६७, २२१७) [सं० नवनीत-नवनोग्र-नवनी-लवनी-नौनो-लौनो]—लवनी दधि भाजन-फोरे

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १०२, १०६

२—तुलसी, गीता०, सुन्दर०, ३७

'दसमुख तज्यौ दूध-माखी ज्यौं आपु काढ़ि साढ़ी लई'

तुलसी०, कविता०, उत्तर० ७४, 'छाछी को ललात जेते राम-नाम के प्रसाद खात खुनसात सौंधे दूध की मलाई है'॥

३—प० सं० व्या०, ५५०।४ 'जामा दूध दहिउ सिउं साढ़ी'

४—प० सं० व्या०, १५२।३, ४

'दधि एक बूंद जाम सब खीरू। कांजी बुंद बिनसि होई नीरू।

स्वांस दहेड़ि मन मंथनी गाढ़ी। हिएं चोट बिनु फूट न साढ़ा।'

५—शतपथ ब्राह्मण (३।३।३।२) 'तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या अभिक्षा तस्यै वाजिनम्'

(८०१)। अष्टाध्यायी में नवनीत इसी अर्थ में प्रयुक्त[1] हुआ है। दूध के मक्खन के लिए प्रचीन शब्द 'अनायास'[2] था। पद्मावत में भी 'लैनू' या लोनि' का उल्लेख है।[3]

नवनीत निकले हुए पतले दही को मही,[4] मह्यौ (३५१, ८००, २२३६) अथवा छाँछ (१८३१) कहा गया है—'पाहुनी करि दै तनक मह्यौ' (८००), दही मही के कारनैं कतहिं बढ़ावति रारि '(२२३६) अथवा' 'कोउ दूध, कोउ दह्यौ मह्यौ ले चली सयानी' (२२३६) 'चोरी खाते छांछ' (२२३६)। द्वितीय स्कन्ध के एक विनय पद (३५१) में मही का अर्थ स्पष्ट रूप से बताया गया है—'जब तैं रसना राम कह्यौ—प्रगट प्रताप ज्ञान-गुरु-गम तैं दधि मथि घृत लै तज्यौ मह्यौ।' भोजन-प्रसंग में भी 'धुँगारी' गई 'छांछ' का वर्णन है—'छांछ छबीली धरी धुँगारी। झर है उठति झार की न्यारी (१८३१)। आजकल मही के लिये अधिक प्रचलित शब्द 'मट्ठा' है। ग्रामीण बोली में 'मठा' भी कहते हैं और ज़ीरे मिर्च से मट्ठा छौंकने की प्रथा अब भी चल रही है।

खोवा, खूआ (८२६, ८०१, १०१४) दूध को पका कर बनाया जाता है। खोआ यों भी खाया जाता था 'खोवा खांड़ औटि है राख्यौ' (१८३१) अथवा 'दोना मेलि धरे हैं खूआ' तथा उसकी मिठाइयाँ भी आज के समान ही बनती थीं—'खोवा-मय-मधुर मिठाई' (८०१) अथवा 'घेवर फेनी और सुआरी खोवा सहित खाहु बलिहारी' (८२६)। पद्मावत में भी दूध औटाकर खोवा बनाने का ज़िक्र आया है।[5]

१८६—खाने का अन्यतम अंग घिरत, घृत, घीव (१०१५, १०१४, १८३१) [सं० घृत] भी दूध का ही एक रूप है। मक्खन के सिलसिले में बताया ही गया है कि घी नवनीत गर्म करके बनाया जाता है। सूरसागर मे घी गर्म करने के लिए 'ताई' (१०१४) शब्द प्रयुक्त हुआ है। घी ताने पर उसमे मिला हुआ मट्ठा अलग हो जाता है। यह शब्द आज भी इसी अर्थ में सुनने में आता है। तुलसी की पत्तियाँ डाल कर घी को सुगंधित करने की प्रथा अब उतनी नहीं रही है। अक्सर पान का पत्ता डाल कर घी गर्म किया जाता है। भात तथा रोटी में घी लगाने की प्रथा उस समय भी थी—'भात पसाइ रोहिनी ल्याई। घृत सुगन्धि तुरतै दै ताई' (१०१४) तथा 'रोटी बाटी पोरी झोरी। इक कोरी इक घीव चभोरी'। और 'माँड़े माँड़ि दुनेरे चुपरे। बहु घृत पाइ आपही उबरे' (१८३१)। रोटी में घी लगाने की क्रिया को 'चभोरी' अथवा 'चुपरे' कहा गया है और बिना घी की रोटी को कोरी। रोटी में घी 'चुपड़ना' अब भी कहते हैं। व्यंजनों के साथ एक कटोरी मे गाय का घी[6] रखने की प्रथा आज के समान ही थी—'गायौ-घृत भरि धरी कटोरी। कछु खायौ कछु फेटैं छोरी' (१०१४) अथवा 'घिरत सुबास कचोरा नायौ।' (१८३१) तथा 'सद माखन घृत दह्यौ सजायौ' (८०८)। पकवान घी के बनाने पर बल दिया गया है—'सेव सुहारी घेवर घी के' (१८३१) अथवा 'घृतो

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १०६

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १०६

३—प० सं० व्या०, ५४३।४ 'लेनू चाहि; अधिक कोंवरी'
५५०।१ 'तहरी पाकि लोनि औ गरी'

४—तुलसी० गीता०, बाल० १०४, 'मथि माखन सियराम सँवारे। सकल भुवन छवि मनहुँ मही री।'

५—प० सं० व्या०, ५५०।४ 'चुंबक लौहड़ औटा खोवा'

६—तुलसी, मानस, बाल० ३२८ 'सूपोदन सुरभी सरपि।'

पक' या 'सद परसि धरो घृत पूरी' तथा पुए भी 'ताते तुरत चभोरे घी के' (१०१४) होते थे। अष्टाध्यायी में मिश्र खाद्य पदार्थों (स्वाद अच्छा करने वाले) में घृत को रक्खा गया है।[१] अकबर की पाकशाला का घी प्रायः हिसार फ़िरोज़ा से आता था।[२] पद्मावत में भी 'घिरित' तथा 'घिउ' में बने पकवानों का वर्णन अनेक बार आया है।[३] मछलियों में पड़े हुए घी का वर्णन ध्यान आकर्षित करता है।[४]

सूरसागर में ताज़े के अर्थ में **सद्, सद्य** (८०८) का ही प्रायः प्रयोग हुआ है। किन्तु पद्मावत में समानार्थक शब्द 'टाटक' आया है।[५] अवधी में घी के लिए अब भी यह शब्द चलता है।

६–पकवान—मिठाई तथा नमकीन

१४७—सूरसागर में पके हुए खाद्य-पदार्थों के सूचक दो शब्द मिलते हैं—**पकवान** (६१४, ८०८-८१०) [सं० पक्वान्न] तथा **व्यंजन** (१५१८, १८३१) [सं० व्यंजन]। अन्न-प्राशन-संस्कार, गोवर्धन-पूजा तथा खाने के सिलसिले में अनेक प्रकार के पकवान तथा व्यंजन तैयार करने का वर्णन किया गया है—'कोउ ज्यौनार करति, कोउ घृत-पक, षटरस के बहुभाँति, बहुत प्रकार किये सब **व्यंजन**, अमित बरन **मिष्ठान**' (७०७) अथवा—'बहु-बहु भाँति करति **पकवानै**,' (१५०६) या 'घृतपक बहुत भाँति **पकवाना**। **व्यंजन** बहु को करै बखाना।' (१५१८)। भोजन में भी विविध भाँति के व्यंजन रहते थे—'इतने **व्यंजन** जसोदा कीन्हे। तब मोहन बालक संग लीन्हें।' (१८३१)। व्यंजन का प्राचीन काल में प्रचलित अर्थ 'उपसेचन' (स्वाद बेहतर करने के खाद्य-पदार्थ) था, जैसा कि अष्टाध्यायी से ज्ञात होता है। पतंजलि तथा काशिका ने 'दधि-घृतम्' उदाहरणस्वरूप बताए हैं[६]। नाम से ही स्पष्ट है कि पकवान का अर्थ पके हुए अन्न से बनाये गये भोज्य पदार्थ लिया जा सकता है तथा व्यंजन में दूध दही आदि की वस्तुएँ और तरकारियाँ आदि भी आ सकती हैं। आजकल पकवान में प्रायः मिठाइयाँ तथा नमकीन सम्मिलित करते हैं तथा भोजन में परोसी जाने वाली विभिन्न सामग्रियों की गिनती व्यंजन में की जाती है—'बरी, बरा बेसन बहु भाँतिनि, व्यंजन बिबिध अगनियाँ' (८५६)। सूरसागर में भी इन दो शब्दों में इस प्रकार का अन्तर दिया गया है (१५१८)। पकवान प्रायः 'घृतपक' बताया गया है तथा 'कलेवा' में 'पकवानों का ही उल्लेख अधिक है।

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १००

२—आईने अ०, पृ० ११७। पृ० १२७, घी एक मन—१०५ दाम, तेल—८० दाम, दूध—२५ दाम, तथा दही—१८ दाम में मिलता था। अकबर के समय में घी व तिलहन अन्न की अपेक्षा सस्ता था जब कि नमक व सफेद शक्कर आज से अधिक मंहगी थी।

३—प० सं० व्या०, ५५०।२ 'घिरित भूँजि के पाका पेठा।' ५५०।३ 'भा हलुवा घिउ करै निचोवा '५४६।१ घिरित कराहन्हि बेहर धरा।'

४—प० सं० व्या०, ५४७, 'घिरित परेह रहा तस हाथ पहुँच लहि बूड़।
बूढ़ खाइ तौ होइ नवजीवन सौ मेहरी लै ऊड़।'

५—प० सं० व्या०, ५४७।६ 'घिउ टाटक महँ सोंधि सेरावा।'

६—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १०२

मीठे पकवानों को **मिष्टान** (७०७) [सं० मिष्टान्न] तथा **मिठाई** (१०२६) [सं० मिष्टान्न] कहा गया है—'षटरस की बहु भाँति मिठाई' अथवा 'षटरस के मिष्टान्न' या 'कदुवा करत मिठाई घृतपक' (१५१०) आदि। इन उल्लेखों में मिठाई के साधारण अर्थ के अतिरिक्त सम्भवतः पकवान का अर्थ भी कहीं-कहीं है। मिठाई षटरस प्रकार की होने का यही तात्पर्य हो सकता है। पद्मावत में मिठाई शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है - मिठास व मिठाइयाँ।[1] महाभारत के आश्रमवासी-पर्व में तीन प्रकार के रसोइयों के सम्बन्ध में बताया गया है। 'रागखाण्डविक' मीठे पकवान, 'सूपकार' शाक, दाल, कढ़ी रायते आदि व 'आरालिक' मांस पकाते थे।[2] इस उल्लेख से खाने की सामिग्रियों के विभाजन का अनुमान होता है।

अब 'पकवान' तथा मिठाई शब्द ही अधिकतर बोलने में आते हैं। पढ़े लिखे नागरिकों में तो व्यंजन का कुछ-कुछ समानार्थक अंग्रेजी शब्द तश्तरी (dishes) हो गया है।

मिठाइयों के नाम

१४८—कलेवा तथा भोजन मे कृष्ण के लिये परोसी गई मिठाइयों से सूरकालीन प्रमुख मिठाइयों का अनुमान हो जाता है। साथ ही ब्रज के मन्दिरों में चढ़ायी जाने वाली भोग-सामग्रियों का अन्दाज भी लगाया जा सकता है। इनमें से बहुत-सी मिठाइयाँ आज भी लोगों को उतनी ही प्रिय हैं; कुछ अवश्य ही मथुरा अलीगढ़ आदि क्षेत्र में अधिक दिखाई देती हैं। थोड़े से नाम जरूर स्पष्ट नहीं होते। प्रमुख मिठाइयों के नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

पाग या पाक (१०१४, १८३२) सूरसागर में कई प्रकार के बताए गये हैं—'पाक अमृत बिबिध षटविधि, रुचि किये हित माह' (१८३२)। पगी मेवायें 'पाक' कहलाती हैं। **पेठा पाक**[3] (१०१४) **गोंद-पाक** (१०१४ तथा **इलाची पाक** (१०१४) [सं एला, एलीक इलायची] आदि भी इसी प्रकार तैयार किये गये थे। पेठे के टुकड़ों को चाशनी में पकाये जाने पर आजकल 'पेठा' कहते हैं। आगरे का पेठा प्रसिद्ध है। बबूल की गोंद भूनकर चाशनी में पकाने पर आज भी गोंद कहलाती है। यह विशेष रूप से स्त्रियों को सौर अथवा सूतिकागृह में दी जाती है। **इलाची पाक** सम्भवतः वर्त्तमान इलायची दाना है। पांडे-आगमन-प्रसंग में **पाक** (८६७) शब्द पके खाद्य पदार्थों के साधारण अर्थ में भी मिलता है—'करि करि पाक सबै अर्पत हैं, तबहीं तब छ्वै आवै।' (८६७) अथवा सिद्ध पाक इहिं आह जुठायो, (८६६)।

गेहूँ के आटे से बनी मिठाइयाँ

१४९—**पूआ** (१०१४) (सं० पूप, पूपालिका, पूपाली, पूपिका, पूपक, आदि)। यह पतले कियेहुए मीठे आटे से बना पकवान है। घी में बने मुलायम गर्म पुए का वर्णन किया गयाहै —'हौंस होइ तो ल्याऊँ पूआ....'मीठे अति कोमल हैं नीके। ताते तुरन्त चभोरे घी के।' (१०१४) इसी प्रकार के पुए अच्छे माने जाते हैं।

मालपुवा (८०१) [देश० मलय + पूपक] —'मृदु मालपुआ मधु साने' (८०१) तथा 'मालपुवा माखन मथि कीन्हें ग्राह ग्रसित रवि सम रँग लीन्हें' (१८३१) आदि वर्णनों में

१—प० सं० व्या०, २८४। 'दूध दही का कहौं मिठाई'
५४३।—'कही न जाइ मिठाई'
५५०।६ 'मैं जो मिठाई कही न जाई। मुखत मेलत खिनु जाइ बिलाई।'

२—महाभारत, आश्रमवासी पर्व, 'आरालिकाः सूपकारा रागखाण्डविकास्तथा, उपातिष्ठन्त राजानं धृतराष्ट्र पुरा।'

३—प० सं० व्या०, ५५०।२ 'घिरित भूंजि कै पाका पेठा'

मालपुआ बनाने के ढंग की ओर संकेत है। यह पूआ से मिलता जुलता है। देशीनाममाला में (६।१४५) हेमचन्द्र ने पुए के अर्थ में 'मल्लय' शब्द लिखा है।[१] पूर्वी उत्तर प्रदेश में पुए को 'गुलगुला' कहते हैं और मीठी पूरी को 'पुआ', किन्तु पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मीठी पूरी को 'पिटउआ' कहते हैं। त्योहारों व पूजा आदि के पकवानों में पुए का प्रमुख स्थान है।

हेसमि (८०१) अरु हेसमि सरसि सँवारी। अति स्वाद परमसुखकारी। यह लम्बी आयताकार मीठी वस्तु है जो अलीगढ़ क्षेत्र में आज भी 'नाकसेब' या 'हेसमा' कहलाती है। यह उस क्षेत्र की स्थानीय मिठाइयों में ही गिनी जा सकती है।

सुहारी (८२६, १८३१) [सं० + आहार]। घी या 'मोयन' डाले गए आटे की शीरे मे पडी पूरियाँ को सुहारी कहते हैं। यह साधारण पूरी मे मोटी व बड़ी बनाई जाती है। यह भी मथुरा अलीगढ़ आदि में ही अधिक बनती है।

झोरी (१०१४) मीठे गेहूँ के आटे से चीले की तरह का बना पकवान है। ब्रज तथा अलीगढ़ क्षेत्र में 'झोरी' शब्द इसी अर्थ में आज भी सुनने में आता है।[२]

खुरमा (८०१) [फा० खुर्मः]। मोयनदार आटे की बनी गोल टिकिया अथवा आयताकार टुकड़े जो खांड में पागे जाते हैं खुरमा कहलाते हैं—'अरु खुरमा सरस सँवारे। ते परसि धरे हैं न्यारे।' (८०१)। आजकल नमकीन खुरमा भी बनाते हैं।

अमृत खांडू (१०१४) [सं० अमृत + खंड]। यह सम्भवः वर्तमान शक्करपारे की तरह का कोई पकवान है। अवधी में शक्करपारे को 'खँडरा' [सं० खण्डलक] कहते हैं।[३]

सातू[४] (४०६८) [सं० सक्तु]। रुक्मिणी प्रसंग मे इसका उल्लेख है—'भक्त के बस भक्त-वत्सल, बिदुर सातू साग खायो।' प्राचीन भारत के प्रचलित खाद्य पदार्थों में 'सक्तु' (सत्तू) भो था। पाणिनि ने 'उदक-सक्तु' तथा पतंजलि ने 'दधि-सक्तु' का उल्लेख किया है।[५] आज भी सत्त पानी या दूध के साथ खाया जाता है।

लपसी, लापसी (८४५) (१८३१) [सं० लप्सिका] घी में भुने आटे का मीठा व पतला मिष्टान्न है। हलुवा इसी प्रकार का मिलता जुलता पकवान है, किन्तु इसे सूखा बनाते हैं। सूरसागर में वर्णित इन मीठे पकवानों में हलुए का उल्लेख नहीं है। अलीगढ़ क्षेत्र में पतली लपसी को 'सीरा' भी कहते हैं (८०१)। पाणिनि के समय में जौ का बनाया हुआ 'यवागु' अत्यधिक प्रिय था। यह लपसी से ही मिलता-जुलता है। उन्होंने 'सालविका यवागु' द्वारा उस प्रदेश में विशेष रूप से इसके अधिक व्यवहार का संकेत किया है। आज भी इस प्रदेश, अर्थात् अलवर से बीकानेर तक राजस्थान के इस भाग में 'लपसी' (अमीरों द्वारा खाई जाने वाली पतली) तथा रावरी नमकीन व सूखी-सी) खाने की प्रथा खूब चल रही है। प्राचीन समय में भी 'यवागु' पेय तथा 'विलेपी' दो प्रकार का प्रचलित था।[६]

१—कृ० जी०, पृ० ११, अध्याय ६

२—कृ० जी०, प्र० ११, अध्याय ६

३—प० सं० व्या०, २८४।५ 'खँडरा खँडि खँडोई खंडी = खंडोई = चाशनी, (खण्डवती) खँडि = काटना, खंडी = पागना।

४—तुलसी, कविता०, लंकाकांड ५० 'सोनित सो सानि सानि गूदा खात सतुआ से'

५—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १०७, महाभारत में भी सत्तू की प्रशंसा की गई है।

६—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १०५-१०६

मैदे की मिठाइयाँ

१५०—**घेवर** (८०१) [सं० घृतपूर-घिवउर—घेवर] 'घेवर अति घिरत चभोरे। लै खांड सरस रस बोरे।' मैदा का बना गोल छत्ता सा होता है। इसको घी में सेंकने के बाद चाशनी में पाग लेते हैं। घेवर आज भी अलीगढ़ तथा मथुरा आदि की तरफ़ ही अधिक बनता है। हेमचन्द्र ने देशीनाममाला (२।१०८) में घेवर का उल्लेख किया है।

फेनी (१०१४,८२९)। यह मैंदे के सूतों से बनी पूरी सी होती है तथा पगी हुई व दूध में भिगोकर दोनों प्रकार से खाते हैं। सूरसागर में दूध में खाने का उल्लेख भी है—'फेनी घुरि मिसि मिली दूध सँग। मिलि मिस्रित भई एक रंग।' (१८३१)। परिठ १५३ में **पैरा-फेनी** भी दिया गया है।

सकर पारे (८०१) [फ़ा० शक्करपारः] ! मैदे अथवा आटे के बने त्रिभुजाकार या आयताकार खंड जो शक्कर में पाग लिये जाते हैं। तुरन्त के पागे शक्करपारे अधिक स्वादिष्ट होते हैं—'सक्करपारे सद पागे।' आज कहीं कहीं लोग इसको 'सकलपारा' भी कहते हैं।

जलेबी (१८३१, ८०१)। यह मंदे की गोल छत्तेदार मिठाई है जिसे शीरे में डालकर मीठा करते हैं। इस रस को ही सूरसागर में **जलेब** भी कहा गया है—'बहुत जलेब जलेबी बोरी। नाहिँन घटत सुधा तैं थोरी, (१८३१) अथवा 'सुठि सरस जलेबी बोरी। जेंहि जेवत रुचि नहिं थोरी, (८०१)। यह आजकल लोगों की प्रिय किन्तु सस्ती मिठाइयों में आती है।

खाजा (१०१४) [सं० खाद्य—पा० खज्ज]। यह खांड मे पगी मैंदे की रोटी सी होती है। खाजा भी पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे ही अधिक बनता है।

गालमसूरी। यह एक छेददार मिठाई है जो मैंदा और बेसन मिला कर बनाई जाती है—'अरु तेसिये गालमसूरी जो सातहि मुख दुख दूरो।' इसका वर्णन सूरसागर मे है। यह मिठाई भी ब्रजप्रदेश की ही मिठाइयों में आती है। उधर इसको आज भी 'मसूरी' 'अथवा' 'मैसूरा' कहते हैं[1]।

गूझा, गुझा, गोझा (१८३१-८०१, १०१४) [स०गुह्यक, गुज्झअ-गोझअ-गूझा] इसका नाम 'गुह्यक' सार्थक ही है क्योंकि मैदे की पूरी के अन्दर खोआ, मेवा अथवा कसार भर कर बनाते हैं। 'गूझा बहु पूरन पूरे। भरि भरि कपूर रस चूरे।' (८०१)। **पूरन** शब्द संभवतः इसी अर्थ का सूचक है। सिकते समय कट न जाये इसीलिए गुझिया के किनारे 'गूंठ या गूध देते हैं—'गोझा[2] गँधे' (१८३१)। आजकल इसको 'गुझिया' कहते है तथा होली तथा विवाह के पकवानों में अवश्य बनाई जाती है।

लवंग (८०१) गुझिया के समान ही मैदे की पूरी में खोआ और मेवा भर कर बनाते हैं, किन्तु इसका आकार चौकोर होता है। इसको लौंग से बन्द करके शीरे में भिगोया जाता है।

बेसन की बनी मिठाइयाँ

१५१—**सुख-पूरी**(१०१४)। यह बेसन की बनी मीठी पूरी होती है। अब सुखपूरी बनाने की प्रथा कम हो गई है।

सेव (१०१४)। पतला और लम्बा लच्छेदार पकवान जो शीरे में पगा हुआ मीठा अथवा नमकीन दोनों प्रकार का बनता है।

१—कृ० जी०, प्र० ११, अध्याय ६

२—प० सं० व्या०, १६२।४ 'बिल भर पूरि काल भा गोभा।'

लाड्डू (८०१) [सं० लड्डु, लड्डुक] लड्डू भुने हुए बेसन की बूंदी या नुकती के ज्यादातर बनाये जाते हैं। नुक्ती के लड्डू को ही संभवतः सेवलड्डू (८०१), मोती लाड्डू (८०१) [सं० मौक्तिक] और लावनि लाड्डू (१०१४) कहा गया है। आज बारीक नुक्ती के बने लाड्डु मोतीचूर के लड्डू, कहलाते हैं। खिर-लाड्डू (८०१) [सं० क्षीर + लड्डु] द्वारा शायद खोये के लड्डू से तात्पर्य है। इन सब का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

'सेव लाड्डू रुचिर सँवारे। जो मुख मेलत सुकुमारे।
सुठि मोतीं लाड़ू मीठे। वै खात न कबहुँ उबीठे।
खिर-लाड़ू लवंगनि नाए। ते करि बहु जतन बनाए।' (८०१)

तथा—'लावन लाडू लागत नीके' (१८३१)

लड्डू बच्चों को विशेष रूप से प्रिय होता है। प्राचीन संस्कृत साहित्य मे 'मोदक' विदूषक को प्रिय बताया गया है। लड्डू का समानार्थक शब्द मोदक भी सूरसागर के फाग-प्रसंग मे मिलता है—'मोदक मांझ कपूर ग्वालि मदमाती हो' (३४८०)। पद्मावत मे दूध के छेने या दही के रसगुल्ले के समान मिठाई 'मौरंडा' का उल्लेख है।[१] पछांह तथा पंजाब मे भुने गेहूँ, मक्का, मुरमुरे या चने के गुड़ अथवा खांड मे पगे लड्डू भी 'मोरंडा' कहलाते हैं। ठगों के प्रसंग मे विष-लाड्डू (२२२०,२२०१) तथा ठगमोदक (४०१५,२२०३) का उल्लेख भी सूर ने किया है।

चावल के आटे से बनी मिठाइयाँ

१५२—खजूरी (८०१) [सं० खर्जुः खर्जूरः, खर्जूरो] 'मधुरी अति सरस खजूरी'। यह चावले के आटे की टिकिया सी होती है जो घी मे सेंकी जाती है। अलीगढ़ क्षेत्र मे 'खजूरिहरि' के त्योहार पर (श्रावणी के एक दिन पहले) बनाया गया पकवान भी 'खजूरा' कहलाता है।[२]

बाबर (८०१) 'बाबर बरने नहिं जाई। जिहिं देखत अति सुख पाई'—चावल के आटे की मालपुए की तरह की मिठाई है। अलीगढ़ क्षेत्र मे 'बाबरा' या 'बाबरी' नामक यह मिष्टान्न अब भी बनता है[३] किन्तु और जगहों में बाबर दिखाई नहीं देता।

अँदरसा (८०१)। अँदरसे का वर्णन कई पदों मे है—'सुन्दर अति सरस अँदरसे। ते घृत-दधि-मधु मिलि सरसे' (८०१) अथवा 'ससि सम सुन्दर सरस अंदरसे, ऊपर कनी अमी जनु बरसे' (१८३१) तथा 'लौंग कपूर खांड घृत धारे। अंदरसे खटमिठे सिंघारे।' (परि० १५३)। यह चावल के आटे की मीठी गोल घी मे सेंकी टिकिया सी होती है। ऊपर के वर्णन में इसमें दही, खांड या मधु, लौंग तथा कपूर डालने की चर्चा की गई है।

अन्य चीजों से बनी मिठाइयाँ

१५३—अमिरती। यह उरद की दाल के आटे के बनी बड़ी जलेबी से मिलती जुलती मिठाई है। पद्मावत मे इसका समानार्थक शब्द 'भुरकुरी' प्रयुक्त हुआ है[४] किन्तु खड़ीबोली

१—प० सं० व्या, २८४।६ 'दूध दही के मोरंडा बांधे'

२—कृ० जी०, प्र० ११, अध्याय ६

३— ,, ,, प्र० ११, अध्याय ६

४—प० सं० व्या०, ५५०।७ 'भाँति लाड्डु छाल औ भुरकुरी। मांठ पेराक बुंद दुरहुरी।' अपभ्रंश मुरक्की (पासद्द पृ० ८६२)

हिंदी में 'इमरती' शब्द आज तक चलता है।

दूधबरा, गुरबरा (१०१४)। फटे दूध या छेने का घी मे सिका बरा दूधबरा होता है और 'गुरबरा' गुड़ के रस में भिगोकर बनाते होंगे—' इक कोरे इक भिजे गुरबरा'।[१]

पिराक (८२६) खोये की छोटी गुझिया सी 'पिड़की' या 'पिरकी' कहलाती है।

गिंदौरी। (१०१४) खांड की गोल बड़ी टिकिया को ही गिंदौरी कहते हैं। पछांह मे विशेष रूप से विवाह के अवसर पर तेल के दिन चलन में यह बांटी जाती है।[२] मिठाइयों की इस सूची में आजकल की प्रमुख प्रिय मिठाइयाँ—बरफ़ी, पेड़ा, गुलाबजामुन, बालूशाही, कलाकंद तथा घर की बनी कतरियों तथा हलवे की कमी खटकती है। आज मथुरा के पेड़े और खुरचन बहुत मशहूर हैं। बंगाली मिठाइयाँ जैसे, रसगुल्ला, चमचम, रसमलाई तथा संदेश आदि सम्भवतः बाद मे चली हैं। किन्तु हलवे का उल्लेख पद्मावत तथा आईने अकबरी दोनों में ही है।[३] आईने अकबरी में मैदे से बना हलुआ बताया गया है जब कि आजकल प्रायः सूजी से बनाते हैं।[४]

नमकीन पकवान

१५४—नमकीन पकवानों की सूचक शब्दावली इस प्रकार है—

फुलौरी, पटकौरी, पकौरी (१०१४, ८०१) [सं० फुल्ल + वटी, पक्व + वटी]— सो खात अमृत पक्कौरी' (८०१)। पकौरी बेसन तथा मूँग या उर्द की दाल की बनती है। आजकल 'पकौड़ी' शब्द अधिक सुनने में आता है, किन्तु 'फुलौरी' शब्द भी प्रचलित है। अलीगढ़ क्षेत्र में पकौड़ी की कई क़िस्में व उनके नाम मिलते हैं—'डुमकौरी', बरौरी[५], कुम्हौरी, गुरबरो आदि।[६] सूरसागर मे मूँग की दाल की पकौड़ी का उल्लेख भी है—'मूँग पकौरा' (१०१४)।

पिठौरी (१०१४) [सं० पिष्टिका– पेट्ठिआ-पैट्ठ-पिट्ठी-पिठी] दाल पिसने के बाद 'पिट्ठी' कहलाती है। आटे के अन्दर पिट्ठीभर कर पिठौरी बनाते है। प्रायः उर्द चने या मूँग की दालों की पिट्ठी बनाई जाती है।

पतबरा (१०१४) 'मूँग पकौरा पनौ पतबरा' [सं० पत्र-पत्रा + बरा]। यह संभवतः आजकल का 'पतौरा' है जो घुइया के पत्ते व उर्द की पिट्ठी या बेसन लपेट कर उबालने के बाद कतरे काट कर तला जाता है। यह सूखा व रसेदार दोनों प्रकार का बनता है। बथुए के साग तथा मूँग की दाल तथा अन्य 'कुछ' सागों तथा बेसन आदि के भी पतौरे बनाते है। उपर्युक्त उल्लेख मे 'पतबरा' बनाने की विधि स्पष्टरूप से नहीं बताई गई है। पनौ—शायद 'पना' के अर्थ में आया है। आम तथा जीरे आदि से बने नमकीन पानी को 'पना' कहते हैं। अवधी में पतौरे का समानार्थक शब्द 'रिकँवछ' पद्मावत मे भी मिल जाता है।[७] बिहार में भी इसको

१—प० सं० व्या०, ५४६—'कोन्ह मुंगौरा औ गुरबरी'

२—कृ० जी०, प्र० ११, अध्याय ६

३—प० सं० व्या०, ५५०।३ 'भा हलुवा घिउ करै निचोवा'

४—आईने अ०, पृ० १२०, हलवे में मैदा, कन्द तथा घी दस-दस सेर डाला जाता था।

५—प० सं० व्या०, ५४६। 'औ खँडवानी लाइ बरौरी'। खँडवानी बरौरी = खांड के पानी में पड़ी हुई उर्द की दाल की पकौड़ी

६—कृ० जी०, प्र० ११, अध्याय ६

७—प० सं० व्या, ४५६। 'पान लाइ कै रिकँवछ छौके'। रिकंवछ = घुइया के पत्ते व उर्द की दाल के पतौरे।

'रिवकँछ' या 'सेंढा' कहते हैं ।

काचरी (१०१४)। कचरी नामक फल के टुकड़े सुखाने के बाद घी में तल लिये जाते हैं । आजकल की अधिक प्रचलित 'कचरी' चावल के नमकीन आटे में बनती है । यह चावल के आटे के नमकीन सेव से होते हैं ।

कौरी (१८३१) संभवतः चावल के आटे से बनी कचरी है जो आज भी अलीगढ़ क्षेत्र में कई नामों से प्रसिद्ध है—'मोहन पकौड़ी', 'कचरिया', 'कुरैरी' आदि । हाथरस में इसी को 'मिरचौनी' कहते हैं ।

डुभकौरी (१८३१)[1] खौलते हुए पानी में बनी पकौड़ी 'डुभकौरी' 'कहलाती है । अब डुभकौरी बनाने का रिवाज कम हो गया है ।

मटरी (१४२८) 'पिस्ता दाख बदाम छुहारा, खुरमा खाझा गूँझा मटरी' । मोयनदार आटे की नमकीन छोटी पुरी जो मोटी व खस्ता बनती है । पछाँह के घरों में मठरी अक्सर नाश्ते में बनाई जाती है । 'मठरी' शब्द आज भी बोला जाता है ।

मठ[2] (परि० १५३) । 'मठ जिरवानी' संभवतः वर्तमान 'माठा' नामक पकवान है । यह मठरी की तरह का किन्तु पूरी से भी बड़ा और मैंदे का बनता है । बीच में तरह-तरह से 'गूँठा' जाता है । विवाह के पकवानों में इसका खूब चलन है ।

बरा (८४२, ८०१, ८५६) [सं० वटः = गोल टिकिया] । यह मूँग या उर्द की टिकिया है जो कई प्रकार की बनती है—मीठी (गुरबरा) या नमकीन, दही में पड़ी हुई अथवा खटाई में पड़ी हुई—'खारे खट्टे मीठे हैं निधि (१८३१),' 'बरी, बरा, बेसन, बहु भाँतिनि,[3] व्यंजन बिबिध अगनियाँ (८५६) । एक पूरा पद (८४२) बरे से ही संबंधित है—

'बरा कौर मेलत मुख भीतर, मिरिच दसन टकटौरे ।
तीछन लगी नैन भरि आए, रोवत बाहर दौरे ।'

दधि-बाटी (८४५) भी शायद दही-बरा के अर्थ मे लिखा गया है । 'दहीबरा' आजकल के प्रिय व्यंजनों में गिना जाता है । दूध के बरे का भी उल्लेख हुआ है—'दधि दूध बरा दहिरौरी' (८०१) । दहिरौरी भी शायद दही बरा का ही सूचक है [दही + बरा] ।

सूजी (परि० १५३) । उस समय तेल में तली व खट्टी सूजी बनाने की प्रथा भी थी—'निबुआ लोन तेल तर सूजी, राइ करौंदा अंब कलौंजी ।' अब नमकीन सूजी के स्थान पर सूजी का मीठा हलुवा ही अधिक प्रचलित है ।

आजकल की नमकीन वस्तुओं में दालमोठ, खस्ता, समोसे, तथा विभिन्न प्रकार की चाट के नाम इस सूची में बढ़ाए जा सकते हैं । 'समोसा' उस समय प्रचलित था क्योंकि जायसी ने मांस से भरे समोसा का वर्णन किया है ।[4] पश्चिमी सभ्यता की देन बिस्किट व डबलरोटी ने नगरों में चाय कॉफ़ी के साथ भारतीय नाश्ते में विशिष्ट जगह बना ली है ।

१—प० सं० व्या०, ५४६।७ 'कढ़ी सँवारि औ डुभकौरी'

२— „ „ ५५० मे 'मांठ' शब्द का जिक्र है ।

३—प० सं० व्या० ५४६।१ 'भांति भांति पावहिं बरा । 'अथवा' एकहि आदि मिरिच सिउं पीठे । औरु जो दूध खांड सो मीठे ।'

४—प० सं० व्या०, ५४६।१ 'भूंजि समोसा घिय मंह काढ़े । लौंग मिरिच तिन्ह मंह सब डाढ़े ।'

७—भोजन की अन्य सामग्रियां अथवा व्यंजन

१५५—भोजन-सामग्री की दृष्टि से १०१४ तथा १८३१ पदों का बहुत महत्त्व है। इन्हें पढ़ कर लगता है कि क़ायदे के पूरे खाने में परोसे जाने वाले व्यंजनों में इन कई सौ वर्षों में भो कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ है। निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय हैं—

रोटी (७७७,१०१४) सूरसागर में बेसन की रोटी का निर्देश है—रोटी 'रुचिर कनक बेसन करि। अजवाइन सैंधो मिलाइ धरि (१८३१)। मकुनी (१०१४)—'एक मकूनी दै मोहिं साजी—भी[१] एक प्रकार को बेसन की रोटी को कहते थे। अन्यत्र घी मे 'चभोरी' या चुपड़ो रोटी का कवि ने वर्णन किया है—'इक कोरी इक घीव चभोरी' (१०१४)। कलेवा-प्रसंग में कृष्ण को माखन रोटी प्रिय बतायी गयी है—'जननी पै मांगत जग-जीवन दै माखन रोटी उठि प्रात' (७७७) अथवा 'माखन रोटी बहुत प्रियो' तथा 'दोउ भैया मैया पै मांगत, दैरी मैया माखन रोटो' (७८३)। एक स्थल में रोटी का विशेषण 'सुपक सुकोमल' (७८?) आया है। रोटी मुलायम व अच्छी तरह सिकी ही अच्छी होती है।

आईने अकबरी में कई प्रकार की रोटियों का विवरण है—(१) बुजुर्ग-तनूरी (बड़ी तन्दूरी रोटी) तथा तुनके-ताबगी (हलकी तवे पर सिकी)। इसी की एक क़िस्म चपाती है। यह एक सेर आटे में पंद्रह या कुछ अधिक ही बन जाती थी।[२]

तुलसी ने भी 'रोटी' का उल्लेख किया है।[३] आजकल छोटी व पतली रोटी को कभी कभी 'फुलका' भी कहते हैं तथा मुसलमानों में विशेष रूप से 'चपाती' बनाने का रिवाज है। पंजाब में अधिकतर 'तंदूर' पर बनी 'तंदूरो' तथा 'नान' आज भी बनती है।

मांडे (१८३१,४२२२) [सं० मंडक:]। मैदे की रोटी-विशेष मांडे कहलाती है 'मांडे मांड़ि दुनेरे चुपरे। बहु घृत पाइ आपही उबरे।' अब मांडे बनाने का रिवाज़ नहीं रहा है। पद्मावत में भी घी से पोए हुए उज्ज्वल मांड का वर्णन है।[४]

बाटी (१०१४) [सं० वटी]। गेहूँ के आटे की लोई हाथ से चिपटी करके कंडे की राख

१—हिन्दी शब्द सागर के अनुसार मकूनी (देश०) के कई अर्थ हैं १—आटे के भीतर बेसन अथवा चने की पिट्ठी भरकर बनाई गई कचौरी, बेसनी रोटी, २—मटर के आटे की रोटी, ३—बेसन तथा गेहूँ के आटे को मिलाकर उसमें नमक, मेथी, मंगरैला मिलाकर बनाई रोटी।

२—आईने अ०, आईन २५

३—तुलसी, कविता०, उत्तरकांड ६३ 'रावरो कहावौं, गुन गावौं राम रावरोइ, रोटी द्वै पावौं, राम रावरी ही कानि हौं।'

श्रीकृष्ण गीता०, २, छोटी मोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरि कै दै री मैया।'

४—प० सं० व्या०, २८४। (२) मानसोल्लास के अनुसार गेहूँ के आटे में घी नमक दूध और पानी डाल कर माड़ने के बाद उसकी लोई की रोटी हाथ से बनाकर मिट्टी के तवे पर सेक ली जाती है। चित्रावली (५२३।१) में दूध व खांड़ के मांड़ का उल्लेख है ('गोहूँ प्रथम दूध सो धोये। खीर खांड मिलि मांडा पोए।')

प० सं० व्या०, २८४।२ 'झालर मांड आए घिव पोए। ऊजर देखि पाप गए धोए।'

५४३।२ 'कापर छानि मांड भल पोए।'

की धीमी-धीमी आंच मे सेंक लेते हैं। 'रोटी बाटी पोरी झोरी' (१०१४) नाम एक साथ दिये गये हैं। दधि बाटी (८४१)। यह शायद दही मे डाल कर बनाते होंगे।

अंगाकरि (१८३१) 'अबही अंगाकरि तुरत बनाई। जे भजि भजि ग्वालनि संग खाई।' वर्णन मे तुरंत का बना 'अंगाकरि' अधिक स्वादिष्ट बताया गया है। बड़ी बाटी को ही 'अंगाकरि' कहते हैं। यह शब्द पश्चिमी हिन्दी मे आज भी चल रहा है। घरों मे साधारणतया बाटी या मांडे बनाने की प्रथा अब नहीं रही है।

लुचुई (८४५,१०१४) [सं० रुचि या फा० लोच]। मैदे की पतली मुलायम व बड़ी पूरी ही लुचुई कहलाती है। जायसी ने भी पूरी तथा सोहारी के साथ गर्म और कोमल लुचुई का उल्लेख किया है।[१] दो लोइयों के बीच मे घी लगाकर पतली बेली हुई पूरी भी जो तवे पर सेकी जाती है लुचुई या 'दोहथी' कहलाती है। अवध में अनंत चतुर्दशी के दिन लुचुई खाने की प्रथा है।[२] यह प्रायः खांड के साथ खाई जाती है।[३] अब तो मैदे की पूरियाँ प्रायः विवाह आदि के पकवानों में ही बनाने की प्रथा रह गई है। पूरी, पुरी, पुरि पेरी (८०१,१८३१,८१६, ८२६,१०१४) [सं० पूरिका[४]]। लगता है पूरी बच्चों को हमेशा से ही अच्छी लगती है—'सद परसि धरी घृत-पूरी। जब पूरी सुनि हरि हरष्यौ। तब भोजन पर मन करष्यौ।' (८०१) कलेवा में भी मेवा तथा अन्य विविध पकवानों के सामने बालक कृष्ण का ध्यान पूरी व अचार ही आकर्षित करते हैं—'तुमकौं भावत पुरी संधानौ।' (८२६)। बियारो-प्रसंग मे मैदा और बेसन मिलाकर बनाई गई मुलायम तथा भारी पूरी का वर्णन है—'अति कोमल पूरी हैं भारी। जेवहुँ स्याम मोहि सुख दीजै। तातैं करी तुम्हैं ये प्यारी '(८१६)। रोटी, अंगाकरि, बाटी आदि तो प्रायः दिन के भोजन मे ही बनती थीं, किन्तु पूरी हर समय के खाने में आ सकती थं। 'बेसन पुरी मुख-पुरी लीजै' (१०१४) द्वारा उस समय बेसन की पूरी बनने की प्रथा का भी पता चलता है। अब तो गेहूँ के आटे की पूरी अधिक लोकप्रिय है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे 'पुरी' शब्द ही प्रायः बोला जाता है, यों 'पूरी' 'पूड़ी' शब्द भी सुनने में आते हैं। अवध में चने की दाल भरी हुई 'पूरी' कहलाती है जो और जगहों की 'कचौडी' हुई। साधारण पूरी को वहाँ 'सोहारी' कहते है। पूरी से बड़ी सोहारी व उससे बड़ी लुचुई बनती है।[५] ब्रज की ओर मीठी पूरी को सोहारो कहते हैं। पद्मावत मे भी पूरी के रंग, कोमलता एवं सहस्र स्वाद का विस्तृत वर्णन मिलता है।[६]

१—प० सं० व्या०, २८४ लुचुई पूरि सोहारी परी। एक तातो औ सुठि कोंवरी'।

२—प० सं० व्या०, २८४। (३)

३—प० सं० व्या०, ५४३।६ 'लुचुई पोइ घीव सो भेंई। पाछें चहीं खांड सो जेंई।'

४—कृ० जी०, प्र० ११, अध्याय ६ मोनियर विलियम्स कोष में 'पोलिका' शब्द मिलता है। पाइअसद्दमहण्णवो कोष में भी संस्कृत 'पोलिका' ही है। पोलिका-पोलिआ-पोली-पूली-पूरी विकासक्रम संभव हो सकता है।

५—प० सं० व्या०, २८४। (३)

६—प० सं० व्या०, ५४३।३ 'करिल चढ़े तहँ पार्कांहि पूरी। मूँठहिं मांह रहहिं सोंचूरी।
जानहु सेत पीत ऊजरी। लैनू चाहि अधिक कोंवरी।
मुख मेलत खिन जाइ बिलाई। सहस सवाद पाव जो खाई।'
५४३।७ 'पूरि सोहारी करी घिउ चुवा। छुवत बिलाहिं डरन्ह को छुवा।'

कचौरी (१८३१) [कच--दाल --तामिल] यह दाल की पिट्ठी भर कर बनाई गई नमकीन पूरी सी होती है, किन्तु छोटी और मोयनदार आटे की कुछ अधिक मोटी बनती है। डा० सुनीत-कुमार चैटर्जी के मतानुसार 'कच' तामिल शब्द है जिसका अर्थ दाल है। कचपूरिका-कचउरिया-कचौरी—यह विकासक्रम संभव हो सकता है।[1] कचौरी प्रायः उरद की पिट्ठी की बनती है। इसी का बड़ा रूप 'बेड़ई' है जो अलीगढ़ क्षेत्र में अधिक प्रचलित है।[2] आजकल आलू मटर आदि की भी कचौड़ी बनाने की प्रथा शहरों में चल गयी है।

कौरी (१८३१) आजकल सादाबाद तहसील मे पराठे को 'पल्टा' 'टिक्कर' अथवा 'करौरा' कहते है।[3] संभवतः 'करौरा' को ही 'कौरी' कहा गया है—' पूरी पूरि कचौरी कौरी। सदल सउज्जल सुन्दर सौरी' (१८३१)। पराठा प्रायः त्रिभुजाकार होता है और घी लगाकर तवे पर सेंकते हैं। पछांह मे पराठे को 'परामठा' भी कहते है।

१५६—तंदुल (४८४), ओदनि, ओदन (६०८, १०३०), भात (१०१४) तथा कूरा (१०१४—मीठे चर-पर उज्ज्वल कूरा) शब्द पके हुए चावल के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। इन शब्दों की व्याख्या की जा चुकी है। कुछ लोग चावल पकते समय कुछ पानी निकाल देते हैं जिसे 'मांड़' कहते हैं। ऐसा करने से चावल बिखरे हुए से बनते है। इस क्रिया को 'पसाना' कहते हैं—भात पसाइ रोहिनी ल्याई, (१०१४)। पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार बंगाल तथा दक्षिण में लोगों का मुख्य आहार चावल ही है। पतंजलि ने 'विन्ध्यौ वर्धितकम्' ओदन का उल्लेख कई बार किया है। इन प्रान्तों में आज भी इस ढंग से चावल खाने का दृश्य देखने को मिल जाता है।[4] खीचरी[5] (१८३१) [सं० कृसरः] दाल और चावल मिलाकर (खिचड़ी) पकाते है। आईने अकबरी की व्यजन-सूची में भी खिचडी बनाने का ढंग दिया गया है। सम्राट् की पाकशाला में खिचडी बनाने के लिए पांच पांच सेर चावल मूग की दाल तथा घी की आवश्यकता होती थी। सूरसागर में खिचड़ी किस दाल से बनाई गई थी यह नहीं बताया गया है। आइने अकबरी के उल्लेख से अनुमान होता है कि मूंग की खिचड़ी अधिक प्रचलित थी। आज भी उर्द, लाल मसूर, चने आदि की खिचड़ी बनने पर भी लोगों को मूंग की खिचड़ी ही अधिक प्रिय है। विशेषरूप से बीमारी के बाद तो यही दी जाती है। दाल चावल तथा घी के अनुपात में अवश्य परिवर्तन आ गया है।

सूरसागर में इसके अलावा और किसी ढंग से चावल बनाने के उल्लेख नहीं मिलते हैं। लेकिन ऐसा नहीं है कि उस समय आज की प्रिय 'तहरी' या चावल का 'ज़रदा' न बनाया जाता हो, क्योंकि पद्मावत तथा आईने अकबरी में इनका ज़िक्र हुआ है। आईने अकबरी में उल्लिखित चावल की अन्य तश्तरियों मे 'ज़र्द बिरंज', 'खुश्का' तथा 'बादिर्जा' आदि नाम लिए

१—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—'हिन्दी के सौ शब्दों की निरुक्ति'

२—कृ० जी०, प्र० ११, अध्याय ६

३—कृ० जी०, प्र० ११, अ० ६

४—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि—'पृ० १०५' महाउम्मग जातक के अनुसार एक श्रमिक का भोजन सुप और यव-भत्ता (barley) ही था। पतंजलि के अनुसार किसी भी ब्राह्मण को भोजन कराने के लिए 'ओदन' यथेष्ट होता था।

५—बर्नियर, पृ० ३२१, बर्नियर ने सैनिकों के खिचड़ी खाने का उल्लेख किया है। खिचड़ी बनाने में चावल व तरकारी साथ-साथ उबालने के बाद ऊपर से घी डालने का वर्णन है।

जा सकते हैं ।[१] पद्मावत में केसरिया 'सोनजरद' तथा 'तहरी' भी व्यंजनों में थे ।[२]

१५७—कढ़ी (१८३१)—'खाटी कढ़ी बिचित्र बनाई । बहुत बार जेंवत रुचि आई ।' लोगों के प्रिय व्यंजनों मे आज भी कढ़ी का स्थान है । बेसन की पकौड़ी को बेसन के पतले रसे में पकाकर बनाते हैं और दही डाल कर इसमें खट्टापन लाते हैं । निमोना, निमोननि (१०१४, १८३१) पिसी दाल को भून कर उसमें दही मसाला हरी मटर आदि डालकर निमोना बनाया जाता है । चने की दाल का ही निमोना अधिक बनता है । सूरसागर में दाल-विशेष या बनाने की विधि का संकेत नहीं है । चटपटा होने का अवश्य उल्लेख है— 'बहुत मिरिच दै किए निमोना' (१०१४) तथा 'सरस निमोननि स्वाद संवार्यौ' (१८३१) ।

बेसन सालन । सूरसागर में बेसन से विविध प्रकार के व्यंजन बनाने की चर्चा कई बार की गई है । इनमें से एक बेसन की तरकारी भी थी—'बेसन सालन अधिकौ नागर' (१८३१) तथा 'बेसन के दस बीसक दोना' (१०१४) । आजकल भी बेसन का नमकीन हलवा सा बनाकर फिर उसके कतरे काट कर सूखी और रसेदार तरकारी बनाते हैं जो 'बेसन' कहलाती है । अवध में इसको 'खंडरा' भी कहते हैं ।[३]

बरी (८५६, १०१४;१८३१) [सं० वटी] । उर्द की दाल को छोटी-छोटी पकौड़ियों को सुखाने के बाद उसकी रसेदार तरकारी बनाते हैं । यह आजकल खूब बनाई जाती है । कूर-बरी (१०१४) का उल्लेख भी है [कूरी = अरहर की फली] ।

मुँगछी (१८३१) मूंग की दाल की बनी कोई नमकीन वस्तु ज्ञात होती है । बरी की तरह ही बनाई मुँगौरी (मूंग की दाल की) भी हो सकती है । पद्मावत में भी 'मुंगौछी' का उल्लेख है ।[४]

ढरहरी (१८३१) 'मूग ढरहरी हीग लगाई' से कोई नमकीन वस्तु ज्ञात होती है । पद्मावत मे बुन्द ढुरहरी का उल्लेख है । वहाँ हरी मटर या चने की बुँदिया के लड्डू का अर्थ भी लगाया जा सकता है ।[५]

मिथौरि (१०१४) उर्द की दाल वा पेठे की बरी जिसमे मेथी आदि मसाला डाला जाता है इसको 'कुम्हरौरी' भी कहते हैं । मिथौरी शब्द अब साधारणतया सुनने में नहीं आता है । पद्मावत में सिरका पड़ी मिथौरी का निर्देश है ।[६] दहिरौही (८०१) भी दूध और दही

१—आईने अ०, पृ० ११६

२—प० सं० व्या०, ५६।६ 'कोइ सोनजरद जेउं केसरि'

,, ,, ५५०।१ 'तहरी पाकि लौनि औ गरी । परी चिरौंजी औ खुरहुरी ।'

३—प० सं० व्या०, २८४ (५) शब्दसागर के अनुसार खंडरा बेसन का चौकोर बरा होता है जो सूखा और गीला दोनों प्रकार का बनता है । कुंवर सुरेश सिंह के अनुसार मूंग, चना, उरद तथा अरहर आदि दालें मिलाकर पीस कर उसके 'खंडरे' काटकर बनाते हैं । ये 'मुंगौरी' की तरह बनाये जाते हैं ।

४—प० सं० व्या०, ५४६।३ 'भई मुंगौछी मिरिचैं परीं । कीन्ह मुंगौरा औ गुरबरो' ५४६।३ (मुलपथूया-मुग्गपच्छा-मुंगौछी) जनपदी बोली में यह शब्द नहीं मिला है ।

५—प० सं० व्या०, ५५० ।

६—प० सं० व्या० ५४६।४ 'भई मेंथौरी सिरका परा ।'

कि बनी एक प्रकार की बड़ी होती थी (दधिक्षीर वाटिका)।

१५८—राइता (१८३१) [सं० राजिकाक्त]। आजकल दही के व्यंजनों में रायता सबसे अधिक बनाया जाता है। यह लौकी, खीरे, ककड़ी, बथुए, आलू, बूंदी आदि विभिन्न प्रकार की चीजों से बनता है, किन्तु लौकी का रायता सबसे अधिक प्रचलित है। रायते मे कभी-कभी राई भी डालते हैं। सूरसागर में रायते के विस्तार नहीं है, किन्तु पद्मावत मे 'लौआ' को ही 'रैता' बताया गया है।[1]

खीर, अमरखीर (८६६,७६२,१८३१) [सं० क्षीर]। खीर का उल्लेख कई स्थानों मे हुआ है—'खीर खांड़ घृत लावनि लाडू' (१०१४) खीर खाँड़ खीचरी सँवारो (१८३१)। महराने के पांडे आगमन प्रसंग मे भी खीर का उल्लेख है—'धेनु दुहाइ दूध लै आई, पांडे रुचि करि खीर चढ़ायौ (८६६)। पूरे खाने मे दूध की मीठी तश्तरी मे खीर का प्रमुख स्थान आज भी है। चावल की खीर ही अधिक प्रचलित है। यो आजकल मखाने, लौकी, सूजी आदि अनेक चीज़ों की खीर बनती है। खीर मे मेवा और केसर डालते है तथा ऊपर से सोने या चाँदी का बर्क़ भी लगाते हैं। सूरसागर के प्रसंगों मे प्रायः खीर के साथ खाड शब्द आया है। आईने अकबरी मे खीर को 'शीरबिरंज' नाम दिया गया है तथा दस सेर दूध, एक सेर चावल, एक सेर क़ंद तथा एक दाम नमक से बनाने का विवरण है। पद्मावत मे चावल व दूध की खीर को 'जाउरि' कहा गया है।[2] पद्मावत मे दोनों ज्यौनार के अन्त में खंडवानी (शरबत) घुमाए जाने का निर्देश हुआ है।[3] आईने अकबरी में भी शरबत का पता चलता है, किन्तु सूरसागर से इस प्रथा पर प्रकाश नही पड़ता है। आजकल अंग्रेज़ी ढंग के खाने मे खाने से पहले ही शरबत अथवा फलों का रस (appetiser) देने की प्रथा है। खाने के बाद 'कॉफ़ी' आती है।

सिखरन (१८३१)—'बासौंधी सिखरन अति सौंधी। मिले मिरिच मेटत चकचौंधी।' दही के मट्ठे में गुड़ या खाड़ डाल कर सिखरन बनाई जाती है। बासौंधी या बासी होने से खटास बढ़ जाती है। जायसी ने 'सोंधि सिखरन' के गाढ़े होने का वर्णन किया है।[4] अलीगढ़ क्षेत्र में बासी नैवेद्य 'बसौड़' कहलाता है।[5]

कांजी (४५७५) [सं० कांजीकम्]। खट्टे मट्ठे मे राई व नमक डाल कर कांजी बनायी जाती है। भ्रमरगीत-प्रसंग मे गोपियाँ कहती हैं—

'बिरचि मन बहुरि राचौं आइ।

टूटी जुरै बहुत जतननि करि, तऊ दोष नहिं जाइ।

दूध फाटि जैसैं ह्वै कांजी, कौन स्वाद भरि खाइ। (४५७५) कांजी तथा सिखरन आदि दही के व्यंजन अब कम ही बनाये जाते है, विशेषकर नगरों में।

१—प० सं० व्या०, ५४८।२ 'लै भूंजी लौआ परबती। रैता कहें काटे कै रती।'

२—प० सं० व्या०, २८४।७ 'जाउरि पछियाउरि आई।' (७) अवधी की उपभाषा बैसवाड़ी में जेवनार के अन्त में परोसी जाने वाली मीठी तश्तरी को 'पछियाउरि' कहते हैं।

५५०। मैजाउरि पछियाउरि, सीझा ज्यौंनार। (६) बुंदेलखण्ड में मिष्ट पेय के रूप में 'पछिआउरि' का प्रचार है। वहाँ ज्यौनार के अन्त में चावल तथा आम का शरबत, श्रीखंड या गोरस में गुड़ मिलाकर परसने की प्रथा है।

३—२८५।१, 'भै जेवनार फिरा खंडवानी' ५६५।१ 'भै जेवनार फिरा खंडवानी।'

४—प० सं० व्या०, ५५०।४ 'सिखरन सौंधि छनाई गाढ़ी।'

५—कु० ग्री०, प्र० ११, अध्या० ६

महेरी (१८३१) [सं० मही से]--'मधुर महेरी गोपनि प्यारी ।' महेरी मट्ठ में गुड़ व चावल को पकाकर बनाते हैं। कभी-कभी मक्के या बाजरे का दलिया भी डाल देते हैं । इस शब्द के मूल में 'मही' (मट्ठा) ही है ।[१] इसी प्रकार गन्ने के रस मे पकी खीर रसखीर रसावर या रसवाई [रस + चावल] कहलाती है । महेरी तथा रसखीर ग्रामीण भोजन में ही अधिकतर होती है । पद्मावत मे वर्णित 'जेंवनार' में 'महिउ' का उल्लेख हुआ है ।[२]

प्योसर (८०१) । यह संभवत: 'पेवसी' अथवा 'पेवस' है जिसकी उत्पत्ति हिन्दी शब्द-सागर मे संस्कृत 'पेयूष' से मानी गई है । हाल की ब्याई गाय अथवा भैंस के दूध को 'पेवसी' कहते है । यह गाढ़ा तथा पीले रंग का होता है और इसे पीने में हानिकारक मानते हैं । सूरसागर में 'अति प्योसर सरस बनाई । तिहि सोंठ मिरिच रुचि नाई ।' वर्णन है ।

१५६—पापर (१८३१) । डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी के अनुसार पापड़ शब्द के मूल में तामिल शब्द 'पर्पु' (दाल) है । सं० पर्पट-प्रा० पप्पड़-पापड़—यह विकासक्रम हो सकता है ।[३] आज-कल पापड़ कई प्रकार की चीजों से बनाए जाते हैं— उर्द या मूँग की दाल, आलू, चावल तथा साबूदाना । खाने में पापड़ का अपना विशिष्ट स्थान है और कुछ जगहों में तो खाना पापड़ ही से शुरू किया जाता है । जायसी ने भी अनेक प्रकार के पापड़ भूनने का उल्लेख किया है ।[४]

सँधानौ (८२६), अँचार (१८३१) तथा अथानो (८५६) [सं० स्थास्नु = टिकाऊ] ये तीन शब्द अचार के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं—'पापर बरी अँचार परम सुचि' (१८३१), 'तुमकौं भावत पुरी सँधानौ' तथा 'निबुआ सूरन, आम, अथानो' और 'करौंदनि की रुचि न्यारी' (८५६) । अकबर के समय मे अनेक प्रकार के फल और तरकारियों के अचार डाले जाते थे जो अब अधिक प्रचलित नहीं हैं, जैसे सेब, बिही, प्याज, बैगन, कचनार, आड़ू, करील के फूल, ज़िमीकंद, सरसो, तुरई, मूली आदि । ऊपर के पद्यांशों मे भी सूरन के अचार का निर्देश है । करौंदा, नीबू, आम, गाजर, सेम, शलजम तथा बाँस के अचार आज भी खूब डाले जाते हैं ।[५] इनके अतिरिक्त मिर्च, गोभी और कटहल के अचार भी लोगों को प्रिय हैं । अचार के अतिरिक्त मुरब्बे तथा चटनी भी बनाई जाती है । अवधी मे सँधान शब्द अब भी चलता है और पद्मावत मे भी यही प्रयुक्त हुआ है ।[६]

१६०—सूरसागर के इन पदो (८०१, १०१४, १८३१) मे उल्लिखित अन्य कुछ व्यंजनों के नामों की ओर भी ध्यान जाता है । इनके अर्थ स्पष्ट नहीं हैं । संभवत: अब ये व्यंजन अधिक प्रचलित नहीं है । प्रमुख नाम निम्नलिखित हैं—

'तिनगरीं', 'मूरा', (१०१४); 'बरिल', 'पानौरा', 'इंडहर', 'समी' (१८३१); 'सजूरी' (८४५); 'पेश फेनी', 'मुरकुनी', 'दहेनी' तथा' सूरठि' (परि० १५३) ।

१—कृ० जी०, प्र० ११, अध्या० ६

२—प० सं० व्या०, ५४६।६ 'मीठ महिउ औ जीरा लावा । भीजि बरी जनु लैनू खावा ।'

३—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, 'हिन्दी के सौ शब्दों की निरुक्ति'

४—प० सं० व्या०, ५५०। 'केनी पापर भूंजे, भए अनेक परकार ।'

५—आईने अ०, पृ० १२८

६—प० सं० व्या०, २८४।६ 'पुनि सँधान आए बहु सांधे' ।

८—पेय पदार्थ

१६१—खाने के साथ जल (१०१४) [सं०] अथवा नीर (१८३१) [सं०] का होना अति आवश्यक है। सूरसागर में भोज्य सामग्रियों के साथ झारी मे सीतल [शीतल सं०] जमुना-जल रखने का निर्देश हुआ है। 'जमुना जल राख्यौ झारी भरि', कान्ह कह्यौ हौं मातु अघानौ। अब मोकौं सीतल जल आनी।' (१०१४) अथवा 'नंदनंदन नीर सीतल, अंचै उठे अघाइ' (१८३२)। पीने के पानी को कपूर से सुगंधित करने की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है— 'सीतल जल कपूर रस रचयौ।[१] सो मोहन अति रुचि करि अँचयौ।' (१८३१) आज भी विशेष अवसरों पर केवड़ा व गुलाब जल डालकर जल सुवासित किया जाता है। पीने के लिए पानी 'अंचै', 'अंचयौ' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अब पानी [सं० पानीय] शब्द जल तथा नीर के स्थान पर अधिक बोला जाता है। पद्मावत में भी 'पानि' अथवा 'पानी' शब्दों का ही अधिक प्रयोग हुआ है।[२] पीने का जल झारी, चुरु अथवा खरिका (१०१४, १८३१) मे रक्खा जाता था पद्मावत में कचोरा मे पीने (५६४।१) का उल्लेख है। आज-कल नगरों मे पानी ग्लास मे पीने का रिवाज है, किन्तु गाँवों मे प्रायः लोग लोटे से पानी पी लेते है। वृन्दावन जमुना के किनारे बसा होने के कारण जमुना जल पीने के काम मे आना स्वाभाविक ही था। इन प्रसंगो मे बर्फ़ से पानी ठंडा करने का उल्लेख कही नही है। वास्तव मे अकबर के समय मे ही बर्फ का इस रूप मे उपयोग आरंभ हुआ था।[३] अब तो बर्फ़ कृत्रिम ढंग से बनाई जाने लगी है। सब जलों मे हिन्दुओं के लिए 'गंगाजल' का सर्वश्रेष्ठ स्थान है।

नशीले पेय पदार्थ

१६२—कुछ स्फुट प्रसंगों मे सुरा (२६०,४३५) [सं०] अथवा बारुनी (८=१६, ४८२०, ३५२७) [सं० वारुणी] के उल्लेख भी है। प्रथम स्कन्ध की परीक्षित-कथा मे निद्य वस्तुओं मे सुरा का उल्लेख हुआ है—'कही हरि विमुख अरु वेस्या जहाँ। सुरापान वधकनि गृह तहाँ।' 'जूआ खेलत जहाँ जुआरी। ये पाँचो है ठौर तुम्हारी' (२६०) अष्टम-स्कन्ध के धन्वन्तरि-अवतार से समुद्र-मंथन द्वारा सुरा तथा अमृत की प्राप्ति का वर्णन है—'बहुरि धन्वंत्रि आयो समुद सौं निकसि, सुरा अरु अमृत निज संग लायौ।' (४३५) फिर मोहिनी रूप धारण

१—प० सं० व्या०, ५६४।२ 'पानी देहिं कपूर क बासा। पियै न पानी दरस पियासा।'

२—प० सं० व्या०, ५६४।१ 'पानि लिहे दासी चहुँ ओरा। अंम्रित बानी भरे कचोरा।'
प० सं० व्या०, ३२०।७ 'पाव खुमरिहा सीतल नीरू'

३—आईने अ०, (आबदारखानः) सम्राट् पानी को अमृत कहता था। वह घर व यात्राओं में गंगाजल पीता था, किन्तु जब आगरे तथा फ़तेहपुर में रहता था तो सोरों से पानी जाता था तथा पंजाब में हरिद्वार से। पाकशाला में यमुना तथा चनाब या वर्षा का जल उपयोग में लाया जाता था। सर्वप्रथम सम्राट् ने शोरे से पानी ठंडा करने का ढंग निकाला, फिर सन् ३० इलाही (१५८६ ई०) में जब सम्राट् लाहौर में था तब हिम या बर्फ़ का रिवाज शुरू हुआ। पठानकोट के पास दो उत्तरी पहाड़ों से बर्फ़ कहारों व बहलों पर आती थी। रुपये की दो तीन सेर मिलने के कारण साधारण वर्ग के लोग केवल गर्मियों में लाभ उठा पाते थे।

कर विष्णु ने सुरा असुरों को पिलाने का उपक्रम किया व अमृत देवताओं को—'मोहिनी रूप द्वारा सुरा असुरनि दई, सुरनि कौ अमृत दीन्हौं पियाई' (४३६)। इस प्रसंग मे सुरा असुरों के योग्य वस्तु है इस तथ्य पर ही बल है। निशाचर सदैव **मदपान** (५१६) [सं०] करते थे—'नाना रूप निसाचर अद्भुत, सदा करत मदपान।' दशमस्कन्ध—उत्तरार्ध मे बलभद्र के ब्रज-आगमन के समय उनके वारुणी-पान का उल्लेख हुआ है—'बारुनि बल धूमिति लोचन बन, बिहरत मन सचु पाये' (४८१६) अथवा 'बारुनी बलराम पियारी' (४८२०)। यहाँ पर ही बारुनी पीने के बाद की अवस्था का सुन्दर वर्णन है—'मनौ मत्त गजराज बिराजत, करिनि जूथ सँग लाए। मुकलित केस सुदेस देखियत, नील बसन लपटाए। भरि अपने कर कनक कटोरा, पीवत प्रियहिं चखाए। हँसत रिसात बुलावत बरजत, तरजत भौंह चढ़ाए। उदित मुदित उठि चलत डगमगत अनुज सुरति जिय आए।' (४८१६)।

फाग तथा वसन्त के उत्सवों में भाँग वारुणी आदि मत्त करने वाली वस्तुओं को सदैव से स्थान मिलता रहा है—'कोटि कलस भरि बारुनी, दई बहुत मिठाई पान।
राधा माधो रस रह्यौ, सब चले जमुन-जल न्हान' (३५२७)।

भ्रमरगीत-प्रसंग में **मदिरा** (४१८३) कटोरी से पीने का वर्णन है—'

'माई मेरे नैननि भेद दियौ

जैसे कनक कटोरी मदिरा आरतवंत पियौ' (४१८३)

अथवा –'रहु रे मधुकर **मधु** मतवारे....'

वारंबार सरक **मदिरा** की, अपरस रटत उघ रे (४१२२)।

१६३—**पौराणिक पेय पदार्थ**—समुद्र मंथन द्वारा प्राप्त चौदह रत्नों मे तीन पेय पदार्थ भी थे—**हलाहल**[१] [सं० हलाहलं, हालाहलः] **अमृत-अम्रित** (४३५ विनय) [सं० अमृत] तथा सुरा। विष्णु ने मोहिनी रूप धारण कर अमृत देवताओं को बांट दिया जिसे पीकर उनको अमरत्व मिल गया। (४३५) इसी कथा मे सूर्य-शशि से राहु के वैर का कारण भी बताया गया है। शिव ने लोक की रक्षा के लिए विष अपने कंठ में रख लिया, इसीलिए उनका नाम नीलकंठ भी है। सूरसागर मे अमृत के अन्य पर्यायवाची शब्द **सुधा** (३८४) [सं०] तथा **पियूष** (२३६५) [सं० पीयूष] भी प्रयुक्त हुए है।

९—ताम्बूल अथवा पान

१६४—श्रृंगार के अंगों में पान का उल्लेख किया जा चुका है, किन्तु खाने के सिलसिले में भी इसका उल्लेख आवश्यक है, क्योंकि खाना खाने के बाद पान खाने की प्रथा सूर के समय में भी थी। ज्योनार संबंधी सभी प्रसंगों में (८०१,१०१४,१८३१) इसका बराबर उल्लेख है। दो समानार्थक शब्दों का प्रयोग अधिक मिलता है—

पान (६८०,१८३१) [सं० पर्ण-पण्ण-पान] तथा **तमोर, तमोल, तंबोल** (५१८, १५८४, १५८६) [सं० ताम्बूलं फ़ा० तम्बोल]। एक दो स्थलों में **नागबेलि** (३४८०) शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। वर्तमान 'तमोली' (पानवाला) संस्कृत 'ताम्बूलिक' [तांबूलिक-प्रा० तंबोलिअ-

---

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि—पृ० २२१ 'अरबी शब्द हलहिलः (घातक विष) से ही बाद में संस्कृत शब्द 'हलाहल' अथवा 'हालहल' आये थे। पाणिनि ने 'हलिहिल' शब्द का उल्लेख किया है।

तंबोली तमोली] से ही आया है। प्राचीन समय में पान का बीड़ा उठाकर प्रतिज्ञा करने की प्रथा थी। इसी प्रथा पर 'बीड़ा उठाना' मुहावरा आधारित है। नवमस्कन्ध सुन्दरकाण्ड में हनुमान भी सीता को खोजने की प्रतिज्ञा ताम्बूल उठाकर ही करते हैं—'पवन-पुत्र बलवंत बज्र-तनु कापैं हटक्यौ जाइ। 'लियो बुलाइ मुदित चित ह्वै कै कह्यौ तंबोलहिं लेहु।'—'लियौ तंबोल माथ धरि हनुमत कियौ चतुरगुन गात।' (५१८) सकटासुर वध में भी उल्लेख है—'तुरतहिं बीरा दीन्हौ' (६७६)। देव-पूजन के सोलह अंगों में पान का स्थान भी है।[1] पूजा या आरती के थाल में दूध, दधि, रोचना तथा चावल आदि के साथ पान भी रखना शुभ माना जाता है। गिरिवर-धारण प्रसंग में इस प्रथा पर प्रकाश पड़ता है—'थार तमोर दूध दधि रोचन हरषि जसोदा ल्याई। करि सिर तिलक बदन अवलोकति मनहुँ रंकपति निधि पाई', या 'कंचन थार दूध दधि रोचन, सजि तमोर ले आई।'(१५८४)। नवमस्कन्ध में बनवास की अवधि-समाप्त होने पर राम के अयोध्या-आगमन के समय पुर-वधुएँ आरती सजाती हैं—

'दधि दूब-हरद फल-फूल-पान। कर कनक-थार तिय करति गान। (६१०)।[2]

भारतीय प्रथा के अनुसार आतिथ्य-सत्कार मे भी पान का महत्त्वपूर्ण स्थान बहुत दिनों से है।[3] चूना, कत्था, सुपारी व मसाला डाल कर लिपटा हुआ पान ही बीरा (१८३१) [सं० वीटक] कहलाता है—'मनमोहन हलधर बीरा' (८०१, १८३१)। मिस्सी पड़े बीड़े को बीरी (८०१) कहते थे—'तब बीरी तनक मुख नायौ। अति लाल अधर ह्वै आयौ।' (८०१) पीले, उज्ज्वल तथा पुराने पान के पत्ते श्रेष्ठ माने जाते थे—'पोरे पान पुराने बीरा, खात भई दुति दांतनि हीरा (१८३१) या—'उज्ज्वल पान, कपूर, कस्तूरी, आरोगत मुख को छवि न्यारी।' (१०१४)। इस पद्यांश से बीड़े मे कपूर तथा कस्तूरी डालने की प्रथा का भी अनुमान हो जाता है। पान का पत्ता ताज़ा हो तभी खाने की इच्छा होगी—'ताजे पान धरे तिहिं तीरा। दिव्य सुगंध सहित बहु बीरा' (परि० १५३)।

बीड़ा बनाने के लिए पान के पत्ते के अतिरिक्त सुपारी, कत्था तथा चूना अत्यावश्यक हैं। सूरसागर मे पान के साथ इनका उल्लेख नहीं है, किन्तु अन्य प्रसंगों में सुपारी (२१४६) [सं० सुप्रिय] तथा चूनो (२२४६) का उल्लेख अवश्य हुआ है। व्यापारी के रूपक में मसालों की सूची में सुपारी की चर्चा है--'लौंग नारियर, दाख सुपारी, कह लादे हम आवैं।'(२१४६)। चूना तथा हल्दी मिलकर एक ही रंग लाल हो जाता है, इसी प्रकार गोपियों का अपने आराध्य कृष्ण के प्रति अस्तित्वहीन प्रेम था—'मानति नाहिं लोक-मरजादा, हरि के रंग मजी। सूर स्याम कों मिलि चूनो हरदी ज्यौ रंग रंजी।'(२२४६)।

आईने अकबरी में ताम्बूल को शाक या फल में गिना गया है। उस समय प्रचलित पान की प्रमुख जातियों का भी पता चलता है। दो सौ पानों की गड्डी 'ढोली' कहलाती थी। दो बीड़े अलग-अलग लगाकर (एक में कत्था आदि व दूसरे में चूना) तथा रेशम से बांध कर

१—देवपूजन के सोलह अंग ये हैं—आसन, पान, अर्घ्य, आचमनीक, मधुपर्क, स्नान, वस्त्र, आभूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, वन्दन, परिक्रमा।

२—मानस, बाल०, ३२६। 'हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगल मूला।'

३— ,, ,, ३४६। 'देइ पान पूजे जनक दसरथ सहित समाज।'

प्रस्तुत किये जाने की प्रथा थी ।[१]

पद्मावत में भी एक स्थल[२] पर पानों की अनेक जातियो के नाम दिये गए है । इनमें 'पेड़ों' (पुराने पौधे का पान) 'सुनरामि' (लता के मध्य भाग का पका हुआ सफ़ेद या पीला उत्तम पान) तथा 'बड़ौना' (बृहत्पर्ण) नाम उल्लेखनीय हैं । सूरसागर में उल्लिखित 'पीरे', उज्ज्वल' तथा पुराने पानों को यही किस्म होगी जो उत्तम श्रेणी में आते थे । उसमे भी ज्योंनार के बाद पान घुमाए जाने का ज़िक्र है ।[३] कत्थे की टिकिया या 'खिरौरी' [सं० खदिर-वटिका—खयर बड़िया—खइरउरिया खहरिया-खैरौरी-खिरौरी] कपूर डाल कर बनाई गई थी—'बहुल कपूर खिरौरी बाँधी ।' (३६।२)

पान की लता को संस्कृत मे 'नागवल्ली' भी कहते है ।[४] आजकल बांदा ज़िले के सेंहुडें तथा महोबे का पान प्रसिद्ध है । 'ककेर (विन्ध्यप्रदेश), 'बंगला', 'गोलचा' तथा 'मगही' या 'बनारसी डामरू,' 'देसी', 'नागर' 'मदरासी' आदि जातियाँ अधिक प्रचलित है । आतिथ्य सत्कार मे अधिक सम्मान प्रदर्शन के लिए दो पान के बीड़े या 'बीड़ा-जोड़ी' देने की प्रथा है । अब रेशम के स्थान पर पान लौंग से बन्द किया जाता है तथा सोने चाँदी के बड़े वर्क़ लपेट कर तश्तरी अथवा ख़ासदान में प्रस्तुत किया जाता है । मसाले मे पिपरमिण्ट, गरी, सौंफ़ तथा इलायची ने कपूर व कस्तूरी का स्थान ले लिया है ।

पान के संबंध मे एक मनोरंजक पहेली अलीगढ़ क्षेत्र मे मशहूर है —'पाँच कबूतर पाँचों रंग, अटरिया मे बैठे तो एकई रंग ।'[५]

१०—भोजन करने का ढंग

१६६—खाने के सिलसिले मे सूरकालीन प्रचलित खाद्य-सामग्रियो के अतिरिक्त खाना खाने के ढंग पर भी प्रकाश पड़ता है । आसन पर बैठने के बाद चौकी सामने रख दी जाती थी—'आसन दै चौकी आगैं धरि' । फिर थाल में हाथ धुलाए जाते थे—'कनक-थार मैं हाथ धुवाए । सत्रह सौ भोजन तहँ आए ।' (१०१४) । 'भोजन को भवन लिपायौ' (८६६,२७२४)—से ज़मीन लीपकर खाने बैठने की प्रथा का निर्देश है । खाने की समाप्ति पर तो हाथ धुलाए ही जाते थे—'अँचवन से तब धौए कर मुख' अथवा 'भोजन अन्त आचमन कीन्हो' (परि० १५३) या 'हँसि जननी चुरू भराए । तब कछु कछु मुख पखराए ।' (८०१) तथा 'अचवन लै तब धोए कर मुख' (१०१४) आदि ।[६]

१—आईने अ०, पृ० १५३ – पान की ये प्रमुख जातियाँ थीं—बिलहरी—सफेद व चमकीला, काकेर—सफ़ेद चितीदार, कपूरी—पीला, बँगला—चौड़ा बड़ा पत्ता तथा जैसवार, कपूरकांत आदि ।

२ – प० सं० व्या०, ३०६। ३६।१ 'पान अपूरब धरे सँवारो'

३—प० सं० व्या, २८५।२ 'फिरे पान बहुरा सब कोई'

४—कृ० जी०, प्र० १३, अध्याय २०, 'ताम्बूलं वल्ली ताम्बूली नागवल्लापि' अमरकोष—२।४।१२० । हर्ष० सां अ०, पृ० में भी इसका उल्लेख है ।

५—कृ० जी०, प्र० १३, अध्याय २०—पान सुपारी कत्था चूना तथा लौंग मिल कर लाल रंग ।

६ – मानस०, बाल०, ३२८ 'आदर' सहित आचमनु दीन्हा ।

हाथ मुंह धोने के बाद पान खाने की प्रथा की चर्चा की जा चुकी है। पान के अतिरिक्त चंदन तथा अरगजा लगाने की प्रथा भी थी—'चंदन और अरगजा आन्यो। अपने कर बल कै अंग बान्यो। ता पाछे आपुन हूँ लायो। उबर्यो बहुत सखनि पुनि पायो।' (१८३१) तथा—'चंदन अंग कै चरच्यो' (१०१४)। इन सभी पदों में भक्तों को **पनवारो** (८२६, १८३१) व **जूठनि** (१८३२,१८३१) मिलने पर उनका अपने सौभाग्य पर हर्षित होने का वर्णन है—'सूरदास पनवारो पावो' (८२६) 'सूर जूठनि भक्त पाई देव-लोक लुभाइ' (१८३२) या—'बोलि दई हँसि जूठनि थारी' (१८३१) अथवा 'हरि तनक तनक कछु खायो, जूठनि सब भक्तनि पायो।' (८०१)। जायसी[१] तथा तुलसी[२] ने भी पत्तल के लिए 'पनवारा' शब्द ही प्रयुक्त किया है। अवधी तथा बुंदेलखण्डी मे यह शब्द चल रहा है। खाने के बाद की बची सामग्री आज भी 'जूठनि' कहलाती है। सदैव आराध्य की 'जूठनि' खाकर श्रद्धामय प्रेम प्रकट किया जाता रहा है, यहाँ तक कि भारतीय स्त्रियाँ भी इसी भावना से पति के जूठे बर्तनों में खाना खाया करती थीं।

दावत आदि में बहुत से लोगों के खाने का ढंग कुछ भिन्न होता है। सब लोग पंक्तिबद्ध होकर आसनों पर बैठ जाते हैं और सामने पत्तलों पर खाना परसा जाता है।[३] खाने का यह **पंगति** [सं० पंक्ति] का ढंग सूर के समय में भी प्रचलित था—'नंद सहित पंगत बैठारी' (परि० १५३)। कृष्ण के अन्नप्राशन के उत्सव मे भी खाने का यही ढंग था—'महर गोप सबहीं मिलि बैठे, पनवारे परसाए। भोजन करत अधिक रुचि उपजी, जो जाके मन भाए।' ७०७)।

१६७—मनूची ने यहाँ के प्रचलित ढंगों से खाना खाने का विस्तृत वर्णन किया है।[४] बादशाह दस्तरखान पर बैठकर खाते थे। सामने सोने चाँदी के पात्रों मे भोजन परोसा जाता था। अबुलफ़ज़ल ने लिखा है कि भोजन प्रायः दही-दूध से प्रारंभ किया जाता था। खाने के पहले फ़क़ीरों का भाग निकाल देते थे और अन्त ईश-विनय मे होता था।[५] मनूची ने साधु संन्यासियों के संबंध मे लिखा है कि वे चटाई पर पालथी लगाकर बैठते थे। फ़र्श गोबर से लीपा जाता था। भोजन बड़े-बड़े पत्तलों पर परसा जाता था जो नमक और मक्खन से चिकने कर लिये जाते थे। उनके भोजन में चावल तरकारी तथा दही-मट्ठा ही अधिकतर रहता था।

सूरसागर मे वर्णित सोने-चाँदी के बर्तनों में खाने का ढंग धनी वर्ग वाला है। खाने के इन सभी बर्तनों के संबंध में आगे बताया जायगा।

आजकल प्रधानतया लकड़ी के पीढ़े, आसन अथवा चटाई पर बैठकर खाने की प्रथा है। खाना प्रायः बर्तनों में ही खाया जाता है। दक्षिण तथा गुजरात आदि कुछ जगहों में सामने चौकी पर खाने के पात्र रख कर खाना खाते हैं। नगरों के अंग्रेज़ी पढ़े लिखे धनी वर्ग मेज़-कुर्सी पर बैठ कर प्लेटों आदि में खाने का ढंग पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव है। इस वर्ग में चम्मच छुरी तथा काँटे से खाने का ढंग भी विदेशी प्रभाव के फलस्वरूप ही आया है।

१—प० सं० व्या०, २८३। 'कनक पत्र तर धोती कनक पत्र पनवारा'

२—मानस०, बाल० ३२८। 'सादर लगे परन पनवारे। कनक कील मनि पान संवारे।'

३—प० सं० व्या०, २८३।८ 'पांति पांति सब बैठे, भांति भांति जेवनार।'

४—मनूची, भाग ३, पृ० ४२

५—आईने अ०, पृ० ११८

खण्ड ३

स्थानवाचक शब्द तथा काल-विभाजन

१—कृष्णकथा से संबंधित शब्दावली

१६८—सूरदास का कवि-हृदय ग्राम्य जीवन में ही अधिक रमा। अतएव इष्टदेव की ब्रजलीला के अन्तर्गत वृन्दावन तथा गोकुल ही उनका ध्यान अधिक आकर्षित कर पाए। यमुना का रेतीला किनारा, करील कुंज तथा ब्रज के वनों मे ही उनका चित्त उलझ कर रह गया। कवि ने पूर्ण मनोयोग से तथा भाव विह्वल होकर इन सब का ही चित्रण करके तृप्ति पा ली। कृष्ण तथा राम कथा के सिलसिले मे भारत के तीन प्रमुख प्राचीन नगरों—मथुरा, द्वारकापुरी तथा अयोध्या की वैभव-सम्पन्नता का वर्णन करना तो आवश्यक ही था। वह उन्होंने किया अवश्य, किन्तु, जैसे केवल कर्तव्यपालन के लिए।

सूरसागर की स्थानसूचक शब्दावली के तीन भाग किए जा सकते हैं—(१) कृष्णकथा से संबंधित शब्दावली (२) रामकथा से संबंधित शब्दावली तथा (३) अन्य स्फुट प्रसंगों में उल्लिखित शब्दावली। सूरसागर का विषय ही ऐसा है कि ऐतिहासिक अथवा भौगोलिक ज्ञान-प्रदर्शन के लिए अधिक स्थान नही है। इससे अधिक अवसर जायसी को पद्मावत में मिला है।

नगर, ग्राम आदि

१६९—सूरसागर में ब्रज[1] के लोगों (१२१२; ३७३४) से गोकुल तथा वृन्दावन के लोगों से ही तात्पर्य है। मथुरा नगरी उसमें प्रायः नहीं आती है। कवि के आराध्य की ब्रजलीला का प्रथम अध्याय गोकुल (६४२) से प्रारंभ होता है—'ब्रज भयौ महरि कैं पूत, जब यह बात सुनी। सुनि आनन्दे सब लोग, गोकुल नगक गुनी।' अथवा 'अति आनँद होत गोकुल मैं रतनभूमि सब छाई।' (६३९) तथा 'आनँद-मगन नर गोकुल सहर के।' (६४७)। गोकुल के हाट-बाज़ार मे उल्लास जैसे बिखरा पड़ता था —'गोकुल हाट-बाजार करत जु लुटावन रे' (६४६)। फिर कवि गोकुल को 'अमर नगर' कह कर जैसे उसके अतुल सौभाग्य की घोषणा करता है—'अमर नगर उतसाह, अप्सरा गावन रे।

ब्रह्म लियौ अवतार दुष्ट के दावन रे।' (६४६)

अथवा—'सूरदास प्रभु गोकुल प्रगटे मथुरा गर्व प्रहारी।' [६२२]

आराध्य कृष्ण का शैशवकाल गोकुल[2] में ही बीता। जन्म-मंगल—गान, नारछेदन,

---

१—डा० धीरेन्द्र वर्मा (ब्रजभाषा व्याकरण, पृ० ६) के अनुसार 'ब्रज' शब्द सर्वप्रथम ऋग्वेद संहिता में प्रयुक्त हुआ है, किन्तु वहाँ ढोरों के चरागाह अथवा पशुसमूह के अर्थों में आया है। फिर हरिवंश आदि पौराणिक साहित्य में इस शब्द का प्रयोग मथुरा के निकट नंद के ब्रज या गोष्ठ विशेष के अर्थ में हुआ। हिन्दी साहित्य में आकर ही मथुरा के आसपास का प्रदेश ब्रज या ब्रजमंडल के नाम से विख्यात हो गया।

ग्राउज़, पृ० ८०-८१, इसमें बारह वन, चौबीस उपवन सम्मिलित किये जाने लगे और परिधि अनुमानतः चौरासी कोस की मानी गई।

२—ग्राउज़ पृ० ८०-८१। ब्रज के चौबीस उपवन—गोकुल, गोवर्द्धन, बरसाना, नंदगाँव, संकेत परममंद्र, अरींग, शेषशायी, माट, ऊँचागाँव, खेलबन, श्रीकुण्ड, गंधर्ववन, परसौली, बिलछू, बछबन, आदिबद्री, करहला, अजनोख, पियासोबन, कोकिलाबन, दधिबन, कोटबन, रावलबन हैं।

दाढ़ी द्वारा बधावा, सोहिलो, पालना, नामकरण, अन्नप्राशन वर्षगांठ, कनछेदन, आदि— निश्चित संस्कारों एवं गृह्य-कर्मों के अतिरिक्त बाल-सुलभ-लीलाओं तथा चपलतापूर्ण दैनिक क्रिया-कलापों, जैसे—घुटनों तथा पैर-पैर चलना, चन्द्र-प्रस्ताव, कलेवा, मिट्टी-खाना, माखन-चोरी, उलूखन-बंधन आदि विविध प्रसंगों से संबंधित अनेक पद (६२२-१०१६) गोकुल की पृष्ठभूमि में ही लिखे गए हैं। जीवन के इस स्वाभाविक पक्ष के साथ-साथ विष्णु के अवतार कृष्ण द्वारा संपन्न कुछ अलौकिक घटनाएँ भी वर्णित हैं, जैसे—पांडे-भ्रम, मुख मे अखिल ब्रह्मांड-दर्शन, शालिग्राम-प्रसंग, पूतना, श्रीधर, कागासुर सकटासुर, तथा तृणावर्त वध और यमलार्जुन-उद्धार।

गोकुल मथुरा के पूर्वदक्षिण में एक गाँव है। मथुरा से गोकुल तक की दूरी केवल पाँच या छः मील है। श्री वल्लभाचार्य ने भी गोकुल को अपनाया था तथा यह वल्लभ संप्रदाय का प्रमुख केन्द्र था। आज भी यहाँ के कुछ प्रमुख मंदिर इसका स्मरण कराते हैं। इनमें प्राचीनतम इमारतें गोकुलनाथ, मदनमोहन, तथा विट्ठलनाथ की हैं (१५११ ई०)। नवनीतप्रिया के मंदिर तथा द्वारकानाथ (१५४६ ई०) का महात्म्य अधिक माना जाता है।[1]

१७०—गोकुल मे असुरों के इन उपद्रवों से ही चिन्तित होकर नंद तथा यशोदा ने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। उन्होंने **वृन्दावन**[2] (१०२०) में रहने का निश्चय किया—

'महर महरि कै मन यह आई।
गोकुल होत उपद्रव दिन प्रति, बसिए बृन्दावन मैं जाई।
सब गोपिनि मिलि सकटा साजे, सबहिनि के मन मैं यह भाई।
सूर जमुन-तट डेरा कीन्हे, पाँच बरस के कुँवर कन्हाई।' (१०२०)

फिर पाँच वर्ष की आयु से लेकर मथुरा जाने तक की समस्त लीलाओं का संबंध वृन्दावन से ही है। एक प्रकार से अब शैशव के बाहर पदार्पण करके बालक कृष्ण का घर तथा ग्राम के बाहर का जीवन यहाँ आते ही प्रारंभ होता है। यहाँ ही गोचारण तथा मुरली-वादन के साथ राधा तथा गोपियों के प्रेम की चरम अभिव्यक्ति हुई। संयोग-प्रेम के पदों में रूप-वर्णन, चीर-हरण, रासलीला, दानलीला, मानलीला, बसत तथा होली और कृष्ण के बहुनायकत्व आदि सब की पृष्ठभूमि वृन्दावन के निकट बहती जमुना तथा उसके तट के करील-कुंज एवं कदंब-निकुंज ही तो है—'नये कुंज अति पुंज नए, सुभग जमुन जल पवन हिलौरी'। (१३०३), 'लै सब चीर कदम चढ़ि बैठे' (१४०६), 'अति बिस्तार नीप तरु तामैं' (१४०२), बिहरत कुंजनि कुंजबिहारी' (१८०५), 'स्यामा स्याम सुभग जमुना जल निर्भ्रम करत बिहार।'

प्राचीन संस्कृत साहित्य में गोकुल का समानार्थक महावन ही है। महावन में कृष्ण के शैशव की अलौकिक घटनाओं के स्मारक आज भी बने हैं। ब्रज स्थित कृष्ण के रहने के चारों स्थानों—महाबन, नंदगाँव, गोवर्द्धन तथा मथुरा के समान राधा के भी चार स्थान वृन्दावन, रायवल, राधाकुण्ड तथा बरसाना माने गए हैं।

१—ग्राउज़, अध्या० ४, पृ० ४७

२—ग्राउज़, अध्या० ४ (वृन्दा = तुलसी) ब्रह्मवैवर्त पुराण में वृन्दा नामक व्यक्ति की कथा है। पहले वहाँ एक मज़ार भी था जिसका अब तो कोई अवशेष नहीं है। अकबर संभवतः एक बार वहाँ आए थे।

(१७७७), 'आजु निसि सोभित सरद सुहाई। सीतल मन्द सुगन्ध पवन बहै रोम रोम सुखदाई। जमुना पुलिन पुनीत, परम रुचि, रचि, मँडली बनाई' (१७५६)। तथा—'एक धौस कुजनि मैं माई। नाना कुसुम लेइ अपनैं कर, दिए मोहिं सो सुरत न जाई।' (४००२)। अतएव आराध्य के मथुरा-गमन के बाद यमुना, गाएँ तथा कुज और लता-वृक्ष आदि भी विरह-व्यथा से मुक्त न रह सके—'मोहन जा दिन बनहिं न जात। ता दिन पसु-पच्छी द्रुम बेली बिनु देखे अकुलात।' (३८२०) अथवा 'कालिन्दी अरु कमल कुसुम सब दरसन ही दुखदाई।' (३८१६)। उनके अलौकिक चरित्र की सूचक घटनाएँ भी घटित होती रहती हैं, जिनमें ब्रह्मा-वत्स-हरण, अघासुर, वकासुर, शंखचूड तथा प्रलंब आदि असुरों के वध, कालीय-दमन, दावानल-पान, गोवर्द्धनधारण, वरुण से नन्द की मुक्ति, तथा सुदर्शन-विद्याधर-शाप-मोचन आदि प्रमुख प्रसंग हैं। यशोदा की पुत्र के लिए विह्वलता, गोपी-विरह, तथा उद्धव का कृष्ण-संदेश लेकर वृन्दावन आना और भ्रमरगीत वाले पद सूरसागर के उत्कृष्टतम पदों मे से हैं।

मथुरा से छः मील की दूरी पर वृन्दावन नामक गाँव बसा हुआ है। इसके तीन ओर यमुना बहती हैं।[1] मुस्लिम राज्य में कई बार प्रयत्न किया गया था कि मथुरा का नाम इस्लामपुर और वृन्दावन का नाम मुमीनाबाद हो जाए पर उनको इस कार्य में सफलता न मिल सकी। कचहरी में अवश्य इस्लामपुर कभी-कभी सुनने में आता है। वल्लभ संप्रदाय से संबंधित अनेक मंदिर मथुरा, वृन्दावन तथा गोवर्द्धन में हैं। गोकुल, मथुरा तथा वृन्दावन में कृष्ण की उपर्युक्त लीलाओं से संबंधित स्थान आज भी स्मारक रूप में इन्हीं नामों से जाने जाते हैं तथा तीर्थस्थानों के समान पूजे जाते हैं। दूर-दूर से यात्री आकर इनके दर्शन करते हैं। इनमें पाँच पहाड़ियाँ, ग्यारह शिलाएँ, चार सरोवर, चौरासी तालाब, बारह कुएँ, बारह वन, तथा चौबीस उपवनों के क्रमानुसार दर्शन 'वन-यात्रा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सूर ने द्वादश बन का उल्लेख किया है (३४७२) तथा बृन्दा बिपिन भी कहा है (३४५८, ३४७१)।

१७१—मथुरा[2] (६२२, ३७१६) [संस्कृत मथूरा, मथुरा] ही कृष्ण की जन्मभूमि थी। मोक्षदा सप्त-पुरियों में इसका स्थान है। मथुरा-गमन से कृष्ण का दूसरा ही

१—ग्राउज़, अध्या० ४, पुराणों व प्रादेशिक विश्वास के अनुसार इस प्रकार यमुना के बहने के संबंध में एक कथा मिलती है। बलराम ने यमुना से रुष्ट होकर एक खाई बना दी और यमुना उसमें गिर गई। बलराम के क्रोधित होने के कारण दोनों कथाओं में भिन्न हैं। मुसलमानों की राज्य समाप्ति पर गोवर्द्धन तथा कोसी भी अलग-अलग परगने हो गए थे।

२—ग्राउज़, पृ० ३०, पुराणों के अनुसार राम के राज्य में मधु नामक एक राक्षस यमुना के तट पर रहता था। उसी के नाम पर यह वन 'मधुवन' कहलाया। शत्रुघ्न ने उसको मार कर और वह जंगल कटवाकर उसी स्थान पर मथुरा नगर बसाया। यदुवंश का कई पीढ़ियों तक वहाँ राज्य रहा। उनमें उग्रसेन अन्तिम राजा थे। महाभारत युद्ध का अनुमानतः समय एक हज़ार ई० पू० है। बुद्धकाल में मथुरा धर्म तथा कला का प्रमुख केन्द्र था। फ़ाहियान की यात्रा में मथुरा उल्लिखित है। वह सर्वप्रथम मध्य देश में जमुना पर बसी मथुरा ही आया था (४०० ई०)। उस समय यहाँ बीस मठ थे। वह एक महीने यहाँ रहा था। फ़ाहियान के दो सौ वर्ष बाद ह्वेनसांग (६२९-६४५ ई०) भी यहाँ आया था। इसके बाद धीरे-धीरे इसका उतना महत्व नहीं रहा। फिर हूणों

व्यक्तित्व आरंभ होता है और साथ ही वृन्दावनवासियों की अनन्त पीड़ा—'मथुरा नरनारी सुनैं, व्याकुल ब्रजबासी। सूर मधुपुरी आइकै, ये भए अबिनासी।' (३७३२) । ऐसा लगता है कि कथा का सिलसिला न टूटे इसलिए मथुरा आने के बाद की सभी घटनाएँ कवि बताता तो गया है, किन्तु, जैसे उनसे उसका मन दूर भागता है । उसको तो अपने इष्टदेव का गोकुल तथा वृन्दावन वाला ही व्यक्तित्व भाया है । इसीलिए इन दो स्थानों में संबंधित पदों में ही सूरसागर के प्राण हैं ।

कुछ पदों में कवि ने मथुरा नगरी के भाग्य की प्रशंसा अवश्य की है तथा उसका, वैभव-संपन्नता एवं वास्तुकला की दृष्टि से सौंदर्य-वर्णन भी किया है—'मथुरा दिन-दिन अधिक बिराजै। तेज प्रताप राइ केसौ कैं तीनि लोक पर गाजै।' (३७१४) अथवा 'जय-जय-जय मथुरा सुखकारी । चक्र सुदर्शन ऊपर राजति, केसव जू की प्यारी ।' (३७१५) तथा 'हाटक कोट कँगूरा राजत, हीरा रतन जरे। मनिमय भवन उतुग सुहाए नवधा भक्ति भरे। (३७१५) किन्तु वृन्दावनवासियों का रोष तो पूरे मथुरा पर है—'सखी री मथुरा मैं द्वै हंस । ये अक्रूर और ये ऊधौ, जानत नीकैं गंस ।' (४२०५) ।

मथुरा आते ही कृष्ण रजक-वध, त्रिवक्रा कुबरी पर कृपा, कुवलय मल्ल तथा कंस का वध आदि—प्रमुख घटनाओं में उलझ जाते हैं । उनका यज्ञोपवीत संस्कार भी यहीं होता है । इतने कामों में संलग्न होते हुए भी वे वृन्दावनवासियों का विस्मरण नहीं कर पाते । फलतः उद्धव ब्रह्म-प्रेम का संदेश लेकर भेजे जाते हैं ।

मथुरा के अन्य पर्याययाची शब्द मधुपुरी, मधुपुरि, (६२२, ३८१७, ३७६५,) [सं० मधुपुर, मधुपुरी] तथा मधुवन[१] (३७३४, ४२०६, ४१०६, २९९२) [सं० मधुवन] भी प्रयुक्त हुए हैं—'कालिन्दी कै कूल बसत इक मधुपुरी नगर रसाला । कालनेमि अरु उग्रसेन कुल उपज्यौ कंस भुवाला ।' (६२२) । आराध्य कृष्ण का आँखों से ओझल हो मधुपुरी जाना मानो अपने साथ ब्रजवासियों का सब सुख-शान्ति ले गया—'अब वे मधुपुरि हैं माधौ । जिनकौ बदन बिलोकत नैननि, जुग होतो पलआधो' (३८१७) । कभी वे अपनी असह्य पीड़ा

ने ध्वंस कर दिया । महमूद गज़नवी ने अपने नवें हमले में मथुरा पर भी हमला किया था । मुसलमानों के राज्यकाल में मथुरा का इतिहास में महत्त्व नहीं है । सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में अकबर के समय में मथुरा का भाग्य फिर चमका तथा वैष्णव धर्म के कारण फिर महत्त्व हुआ । १८०३ में मथुरा को अंग्रेज़ों ने सैनिक केन्द्र (military station) बना दिया ।

१—ग्राउज़, पृष्ठ ३, अकबर के राज्यकाल में आगरा सरकार के अन्तर्गत तैंतीस महाल व परगने थे । इनमें से ही पाँच मथुरा, महोली, मंगोतला, महावन तथा जलेसर थे । संस्कृत साहित्य में उल्लिखित मधुपुरी अब महोली नाम से विख्यात है तथा मथुरा से सिर्फ चार मील दूर है। वर्तमान मथुरा ज़िले का अधिकांश भाग (कोसी तथा शेरगढ़ से दक्षिण में औरंग तक) अकबर के समय में सहर सरकार के सात परगनों में से सदर परगने के अन्तर्गत आता था। ग्राउज़, पृ० ४७, मथुरा के निकट मधुवन में ही ध्रुव के तपस्या करने की कथा है । ध्रुव नाम की छोटी पहाड़ी पर एक मंदिर भी ध्रुव जी की स्मृति में बना हुआ (१८९४ ई०) है । मधुवन महोली गांव में स्थित है जो वर्तमान मथुरा से चार पाँच मील है ।

का बोझ जैसे कुब्जा पर उतार देना चाहती हैं—'कुबिजा नहिं तुम देखी है। दधि बेचन जब जाति मधुपुरी, मैं नीकैं करि पेषी है।' (३७६५)। माता की व्यथा का भी कोई अन्त नहीं—'सूर नंद फिरि जाहु मधुपुरी, ल्यावहु सुत करि कोटि जतन घन। (३७५७)।

मधुवन भी अनेक स्थलों में मथुरा का ही द्योतक है—

'तुमहिं छाँडि मधुवन मेरे मोहन, कहा जाइ ब्रज लैहौं।
कैहौं कहा जाइ जसुमति सौं, जब सन्मुख उठि ऐहै॥ (३७३४)

अथवा—'सब खोटे मधुवन के लोग।
जिनके संग स्यामसुन्दर सखि, सीखे है अपजोग।' (४२०९)

अथवा—'मधुवन लोगनि को पतियाइ
मुख औरै अंतरगति औरे, पतियाँ लिखि पठवत जु बनाइ।' (४२०९)

तथा—'चितवत ही मधुवन दिन जात्' (३८६१)

और—'देखि-देखि मधुबन की बाटहिं धूँधरे भए मेरे नैन' (३८३७)।

इन प्रसंगों के साथ ही कहीं-कहीं मधुवन ब्रज के एक विशेष वन का सूचक भी है[1]—'मधुबन तुम क्यों रहत हरे।' (३२२८)।

इस प्रकार विरह-वियोग के पदों में विशेष रूप से मथुरा, मधुपुरी अथवा मधुवन का बार-बार उल्लेख है। ठीक भी है—व्याकुल वृन्दावनवासियों के साथ कवि का हृदय भी तो बार-बार उधर ही खिंचा जाता है—'देखि सखो उत है वह गाउँ।

जहाँ बसत नँदलाल हमारे, मोहन मथुरा नाउँ।
कालिंदी कैं कूल रहत है, परम मनोहर ठाउँ।
जौ तन पंख होइँ सुनि सजनो, अबहिं उहाँ उड़ि जाउँ।'
(३८७१)।

१७२—कृष्ण के वृन्दावन जीवन के सिलसिले में अन्य दो गाँवों का उल्लेख भी हुआ है—महराने (८६६) तथा बरसानो (३५१३)। महाराना में यशोदा का मायका था। वहाँ से एक पाँडे के आने का प्रसंग है—'महराने तैं पाँडे आयौ। ब्रज घर-घर बूझत नँद-राउर पुत्र भयौ सुनि कै उठि धायौ।' (८६६)। साक्षात् ब्रह्म को कृष्ण रूप में समझने पर उसके आनंद की सीमा नहीं थी—बारंबार नंद कैं आँगन, लोटत द्विज आनंदमयौ' (८६८)। राधा के गाँव का ही नाम बरसाना था, अतः राधा-कृष्ण प्रेम-कथा में अनेक बार उसका उल्लेख हुआ है—'लै लै नाउँ गाउँ बरसानो' (३५१४)। राधा के पिता वृषभानु पर इसका नाम वृषभानु-पुरा (२७८२) भी था—'इनकौं ब्रजहीं क्यों न बुलावहु। की वृषभानुपुरा, की गोकुल, निकटहिं आनि बसावहु।' (२७८२)।

१—ग्राउज़ के अनुसार मधुबन ब्रज प्रदेश के बारह प्रसिद्ध वनों में से एक है। अन्य कुछ प्रमुख नाम काम-बन, खादिर-बन, वृंदावन तथा झीरबन हैं। कुछ विद्वान् मधुपुरी या मधुबन को मथुरा का ही समानार्थक मानते हैं। मथुरा तो प्रारंभ से ही यमुना के तट पर है, जब कि महोली दक्षिण पश्चिम की ओर चार पाँच मील दूर स्थित है। प्राचीन संस्कृत साहित्य तक में इन दो नामों के बीच यह गड़बड़ी है। हरिवंश में शत्रुघ्न द्वारा मथुरा बसाने का उल्लेख है, 'मधुपुरी' नहीं।

ब्रज के चौबीस उपवनों में बरसाना का स्थान भी है ।[१] मथुरा पर जरासंध द्वारा सत्रह आक्रमणों के बाद—'बार सत्तरह जरासंध मथुरा चढ़ि आयौ' (४७८१) अन्त में कृष्ण यह नगर छोड़कर गुजरात चले गये । वहाँ सिंधु तट पर उन्होंने अपनी नई राजधानी द्वारकापुरी बसाई—'गये द्वारिका स्याम राम जस सूरज गायौ' (४७८१) या 'सूरदास द्वारिकानिवासी प्राननाथ प्रभु पायौ ।' (४७८१) । थोड़े से पदों में द्वारकापुरी की शोभा का वर्णन भी है (४७८३, ४७८४)। इसके कई नाम प्रयुक्त हुए हैं—द्वारिका (४७८१) द्वारिकापुरी (२६८) तथा द्वारावति, द्वारावती (८३, ८४) [संस्कृत द्वारका, द्वारिका, द्वारावती]। कृष्ण का अन्तिम जीवन यहीं बीता ।[२] रुक्मिणी-हरण व विवाह, प्रद्युम्न-जन्म जाम्बवन्ती सत्यभामा विवाह, शतधन्वा भौमासुर वध, पंचपटरानी विवाह, प्रद्युम्न अनिरुद्ध विवाह, नृग उद्धार, पौंड्रक सुदक्षिण वध, सांब विवाह, जरासंध वध, शिशुपाल, शाल्व, दंतवक्र, भस्मासुर वध, सुदामा चरित्र, भृगु परीक्षा आदि यहाँ पर घटित होने वाली प्रमुख लौकिक और अलौकिक घटनाएँ हैं । दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध के ४७८२ पद के बाद के सभी पद इन्हीं घटनाओं पर आधारित हैं । कवि ने द्वारकानगरी की वास्तुकला एवं शोभा का वर्णन भी किया है—'द्वारावती कोट कंचन मैं रच्यौ रुचिर मैदान' (४७८४), 'दिन द्वारावति देखन आवत....बिद्रुम फटिक पची कंचन खचि मनिमय मन्दिर बने बनावत ।....अपनौ भवन न भावत ।' (४७८३) । द्वारका का एक नाम हरिपुर (२८६) [सं० हरि: + पुर] भी दो चार स्थानों में प्रयुक्त हुआ है—'यह कह पारथ हरिपुर गए ।' द्वारकापुरी का आज भी माहात्म्य है । कृष्ण जैसे अधिपति को पाकर वहाँ के निवासी स्वयं भी धन्य थे—'सूरदास द्वारिकानिवासी, प्राननाथ प्रभु पायौ ।' (४७८२) ।

१७३—कुरुखेत, कुरुच्छेत्र (४०११, ४८९३,) [सं० कुरुक्षेत्र] दशम स्कन्ध उत्तरार्ध में कृष्ण का द्वारका से रवि-ग्रहण-पर्व पर यहाँ आने का प्रसंग है । वे वृंदावन भी संदेश भेजते हैं—'कुरुच्छेत्र मैं आइ, दियौ इक दूत पठाई । नंद जसोमति गोपि ग्वाल सब सूर बुलाई ।' (४८९३) हरि दर्शन के लिए अनन्त काल से आतुर ब्रजवासी संदेश मिलते ही शकट सजा-सजा कर चल पड़े ।

इतनी लम्बी अवधि के उपरान्त कृष्ण तथा ब्रज के लोगों के मिलन का चित्रण अत्यन्त मार्मिक है—'दरसन कियौ आइ हरिजू कौ, कहत स्वप्न कै साँची' (४९००), 'तेरी जीवन मूरि

१—ग्राउज़ के अनुसार भरतपुर की सीमा पर बसा यह गाँव एक पहाड़ी पर स्थित है और छत्ता परगने में पड़ता है । 'लाड़ली जी' अर्थात् राधा को याद दिलाने—के लिए यहाँ अनेक छोटे-छोटे मन्दिर अब भी हैं । एक मंदिर राधा की सखियों-ललिता, विशाखा, चंद्रावलि आदि की स्मृति में बनाया गया है तथा एक वृषभानु तथा एक श्रीदामा का है । इस पहाड़ी की समानान्तर पहाड़ी पर पाँच मील दूर ही नंदगाँव बसा है ।

२—ग्राउज़, पृ० ३० महाभारत की कृष्ण कथा में उनका व्यक्तित्व द्वारिका के राजा तथा एक कुशल राजनीतिज्ञ एवं योद्धा जैसा ही चित्रित है । कृष्ण का रसिक-शिरोमणि तथा कन्हैया वाला व्यक्तित्व बाद में जोड़ा गया है । द्वारकापुरी की पूर्व कथा हरिवंश में मिलती है । अन्य पुराणों में भी यह कथा मिलती है किन्तु राधा का अस्तित्व इनमें भी नहीं है । भागवत पुराण इस कृष्ण चरित्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है ।

मिलहि किन माई। महाराज जदुनाथ कहावत, तबहिं हुते सिसु कुंवर कन्हाई।' (४९०१), अथवा 'हरि जू इते दिन कहाँ लगाए' (४९०६)। रुक्मिणी और राधा सगी बहिनों की तरह मिलती हैं (४९०९)। राधा तथा माधव के प्रेम के एकात्म्य का सुन्दर वर्णन है—'राधा माधव भेंट भई। राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई।....बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर, यह कहिकै उन ब्रज पठई।' (४९१०)।

नवम स्कन्ध की पुरुरवा-उर्वशी कथा से भी कुरुक्षेत्र का सम्बन्ध है। राजा पुरुरवा विरह-व्याकुल होकर कुरुक्षेत्र पहुँचे। वहां उनकी अवस्था देख द्रवित होकर उर्वशी ने उनको दर्शन दिये (४४६)। एक स्थल पर 'ज्यों कुरुखेत गड़े कौ सोनौ' (४७५६) उल्लेख भी हुआ है।

कुरुक्षेत्र प्रसिद्ध महाभारत युद्ध के लिए विशेष रूप से विख्यात है—'या रथ बैठि बंधु की गर्जहिं पुरवै को कुरुखेत' (२९)। आज भी दिल्ली और कालका के बीच में कुरुक्षेत्र का प्रसिद्ध मैदान पड़ता है और वहाँ मेला भी लगता है। वहाँ ज्योतीश्वर के पास एक बरगद का वृक्ष है। कहा जाता है कि यहाँ पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जगतविख्यात गीता का संदेश दिया था।

१७४—हस्तिनापुर (४८३९) [सं० हस्तिनपुरं, हस्तिनापुर] राजा हस्तिन द्वारा बसाया गया अत्यन्त प्राचीन नगर का नाम था। यह मेरठ ज़िले में दिल्ली से पचास मील उत्तर पूर्व के कोने में गंगा के तट पर बसा था। पाण्डु यहाँ का राजा था। पाण्डवों तथा कौरवों से संबंधित कृष्ण-कथा में इसका उल्लेख हुआ है—'हस्तिनापुर गये हुते हरि पांडु गृह, तहाँ तैं चले यह बात जानी'। हस्तिनापुर कुरु जनपद की राजधानी थी। इसका पाणिनि ने उल्लेख किया है।[१]

कुंडिनपुर (४७८५) [सं० कुंडिन] यह विदर्भों की राजधानी थी। यहाँ के राजा भीष्मराइ की पुत्री रुक्मिणी से ही कृष्ण का विवाह हुआ था। रुक्मिणी-हरण कथा मे इस नगर का वर्णन दिया गया है—'द्विज कहियौ जदुपति सौ बात।[१] वेद विरुद्ध होत कुंडिनपुर, हंस के अंस काग नियरात।' (४७८९)

चन्देरी[२] (४७८५)। शिशुपाल चंदेरी का राजा था और रुक्मिणी के भाई ने उसको रुक्मिणी से पाणिग्रहण करने के लिए बुलाया था—'रुक्म चँदेरी बिप्र पठायौ। ब्याह काज सिसुपाल बुलायौ।' (४७८५)।

वाराणसी (४८०१) [सं० वाराणसी]। रुक्मिणी कथा मे ही कृष्ण के विरुद्ध वाराणसी के राजा दंतवक्र के युद्ध करने का प्रसंग भी है—'साल्व, दंतवक्र वाराणसी कौ नृप, चढ़ै दल साजि मनौ अभ्र छाए।' (४८०१) प्रथम और द्वितीय स्कन्धों के विनय पदों (३४०, ३४६) मे

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ७१, ५४ अष्टाध्यायी में इसका उल्लेख है। थानेश्वर, हिसार तथा हस्तिनापुर के बीच का त्रिकोण प्रदेश कुरु राष्ट्र (गंगा जमुना के बीच में स्थित जिसकी राजधानी हस्तिनापुर थी), कुरु जंगल (रोहतक, हांसी, हिसार) तथा कुरुक्षेत्र (उत्तर में जिसका केन्द्र थानेश्वर कैथल और करनाल था) इन तीन विभिन्न नामों से जाना जाता था।

२—प० सं० टी०, १३७।७ 'दहिने बिदर चंदेरी बायें', दण्डकारण्य के साथ ही जायसी ने इन दो स्थानों का संकेत मात्र किया है। ४९१।१ 'का चितउर केहि काज चँदेरी', ५००।३ 'कांपा माँगै लेत चंदेरी।' आदि स्थानों में भी चंदेरी का उल्लेख जायसी ने किया है। शेरशाह का क़िला चंदेरी में भी था।

भी वर्णित तीर्थ स्थानों मे **बनारस** या **वाराणसी** का उल्लेख हुआ है—'अश्वमेध जज्ञहुँ जौ कीजै, गया बनारस अरु केदार। रामनाम सरि तऊ न पूजै जौ तन गारौ जाइ हिवार।' (३४६) अथवा—'बन बारानसि मुक्ति क्षेत्र है चलि तोकौं दिखराऊँ।' (३४०)। वाराणसी एक प्रमुख तीर्थ स्थान माना गया है और यहाँ मृत्यु होने पर स्वर्ग मिलने का विश्वास आज भी अनेक हिन्दुओ मे प्रचलित है। इसीलिए काशी मे 'करवत' लेने की प्रथा थी।[1] बहुत से लोग वृद्धावस्था में बनारस जाकर रहने लगते है। प्राचीन समय मे भी यह भारत के प्रसिद्ध नगरों मे था। उस समय विद्या एवं पाण्डित्य के क्षेत्र मे इसका ऊँचा स्थान था। पाणिनि ने भी उस समय के नगरों मे वाराणसी का नाम लिया है। बनारस का एक अन्य प्राचीन नाम काशी भी है, क्योंकि काशी जनपद की राजधानी वाराणसी थी[2]—

'यह निरगुन लै तिनहिं सुनावहु, जे मुड़िवा बसै कासी।' (४४८६)

अथवा 'बिनु तप पायौ कासी' (४०६४)। आजकल बनारस नाम ही प्रचलित है, किन्तु कुछ समय पहले सरकार ने फिर बदल कर वाराणसी नाम रख दिया है।

साल्व (४८०१)। रुक्मिणी-कथा मे कृष्ण-शिशुपाल युद्ध के सिलसिले में उल्लेख है। फिर यहाँ के राजा का वध भी कृष्ण ने किया—'सुभट साल्व करि क्रोध हरिपुर आयो' (४८३९)। अष्टाध्यायी में उल्लिखित जनपदों मे साल्व का स्थान है।[3]

नदियाँ

१०५—कृष्ण की ब्रज लीलाओ मे यमुना नदी का भी महत्त्व है। यमुना के निकट ही वृन्दावन बसा होने के कारण गोचारण, मुरलीवादन, चीर-हरण, रासलीला, दानलीला, यमुना-स्नान आदि सभी प्रमुख प्रसंगों से यमुना नदी का संबंध है—'जमुना तैहाँ बहुत रिझायो' (३५३१)। कुछ अलौकिक चरित्र से संबंधित घटनाएं भी यमुना तट पर हुई थीं जिनका उल्लेख किया जा चुका है। वियोग प्रेम के पदों मे ब्रजवासियो के साथ प्रकृति के व्याकुल होने का चित्रण है, फिर कृष्ण की प्रिया यमुना का भी दुखी होना स्वाभाविक ही था—'देखियत कालिंदी

१—प० सं० टी०, ११४।७ 'नाभी कुंजर बानारसी— सिर करवत तन करसी लै लै बहुत सीझे तेहि आइ।'
प० सं० टी०, ६०३।६ 'जाइ बनारसि जारिउ कया।'

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ३७, ७२ पूर्वी भारत के जनपदों में काशी भी था—कोशल, काशी, मगध, कलिंग और सूरमस। वाराणसी काशी जनपद की राजधानी थी। यहाँ के लोग 'वाराणसीय' कहलाते थे।

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ५५, ५६ साल्व तथा मत्स्य नामक जनपदों का साथ-साथ उल्लेख गोपथ ब्राह्मण और महाभारत में भी है। मत्स्य की राजधानी विराट् (जयपुर में बैराट) थी और साल्व भी उसके निकट ही होना चाहिए। संभवतः अलवर से उत्तरी बीकानेर तक यह जनपद था। अनुमान होता है साल्व काफ़ी दिन पहले पश्चिम से बलूचिस्तान व सिंध होते हुए आये थे और 'साल्व का गिरि' (वर्तमान हाला पर्वत) नाम में अपने चिह्न छोड़कर आए। ये लोग उत्तरी सौवीर से होते हुए सरस्वती के किनारे-किनारे चल कर उत्तरी राजस्थान में बस गए। यमुना तक उनके जाने की बात पर एक पुरानी वैदिक पंक्ति से प्रकाश पड़ता है—'यौगन्धारिनेव नो राजेत्वि साल्वीर— अवादिरूह विवृत्त-चक्रा आसीनास्तीरेण यमुने तव।'

अति कारी। अहो पथिक कहियो उन हरि सौं, भई विरह जुर कारी ॥[1]

गिरि-प्रजंक तें गिरति धरनि धँसि, तरंग तरफ तन भारी।
तट बारू उपचार चूर, जल-पूर प्रस्वेद पनारी॥
बिगलित कच कुस कांस कूल पर, पंक जु काजल सारी।
भौंर भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, दिसि दिसि दीन दुखारी॥
निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनो अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी॥' (३८०६)

कभी गोपियों का क्रोध जमुना पर भी उतरता है—'मोको माई जमुना जम ह्वै रही।
कैसें मिलौं स्यामसुन्दर कौ बैरिनि बीच बही॥
कितिक बीच मथुरा अरु गोकुल, आवत हरि जु नही।' (३८६२)

सूरसागर मे जमुना के कई नाम प्रयुक्त हुए हैं—जमुना, (११५१) [सं० यमुना—यम की बहन], रबितनया[2] [सं०] तथा कालिंदी (३८०६) [सं०, कलिंद पर्वत से निकली नदी]।

कालीय-दमन को कथा (११३६-१२०७) का संबंध भी यमुना नदी से है। उसके एक भाग मे ही कालीय नाम का नाग रहता था। उस स्थान को कालीदह (११४१) [सं० कालयः दहः—अग्नि] कहा गया है।

मथुरा के निकट यमुना एक मील के करीब चौड़ी है। कुछ वर्षो पहले तक इसका तट झाड़ियो और वृक्षों से ढका हुआ था। यही वन, खंडी (जैसे कोकिलाबन कदंबखण्डी आदि) आदि नामों से जाने जाते थे। बर्नियर ने यमुना स्नान के महत्त्व का उल्लेख किया है।[3]

सरस्वति (१८०२) [सं० सरस्वती] सुदर्शन-विद्याधर-शाप-मोचन प्रसंग मे सरस्वती नदी का उल्लेख हुआ है। नंद गोपी-ग्वालों के साथ इसके ही तट पर गए थे जब उन्हे सांप ने काट लिया था—'नद सब गोपी ग्वाल समेत।
गए सरस्वति तट इक दिन, सिव अँबिका पूजा हेत।' (१८०२)।

पाणिनि ने सरस्वती नदी का उल्लेख किया है।[4] यह एक प्राचीन नदो है। प्रयाग मे गंगा, यमुना तथा सरस्वती-तीनों नदियों के संगम (त्रिवेणी) होने का विश्वास चला आ रहा है, किन्तु अब इसका वहाँ कोई अस्तित्व नही है।

१—प० सं० टी०, ११४।६ 'कै कालिंदी विरह सताई। चलि पयाग अरइल बिच आई।'

२—मानस, अयोध्या०, ११२ पुनि सिय रामलखन कर जोरी। जमुनहिं कीन्ह प्रनामु बहोरी।
चले ससीय मुदित दोउ भाई। रबितनुजा कइ करति बड़ाई।

३—बर्नियर, पृ० ३०२, बर्नियर ने लिखा है कि सूर्यग्रहण (१६६६ का ग्रहण) के समय हिन्दू यमुना में स्नान करते थे। उसके बाद ब्राह्मणों को दान देते थे। इसी प्रकार गंगा, सिन्धु तथा और दूसरी नदियों में भी स्नान की प्रथा थी। थानेश्वर के तालाब की महत्ता भी थी।

४—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ४६ अनेक नदियों के संबंध में सरस्वती नदी होने का संदेह किया जाता है। उदीच्य तथा प्राच्य भागों को बाँटने वाली नदी इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध थी।

सिन्धु (४८६७) [सं०] । दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध मे कृष्ण के द्वारका से कुरुक्षेत्र आने का संदेश सुन कर ब्रजवासी आनन्दित हो उठते हैं—'पथिक कह्यौ ब्रज जाइ, सुने हरि जात सिन्धु तट । सुनि सब अंग भए सिथिल, गयो नहिं बज्र हियो फटि ।' सिन्धु समुद्र के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है—'गयो कूदि हनुमन्त जब सिन्धु पारा' (५२०) । सिन्धु नदी के सम्बन्ध में आगे बताया गया है ।

पर्वत

१७६—**गोवर्द्धन** (१४३८) [सं० गोवर्द्धनः] गोवर्धन पूजा और धारण शीर्षक अनेक पद (१४२९-१६२१) है । कृष्ण द्वारा गोवर्धन को सात दिन लगातार उंगली पर उठाने की कथा भी उनके अलौकिक चरित्र में ही आती है।

मथुरा से क़रीब तेरह मील दूर गोवर्द्धन की छोटी सी पहाड़ी और गाँव अब भी हैं । इसी मार्ग पर मथुरा से तीन मील दूर शान्तनुकुंड है जो शान्तनु की पुत्र के लिए तपस्या तथा गंगा द्वारा पुत्र भीष्म की प्राप्ति का स्मरण कराता है ।

उपर्युक्त गोर्वधन कथा के कारण ही हिन्दुओं मे इसका अत्यधिक महात्म्य है और गिरिराज के नाम से पूजा जाता है । शुरू के साहित्य मे 'अन्नकूट' नाम भी मिलता है । यह इतना पवित्र माना जाता है कि यहाँ से पत्थर लेने का निषेध है । यहाँ वल्लभाचार्य का बनवाया (१५२० ई०) श्रीनाथ जी का मन्दिर भी है। औरंगज़ेब के समय मे इसकी मूर्ति नाथद्वार उदयपुर भेज दी गयी थी । अतः अब गिरिराज की चोटी पर इस मंदिर का खँडहर मात्र रह गया है । हर वर्ष अब भी यहाँ अन्नकूट का उत्सव होता है तथा गोवर्धन की पूजा की जाती है । कार्तिक के महीने मे इसकी परिक्रमा का भी महत्त्व है ।[१] सूरदास जी श्रीनाथ जी के मंदिर में ही भजन-कीर्तन किया करते थे ।

अन्य स्थान

बंसीबट, संकेतबट (३५१३,१०७८) । यमुना के तट पर इन स्थानों में कृष्ण के विचरण करने का वर्णन अनेक पदों में है—'जमुना कूल मूल बंसीबट, गावत गोप धमारि (३५१३) तथा—'फिरत बननि बृन्दाबन, बंसीबट, संकेत बट' (१०७८) । ब्रज के प्रसिद्ध चौबीस उपवनों में से संकेत भी एक है । 'बंसीबट बृन्दाबन जमुना तजि बैकुंठ न जावै' (३४९), 'बंसीबट अति सुखद, और द्रुम पास चहूँ हैं । सखा लिये तहँ गए, धेनु बन चरति कहूँ हैं' (१०५५)—आदि वर्णन हैं ।

२—रामकथा सें संबंधित शब्दावली

१७७—सूरसागर का नवम स्कन्ध रामकथा पर ही आधारित है । अन्य कुछ थोड़े से स्फुट प्रसंग भी है । इन थोड़े से पदों मे ही पूरी कथा बता दी गयी है । रामकथा से संबंध रखने वाले प्रमुख नाम इस प्रकार हैं—

नगर आदि

अजोध्या, अयोध्या (४८८), (४६४) [सं० अयोध्या] राम-जन्म पर अयोध्या-वासियों के हर्ष का वर्णन है—'अजोध्या बाजति आजु बधाई' (४६१) ।[६]

या' फूले फिरत अजोध्याबासी, गनत न त्यागत चीर' (४६०) । इसके अन्य नाम **अवधपुर, अवधपुरी** (४७७) [सं० अयोध्यापुरी] तथा **कोसलपुर** (५१३) [सं० कोशल-पुर] भी थे—'अवधपुर आये दसरथ राइ' (४७३) अथवा—' महाराज दसरथ मन धारी ।

१—ग्राउज

अवधपुरी को राज राम दै, लीजै व्रज बनचारी।' (४७४), तथा 'दसरथ-सुत कौसलपुर -बासी' (५२३)। प्राचीन समय में कोशल जनपद था। पाणिनि ने इसका उल्लेख किया है।[१] अयोध्या सरयू नदी के तट पर बसी हुई थी और सूर्यवंशो राजा दशरथ की राजधानी थी[२]—'हमारो जन्मभूमि यह गाउँ। सुनहुँ सखा सुग्रीव विभोषन अवनि अजोध्या नाउँ—अपनी प्रकृति लिये बोलत हौं सुरपुर मैं न रहाउँ' (६०६)।

आज भी फ़ैज़ाबाद शहर से कुछ मील दूर सरयू के तट पर अयोध्या शहर है जो राम का जन्मस्थान होने के कारण पवित्र माना जाता है तथा वहाँ के अनेक मंदिर अब भी उनका स्मरण दिलाते हैं। यहाँ हर वर्ष रामनवमी का मेला होता है। अवध वर्तमान समय में एक खंड है। इसमें लखनऊ, फ़ैज़ाबाद, सीतापुर, हरदोई आदि बारह जिले हैं। मुसलमानों के राज्य-काल मे भी अवध तथा फ़ैज़ाबाद का महत्त्व था। अवध की संध्या (शामे अवध) अपने सौंदर्य के लिए प्रसिद्ध है।

मिथिलापुर (४८०६) [सं० मैथिलः] के राजा जनक की ही पुत्री सीता थीं। यह विदेह देश की राजधानी थी।[३] राजा जनक के नाम पर ही इसका दूसरा नाम जनकपुर (४६८,४७२) भी मिलता है। सीता के दो नाम मैथिली और जानकी इन्हीं नामों पर आधारित हैं।

पंचबटी (८१७) [सं० पंचवटी] वनवास काल में राम के यहाँ रहने का उल्लेख है। यहाँ सूर्पनखा-नासिकोच्छेदन तथा सीताहरण आदि घटनाएँ घटित हुई थीं—'कहँ तात के, पंचबटी बन, छाँड़ि चले रजधानी। तहाँ बसत सीता हरि लीन्ही रजनीचर अभिमानी।[४]' विष्णु के दोनों ही अवतार थे—राम और कृष्ण। यशोदा शिशु कृष्ण को राम की कहानी सुलाते समय सुनाती हैं। वे अपने पूर्व चरित्र का स्मरण कर वर्तमान स्थिति को भूल जाते हैं और कह उठते है—'लछिमन, धनुष देहु कहि उठे हरि, जसुमति सूर डरानी।' (८१७)।

पंचवटी दण्डकारण्य के अन्तर्गत था तथा वर्तमान नासिक के निकट गोदावरी के तट पर बसा हुआ था।

लंका, लंक (५३०,५४६) [सं० लंका]। रावण लंका का राजा था और सीताहरण के बाद उनको यहाँ की अशोकवाटिका में रक्खा गया था। हनुमान द्वारा लंका जलाने का प्रसंग भी है—'लंका सकल जरी,'[५] (५४२, ५४३,५४४)। लंका की राजधानी के लिए लंका के अतिरिक्त कनकपुरी, कनकपुर (५१६) [सं०], कंचनपुर (५२५) [सं०] अथवा हाटकपुरी (५३३) [सं०] भी आया है। इसका कारण वहाँ की वैभव-सम्पन्नता ही है।

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ६० —पाली पुस्तकों में सोलह महाजनपदों में से एक कोसल भी है। इसके नगर श्रावस्ती का पाणिनि 'गणपाठ' में उल्लेख हुआ है और 'इक्ष्वाकु' तथा 'सरयू' का निर्देश सूत्र ६, ४, १७४ में है। पतंजलि ने 'इक्ष्वाकु' जनपद बताया है जो कोसल का ही दूसरा नाम है।

२—मानस०, बा०, १८८, 'अवधपुरी रघुकुलमनि राऊ।'
मानस०, अरण्य०, १२, 'नाम कोसलाधीस कुमारा।'

३—मानस०, बाल० २१२, 'बेगि बिदेह नगर निअराया।'

४—मानस०, अरण्य०, २१ 'पंचबटी बसि श्री रघुनायक। करत चरित सुर मुनि सुखदायक।'

५—मानस०, सुंदर०, २६ 'उलटि पलटि लंका सब जारी।'

लंका पहुँचने पर हनुमान की चिन्ता का वर्णन है, साथ ही लंका नगर का भी—'चहुँ दिसि **लंक-दुर्ग** दानव दल, कैसें पाऊँ जान। सौ जोजन बिस्तार कनकपुरि, चकरी जोजन बीस।' (५१६)। फिर वहाँ के मत्त गजों, छत्रध्वजा, वैभव तथा निशाचरों का भी वर्णन है।[१]— (५१६) **लंक दुर्ग, लंक गढ़** (५६६) वहाँ के दुर्ग का सूचक है।

राम-कथा मे ही लंका जाने के लिए राम द्वारा **सेतुबन्ध** (५६८) का महत्त्वपूर्ण प्रसंग भी है—'सेतु-वंध करि तिलक, सूर प्रभु रघुपति उतरे पार' (५६८) अथवा 'पाहन सौं बाँधि सिधु, लंका गढ़ घेरै' (५६२)। पद्मावत मे भी लंका-दाह तथा सेतु-बन्ध की चर्चा है।[२] मानस में भी 'सिंहल' नाम उल्लिखित है।[३] पुराणों के अनुसार सात द्वीपों मे से एक लंका भी है।

नदियाँ

१७८—**सरजू** (४८८) [सं० सरयु, सरयू]। अयोध्या नगर सरयू के तट पर ही बसा है—'उत्तर दिसि हम नगर अजोध्या, है सरजू कैं तीर।' (४८८)। पाणिनि ने नदियों मे सरयू का उल्लेख किया है[४]।

पर्वत

रिष्यमूक पर्वत[५] (५ २) [सं० ऋष्यमूकः]। यह पर्वत पंपा सरोवर के निकट है। सुग्रीव अपने बड़े भाई बालि के भय से इसी पर्वत पर रहा करते थे—' रिष्यमूक पर्वत विख्याता। इक दिन अनुज सहित तहँ आए, सीतापति रघुनाथा। कपि सुग्रीव बालि के भय तैं बसत हुतौ तहँ आइ।' (५१२)।

त्रिकूट[६] (४२६) [सं० त्रिकूटः]। यह लंका का एक पर्वत है। इस पर ही लंका नगरी बसी हुई है। गज ग्राह कथा मे इस पर्वत का नाम आया है। ऋषि अगस्त्य के शाप से राजा इंद्रद्युम्न त्रिकूट पर्वत पर गज हो गए थे—'भयो त्रिकूट पर्वत गज सोइ।'

वन

दंडक वन (५०१) [सं०]। यह विन्ध्य पर्वत से गोदावरी नदी के किनारे तक फैला हुआ एक प्राचीन वन है।[७] नर्मदा तथा गोदावरी नदियों के बीच दक्षिण भारत का

१—पद्मावत में भी सिंहल द्वीप का विस्तृत वर्णन है (१५६, ६५)। उसमें सिंहलद्वीप नाम ही प्रायः प्रयुक्त हुआ है—'सिंहल द्वीप आदि कबिलासू।' (६५) लंक शब्द भी कहीं कहीं है (३६३।२) 'जहिया लंक डही श्री रामा।'

२—प० सं० टी०, ३६३।४ 'सेतबंध जहँ राघौ बांधा।'

३—मानस, अयो०, २२३, 'जनु सिंहल बासिन्ह भयउ बिधि बस सुलभ प्रयागु।'

४—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ४५, राष्ठी नदी, सरयू की सहायक नदी थी। ऋग्वैदिक भारत में हेरत के निकट बहने वाली एक नदी का नाम भी सरयू था। (प्राचीन फ़ारसी में 'हरयू' और वैदिक में सरयू)। डेरियस प्रथम (५१६ ई० पू०) ने 'हैरवै' (हरयू के लोग) का उल्लेख किया है।

५—मानस०, किष्कि०, 'रिष्यमूक पर्वत निअराया। तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा।'

६—हर्ष० सां० अ०, पृ० १२५, हर्ष ने सारे भारत पर अधिकार करने का निश्चय किया—पूर्व में उदयाचल, दक्षिण में त्रिकूट, पश्चिम में अस्तगिरि तथा उत्तर में गन्धमादन तक स्वामित्व की घोषणा कर दी।

७—मानस०, अरण्य० १३, 'दंडक बन पुनीत प्रभु कर हू'

प्रसिद्ध भाग है। श्रीरामचंद्र के समय में यह उजाड़ था। चित्रकूट के बाद राम यहाँ आकर पंचवटी में रहने लगे थे। यहाँ ही सूर्पनखा-नासिकोच्छेदन खरदूषण-वध तथा सीता-हरण आदि रामकथा की महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुई थीं—'खरदूषण यह मुनि उठि धाये। —सूर्पनखा ये समाचार सब लंका जाइ सुनाए—दंडक बन आए छल करिकै, सूर राम लखि धाए।' (५०१)।

हर्षचरित में बाण ने इस वन का उल्लेख किया है[1]। पद्मावत में भी हीरामन तोता सिंहलद्वीप का मार्ग बताते समय दंडकारण्य का नाम लेता है[2]।

अन्य स्थानवाचक शब्द

नगर

१७९—**गया**(३४६) [सं०] यह बिहार प्रान्त का एक प्रसिद्ध स्थान है। प्राचीन समय से ही यहाँ सनातनधर्मी हिन्दू अपने पितरों का तर्पण करने के लिए जाते हैं। नाम-माहात्म्य के पदों में प्रायः सभी प्रमुख तीर्थ-स्थानों का उल्लेख हुआ है। पद्मावत मे भी तीर्थ-स्थानों के नाम मिलते है। एक स्थल पर अठारह नदियाँ तथा ६४ तीर्थ बताये गये हैं।[3]

१—हर्ष० सा० अ०, पृ० १८५, राज्यश्री को ढूंढने हर्ष विन्ध्या के जंगलों में गए थे। पश्चिम में चंबल, सिन्ध, बेतवा, केन के मध्यवर्ती प्रदेश को लेकर पूर्व में शोण तक आटविक राज्य फैले पड़े थे। उन्हीं के भौगोलिक उत्तराधिकारी कुछ दिनों पहले तक बुंदेलखण्ड व बघेलखण्ड के छोटे-छोटे राजा थे। इसके दक्षिण में घने जंगलों की मेखला महाकान्तार का प्रदेश रहा होगा। हर्ष के समय में इसका पश्चिमी भाग दंडकवन तथा पूर्वी महाकान्तार कहलाता था। विन्ध्याचल के उत्तर में आटविक राज्य था और उससे दक्षिण में दंडकवन महाकान्तार फैले हुए थे।

२—प० सं० टी०, १३७।४—'परे आइ अब वनखंड माहाँ। डंडक आरन बीझ बनाहाँ।
सघन ढाँख बन चहुँ दिसि फूला। बहु दुख मिलहि इहाँ कर भूला।
झाँखर जहाँ सो छाड़हु पंथा। हिलगि मकोइ न फारहु कंथा।'

३—प० सं० टी०, ६०३, पद्मावत में भी सब प्रमुख पुण्य स्थानों के नाम मिलते हैं—
'गइउं प्रयाग मिला नहिं पीऊ। करवत लीन्हा दीन्ह बलि जीऊ।
जाइ बनाएसि जरिउं कया। पारिउं पिंड निबहुरे गया।
जगरनाथ जगरन के आई। पुनि दुवारिका जाई अन्हाई।
जाइ केदार दाग तन कीन्हेउ तहँ न मिला तब आंकि।
ढूंढि अजोध्या सब फिरिउं सरग दुवारी झांकि।।'

प० सं० टी०, ६०४।१, २ 'जल जल नदी अठारह गंडा, चौंसठि तिर्थ कीन्ह सब ठाऊं'
(२) मध्यकालीन तीर्थ ग्रन्थों में प्रायः भारत की प्रमुख अठारह नदियां बताई गई हैं। वन पर्व ११४।२ के अनुसार गंगा पाँच-सौ नदियों को लेकर समुद्र से निकलती है तथा पंचतंत्र के अनुसार नौ-सौ (यत्र जाह्नवी नव नदी शतानि गृहीत्वा नित्यमेव प्रविशति तथा सिन्धुश्च'। (पंचतंत्र १।३५८)। वाचस्पति मिश्र के तीर्थ चिन्तामणि आदि ग्रन्थों में मध्यकालीन तीर्थों की संख्या बताई गई है वर्ण रत्नाकर में सत्तर तीर्थ बताये गये हैं।

प्रयाग[१] (४१६) [सं०प्रयाग] यह गंगा-यमुना के संगम पर स्थित एक पुण्य स्थान है। गौतम तथा अहिल्या की कथा में प्रयाग के माहात्म्य का अनुमान होता है—जज्ञ कराइ प्रयाग न्हवायौ। तौहूँ पूरब तन नहिं पायौ।' (४१६)। इस नगर का प्राचीन नाम प्रयाग था किन्तु अब 'इलाहाबाद' नाम ही अधिक प्रचलित है। 'प्रयाग' नाम भी चल रहा है।

बदरिका, बदरिकाश्रम (३८४, ४६३०) यह हिमालय पर्वत में स्थित एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। शंकराचार्य द्वारा निश्चित किये हुए चार धामों—बद्रीनाथ, द्वारिका, पुरी तथा रामेश्वरम् में बद्रीनाथ भी एक है। बदरिकाश्रम में नारायण का अवतार रूप में वहाँ रहने की कथा सूरसागर में वर्णित है (४६३०)। उद्धव-पश्चात्ताप प्रसंग में भी इसका उल्लेख है—'कहत पठवन बदरिका मोंहि, गूढ़ ज्ञान सिखाइ' (३८४)।

केदार (३४६) हिमालय में स्थित बद्रीनाथ के निकट एक अन्य तीर्थ स्थान है। नाम-माहात्म्य के पदों में इसका भी उल्लेख है—'गोबिंद-भजन करौ इहिं बार।.... अस्वमेध जज्ञहु जो कीजै, गया, बनारस अरु केदार। राम नाम सरि तऊ न पूजै, जौ तनु गारौ जाइ हिवार।' (३४६)। बद्रीनाथ व केदार नाथ के मदिरों के दर्शन करने आज भी सैकड़ों लोग हर वर्ष जाते हैं। पहले इन स्थानों तक पहुँचना अत्यन्त कठिन होता था किन्तु अब धीरे-धीरे मार्गों की सुविधा होती जा रही है।

कन्नौज[२] (४१५) अजामिल ब्राह्मण की कथा नाम-माहात्म्य संबंधी पदों में दी गयी है। अजामिल कन्नौज का रहने वाला था—'अजामिल बिप्र कन्नौज निवासी।'

आज कन्नौज फ़र्रुखाबाद की एक छोटी-सी तहसील है और यहाँ का इत्र प्रसिद्ध है।

जालंधर (१०४) ईश्वर-भक्ति संबंधी पदों मे जालंधर-युवती के पातिव्रत्य का उल्लेख किया गया है—'पतिव्रता जालंधर—जुवती, सो पति-ब्रत तैं टारी।' यह पूर्वी पंजाब में स्थित एक नगर है।

नीलावती (१०१४) उस समय नीलावती के चावल प्रसिद्ध थे। ऐसा ज्ञात होता है—'नीलावती चाँवर दिव-दुर्लभ।'

नीमषार (२२८) भागवत कथा सुनाने के प्रसंग में प्रथम स्कंध में सूत का नीमषार से आने का वर्णन है—'सो पुनि नीमषार तैं आयौ।'

नदियां

१८०—**सिंधु** (विनय) [सं०] पंजाब की एक प्रसिद्ध नदी है। विनय पदों में इसका उल्लेख है। पाणिनि ने भी उत्तर-पश्चिमी नदियों की सूची में सिंधु का नाम दिया है। इस नदी के नाम पर ही इसके पूर्व का प्रदेश सिन्ध कहलाता था (वर्तमान सिन्ध-सागर-दोआब)। इसका उद्गम-स्थल पश्चिमी कैलाश है जो तिब्बत में आता है। प्राचीन समय में नदी के उस ओर का प्रदेश 'पारे-सिन्धु' कहलाता था।[३]

गंगा (४५६) भारत की सबसे अधिक प्रसिद्ध नदी गंगा है। हिन्दुओं में इसकी

१—राम-कथा में चित्रकूट जाते समय राम का प्रयाग रुकने का वर्णन है। यहाँ भारद्वाज मुनि का आश्रम था—'मानस०, अयो०, १०८, 'भरद्वाज आश्रम सब आए,' 'प्रात प्रयाग न्हाइ'

२—प० सं० टी०, ५२६।५ 'मलिक जहाँगिर कनउज राजा'

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ४३

महत्ता प्रमुख तीर्थस्थानों से कुछ बढ़कर ही है । गंगा-स्नान से सब पाप नष्ट होने का विश्वास है। गंगा-जल भी पवित्र माना गया है । मृत्यु के समय सनातनी हिन्दुओं में गंगाजल पिलाने की प्रथा है । सूरसागर में गंगा के पृथ्वी पर आने तथा स्तुति से संबंधित अनेक पद हैं । नवम-स्कन्ध में गंगा-आगमन का विस्तृत वर्णन है (४५३)। सूर्यवंश के राजाओं से संबध होने के कारण इस स्कन्ध मे यह प्रसग है । राजा भगीरथ के कठिन तप के फलस्वरूप शिव को जटाओं में स्थित गंगा के पृथ्वो पर आने की कथा पुराणों में भी मिलती है । भगीरथ के नाम से गंगा का नाम भागीरथी पड़ा । इसका एक अन्य नाम मंदाकिनी (५४५) [सं० मंदाकिनी] भी है। गंगोत्री से निकलने के बाद पर्वत में स्थित धारा आज भी भागीरथी के नाम से प्रसिद्ध है। उत्तर काशी के निकट भागीरथी में मिल जाती है । चित्रकूट के निकट बहने वाली एक अन्य नदी का भी नाम मंदाकिनी है। गंगोत्री से निकली धारा भागीरथी में पर्वतीय प्रदेश में जहाँ अन्य नदियाँ मिलती हैं, वहाँ एक प्रयाग माना गया है, जैसे कर्ण-प्रयाग, रुद्र-प्रयाग तथा देव-प्रयाग आदि । पुराणों के अनुसार यह स्वर्ग में बहनेवाली गंगा की धार है। ब्रह्म-वैवर्त पुराण के अनुसार यह एक अयुत योजना लम्बी है तथा हरिवंश के अनुसार द्वारिका के निकट की एक नदी का नाम भी मंदाकिनो था। सूरसागर में गंगा के अन्य दो नामों का उल्लेख भी है—माधव बेनी (४५५) [सं० माधव-बेणी] तथा सुरसरी (३०७) [सं सुरसरित] 'नाग-नर-पसु सबनि चाह्यौ सुरसरी कौ बुंद' (४५४), जय-जय, जय-जय[१] माधव बेनी, जगहित प्रकट करी करुनामय' (४५५), अथवा 'गंग-तरंग बिलोकत नैन। अतिहिं पुनीत बिष्नु पादोदक, महिमा निगम पढ़त गुनि चैन ।' (४५६)। राम-कथा के अन्तर्गत सीता हनुमान-संवाद में भी उल्लेख हुआ है—'मंदाकिनि-तट-फटिक सिला पर, मुख-मुख जोरि तिलक की करनी ।' (५४५)। यह सवंप्रथम हरिद्वार में आती है इसीलिये हरिद्वार को भी पुण्य स्थान मानते हैं। वास्तव में गंगा से इतने लाभ हैं कि उसकी महत्ता ठीक ही है। गंगा जल पवित्र मानने का एक कारण औषधिक महत्व भी है । यह बहुत दिन रक्खा रहने पर भी ख़राब नहीं होता—'गंगाजल तजि पियत कूप जल' (२९६), अथवा 'तुम निर्मल गंगा-जलहू तै' (२५७८)। गंगा, यमुना, सरस्वती के रंगों[२] का उल्लेख भी है—

'चंदन खौरि ललाट स्याम कैं, निरखत अति सुखदाई ।
मनौ एक संग गंग-जमुन नभ, तिरछी धार बहाई।'

अथवा, 'अरुन स्वेत सित झलक पलक प्रति को बरनै उपमाई ।
मनु सरसुति, गंगा जमुना मिलि, अश्राम कीन्ही आई ।, (२४३१)

संगम के लिए त्रयधार का प्रयोग भी हुआ है ।

बेनी (३४६) [सं० वेणी, त्रिवेणी] प्रयाग गंगा यमुना के संगम पर ही अवस्थित है।[३]

१—मानस०, बाल० ३१, 'रामकथा मंदाकिनी', १०६, 'जटा मुकुट सुरसरित सिर', २११, 'जेहि प्रकार सुरसरि महि आई ।'

२—प० सं० टी०, १००।१ बरनौं माँग सीस उपराहीं ।..........................जमुना माँझ सुरसती देखी....................तेहि पर पूरि धरे जौं मोंती । जमुना माँझ गाँग के सोती ।'

३—मानस०, अयोध्या०, २०४ 'देखत स्यामल धवल हिलोरे, पुलकि सरीर भरत कर जोरे । सकल कामप्रद तीरथराऊ । बेद विदित जग प्रगट प्रभाऊ ।'

यहाँ तीसरी नदी सरस्वती के मिलने के विश्वास होने के कारण' 'त्रिवेणी' नाम है।[१] त्रिवेणी भी हिन्दुओं के लिये अत्यधिक पवित्र है—'सहस बार जौ बेनी परसौ, चंद्रायन कीजै सौ बार' (३४६)।

त्रिवेणी के निकट अकबर द्वारा निर्मित किला आज भी है तथा हर वर्ष माघ में एक बड़ा मेला लगता है। त्रिवेणी तथा गंगा की पूजा करने वाले सनातनी हिन्दू दूर-दूर से यहाँ स्नान करने आते हैं। एक बार त्रिवेणी स्नान से सब पाप नष्ट होने तथा स्वर्ग-प्राप्ति का उनको विश्वास है।

गोदावरी[२] (२२४) [सं० गोदावरी] विन्ध्य पर्वत के ही दक्षिण में बहने वाली एक प्रसिद्ध नदी है। विनय पदों में इसका उल्लेख हुआ है।

गंडकी[३] (४१०) [सं गंडकी] रिषभदेव के पुत्र जड़भरत की कथा में इस नदी का उल्लेख हुआ है। इसके तट पर ही हिरनी के शावक मिलने का सयोग हुआ था—'एक दिवस गंडकि-तट जाइ। करन लगे सुमिरन चित लाइ।' यह उत्तरी भारत की एक नदी है जो गंगा मे गिरती है।

गोमती (४८२८) [सं०] दशम-स्कन्ध उत्तरार्ध मे हरि-लीला से चकित होकर नारद के गोमती तट पर आने का उल्लेख है—'मन यह करत विचार गोमती तट आए'। वर्तमान लखनऊ नगर गोमती तट पर बसा हुआ है।

पर्वत

१८१—**हिवार** (३४६) [सं० हिमालय), हिमाचल, अथवा हिमाद्रि] भारत की प्रसिद्ध उत्तरी पर्वत श्रेणी हिमालय नाम से विख्यात है। संसार को सबसे अधिक ऊँची चोटी एवरेस्ट हिमालय पर्वत में ही है। पहले संसार से विरक्त होकर लोगों के हिमालय मे जाकर तप करने की प्रथा थी। युधिष्ठिर आदि ने भी हिमालय मे जाकर ही शरीरात किया था। द्वितीय-स्कन्ध के एक पद मे तीर्थ-स्थानों के साथ इसका उल्लेख है—'जौ तनु गारौ जाइ हिवार।' (३४६)। पद्मावत में 'हिवंचल' नाम अधिक प्रयुक्त हुआ है।[४] पाणिनि ने भी 'हिमानी' नाम से उल्लेख किया है।[५]

धौलागिरि (३५१६) [सं० धवलगिरि] हिमालय की हिम से ढकी चोटियों को ही धवलगिरि कहा जाता है। फाग-शीर्षक एक पद में प्रयुक्त उत्प्रेक्षा मे इसका उल्लेख हुआ है—'बहुत भरे बलराम सबनि गहि। धौलागिरि मनु धातु चली बहि।' (३५१६) इस पर्वत से अनेक औषधिक जड़ी-बूटियाँ प्राप्त होती है।

मैनाक [सं० मैनाक] यह हिमालय और मैना का पुत्र माना जाता है। कथा के अनुसार

१—प० सं० टी०, १००।१, बरनौ माँग सीस उपराहीं।........जमुना माँझ सुरसती देखी।........तेहि पर पूरि धरे जौं मोंती। जमुना माँझ गोंग कै सोती।'

२—मानस०, अरण्य०, १३—'गोदावरी निकट प्रभु रहे परन गृह छाइ।'

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ४५, रथस्या नामक नदी का स्थान जैमिनीय ब्राह्मण तथा आदि पर्व में वर्णित सात पवित्र नदियों में है जिसके एक ओर सरस्वती है और दूसरी ओर गंडकी नदी।

४—प० सं० टी०, ३५०।४—'जानहुँ सेज हिवंचल बूटी', ३५४।२—'सूरज जरत हिवंचल ताका।'

५—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ३६

पहले सभी पर्वतों के पंख थे और उड़ा करते थे। अब केवल मैनाक पर्वत के ही पंख शेष रह जाने का विश्वास प्रचलित है। इन्द्र ने बज्र से सबके पर काट दिये थे किन्तु यह छिपकर बच गया था।

मंदराचल (४३५) [सं०] यह पुराणों में उल्लिखित वह प्रसिद्ध पर्वत है जिससे सुरों और असुरों ने समुद्र-मंथन किया था। सूरसागर मे भी अष्टम-स्कन्ध के समुद्र-मंथन प्रसंग मे इसका उल्लेख हुआ है—'मदराचल अचल चले धाई' अथवा 'मंदराचल उपारत भयो स्रम बहुत' (४३५)।

दौनागिरि (५६३, ५६४) नवम-स्कन्ध की राम-कथा में हनुमान द्वारा दौनागिरि पर्वत से संजीवनी बूटी लाने का निर्देश है—'दौनागिरि पर आहि संजीवनि, बैद सुषेन बताई' (५६३)। बूटी न पहचानने पर हनुमान पूरा पर्वत ही उठा लाये—' संजीवनि कौ भेद न पायौ तब सैल उठायौ' (५६४)। यह पर्वत उत्तर का ही कोई पर्वत होगा क्योंकि मार्ग में हनुमान का भरत से मिलने का प्रसंग है (५६४, ५६५)।

मलयगिरि (३५६, ५३१) [सं० मलय] यह दक्षिण भारत की एक पर्वत श्रेणी है जो चंदन के वृक्षों के लिये प्रसिद्ध है। सूरसागर में भी मलय-चंदन की शीतलता की ओर संकेत है—'निंदत मूढ़ मलय चंदन कौं, राख अंग लपटावै' (३५६)। इस उद्धरण में हरि-विमुखों की मूर्खता का वर्णन है। नवम-स्कन्ध में रघुनाथ की मुद्रिका सीता को मलयगिरि के समान ही शीतलता प्रदान करती है—"अति सुख पाइ उठाइ लई तब, बार-बार उर भेंटै। ज्यौं मलयगिरि पाइ आपनी, जरिनि हृदय की मेटै" (५३१)।

सुमेरु (५२६) [सं० सुमेरु] यह पुराणों मे उल्लिखित एक कल्पित सोने का पर्वत है। यह सब पर्वतो का राजा माना गया है जिसके चारों ओर ग्रह घूमते हैं। सूरसागर के नवम-स्कन्ध मे सीता-त्रिजटा-संवाद में इसका उल्लेख हुआ है—'डुलै सुमेरु, सेष सिर कंपै, पच्छिम उदै करै बासर-गति। सुनि त्रिजटी तौहूँ नहि छाड़ौं, मधुर मूर्ति-रघुनाथ-गात रति।' पद्मावत में भी इसकी चर्चा है।[१] (५२६)।

द्वीप

१८२—जंबू द्वीप (५५३) [सं०] यह पुराणों में वर्णित सात द्वीपों मे से एक है। यह मेरु पर्वत को घेरे हुए है। नवम-स्कन्ध मे हनुमान अपनी शक्ति और सामर्थ्य के संबंध में कहते हैं—"अबहीं जंबू द्वीप यहाँ तैं लै लंका पहुचाऊँ" (५५३)।

हर्षचरित मे अठारह द्वीपों वाली पृथ्वी बताई गई है।[२] द्वीपों की संख्या पुराणों में चार से सात हो गई थी किन्तु बाण के समय में अठारह तक पहुँच गई। इनमें भारत को कुमारी द्वीप व लंका को सिंहल द्वीप बताया गया है। कालिदास ने भी अठारह द्वीपों का ही उल्लेख किया है।[३] महाभारत आदि पर्व में राजा पुरुरवा को तेरह द्वीपों का राजा बताया गया है।[४] सूर के समकालीन जायसी तथा तुलसी ने सात द्वीप ही बताये हैं।[५]

१—प० सं० टी०, २१।६, 'जौं सुमेरु तिरसूल बिनासा, भा कंचनगिरि लाभ अकासा।'—'कनै पहार', १६।४—'मेरु खिखिंद तिनहुँ उपराहीं'।

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० ११६

३—'बाहुरष्टादशद्वीपनिखातयूपः'—(रघुवंश ६।३८)

४—'त्रयोदशसमुद्रस्य द्वीपनश्नन् पुरुरवाः'

५—प० सं० टी०, ४६२।२—'सप्तदीप राजा सिर नावहिं'—मानस०, बाल०, ४, "सप्तदीप भुजबल बस कीन्हे'।

झील

मानसरोवर (३५६) [सं० मानसं+सरोवर] यह हिमालय की पर्वत श्रेणियों में उत्तर में अवस्थित है। हंस तथा मानस से आत्मा और ब्रह्म का रूपक, साहित्य के लिये नया नहीं है। सूरसागर में भी इस भाव को लेकर कई सुन्दर पदों की रचना हुई है—'चलि सखि तिहिं सरोवर जाहिं। जिहिं सरोवर कमल कमला, रबि बिना बिकसाहिं। हंस उज्ज्वल—पंख निर्मल, अंग मलि-मलि न्हाहिं।' (३२८) अथवा—"मानसरोवर छाँड़ि हंस तट काग- सरोवर न्हावै' (३५६)।

पद्मावत मे सिंहल द्वीप के एक सरोवर का नाम भी मानसरोवर बताया गया है और उसका विस्तृत वर्णन है।[1]

वन

अंबिका, अंबा बन (४४६) [सं० अंबा, अंबिका] पुरुरवा कथा में इस वन का उल्लेख है। वैवस्वत मनु की पुत्री इला को वशिष्ठ ने उसकी प्रार्थना के अनुसार पुरुष रूप दिया। वह आखेट के लिये अंबा बन मे गए। यहाँ ही पुनः स्त्री रूप मिलने के बाद उनका बुध से विवाह हुआ और पुत्र रूप में पुरुरवा प्राप्त हुए।

बदरीबन (३८३) [सं० बदरं, बेर के वृक्षों का वन] तृतीय-स्कन्ध में उद्धव-पश्चात्ताप का उल्लेख हुआ है। वह इस वन में जाकर पश्चात्ताप करने को तत्पर हुए।

स्थानवाचक शब्दों से बने शब्द

बंगाली (परि० १२१) [सं० वंगा][2] 'मुरली मैं गावत बंगाली'[3] उल्लेख है।

कसमीरी[4] (४४३३) [सं० कश्मीरं, काश्मीराः] गोपियों द्वारा 'कसमीरी मुद्रा' के प्रति विरक्ति-भाव प्रदर्शित किया गया है—'विन स्रवननि ताटंक खुभी औ करनफूल खुटलाऊँ। तिन स्रवननि कसीमीरी मुद्रा ले ले चित्र भुलाऊँ' (४४३०)।

४—पौराणिक कल्पित स्थान

१८३—विनय पदों में ही प्रमुख रूप से कुछ कल्पित अथवा पौराणिक स्थानों के नामों की ओर भी ध्यान जाता है। विष्णु लोक को **बैकुंठ लोक** (३४६, ४८४, १७६२) [सं० वैकुंठ] कहा गया है। वृंदावन का महात्म्य बैकुंठ से भी अधिक बताया गया है—'बंसीबट वृंदावन जमुना, तजि बैकुंठ न जावै' (३४६)। रास-शीर्षक पदों में भी विष्णु-लोक 'बैकुंठ' का नाम आया है—'रह्यौ एक बैकुंठ लोक जहँ त्रिभुवनराया।' (१७६३)। विष्णु त्रिदेवों मे से एक हैं तथा सृष्टि की रक्षा करना उनका ही कार्य है। उनकी पत्नी लक्ष्मी हैं तथा वाहन गरुड़। उनकी शैया **शेषनाग** (२१५) का उल्लेख आगे हुआ है। ऋग्वेद मे विष्णु का सूर्य की शक्ति के रूप में उल्लेख हुआ है। पुराणों तक आते-आते यह वर्तमान रूप मिला।

इन्द्रपुरी (३४३) यह देवताओं के राजा इन्द्र का लोक है। सुरपति इन्द्र तथा उनके

१—प० सं० टी०, ३१।१—'मानसरोदक देखिअ काहा। भरा समुंद अस गति अवगाहा'। ५६।१—'एक देवस कौनिउं तिथि आई। मानसरोदक चली अन्हाई।'

२— हर्ष० सां० अ०, पृ० ७७, उत्तरी बंगाल का एक नाम 'पुंड्र' भी बाण के समय में प्रचलित था।

३—प० सं० टी०, ४६८।२ 'गौर बंगाले रहा न कोऊ'—'कांवरू कामता औ पंडुआई' (पश्चिमी बंगाल की राजधानी पंडुआ थी)।

४—प० सं० टी०, ४६८।३ 'कासमीर ठटठा सलतान'।

लोक का उल्लेख गोवर्धन लीला में अनेक बार है। उनका लोक सुरपुर (१६०१) अथवा अमरलोक (१५६८) नाम से भी जाना जाता है। इन्द्र मेघों के राजा माने गए हैं तथा वैदिक देवता[1] विशेष भी हैं। इन्द्र की रानी शची एवं पुत्र जयंत, वाहन ऐरावत, अस्त्र वज्र, राजधानी अमरावती, सभा सुधर्मा तथा प्रिय उपवन नंदन माने गए हैं। नंदन उपवन में पारिजात वृक्ष का प्राधान्य है। नंदन वन में ही कल्पवृक्ष भी कल्पित है। इन्द्र के घोड़े का नाम उच्चैःश्रवा (४७८४) तथा सारथी मातलि है। वह ज्येष्ठा नक्षत्र तथ पूर्व दिशा का स्वामी है।

ब्रह्मलोक (१११०) ब्रह्मा का निवास-स्थान है। इसका उल्लेख ब्रह्मा-वत्सहरण प्रसंग मे हुआ है।

शिवलोक (४६६५) शिव का निवास-स्थान कैलाश माना गया है। कैलास(४८५५) का निर्देश भी है—'यह कैलास जहाँ सुनियत हर।' शिव का उल्लेख वेदों में नहीं है। 'रुद्र' ऋग्वेद में अग्नि का पर्याय है। धीरे-धीरे वर्तमान 'शिव' का विकास हुआ। यहाँ सब लोकों से अधिक परब्रह्म के अवतार कृष्ण के साहचर्य का माहात्म्य माना जाना उचित ही है—'ब्रह्मलोक शिवलोक नाहिं सुख, निगम जु नेति बखानैं। सो रस गिरिवरधारी के संग, जिह्वा सेष बखानैं।' (४६६५)।

जमपुर (विनय) यम की नगरी है। विश्वास के अनुसार यम के दूत ही मृत्यु के बाद आत्मा को ले जाते हैं। यम मृत्यु के देवता हैं और उनका वाहन भैंस है।

बरुन लोक (१६०२) का उल्लेख वरुण द्वारा नंद-हरण प्रसंग में है। इसको पतालहिं (१६०२,३७०) भी कहा गया है। वरुण के महलों तथा सिंहासन आदि का वर्णन भी है।

इस प्रकार सभी देवताओं के अपने-अपने लोक माने गए हैं—'शिव, विरंचि, सुरपति यह भाषत, पूरन ब्रह्महिं प्रगट मिले।....पहुँचे जाइ आपनैं लोकनि, अमर नारि अति हरष भरैं।' (१६००)। साधारणतः तीन प्रधान लोक या—त्रैलोक (१६०२) माने गए हैं—'जिनके सुत त्रैलोक गुसाई।' (१६०२) अथवा 'भावी के बस तीन लोक हैं' (२६४)। यह स्वर्ग, पृथ्वी तथा पाताल है। लोकों की संख्या चौदह भी मानी गई है—सात ऊर्ध्वलोक तथा सात अधःलोक (ऊर्ध्वलोक—भूः,भुवः महः, जनः, तपः, सत्वः तथा अधःलोक—अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल तथा पाताल हैं)। इनमें से भूतल (विनय), रसातल (विनय) पाताल (३७०, १६०२) का तो उल्लेख है ही साथ ही सरग, स्वर्ग[2] (विनय) तथा नरक (३७२) [सं०] लोकों की चर्चा विनय पदों में विशेष रूप से है। पुण्य कर्मों से आत्मा को स्वर्ग के अमित सुख प्राप्त होते हैं तथा पापों के फलस्वरूप नरक-वास। नरक इक्कीस माने गए हैं। यहाँ जीवितावस्था में अपने पापों के दंड भोगने का विश्वास प्रचलित है।

५—काल विभाजन तथा ग्रह नक्षत्रादि

१८४—द्वितीय स्कंध के नाम-माहात्मय शीर्षक पदों में एक स्थल १२ युगों की सूचना

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ३५६, वैदिक देवताओं में अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि भी थे।

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ३६७, 'परलोक' अथवा स्वर्ग की स्थिति में अधिकांश हिन्दुओं को विश्वास था। वेदों में स्वर्ग को 'नाक' कहा गया है (न-नहीं, अक = पीडा)। पाणिनि ने 'निःश्रेयस्' (उपनिषदों में इसका अर्थ पूर्ण सुख है) तथा 'निर्वाण' का उल्लेख भी किया है। काशिका ने 'निर्वाण' शब्द का संबंध बौद्ध-धर्म से बताया है (निर्वाणो भिक्षुः।)

भी दी गई है—'सतयुग सत, त्रेता तप कीजै, द्वापर पूजा चारि। सूर भजन कलि केवल कीजै, लज्जा-कानि निवारि' (३४५)। अथवा 'है हरि नाम कौ आधार। और इहिं कलिकाल नाहीं, रह्यौ विधि-ब्यौहार।' (३४७)।

सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग में क्रमशः संस्कृति का ह्रास होने का विश्वास था।

ग्रह १८५— ग्रहों में सुरगुरु (२७३६) [सं०-बृहस्पति] सुक्र (२७३६) [सं० शुक्र-दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य] सनि (२७३६) [सं० शनि:] तथा भौम (२७३६) [सं० भौम-मंगलग्रह] के नामों की चर्चा भी है। रूपवर्णन पदों में वर्णों की उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत इनका प्रयोग हुआ है तथा रंगों की ओर भी संकेत है—

'बेसिर के मुक्ता मैं झाँई, बरन बिराजति चारि,
मानौ सुरगुरु, सुक्र, भौम, सनि चमकत चंद मँझारि' (२७३६)

अथवा नील, सेत, अरु पीत, लाल मनि लटकन भाल रुलाई।
सनि, गुरु—असुर, देवगुरु, मनु भौम सहित समुदाई।' (१२६)

खण्ड ४—

व्यापार, व्यवसाय, कृषि, ग्राम-प्रबंध
तथा
नग, धातु, सिक्के

१—व्यापार और वाणिज्य

१८६—सूरसागर की कथाओं का विशेष सम्बन्ध तत्कालीन नागरिक जीवन के विभिन्न पक्षों से नहीं है। अतएव व्यापार, व्यवसाय तथा राजनीति आदि विषयों को सूचक शब्दावली का अभाव होना स्वाभाविक ही है। प्रारंभिक स्कन्धों के विनय-पदों में (१४२, १४३, ३१०) ही व्यापार से संबधित कुछ शब्द मिल जाते हैं। ये भी थोड़े से रूपकों मे ही प्रयुक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त दशम स्कन्ध के दधिदान तथा भ्रमर-गीत प्रसंगों में भी कुछ गिने चुने पदों में वाणिज्य का रूपक है।

इस शब्दावली में अरबी तथा फ़ारसी प्रभाव स्पष्ट है। मुग़ल राज्य में नागरिक जीवन से संबंधित शब्दावली पर विदेशी प्रभाव होना आश्चर्य की बात नहीं है।

व्यापार के साधारण अर्थ के सूचक **बनिज** (२१४२) [सं० वाणिज्य] और **व्यापार** (२१४६, १६५) शब्द आए हैं तथा व्यापार करने वाले व्यक्ति के लिए[१] **व्यापारी** (२१४६) [सं० व्यापारी] तथा **बनिज** (२१४१, २१४३, २१४६, २१४७) [सं वणिज]। दधिदान प्रसंग में कृष्ण तथा गोपियों के संवाद में वाणिज्य की चर्चा है—'ऐसी कहौ बनिज का अटकीं' अथवा, 'सूर बनिज तुम करति सदाई' (२१४२) **बनिज** व्यापार की सामग्री[२] के अर्थ में अधिकतर प्रयुक्त हुआ है—'हँसि बृषभानु-सुता तब बोली, कहा बनिज हम पास' (२१४३) अथवा

'कौन बनिज कहि मोंहि सुनावति।
तुम्हरौ गथ लाद्यो गयंद पर, हींग मिरिच कह गावति॥
अपनौ बनिज दुरावति हौ कत, नाउँ लिये तै नाहीं।
कहा दुरावति हौ मो आगें, सब जानत तुम गाहीं॥ (२१४७)

बनिज के इस अर्थ मे ही ऊपर **गथ** [सं ग्रथ] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। ग्रथ का अर्थ 'जमा किया' होता है। **सौंज** (३१०) [सं० सज्जा = सामग्री, वस्तु] तथा **माल** (२१४४) [अ०] भी समानार्थक शब्द है—'करि हियाव, यह सौंज लादि कै, हरि कै पुर लै जाहि,' अथवा 'जो जो माल तुम्हारें, (२१४४)। **सौदा** (३१०) [अ०] भी बेची व खरीदी जाने वाली सामग्री ही होती है। सूरदास के अनुसार आराध्य श्याम में ही एकाग्रभाव मनुष्य का सबसे बड़ा सौदा है—'सूर श्याम कौ सौदा साँचौ, कह्यौ हमारौ मानि।' (३१०)। सामग्री रखने का

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० २३८, प्राचीन भारत में व्यापारी को 'वणिक' या 'वाणिज' कहते थे। व्यापार के स्थान पर "व्यवहार" शब्द प्रयुक्त होता था। यह विस्तृत क्षेत्र में क्रय-विक्रय का अर्थ देता था, जब कि 'पण्य' स्थानीय व्यापार के सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता था।

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० २३८, २३९, बिकने वाली सामग्री 'पण्य' अथवा 'पणितव्य' कहलाती थी, तथा बिकी सामग्री 'क्रय' होती थी। (पृ० २४६, २४१) पथों पर व्यापारियों द्वारा ले जाई जाने वाली वस्तुएं "आहृत" या "द्रव्य" कहलाती थीं। "भांडागार" में एकत्रित सामग्री को "संभाण्डयेत" कहते थे। कात्यायन ने इसी को 'समाचयन" कहा है।

स्थान भंडारभूमि[1] (२४७) [सं० भांडारभूमि] कहलाता था। पांडवों के जुआ खेलने के प्रसंग में भी इसका निर्देश हुआ है—'हारि सकल भंडारभूमि, (३१०)। प्रत्येक व्यापार में दो व्यक्तियों का प्रमुख भाग होता है। एक तो व्यापारी और दूसरा ग्राहक (३१०, ४२८१) [सं० ग्राहक]—'होउ मन॰राम नाम कौ ग्राहक (३१०)। कोई भी वस्तु लेने के लिये उसका मोल (२१४७) [सं० मूल्य] देना होता है या कुछ खरच (४१४२) [फ़ा० ख़र्च] करना पड़ता है—'बहुत मोल के बान तुम्हारे, केसैं दुरत दुराये। सुनहु सूर कछु मोल [2]लैहिंगे, कछु इक दान भराए।' (२१४७) अथवा 'हमैं नंदनदन मोल लिये' (१७१)। इस क्रय-विक्रय का स्थान हाट[3] (३१०) [सं० हट्ट] अथवा पैठ (४२८१) [सं० पण्य स्थान] कहलाता है—'भक्तनि-हाट बैठि अस्थिर ह्वै, हरि नग निर्मल लेहि (३१०) अथवा ऊधौ तुम ब्रज में पैठ करी' (४२८१)। हाट में सामग्री लेने के लिये धन की आवश्यकता होती है, कभी-कभी समान भाव की वस्तुएँ बदली भी जा सकती है[4] किन्तु यदि उनका मूल्य असमान हो तो कौन लेने की मूर्खता करेगा—'मूली के पातन कै बदलैं को मुक्ताहल लैहै' अथवा 'दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी, को अपने मुख खैहै, तथा 'जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै (४२८०)। व्यवसाय में दलाली (३१०) [अ० दल्लाल] अथवा मध्यस्थ व्यक्ति की भी कभी-कभी आवश्यकता होती है—'काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह तू, सकल दलाली देहि।' (३१०)।

१८७—उस समय व्यापारी अपना सामान घोड़े या बैल आदि पर लादकर गाँव से पुर अथवा नगरी के हाट में ले जाते थे—'करि हिसाव, यह सौंज लादि कै, हरि कैं पुर लै जाहि[5] (३१०) या ब्यौपार उहाँ जु समातौ, हुती बड़ी नगरी' (४२८१) 'अथवा 'तुम्हारौ गथ लायौ

१—प० सं० टी०, २३।४, 'हिअ भण्डार नग आहि जो पूँजी।" ६७।१ "पदुमावति पहँ आइ भँडारी।" (भंडारी—सं० भाण्डागारिक)। ३८५।५— "रतन पदारथ मानिक मोंती। काढ़ि भँडार दीन्ह रथ जोती।"

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० २४०, अष्टाध्यायी में "मूल्य" का अर्थ समान क़ीमत की वस्तु है (मूल्येन समम:)। वैदिक साहित्य में "वस्नं" शब्द क्रीत वस्तु तथा उसके मूल्य का बोधक है। पाणिनि ने वस्तु के मूल्य के अलावा "वस्नं" व्यापारी के अपने मूलधन के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है।

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० २३८, अष्टाध्यायी में बाज़ार के लिये "आपणें" शब्द प्रयुक्त हुआ है।

पद्मावत में सिंघल के हाट का वर्णन है—"पुनि देखिअ सिंघल की हाटा" — प० सं० टी०, ३७।१ (१) मध्यकालीन नगरों के वर्णन में चौरासी हाट माने गये हैं जिसकी पृथ्वीचन्द्रचरित्र (पृ० १२६) में मिल जाती है। कनक-हाट या सोनी-हटी मुसलमानी प्रभाव में 'सर्राफ़ा' कहलाने लगे और उसके सदस्य 'महाजन' नाम से प्रसिद्ध हुए।

४—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० २३६, 'प्राचीनकाल' में यह ढंग "निभान" (patrar system) कहलाता था।

५—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० २४२, व्यापारी अपनी सामग्री कई प्रकार के 'पथ' से ले जाते थे—कान्तार पथ, जंगल पथ, स्थलपथ तथा वारिपथ। अजापथ तथा शण्डु पथ पर्वतीय पतले मार्ग थे।

गयंद पर' (२१४७) तथा 'बैल **गोन** व्यापारी' (२१४६)। यह सामग्री **गोन** [सं० गोणी] अथवा **गाठरी** (४२८१) 'निर्गुन निरमोल गाठरी' में भर कर लादी जाती थी। पटसन या काली ऊन के बने दोहरे बोरे को 'गौन' कहते हैं। यह प्रायः नाज भरने के काम आता है। जायसी ने 'पेटारे' का उल्लेख किया है (३८५।४) कभी कभी **बाट** [सं० वर्त्म—प्रा० वट्ट—बाट] में लूट का भी डर होता था—'घाट-वाट कहुँ अटक होइ नहिं, सब कोउ देहि निबाहि (३१०) का उल्लेख है[1]। पद्मावत में प्रयुक्त 'नाइत' शब्द से समुद्री व्यापार का पता चलता है।[2] पद २१४६, '२१४७ मे व्यापार की अनेक सामग्रियों के नाम दिये गए हैं। इस दृष्टि से प्रथम पद का बहुत महत्त्व है। इनमें प्रायः सभी मसालों के नाम आ गए हैं, जैसे—'हींग, मिरिच, पीपरि, अजवाइन ये सब बनिज कहावैं' (२१४६) अथवा 'तुम्हारौ गथ लाद्यौ गयंद पर, हींग मिरिच कह गावति' (२१४७)। इनमें प्रमुख मसाले के अतिरिक्त 'नारियर' 'दाख', 'आज', 'लाख', तथा 'सेंदुर' आदि वस्तुयें भी थीं। आजकल प्रायः ये सभी चोजें एक पसारी की दुकान से प्राप्त की जा सकती हैं। सूरसागर में दूध दही बेचने से संबधित तो अनेक पद है ही—'हम अहीर माखन मथि बेचैं' (४२८१)। पद्मावत मे सोने मोती आदि के व्यापार का उल्लेख भी है।[3] कोई भी व्यापार करने के लिये व्यापारी को कुछ धन लगाना पड़ता है जो **असल** (१४२) [अ०] **जमा** (१४२, १४३) [अ० जमअ] **मुजमिल** (१४२) [अ० मुजमल = एकत्रित] अथवा **मूल**[4] [सं० मूल] (१४२) आदि नामों से जाना जाता है। व्यापार मे इस मूलधन का घटना असफलता का चिह्न है और इसको **हानि** (३१०)[सं०] **घटवारौ** (२१४२) तथा **बट्टा** (१४१)[सं० वार्त्त] कहते हैं। क्रय-विक्रय मे मूलधन की वृद्धि होता ही **लाहा** (३१०) [सं० लाभ] **नफा** (४२८१) (अ० नफ़अ) कहलाता है—'यह तो परंपरा चलि आई, सुख दुख लाभ अरु हानि।' (३१४३,) **नफा** (४२८१) अ० 'और मनिज मैं नाहीं लाहा, होति मूल मैं हानि' (३१०, अथवा 'होतौ नफा साधु की संगति, मूल गांठि नहिं टरतौ। सूरदास बैकुंठ पैठ मैं कोउ न फैंट पकरतौ' (२६७) अथवा भ्रमरगीत प्रसंग मे गोपियाँ कहती है—'लै आए हो नफा जानि कै, (४२८१) अथवा, 'यह व्यौपार तुम्हारौ ऊधौ, ऐसैं ही धर्‍यौ रैहै' (४२८१)। पद्मावत में भी **गथ**, **साँठि** [सं० संस्था = पूंजी] नष्ट होने का उल्लेख है।[5]

१८८—रुपया उधार देना भी एक प्रकार का व्यवसाय है। इसको **ऋन**[6] (१६६) [सं० ऋण] लेना कहा जाता है—'सबै कूर मौसौं ऋन चाहत, कहौ कहा तिन दीजै' (१६६)। अपनी

१—प० सं० टी०, १३६।५ "ठावँहि उठहिं बटपारा", ४५३।७ "अस एहि नगर होइ बटपारी", ४०६।७ "ले नग मोर समुंद भा बटा", ३८५।४ "लाख चारि एक भरे पेटारी।'

२—प० सं० टी०, ५३७,६ "नाइत माँझ भँवर हति गोवा", नाइत = देशी, पायत्त, समुद्री व्यापारी।

३—प० सं० टी० ७६।२ "राता बनिज आव सिंघली", ७६।३, "गज मोति भरीं सब सीपी। औरु बस्तु बहु सिंघल दीपी। बांभन एक सुआ लै आवा। कंचन बरन अनूप सोहाया।"

४—प० सं० टी० ३७। "पुनि देखिअ—मूर गंवाइ।"

५—प० सं० टी०, ३८।८ चेटक लाइ हरहिं मन जौ लहि गथ है फेंट। सांठि नाठि उठि भए बटाऊ ना पहिचान न भेंट।'

६—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ०, २३८ 'ऋण' शब्द प्राचीन भारत में भी प्रचलित था।

थाती (१६६) में से ही ऋण दिया जाता है। थाती का अर्थ जमा पूंजी अथवा धरोहर होता है। ऋण देते समय प्रायः जमानति (१६६, १८१) [अ० ज़मानत] ले ली जाती है—'धर्म जमानत मिल्यौ न चाहै' (१८५)। यह एक प्रकार का धन लौटाने का उत्तरदायित्व है जो लिखकर अथवा रुपया जमा करके लिया जाता है। यहाँ (१६६) ऋण से शरीर एवं इन्द्रियों का रूपक बाँधा गया है :—

"थाती प्रान तुम्हारी मौपै, जनमत ही जो दीन्ही।
सौ मैं बाँटि दई पाँचनि कौं, देह जमानति लीन्ही।

× × ×

मुकर जाइ, कै दीन बचन सुनि, जमपुर बाँधि पठावै।
लेखौ करत लाख ही निकसत, को गनि सकत अपार।" (१६६)।

रुपया उधार देने के व्यवसाय में प्रमुख लाभ ब्याज (४०४६) [सं० व्याज] से ही होता है। व्याज सहित ऋण वापस करने पर ही उरिन[1] (४०४६) [सं० उऋण] हुआ जा सकता है—

"कैसँहूँ करि उरिन कीजै, गोपिकनि सौं मोंहि।
रैनि दिन मम भक्ति उनकै, कछू करत न आन॥
और सरबस मोंहि अरप्यौ, तरुनि तन-धन प्रान।
ब्याज मैं ये रतन दीन्हें, बृथा गोप-कुमारि॥" (४०४६)

रुपये उधार देने वाले 'महाजन' (सं०) कहलाते है। वह सराफ़े के सदस्य भी होते है। जायसी तथा तुलसी ने इन शब्दों का उल्लेख किया है।[2] इस लेन-देन पर ही मनुष्य का दैनिक जीवन टिका हुआ है। केवल एक ईश्वर का व्यवहार ही इस पर आधारित नहीं है—'लियैं दियौ चाहै सब कोऊ, सुनि समरथ जदुराई। देव, सकल व्यापार परस्पर, ज्यौं पसु-दूध चराई। तुम बिनु और न कोउ कृपानिधि, पावै पीर पराई" (१६५)।

पद्मावत में भी 'बनिज', 'बेपारा', 'बेवहरिया', 'बेवहारू', 'बौसाऊ' (५६६।६) आदि के उल्लेख है[3]। बनजारा खंड में (७४, ७५, ७६, ७७, ७६, २१८) भी सिंघल द्वीप के हाट वर्णन (३७, ३८,) के समान ही 'हाट', 'रिनि', 'बाढ़ो', 'लाहा', 'लाभ', 'हानि', 'साँठि', 'मूल', 'पूंजी' अनेक व्यापार संबंधी शब्दों का उल्लेख है।[4] प्राचीन 'सार्थवाह' (प्राचीन समय में एक

१—मानस 'बाल०, २७६, "मात पितहि उरिन भए नीकें। गुर रिनु रहा सोचु बड़ जी कें।"—"दिन चलि गए ब्याज बड़ बाढ़ा"।

२—प० सं० टी० ३७।२, "कनक हाट सब कुंहकुंह लीपी। बैठ महाजन सिंघल दीपी।"—मानस, बाल०, २८७ "बहुरि महाजन सकल बोलाए। आइ सबन्हि सादर सिर नाये। हाट-बाट मंदिर सुरबासा। नगरु संवारहु चारिहुँ पासा।"

३—प० सं० टी०, ७४।६ "पै सुठि बनिज तहँ केरा", ७४।१ "सिंघल दीप चला बैपारा।' ७४।२ "सो पुनि चला चलत बैपारी।"

४—प० सं० टी०, ७४।३ "रिनि काहू कर लीन्हेसि काढ़ी। मकु तहं गएं होइ किछु बाढ़ी।'' ७४।७ "लाख करोरन्हि बस्तु बिकाई। सहसन्हि केर न कोइ ओनाई", ७४।८ "सबही लीन्ह बेसाहना औ घर कीन्ह बहोर। बांभन तहाँ लेइ का गाँठि साँठि सुठि थोर।" ७५।६ "जेहि बेवहरिया कर बेवहारू" ७५।१ "बनिज न मिला रहा पछितावा", ७५।२ "लाभ जानि आएउँ

साथ निकला व्यापारी समूह) शब्द को जायसी ने 'साथ' तथा ज्येष्ठ सार्थ को 'बनिजारा' [सं० वाणिज्यारक] कहा है।[१]

तुलसी के ग्रंथों में भी जहाँ-तहाँ थोड़े से शब्द मिल जाते हैं। इनमें 'बनिक', 'व्यवहरिया' तथा 'रिनियाँ' का उल्लेख किया जा सकता है।[२]

२—व्यवसाय तथा शिल्प

१८६—सूरसागर में स्थान-स्थान पर तत्कालीन प्रचलित शिल्पकारों तथा व्यवसायों का भी उल्लेख हुआ है। इनसे उस समय के स्थानीय सामाजिक वातावरण का अनुमान हो सकता है।

ब्रज-प्रदेश के ग्वाल वर्ग में कृष्ण का बाल्य-काल बीतने के कारण सर्वप्रथम इस व्यवसाय की ओर विशेष ध्यान जाता है। गाएँ पालने तथा दूध, दही, तथा घी पर जीविका चलाने वाले लोग आज भी **अहीर, अहीरि, आभीर अथवा ग्वारिनि** (१३५८, ४१६८, ४३८६, ४१६८) [सं० आभीर; सं० गोपाल, प्रा० गोवाल] कहलाते हैं—'एहि सुत नंद अहीर के' (३६८१) या 'और अहिर सब कहाँ तुम्हारे, हरि सौं धेनु दुहाई' (१३५८) तथा 'अलप बयस अबला अहीरि सठ तिनहिं जोग कत सोहै।' (४१६८)। कृष्ण के मथुरा जाने के बाद काम ग्वालिनौ की असह्य वेदना बढ़ाने में ही आनंदित होता है—'बरन बान बसंत कर लै, बधत है आभीर। ऊपर से उद्धव योग लेकर आ पहुँचे—'सो गति होइ सबै ताकी जो ग्वारिनि जोग सिखावैं।—सिखई कहत स्याम की बतियाँ, तुमकौं नाहीं दोष।' **गोप, गोपी** (३५१६) [सं०] तथा **ग्वाल और ग्वालिनि**[३] आदि के उल्लेख भरे पड़े हैं—'फूली फिरति ग्वालि मन मैं री' (८८४,) अथवा, 'चकित भई ग्वालिनि तन हेरौ' (८८६) अथवा 'करैं हरि ग्वाल संग बिचार' (८८७) या 'अपनी समसरि और गोप जे, तिनकौं साथ पठाये' (१२०१) तथा 'जा दिन तैं सचरे गोपिनि मैं, ताही दिन तैं करत सुगरैयाँ।' गोपियाँ वृंदावन से अपना दूध-दही आदि लेकर मथुरा बेचने जाती थीं—'माखन, दधि, घृत साजति मटुकी, मथुरा जान बिचारैं' (२११५), अथवा 'बेंचन चलीं दधि ब्रजनारि' (२११७) तथा 'प्रात हीं से जाति गोरस, बेंचि आवति राति' (२१२२)। ग्वालिनों का नित प्रति का यह मथुरा जाने का प्रसंग दधि-दान शीर्षक पदों में विशेष रूप से मिलता है।

एहि हाटाँ, मूर गंवाइ चलेउँ तेहि बाटाँ", ७५।३, ४" अपने चलत न कीन्ह कुबानी। लाभ न दीख मूर भौ हानी। का बोवा जइम ओहि भूँजी। खोइ, चलेउ घरहूँ कै पूँजी।"

१—७४।१ "चितउर गढ़ क एक बनिजारा" २१८।५ "हहु बनिजार तौ बनिज बेसाहहु। भारि बैपार लेहु जो चाहहु।"

२—कविता०, उत्तर०, ६६, "किसबी किसान—कुल, बनिक, भिखारीभाँट।" विनय०, १००, "देने को न कछू रिनियाँ हौं" मानस०, बाल, २७६ 'अब जानिअ व्यवहरिआ बोली।"

३—प० सं० टी०, १३५।२ "दहिउ लेहु ग्वालनि गोहराई"।

इस प्रकार गाँवों से नित्य प्रातःकाल ग्वालों का दूध लेकर निकट के नगरों में जाकर बेचने का ढंग उसी प्रकार चल रहा है। बोहनी (२०८२) शब्द आज भी सुनने में आता है। पहली ख़रीद को बेचने वाले 'बोहनी कराना' कहते हैं और उसे दिन भर की बिक्री के लिये शुभ मान कर कुछ सस्ता भी देने को तैयार हो जाते हैं—'बिनु बोहनी तनक नहिं देहौं ऐसैं छीनि लेहु बरु सगरौ।' (२०८२)।

१६०. नवम स्कन्ध के अन्तर्गत राम-वन-गमन के प्रसंग में उनका नदी पार करने का उल्लेख है। यहाँ नाव वालों के लिये दो शब्द केवट (४८४) [सं कैवर्त] धीवर (४८६) प्रयुक्त हुए हैं। केवट की निर्धनता तथा नाव पर ही आजीविका निर्भर होने का वर्णन भी है—"मेरी सकल जीविका यामैं, रघुपति मुक्त न कीजै" (४८५) तथा "मैं निरबल बित बल नहीं, जो और गढ़ाऊँ। मो कुटुम्ब याही लग्यौ, ऐसी कहँ पाऊं? मैं निर्धन, कछु धन नहीं, परिवार घनेरौ' (४८६)। नाव पर चढ़ने का पारिश्रमिक उतराई (४८४) कहलाता था—'लै भैया, केवट उतराई' और नाव सम्भवतः सेमल तथा ढाँक की लकड़ी की ही अधिकतर बनाई जाती थी—"सेमर ढाकहिं काटि कै बाँधौ तुम बेरौ" (४८६)। अन्यत्र कनधार (५३३८) [सं० कर्णधार, कर्ण = पतवार], खेवट या खेवनहार (१८४) तथा मल्लाह (३६१४) [अ०] शब्द भी मिलते हैं—'राम-प्रताप' सत्य सीता कौ, यहै नाव कनधार' (५३३) अथवा 'खेवनहार न खेवट मेरैं, अब मो नाव अरी' (१८४) और 'ब्रज मैं दोउ बिधि हानि भई.... जैसै बिनु मल्लाह सुंदरी एक नाउ चढ़ई। बूड़त देह थाह नहिं चितवत, मिलनहु पति न दई।' (३६१४)। 'खिवइया', 'खेवक,'[१] 'करिया', (सं० कर्णिक) 'नाविक' तथा 'मांझी' आज भी मल्लाह के ही पर्यायवाची शब्द हैं। इनमें से 'मल्लाह' शब्द सबसे अधिक बोला जाता है।

सोने का काम करने वाला व्यक्ति सुनार, सुनारि[२] (६५८, १६२३) [सं० सुवर्णकार—सुवण्णआर—सुण्णार—सुनार][३] कहलाता है। पालने के वर्णन में सुनार का उल्लेख है—'बिसकर्मा सूतहार, रच्यौ काम ह्वै सुनार' (६५६)। राधा कृष्ण विवाह से संबंधित पद में गोपियाँ दूलह का सत्कार करने के निमित्त अनेक व्यवसायों को ग्रहण करने के लिए उद्यत हैं—"वृन्दावन चंद कौं मैं, भूषन गढ़ि लेउँ। ह्वै सुनारि जाउँ निरखि, नैननि सुख देउँ।' (१६-६३)। कोई भी वस्तु गढ़ने वाले को गढ़ैया या गढ़नहार (३४४८, ६५६) भी कह दिया जाता है—'ब्रज-बधु कहै बार-बार धन्य रे गढ़ैया' (६५६)। सुनार सोने में जड़ाव का काम भी करता है। इस दृष्टि से उसे जरैया भी कहा जा सकता है—'बहु बिधि जरि करि जराउ, ल्याउ रे जरैया' (६५६) अपनी कला में कुशल 'चतुर सुनार' (६५८) होता है—'ल्याए चतुर सुनार' (६५८)। सोने की क़लई [अ० क़लई] का परिचय भी मिलता है"—"आई उघरि कनक कलई सी" (३८०४)। सोनें-चाँदी का पानी चढ़ाने का काम आजकल विशेष रूप से सुनार का है, किन्तु बर्तनों पर किए गए रांगे के लेप का ही बोध 'क़लई' शब्द से होता

१—प० र० टी०, १५७।७, "खेवक आगें सुवा परेवा"
२०।१, गुरु मोहदी खेवक में सेवा। चलै उताइल जिन्ह कर सेवा।"

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० २३४, पाणिनि के समय में सुवर्णकार शब्द प्रयुक्त होता था। वह 'आकर्षिक' अर्थात् आकर्ष पर सुवर्ण की परीक्षा लेने में कुशल होता था।

३—हेमचन्द्र ने देशी नाममाला (३,५४,५।३६) में "सुवण्णआर" तथा "सुण्णार" को देशी माना है।

है, जो एक भिन्न व्यवसाय है। इसको 'मुलम्मा चढ़ाना' भी कहते हैं, जो बाहरी तड़क-भड़क का द्योतक है, अतएव बाद में वास्तविकता का पता चलने को 'क़लई या मुलम्मा उतरना' भी कहते हैं।

लकड़ी की चीज़ें बनाने वाला कारीगर बढ़ई, बढ़ैया [६६५, ६५६, ६६४; (सं० बर्धकि[1] प्रा० बड्ढई-बढ़ई] कहलाता है। शिशु कृष्ण का पालना बढई बनाकर लाया था—'पालनौ अति सुन्दर गढ़ि ल्याउ रे बढ़ैया। सीतल चंदन कटाउ, धरि खराद रंग लाउ।' (६५६) खराद [फ़ा० खराद या खराद] नामक औज़ार द्वारा ही बढ़ई लकड़ी की सतह चिकनी करते है। हिंडोला बनाने वाले को गढ़नहार (३४४२) भी कहा गया है—"गढ़नहार हिंडोरना कौ, ताहि लेहु बुलाइ।" अनाड़ी बढ़ई को ठोट "सूर कूर कवि (१३२) ठोट" कहा जाता है। इसी को 'कठबिगरा' या 'ठोटुवा' अलीगढ़ क्षेत्र की ग्रामीण बोली मे आज भी कहते है[2]।

१६१. वस्त्र सीने का काम दरजी (३६६५) अथवा दरजिनि (१६६३) [फ़ा० दर्ज़ी] का होता है[3] "अपने गोपाल के मैं बागे रचि लेउँ। दरजिनि ह्वै जाउँ निरखि, नैननि सुख देउँ।" (१६६६)। कृष्ण के मथुरा जाने पर वहाँ के दर्जी से वस्त्र पहनने का प्रसंग है—"आइ दरजी गयौ, बोलि ताकौं लयौ, सुभग अँग साजि उन विनय कीन्हे"। (३६६५)

रँगरेजिन (३१०३) [फ़ा० रंगरेज़] का उल्लेख कृष्ण के बहुनायकत्व संबंधी संयोग पदों में है—'रँगरेजिनी मिली कोउ बाल' (३१०३)। रँगने की कला भारत में प्राचीन समय से है।[4] इसकी चर्चा वस्त्रों के सिलसिले मे की जा चुकी है। पाणिनि के समय में 'राग' रंग तथा रंगने के अन्य पदार्थो का सूचक था।[5] सूरसागर दशम स्कन्ध के रजक-वध प्रसंग में रजक (सं०] (३७२६, ३६५५, ३६६०४) शब्द का प्रयोग हुआ है' "रजक मारि हरि प्रथम हीं, नृप बसन लुटाए। रंग-रंग बहु भांति के, गोपनि पहिराए" (३६६०)। हर्ष-चरित में भी 'रजक' द्वारा वस्त्र रँगने का वर्णन है।[6] ऐसा ज्ञात होता है कि घर की स्त्रियाँ वस्त्र बाँधने के बाद रजक को रँगने के लिए दे देती थीं। विवाह के समय रजक को नेग देने की प्रथा भी थी।

उपवन में फूल आदि लगाने का काम तथा फूलो का व्यवसाय माली (३६६६, ३६६५) तथा मालिनी (१६६३) [सं० मालिन, मालिनी] का है। मालिनी ही प्रायः फूलों के हार और

१—महाभारत, उद्योग पर्व, अध्या० ६।२७ "अथाऽऽजगाम परंतु स्कन्धेनाऽऽदाय वर्धकि।"

२—कृ० जी०, प्र० १३, अध्या० १।

३—तुलसी, कविता०, १३३ "ब्यौंत करै विरहा दरजी"।

४—शतपथ ब्राह्मण (५।३।८।२१) मे रंगीन कपड़े का द्योतक शब्द "पांडव" है 'अथैनं पांडवं परिधापयति'। हर्ष० सां० अ०, पृ० ५४, वाल्मीकि तथा कालिदास आदि द्वारा "भवित" शब्द रंगने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। (रामायण, सुन्दर; ४६।४, मेघदूत, पूर्व-मेघ, श्लोक १६)।

५- इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० २३०, पाणिनि ने रजक के साथ रँगने का भी उल्लेख किया है। प्रारंभिक समय से भारत में लाक्षा रँगने के काम आता था। मंजिष्ठा, नील तथा रोचना अन्य वस्तुएँ थीं। कात्यायन के अनुसार शकल तथा कर्दम भी प्रयुक्त होते थे।

६—हर्ष० सां अ०, पृ० ७४।

फूल बेचती है, अतएव वह 'फूलवाली'[1] भी कहलाती है—"फूल गूंथि माला लै, मालिनी ह्वै जाउँ" (१६६३) कृष्ण के मथुरा आगमन पर वहाँ का माली भी पुष्प-हार से उनका स्वागत करता है—'बीच माली मिल्यौ, दौरि चरननि पर्यौ, पुहुप-माला स्याम कंठ धारे।' (३६६६)। गंगा, यमुना आदि नदियों तथा मंदिरों के निकट अथवा संध्या समय बाज़ारों में इस प्रकार फूल और मालाएँ बिकने की प्रथा आज भी है। गृह्य कर्मों एवं संस्कारों में बंदनवार तथा विवाह का 'मौर' आदि बनाने का काम भी मालिनी का ही होता है—'लछिमी सी जहँ मालिनि बोलै। बंदन-माला बाँधत डोलै' (६५०), अथवा 'मालिनि बाँधे तोरना'। (६५८)।

गंधिनि[2] (१६६३) भिन्न-भिन्न इत्र तथा अन्य सुगन्धित पदार्थ बेचने का व्यवसाय करते थे—"चन्दन अरगजा सूर केसरि धरि लेउँ। गंधिनि ह्वै जाऊँ निरखि नैननि सुख देउँ।" (१६६३)। इस पद्यांश से तत्कालीन प्रचलित गन्धों का अनुमान भी हो जाता है। इनकी चर्चा पहले भी की जा चुकी है।

चोलिनि (१६६३) का उल्लेख भी कृष्ण-विवाह के प्रसंग में अन्य व्यवसायों के साथ ही हुआ है। "नंदनंदन प्यारे कौ बीरा करि लेउँ चोलिनि ह्वै जाउँ निरखि नैननि सुख देउँ"। (१६६३)।

१६२—हिन्दुओं में कुछ जातियाँ ऐसी हैं, जो कुछ बंधे घरेलू काम करती हैं तथा घर के उत्सवों आदि में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इनमें नाइनि (६५८) [सं० नापित-नाविअ-नाइअ-नाई] बारिन (६३७) दाई (६५८) [सं दात्री] तथा कहार (४११) [सं० काहारक] आदि की गिनती की जा सकती है। कृष्ण के जन्म के सिलसिले में दाई का कई पदों में उल्लेख है। दाई का नेग के लिए झगड़ना तथा नेग बिना मिले नार न काटने की स्नेहयुक्त धमकी का प्रसंग है—"जसुदा नार न छेदन देहौं" (६३३), "कंचन हार दिएँ नहिं मानति, तुहीं अनोखी दाई'। (६३४)। दाई का प्रधान कार्य सौंवर या सोहर [सं० शोभागृह, सूतिगृह] मे होता है। बच्चे की नार भी बहुत से घरों में दाई ही काटती है। धाइ [सं० धात्री] (३७६३) "हौं तौ धाइ तिहारे सुत की, मया करत ही रहियौ"—बच्चे को पालने वाली नौकरानी को "धाय" कहते हैं। नाई तो प्रायः बाल आदि काटने का व्यवसाय करता है, जब कि उसकी स्त्री घरों में संस्कार, उत्सवों आदि में छोटे-छोटे काम, जैसे नाख़ून काटना, मालिश करना, पैर धोना आदि करती है। वही ऐसे अवसरों पर स्त्रियों के पैरों में महावर भी लगाती है—"नाइन बोलहु नवरंगी हो अथवा ल्याउ महावर वेग" उपर्युक्त कार्यों के लिए इन लोगों को जो रुपया पुरस्कार दिया जाता है वही नेग होता है—"लाख टका अरु झूमका (देहु) सारी दाइ कौं नेग" (६५८)। दष्ठौन, मुंडन तथा विवाह आदि संस्कारों में निछावर के रुपये पर भी प्रायः नाइन का ही हक़ होता है।[3] विवाह की लगन लेकर

१—प० सं० टा०, ३६।१ 'लै लै बैठ फूल फुलहारी' १३५।३ 'मालिनि आउ मौर लै गाँथें'।

२—प० सं० टी०, ३६।२, 'सोंधा सबै बैठु लै गाँधी।' अशरफ़, भाग १, पृ० २०२, कुछ सुगन्धियों के व्यापारी 'गन्धवणिक' कहलाते थे। इनमें से बहुत से बंगाल में रहते थे।

३—मानस, बाल० ३१६, "नाऊ बारी भाट नट राम निछावरि पाइ"
१३—"अति बड़भाग नउनियाँ छुएे नख हाथ सों हो।"
१०—"कनक चुनिन सों लसित नहरनी लिये कर हो।"
१४—"जो पग नाउन धोवहिं राम धोवावहिं हो।"
१५—"जावक रचिक अँगुरियन्हि मृदुल सुढारी हो।" रामलला नहछू।

अधिकतर नाई जाता है और उसे "पहिरामनी" या "सरोपा" मिलता है।

मालिन के अतिरिक्त बारिन के भी वंदनवार बाँधने का उल्लेख है "बारिन वंदनवार बँधाई"। आजकल बारी जाति के बहुत से लोग पत्तल बनाने के स्थान पर घरों में सेवकों का कार्य भी करने लगे हैं।

कहार तथा कहारिन (४११) का उल्लेख जड़भरत-रहूगण कथा में हुआ है—"तहां कहार एक दुख पायौ", "कह्यौ कहारनि हमैं न खोरि। नयो कहार चलत पग भोरि"। ये लोग प्रायः डोली और बँहगी उठाने[1] तथा पानी भरने का काम करते थे।[2] कहार को आजकल 'महरा' या 'धीमर' भी कहते हैं तथा कहारिन को 'महरी' [सं० महिला-महल्लिका-महलित्रा-महरिया-महरी] तथा धीमरी। पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में 'धीमरी' शब्द अधिक प्रचलित है तथा पूर्वी में 'महरी'।

१६३—भ्रमरगीत शीर्षक पदों के अन्तर्गत एक पद में कुलाल[3] (४३६६) [सं० कुलाल:] के घड़ा पकाने और रँगने से गोपियों के प्रेम का रूपक बाँधा गया है। इस पद से कुम्हार [सं० कुम्भकार] के व्यवसाय की ओर ध्यान जाता है। "विधि कुलाल कीन्हे काँचे घट, ते तुम आनि पकाए। रँग दीन्हौ हो कान्ह साँवरैं, अँग-अँग चित्र बनाए। यातैं गरे न नैन नेह तैं, अवधि अटा पर छाए।" (४३६६)। कुछ बर्तन जैसे घड़ा, कमोरी तथा हँड़िया आदि पकने के पहले रँगे जाते हैं तथा कुछ पात्र, जैसे सुराही, कूँडी आदि बाद में रंगते हैं; मिट्टी के ये पात्र सुन्दर चित्रों से भी अलंकृत किए जाते थे। अँवरा [सं०आपाक—प्रा०आवाग—आवाग-आवाअवा] में ही पात्र पकाए जाते हैं—"ब्रज करि अँवा जोग ईंधन करि, सुरति आनि सुलगाए। फूंक उसास विरह प्रजरनि सँग, ध्यान दरस सियराए।" (४३६६) यहाँ चाक चढ़यौ [सं० चक्र] (३८१८)। पद भी उल्लेखनीय है—"सदा रहत चित चाक चढ़यौ सो, गृह अंगना न सुहाई।" (३८१८)। यह पहिये के आकार का घूमने वाला पत्थर होता है। इस पर ही कुम्हार बर्तन बनाता है।

१६४—बैद्य, बैद[4] (४४७, ४१४७) [सं० वैद्य:]। च्यवन ऋषि कथा में अश्विनी कुमार द्वारा उनके नेत्र ठीक होने का उल्लेख है। उसी प्रसंग में वे कहते हैं—"कह्यौ हम यज्ञ भाग नहिं पावत। बैद्य जानि हमकौं बहरावत।" ये अश्विनी नामक अप्सरा तथा सूर्य के दो पुत्र माने गए हैं। नवम स्कन्ध में संजीवनी बूटी बताने वाले बैद सुषेन (५९३) का

१—मानस, बाल० ३३३, "भरि भरि बसहं अपार कहारा"।

२—कृ० जी०, प्र० १२, अध्याय ६, श्री टर्नर ने कहार का संबंध पालि "काजहारको" से माना है। जैमिनि कृत भारत संहिता, अश्वमेध पर्व, अध्या० १०, "तथा गारुडिका वीरा (क्षुरकर्मोपजीविका व्याधा) काहारका: (पुष्टा:) कृष्णं संघाहयन्ति ये"।

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० २३०, अष्टाध्यायी में "कुलाल" तथा "कुम्भकार" शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उसके द्वारा बनाए गए मिट्टी के पात्र "कौलालक" कहलाते थे।

४—तुलसी, दोहा०, ५२५, "मंत्री गुरु अरु बैद जो प्रिय बोलहिं भय आस। राज, धरम, तन तीनि कर होइ बेग ही नास।' आईने० अ०, पृ० ८-९, अबुलफ़ज़ल ने "तबीब" (वैद्य) को संगी-साथियों या हितकरों में गिना है। उनके अनुसार हक़ीम (वर्तमान यूनानी विधि का चिकित्सक) दार्शनिक तत्ववेत्ता था।

भी परिचय मिलता है। भ्रमरगीत शीर्षक पदों में एक स्थल पर गोपियाँ उद्धव से ही व्यंग्य में अपनी चिकित्सा कराने को कहती है—

"ज्यौं त्रिदोष उपजैं जक लागत बोलत बचन न सूधौं।
आपुन कौ उपचार करौ अति तब औरनि सिख देहु।
बड़ौ रोग उपज्यौ है तुमकौं भवन सवारैं लेहु।।
हाँ भेषज नाना भाँतिन के; अरु मधु-रिपु से बैद।
हम कातर डरपति अपनै सिर, यह कलंक है खेद।।" (४१४७)

इस पद्यांश मे त्रिदोप [सं०] (वात, पित्त तथा कफ का व्यतिक्रम) के कारण ठीक से बोल न पाने का वर्णन है। यह शब्द वैद्यक शास्त्र में प्रयुक्त होता है। अन्य रोगों मे राजरोग, कफ (४३४३) तथा सन्निपात (५४१) का उल्लेख हुआ है। 'कफ कंठ विरुध्यौ' (११८) का उल्लेख वृद्धावस्था के चित्रण मे है। भेषज [सं० भेषजं] या दवाइयाँ भी अनेक प्रकार की बताई गई है। सूर के समय मे भारतीय ढंग की वैद्यक अथवा आयुर्वेदिक चिकित्सा तथा हकीमी या यूनानी इलाज का ही प्रचार था।

गारुड़ी[१] (१३५८—१३८२) [सं० गारुड़िक] अथवा गुनी (१३६१) ज़हर आदि उतारने वाले विष-वैद्य को कहते है।[२] राधा-कृष्ण के संयोग प्रेम के पदों में एक प्रसंग कृष्ण का गारुड़ो रूप धारण करने का है—'मोहन मोहनि डारी' (१३५८)। सखियाँ राधा की माँ से कहती है—

'देखहु महरि सुता अपनी कौ, कहुँ इहिं कारैं खाई।
हम आगैं आवति, वह पाछैं, धरनि परी भहराई।
सिर तैं गई दोहनी ढरिकै, आपु रही मुरझाई।
स्याम भुअंग डरयौ हम देखत, ल्यावहु गुनी बुलाई।' (१३६१)।

राधा की इस दशा 'सीतल अंग स्वेद सौं बूड़ी' को नगर के वैद्य भी ठीक नहीं कर पाते हैं—'सूर गारुड़ी गुन करि याके मंत्र न लागत थर तैं' (१६६२) अथवा 'चले सब गारुड़ी पछिताइ। नैकुहूँ नहिं मंलागत, समुझि काहु न जाइ।' (१३६२) फिर नंद-पुत्र से ही सब प्रार्थना करते हैं—'नंद सुवन गारुड़ी बुलावहु'। इस पर "जंत्र-मंत्र कह जानै मेरौ। यह तुम जाइ गुनिनि कौं बूझौ' (१३७१)—पहले तो कृष्ण यह उत्तर देते हैं, किन्तु माँ के आग्रह करने पर गारुड़ी के रूप में प्रिया राधा की दर्शन की इच्छा पूरी करते है—'कीरति महरि बुलावन आई, जाहु न कुँवर कन्हैया' (१३७३) अथवा 'मैया एक मंत्र मोहिं आवै' (१३७४) तथा 'हरि गारुड़ी तहाँ तब आए। यह बानी वृषभानु-सुता सुनि मन-मन हरष बढ़ाए', 'सूर स्याम प्यारी दोउ जानत अंतरमत कौ भाइ' (१३७६)।

इन्हीं पदों में सांप काटने का प्रभाव तथा उस समय गांवों में प्रचलित मंत्र से झाड़ने आदि की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है—'फुरै न मन्त्र, जन्त्र गद नाहीं, चले गुनी गुन डारे' (१३६५) 'जाहु न आवौ झारि' (१३८३) तथा, 'नीकै विषहिं उतार्‌यौ स्याम' (१३८१)। आज भी निम्न वर्ग के लोगों तथा गांवों में सांप के काटने पर इसी प्रकार विष उतारने का ढंग चल रहा है।

१६५—एक स्थल पर तेली (१०२) [सं० तेलिक, तेलिन्-प्रा० तेल्लिक-तेली] का

१—हर्ष० सा० अ०, पृ० २६, भिषग्पुत्र, मंत्रसाधक, धतुवादविद् (रसायन बनाने वाले) आदि चिकित्सकों के अतिरिक्त जाँगुलिक (विषवैद्य, गारुड़ी) भी बाण के मित्रों में थे।

२—प० सं० टी०, १२०१२ 'जाँभत गुनी गारुरी आए। ओझा वैद सयान बोलाए।

भी उल्लेख है। 'तेली के वृष लौं नित भरमत, भजन न सारंगपानि' (१०२)। यहाँ पर तेल निकालने के कोल्हू में बैलों की सहायता का निर्देश भी है। तेली का काम तिल, सरसों आदि से तेल निकालना ही है।

दधिदान शीर्षक पदों में बनजारिनि [वाणिज्यारक][1] बजारिनि [फ़ा० बाज़ारी] तथा पंसारिनि [सं० पण्यशाली] (२०९१) का निर्देश है—

'लीन्हें फिरत रूप त्रिभुवन कौ, री नोखी बनजारिनि।'
'पेलौ करति, देति नहिं नीकैं, तुमहौ बड़ी बजारिनि।
सूरदास ऐसौ गथ जाकैं, ताकैं बुद्धि पँसारिनि।' (२०९१)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है 'बनिजारा' ज्येष्ठ सार्थ को कहते थे जो घूम-घूम कर चीज़ें बेचते थे और उसकी स्त्री को बनिजारिनि कहते थे। आज बनजारा तथा बनजारिनि (जिप्सी, रोमानी) इसी प्रकार भ्रमण करने वाली एक जाति है और ये लोग छोटी-छोटी चीज़ें बेच कर जीविका चलाते हैं। पंसारी या पंसारिनी उस बनिये या महाजन को कहते हैं जो मसाले तथा अनाज आदि बेचता है।

मोदी (१४१) 'मोदी लोभ' विनय पदों में उल्लिखित है।

पारधी (६७) [सं० पापर्द्धि] तथा व्याध (१७९) [सं० व्याध] शब्दों का उल्लेख भी विनय पदों की अन्तर्कथाओं में है—'हौं अनाथ बैठ्यो द्रुम डरिया पारधि साधे बान। सुमिरत ही अहि डस्यौ पारधी, कर छूट्यो संधान' (६७)। पारधी को 'आखेटक', 'शिकारी' 'व्याध' या 'बहेलिया' भी कहते है। सूरसागर में अहेरी (४८३४) [सं० आखेटक] शब्द भी मिलता है—'विषय जाल बल बांधि व्याध लौं, नृप खग अवलि बटोरी। जनु सु अहेरी हति जादौपति, गुहा पींजरी तोरी। निकसे देत असीस एक मुख, गावत कीरति गोरी। जनु उड़ि चले बिहंगम के गन, करे कठिन पग डोरी' (४८३४)। इस पदांश में चिड़ियां पकड़ने के ढंग पर भी प्रकाश पड़ता है तथा जाल व पींजरी शब्द भी आए हैं। पक्षी पकड़ने की अन्य विधियां तथा सामग्री भी[2] वर्णित है—'चारा कपट पंछि ज्यों फंदत।' (१५४२) अथवा—

लोचन भये पखेरू माई।
लुब्धे स्याम-रूप चारा कौं, अलक फंद परे जाई॥
मोर मुकुट टाटी मानो, यह बैठनि ललित त्रिभंग।
चितवनि लकुट, लास लटकनि पिय, काँपा अलक तरंग॥[3]

१—प० सं० व्या० ७४।१ 'चितउर गढ़ के एक बनिजारा' (१) प्राचीन सार्थवाह का मध्यकालीन पारिभाषिक शब्द 'बनिजारा' था। ये लोग घूम-घूम कर व्यापार करते थे।

२—कु० जी० प्र० १२, अध्या० ३, मांट में बांस के कच्चरों के बने चिड़िया पकड़ने के अड्डे 'चुगड्डा' या 'कंपा' कहलाते हैं। उसमें चिपकने वाली वस्तु ही 'चेंपा' कहलाती है। चिड़िया फंसाने का जाल 'बंगुरा' नाम से जाना जाता है तथा उसके तांत या घोड़े की पूंछ के बने फंदे ही 'फंदाने' या 'फंदवारे' कहलाते हैं।"

३—हर्ष० सां० अ० पृ० १८२ वाण ने आखेट की सहायक सामग्री में पशुओं की नसों की डोरियां, जाल, फन्दे तथा व्यवधान (टट्टी) कूटपाशों की गेंडुरी का उल्लेख किया है। शाकुनिक अथवा व्याध वीतंसक जाल लिए हुए थे। बेलों पर लासा लगाकर गौरैया पकड़ी जाती थी। शिकारी कुत्ते भी सहायता करते थे।

दौरि गहनि, मुख मृदु मुसकावनि, लोभ पींजरा डारे।
सूरदास मन ब्याध हमारौ, गृह बन तैं जु बिसारे।' (२८६०)

तथा 'प्रीत करि दीन्हीं गरें छुरी........मुरली मधुर चेंप काँपा करि, मोरचन्द्र फंद-वारि' (३८०३)। लास [सं० लासक] गूलर के पेड़ का चिपचिपा दूध है, जो इस काम आता है ; जायसी की शब्दावली में भी ये सभी शब्द मिल जाते हैं।[१]

उद्धव-गोपी संवाद में महावत का (४६५५) [सं० महामात्र] का भी निर्देश हुआ है। उसके साथ अंकुस [सं० अंकुश] की चर्चा भी है, जिसकी सहायता से महावत हाथी को चलाता तथा अधिकार में रखता है—

'ज्यौं गज मत्त जानि हरि तुम सों, बात बिचारि सजी ॥
माथैं नहीं महावत सतगुरु, अंकुस जानहु टूट्यौ ।' (४६५५)

मतवाला हाथी किस प्रकार महावत की उपेक्षा कर साँकर [सं० श्रृंखला] तोड़ कर भाग जाता है उसका वर्णन भी है—

'धावत अध-अवनी आतुर तजि, सांकर सत्संग छूट्यौ।' (४६५५)

'हाथीवान' तथा 'पीलवान' भी महावत को ही कहते हैं।

१६६ गनिका (१८२, ३४७१) [सं० गणिका] तथा बेश्या (३५३२) [सं० वेश्या] की चर्चा भी इस सिलसिले में की जा सकती है। विनय पदों मे उल्लिखित अन्तर्कथाओं में गणिका के पाप नष्ट होने की कथा भी है—

'गज, गनिका, गौतम-तिय मोचन मुनि-साप' (१८२) अथवा 'गीध ब्याध, गनिका अरु अजामिल, ये को आहि बिचारे' (१७६)। बसंत वर्णन में भी कुल-वधू (३४७१) तथा गनिका की तुलना लता तथा वृक्षों से की गई है—

'मनु कुल-वधू निलज भंई गृह-गृह गावतिं अटनि चढ़ी' तथा

'मानहु बिट सबहिनि अवलोकत, परसत गनिका गात' (३४७१)। होली का मद सब ओर ही छाया था—'सठ पंडित बेस्या, बधू हरि होरी है' (३५३२)। पद्मावत में भी श्रृङ्गार हाट में सज-धज कर बैठी हुई वेश्याओं तथा उनकी वीणा आदि के आकर्षण का विस्तृत वर्णन है।[२]

१—प० सं० टी०, ६६,७०।७१, ७२, ७७—'आइ बिआध ठुका लै टाटी.... पैग पैग भुइँ चाँपत आवा।....पाँच बान कर खोंचा लासा भरे सो पोंच।' (६६), 'चूरि पाँख मेलेसि डेली....बिख दाना कत देयँ अँकूरा। जौं न होंति चारा कै आसा।....हूँ सुअटा पण्डित हता हूँ कत फाँदा आइ।' (७०), अड़ा लाइ पंखन्हि कहँ धरा' (७१), 'ता दिन ब्याध भयेउ जिय लेवा। उठे पोंख भा नाउँ परेवा।' (७२) :
'घालि मंजूसा बेचै आना' (७७)।

२—प० सं० टी० ३८।१ "पुनि सिंगार हाट धनि देसा,
कइ सिंगार तहँ बैठी बैसा।"

३८।२, ३ "मुख तँबौर तनचीर कुसुंभी।
कानन्ह कनक जराऊ खुंभी।
हाथ बीन सुनि मिरिग भुलाहीं।
नर मोहहिं सुनि पैगु न जाहीं।

३८।५ "लाह कटाख मारि जिउ लेहीं"

५२६।१ "पतुरिनि नाचे दिहें सो पीठी"

नट, नटी अथवा नटिनी (६८, ४२५७) भी घूमने-फिरने वाली एक जाति है, जो अपनी कला से लोगों को प्रसन्न करके धन संचित करती है। स्त्रियाँ प्रायः नाचती गाती हैं तथा पुरुष कलाबाज़ी दिखाते हैं—'ज्यौं बहुकला काछि दिखरावै, लोभ न छूटत नट कै।' (२९२) इनका निर्देश सूरसागर के कई पदों में है—'तब जो कहत असुर की दासी, अब कुल-वधू कहावै। नटिनी लौं कर लिए लकुटिया, कपि ज्यौं नाच नचावै।' (४२५७) कुबजा के प्रति गोपियाँ अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करती है। विनय पदों में कहीं-कही मृत्यु अथवा माया की तुलना नटिनी से की गई हैं, 'ताकै मूड़ चढ़ी नाचति है, मीच अति नीच नटी।' (६८) अथवा 'माया नटी लकुटि कर लीन्हें कोटिक नाच नचावै।' तथा 'दर-दर लोभ लागि लिए डोलति, नाना स्वांग बनावै।' (४२) नटों की जाति आज भी गाँवों में अधिक दिखलाई देती है। इनके सामाजिक तथा नैतिक नियमों का स्तर भिन्न है। नटिनी को 'बेड़नी, भी कहते हैं।[1] नट का समानार्थक **बाजीगर** (२९३) [फ़ा० बाज़ीगर] भी प्रयुक्त हुआ है—'कै कहुँ रंक कहूँ ईस्वरता, नट-बाजीगर जैसें।'

कंस के दरबार में दो **मल्लों** (३६८७) [सं० मल्लः]—मुष्टिक तथा चानूर के कृष्ण द्वारा मारे जाने की कथा है—'कहाँ मल्ल मुष्टिक से चानूर सिला-भंजन' (३६८६) अथवा 'नंद के कुंवर दोउ मल्ल मारे' (३६-७)। मुगल बादशाहों के बाहर के मनोरंजन में पहलवानों की कुश्ती, शिकार, घुड़दौड़ तथा हाथियों की लड़ाई का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ये लोग नटों के खेल तथा कबूतर और बाज की लड़ाई के भी शौक़ीन थे। नंद के दरबार में पहलवानों की उपस्थिति इस प्रथा पर प्रकाश डालती है।

१६७—कृष्ण-जन्मोत्सव शीर्षक कुछ पदों में (**ढाढ़ी, ढाढ़िनि** ६४६—६५६) के बधावा गाने तथा कंचन, मनि, मुक्ता (६५६) तथा हीरा, रतन, पटंबर पाने का वर्णन है—"ढाढ़ी और ढाढ़िनि गावैं, ठाढ़े हुरके बजावैं, हरषि असीस देत मस्तक नवाइ कै" (६४६) अथवा, "हंसि ढाढ़िनि ढाढ़ी सौं बोली, अब तू बरनि बधाई (६५५) 'ढाढी दान मान के भाई' (६५६) कहीं-कहीं कवि ने स्वयं को ही ढाढ़ी बताया है, "हौ तौ तेरे घर कौ ढाढ़ी, सूरदास मोहिं नाऊँ (६५३) अथवा "हौं तेरौ जनम-जनम कौ ढाढ़ी, सूरजदास कहाऊँ" (६५४) यह भी सम्भवतः एक विशेष जाति है, जो गाने का काम करती है।

ऐसा ज्ञात होता है कि भीख माँगकर जीवन यापन करने वाला वर्ग सूर के समय में भी था उनको **जाचक** (४६०, ६४८) [सं० याचक] तथा **भिच्छुक** (६५८) या **भिखारी** (२१७) [सं० भिक्षुक] कहा गया है—"बंदी जन अरु भिच्छुक सुनि-सुनि दूरि-दूरि तें आए" (६५३) या "जो राजा-सुत होय भिखारी" (२१७)।

प्राचीन समय में राज-दरबारों के विरुदावलि गाने वालों की भी एक जाति थी। राम तथा कृष्ण-जन्मोत्सव पर नंद के द्वार पर इनकी उपस्थिति के उल्लेख हैं। इनको **बन्दीजन** (६५३) [सं० वंदिन्], **सूत** [सं० सूतः] **मागध** (४६२, ६४८) [सं० मागध], **भाट** (६४६) [सं भट्ट] आदि अनेक नामों से पुकारा जाता था।[2] "आनंदित विप्र, सूत, मागध, जाचक-गन उमँगि असीस देत सब हित हरि के" (६४८) अथवा "मागध-बंदी-सूत लुटाए" (४६२) अथवा

१—प० सं० टी०, ११२।७ "जानहुँ गति बेड़िनि देखराई"।

२—तुलसी, जानकी-मंगल, १८० "नट भाट मागध सूत जाचक जस प्रताप बरनहीं"।

"मागध-बंदी-सूत श्रुति करत कुतूहल बार" (६४५) तथा "मागध, सूत, भाँट, धन लेत जुरावन रे।" (६४६)। इनको राजपूत-काल में चारण भी कहते थे।

"बटपारी, ठग, चोर, उचक्का, गांठिकटा, लठबाँसी (१८६), लूटा, धूत (१८६) को एक सूची में रखा जा सकता है। इन लोगों ने दूसरे के धन पर आश्रित रहने का ही व्यवसाय बना लिया है। यह वर्ग हर समाज में सदैव से रहता आया है। ठगों से संबंधित शब्दावली भी उल्लेखनीय है, जैसे ठगिनी, फँसहारिनि, बटपारिनि (२१९९—२१०१)। इनके फंदा फाँसि तथा विष लाड़ू (२१००, २२०१) का भी उल्लेख है— "विष लाड़ू दरसावति लै पुनि, देह सदा सुधि बिसरत ज्यौं। ता पाछे फंदा धर डारति, इनि भाँतिनि कर मारति हो।" (२१०१)। इस प्रकार के ठगों का भय मध्यकाल में बहुत था। "ठग मोदक" या "विष मोदक" (४०१५-२२०३) का उल्लेख अन्यत्र भी है। तत्कालीन प्रचलित चोरी के विभिन्न दंडों का अनुमान इस पद से हो सकता है—

"चोरी के फल तुमहिं दिखाऊँ (२५५५)। कंचन खंभ, डोरि कंचन की देखौ तुमहिं बँधाऊँ।" "खंड एक अंग कछु तुम्हारौ तथा, "यह कहि डांड़ मनाऊं" आदि पंक्ति द्वारा चोरों का बाँधना, अंग-भंग तथा 'डांड़' लेने की प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। फाँसी (४१६४) तथा सूली[1] (३८६) का अन्यत्र परिचय मिलता है।

१९८—तुलसी तथा जायसी ने उपर्युक्त व्यवसायों के अतिरिक्त कुछ और भी नामों का उल्लेख किया है। तुलसी की शब्दावली में बजाज, सर्राफ, जुलाहा, उपरोहित आदि के नाम भी मिलते हैं।[2] रामलला नहछू (सोहर, छंद—१०) मे भी अनेक व्यवसाय करने वालों का उल्लेख है, जैसे लोहारिनि, 'अहीरिनि, तंबोलिनि, दरजिनि, मोचिनि, मलिनियाँ, 'नउनियाँ' तथा 'नाउन'। पद्मावत मे 'महाजन' (३७) तथा 'पटवन्ह' (३२८) के नाम उल्लेखनीय हैं। बाजार मे घूमने फिरने वाले 'चोर' तथा 'गाँठिछोरा' (३२९) को भी गिना जा सकता है।

वर्तमान समय के ग्रामीण जीवन मे उपयोगी शिल्पकारों तथा व्यवसायियों में उपर्युक्त के अतिरिक्त धोबी, गड़रिया, चमार, कंजड़, ठठेरा, मोची, भड़भूजा, छप्पर छाने वाले तथा हलवाई आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

ग्राम-प्रबंध तथा कृषि

१९९—**ग्राम प्रबन्ध** व्यापार तथा वाणिज्य के समान ही ग्राम-प्रबंध तथा खेती से संबंधित शब्दावली भी सूरसागर मे सीमित है। यह प्रमुख रूप से प्रारंभिक स्कन्धों के विनय पदों में मिलती है। व्यापार की तरह कुछ पदों में कृषक जीवन से सम्बन्धित शब्दों की

१—प० सं० टी०, २६०,—"बाँधि तपा आने जहँ सूरी"

२—मानस, उत्तर०, २८, "बजार रुचिर न बनइ बरनत वस्तु बिनु गथ पाइए।
जहँ भूप रमानिवास तहँ की संपदा किमि गाइए॥
बैठे बजाज़ सराफ़ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर ते।"

कविता०, उत्तर०, १०६,
"धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जुलाहा कहौ कोऊ"।
गीता० बाल०, १०१,—"उपरोहित के कर जनक जनेउ पठाई"।

सहायता से शरीर तथा आत्मा आदि का रूपक बांधा गया है (१४२, १४३)। इन थोड़े से शब्दों की सहायता से तत्कालीन स्थानीय स्थिति पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। शासन आदि में विदेशी शब्दों का कितना चलन हो गया था, यह भी पता चलता है। ब्रज में गांव के प्रमुख अथवा विशिष्ट जनों का आदर सूचक शब्द महतो (१४२) [सं० महत] अथवा महर (६४७, ६३१) [सं० महत] था। 'वृषभानु महर' (१३२१) अथवा 'नंद महर घर'। महरि (६३१) 'महर' का ही स्त्रीवाचक शब्द था। एक अन्य शब्द सिकदार (६४७) [अ० सिक़-विश्वसनीय व्यक्ति] भी प्रयुक्त हुआ है। मुग़ल प्रशासन में 'सिक़दार' एक अधिकारी विशेष का नाम था। कई गाँवों का भूभाग परगना (६४७) [फ़ा० पर्गनः] कहलाता था। बर्नियर ने ग्राम प्रबन्ध में सूबे तथा परगने का उल्लेख किया है।[1] प्रमुख नगर अथवा ग्राम परगने का केन्द्र (सदर) होता था। अकबर के राज्य काल में आगरा सरकार के अन्तर्गत तैंतीस (mahal) महाल या परगने थे। इनमें से ही पाँच मथुरा, महोली, मंगोलता, महाबन तथा जलेसर थे।[2] आज एक जिले में कई तहसीलें होती हैं और उसका प्रधान शहर या गाँव तहसील सदर होता है। एक तहसील में कई परगने होते हैं। 'ब्रज परगन सिकदार महर, तू ताकी करत नन्हाई' (६४७)—माखन चोरी प्रसंग में यशोदा कृष्ण से कहती हैं। नंद के बड़प्पन को दिखाने के लिए ही यह उल्लेख है; वर्तमान प्रचलित शब्द पटवारी (१८५) [सं० पट्ट = नगर या कस्बा + वारी] भी मिलता है—'अहंकार पटवारी कपटी झूठी लिखत बही' (१८५)। इसमें कर्मचारियों के अत्याचार की ओर भी संकेत है।

२००—ज़मीन की नाप-जोख का तत्कालीन प्रचलित शब्द मसाहत (१४२) [अ०] था—'काया ग्राम मसाहत करि कै।'[3] इसी सिलसिले में कर तथा लगान सूचक भी कुछ शब्द ध्यान आकर्षित करते हैं। इन सब का हिसाब-किताब करने वाले को लिखहार (१४२)। [देश०] कहा गया है—'सांचो सो लिखहार कहावै' (१४२)। अन्य कर्मचारियों[4] में मुहासिब (१४२) [अ०, आय-व्यय परीक्षक] तथा अमीन (६४) [अ०, वह अदालती कर्मचारी जो बाहर

१—बर्नियर, पृ० ४५५

२—ग्राउज़, पृ० ३

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १६६, किसानों में भूमि-वितरण पाणिनि के समय में भी नाप-जोख तथा भूमि-पर्यवेक्षण पर आधारित था। यह सूत्र (४, १, २३) "कांडानतात क्षेत्रे" से पता चलता है। क्षेत्र का यह नाप-विशेष "कांड" था।

४—आईने०, पृ० १८, टकसाल के कर्मचारियों में अमीन दरोगा की प्रबंध कार्य में सहायता करता था तथा झगड़े भी शांत करता था।

मुशरिफ़ आय-व्यय का हिसाब रखता था और इस कार्य के लिए एक किताब भी रहती थी, जिसमें दिन-प्रतिदिन का हिसाब रहता था।

पृ० २०, अहदी, ये सिपाही का काम करते थे तथा राजदरबार में मुहर्रिरों के पदों पर, चित्रकारों, तथा कारखानों में भी काम करते थे। अहदी कर या मालगुज़ारी वसूल करने भी जाते थे।

आईने, अ०, पृ० ८ मुस्तौफ़ी नायब-दीवान या दफ्तर का अध्यक्ष होता था। आमिल कलेक्टर और मैजिस्ट्रेट था जो कृषकों का रक्षक तथा कोष की पूंजी बढ़ाने वाला था।

का काम करता है] भी उल्लेखनीय हैं—'सूर आपु गुजरान मुहासिब, लै जवाब पहुँचावै' (१४२)। मोहारिल (१४३) [अ० मुहर्रिर = लिखने वाला] अमल (६४) [अ० अमला] अधिकारी (१८५) [सं०]—'अधिकारी जम लेखा मागैं' तथा 'मुस्तौफी' (१४३) का भी उल्लेख है। हर्षचरित में भी गाँव के मुखिया तथा हिसाब-किताब का प्रबन्ध करने वालों का वर्णन है। [1]

लगान तथा कर के समानार्थक शब्द पोता (१४२) [फ़ा० पोत:] मुहासिल (१४२) [अ०] तथा जहतिया (१४२) [अ०, जकात = कर, महसूल] प्रचलित थे। मुजमिल (१४२, १४३) [अ०, मुजमल = एकत्रित किया हुआ] भी सम्भवत: इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हर्ष-चरित द्वारा प्राचीन समय में प्रचलित 'भाग' शब्द का लगान देने के सम्बन्ध में पता चलता है। [2] कर के सिलसिले में गुजरान (१४२) [फा० गुजरान] की भी चर्चा है।

जिस कापी में हिसाब रखते थे वह प्राय: वारिज (१४२), अवारिजा (१४२) [फ़ा० अवारिज:] अथवा बही (१८५) के नाम से जानी जाती थी। साधारण बोलचाल में 'बही' शब्द आज भी खूब चलता है—'झूठी लिखत बही' (१८५), 'मुजमिल जोरै ध्यान कुल्ल कौ, हरि सौं तहँ लै राखै। निर्भय रूपै लोभ छांड़िकै, सोई बारिज राखै।' (१४२)। हिसाब के कागज या रसीद को फरद (१४२) [अ० फ़र्द] अथवा रुक्का (६१६) [अ० रुक़्क़ड] कहते थे। आईने अकबरी मे 'सनद' का उल्लेख है। सनद वह लिखित हिसाब होता था जिससे कोषाध्यक्ष या कर्मचारी-वर्ग जिम्मेदारो से छूट जाते थे। [3] दस्तक (१४३) [फ़ा० = हुक्मनामा, क़ुर्की]—'दस्तक कीजै माफ' का उल्लेख भी हुआ है।

२०१—पूरा धन न देने पर बाकी (१४३) [अ० बाकी] अथवा जिम्मे (१४३) [अ० ज़िम्म:] रह जाता था—'जिम्मे उनके, माँगैं मोतैं, यह तौ बड़ी अनीति।' कभी-कभी बट्टा (१४२) [सं० वार्त्त, discount] भी काटते थे—'बट्टा काटि कसूर भरम कौ, फरद तलै लै डारै, (१४२)। कर, लगान आदि से संबंधित कुछ शब्द और भी मिलते हैं, जैसे जमा [अ० जमअ्], असल [अ० अस्ल], खरच (१४३) [फ़ा० ख़र्च] तथा लेखा (१४३)—'जमा बांधि ठहरावै', 'जमा खरच नीकैं करि राखै, लेखा समुझि बतावै' तथा 'करि अवारजा प्रेम प्रीत कौ, असल तहाँ खतियावै।' (१४२)। तगीरी (१४३) [अ० तग़ईर = कुछ का कुछ कर देना = जाली]—'सुनी तगीरी, बिसरि गई सुधि, मो तजि भए नियारे' (१४३) का भी उल्लेख किया जा सकता है। सब हिसाब पूरा होना—'लिखि कीनो है साफ' —'साफ (१४३) [अ० साफ़] करना कहलाता था। रुपये मिलने के लिए बरामद (१४३) [फ़ा० बरआमद = ऊपर सामने आना] शब्द आज भी प्रयुक्त होता है—'बढ़ौ

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० १८७, १३८, १७८, गाँव का मुख्य अर्थ-अधिकारी (वर्तमान पटवारी के समान) "ग्रामाक्षपटलिक" कहलाता था। सहायक लेखक "करणि" तथा सरकारी कार्यालय "अधिकरण" नाम से जाना जाता था तथा विभिन्न विभागों के अधिपति "अध्यक्ष।"

२—हर्ष० सां० अ० १३६, हर्ष ने सौ गाँव ब्राह्मणों को दान किए जिनका क्षेत्रफल एक सहस्र "सीर" या "हलभूमि" था ("सीरसहस्रसम्मितसीमाग्राम") शुक्रनीति (१।१६३) में कहा है कि एक क्रोश क्षेत्रफल वाले गांव का भाग एक सहस्र चांदी के कार्षापण थे।

३—आईने अ०, पृ० २२८।

तुम्हार बरामद हूँ कौ' (१४३)।

एक स्थल पर किसानों की निर्धनता के कारण लगान देने में असमर्थता तथा ग्राम अधिकारी के अनाचार का भी वर्णन है—

'अधिकारी जम लेखा माँगै, तातैं हौं आधीनौ।
घर मैं गथ नहिं भजन तिहारौ, जौन दियैं मैं छूटौं।
धर्म जमानत मिल्यौ न चाहै, तातैं ठाकुर लूटौं।
अहंकार पटवारी कपटी, झूठी लिखत बही।
लागै धरम, बतावै अधरम, बाकी सबै रही।
सोई करौं जु बसतै रहियै, अपनौ धरियै नाउँ।
अपने नाम कौ बैरख बाँधौ, सुबह बसौं इहिं गाउँ।' (१८५)

कृषि

२०२—इसी प्रकार एक अन्य पद मे कृषि का रूपक मिलता है—

'प्रभु जू यौं कीन्हीं हम खेती।
बंजर भूमि गाउँ हर जोते, अरु जेती की तेती।
काम क्रोध दोउ बैल बलो मिलि, रज तामस सब कीन्हौं।
अति कुबुद्धि मन हाँकनहारे, माया जूआ दीन्हौं।
इन्द्रिय मूल किसान, महातृन अग्रज बीज बई।
जल नल की विषय वासना, उपजत लता नई।
कीजै कृपा-दृष्टि की बरषा, जन की जाति लुनाई।
सूरदास के प्रभु सौ करियै, होई न कान-कटाई।'

उपर्युक्त अवतरण में खेती से संबंधित प्रायः सभी प्रमुख शब्द मिल जाते है—खेती [सं०क्षेत्र- खेत + ई] बंजरभूमि[1] मे नही हो सकती। भूमि जोतने के लिये बली दोउ बैल [सं० बलद] की आवश्यकता होती है। हल [सं०] का बैलोंके कंधों पर रखने वाला भाग जुआ [सं० युग] कहलाता है। किसान [सं० कीनाश] या खेतिहर [सं० क्षेत्रकर] ही उसका हाँकनहार होता है। भूमि ठीक होने के बाद बीज [सं० बीज] बोते हैं तब लता [सं०] निकलती है। किसान का इतना परिश्रम व्यर्थ भी हो सकता है यदि बरषा [सं० वर्षा] न हो। पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी प्रायः यह सब बातें कृषि के प्रसंग में बताई गई हैं।[2]

१—बंजर को ऊसर भी कहते हैं। रेह मिली होने के कारण मिट्टी चिकनी हो जाती है। ग्रा० श०, पृ० ४, ग्रामीण बोली में "उसरहा" भी कहते हैं। पृ० १३, 'जुआ' हल, का वह भाग है जो बैलों की गर्दन में डालते हैं। यह आम, कटहल आदि हल्की लकड़ी का बनता है। इसको 'जुआ', 'जुआठ' तथा 'जुआठा' भी कहते हैं।

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १९५, ऋग्वेद में किसान के लिये "कीनाश" शब्द मिलता है। अष्टाध्यायी में प्रायः "क्षेत्रकर" शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। हल को "हल" या "हलि" कहा गया है। "हलयति" (हल चलाना), "वाप (बीज बोना), "मूलावर्हण" (घास वगैरह) निकालना, "लवन" "फ़सल

स्फुट प्रसंगों में खरिहान (१४२) [सं० खल] 'माँड़ि-माँड़ि खरिहान क्रोध को' (१४२) का उल्लेख किया जा सकता है। खलिहान वह स्थान है जहाँ फ़सलें काटने के उपरान्त उसे माँड़-माँड़ कर अनाज और भूसा अलग करते हैं। स्फुट प्रसंगों में ही ऊजर (४६६२) अथवा उजड़ भूमि 'ज्यों ऊजर खेरे की पुतरी' तथा खेतिहर (१०७) [सं० क्षेत्रकर] द्वारा निराई करने का वर्णन भी है 'जैसे प्रथम असाढ़ आंजु तृन खेतिहर निरखि उपाटत।'[1] कुछ उदाहरण पौधों के ज्ञान से संबंधित कहे जा सकते हैं जैसे—'सूखति सूर धान अंकुर सी, बिनु बरषा ज्यौं मूल तुई' (२४७५) अथवा 'सूरदास तीनौ नहिं उपजत धनिया धान कुम्हाड़े' (४२२२)। खाल अथवा नीची ज़मीन को किसान पाट कर ठीक करता है—'सूर खाल जिन पाटत' (१०७)। 'कारी घटा पौन झकझोरै, लता तरुन लपटाहीं।' (३६१६)—आदि अनेक स्थलों मे बरषा अथवा पावस (३६१५) का सुन्दर वर्णन हुआ है। वर्षा ही कृषि की प्राण है।

२०३—खेती को प्राचीन साहित्य में 'कृषि' [सं० कृष्, कर्ष = हल जोतना] कहा गया है। 'कृषि' शब्द से हल जोतने के अतिरिक्त बीज, खेती की अन्य सामग्री; पशु और खेती करने वाले व्यक्ति आदि का पूरा भाव ही व्यक्त किया जाता है। वैदिक साहित्य के 'कृष्टि' शब्द के स्थान पर अष्टाध्यायी आदि बाद के साहित्य में 'कृषीवल' शब्द मिलने लगता है श्रमिकों को भाक्त-वेतन मिलता था। ग्रीस के लोग भी यहाँ की उपजाऊ धरती एवं किसानों के कृषि-चातुर्य से प्रभावित हुए थे। प्राचीन भारत में दो प्रकार के बीज साथ बोने का ढंग भी प्रचलित था। दो फ़सलें उस समय भी होती थीं—वासंतक तथा आश्वयुजक। 'वर्षा का पहला भाग 'प्रावृषि' कहलाता था तथा वर्षा का अभाव 'अवग्रह'।[2] अष्टाध्यायी में वर्षा के

काटना) "खल" (कूटना) तथा 'निष्पाव' आदि उल्लेखनीय शब्द हैं। "ऊशर", "गोचर", "व्रज", तथा "गोष्ठ" आदि के अतिरिक्त जोती जाने वाली भूमि "क्षेत्र" (खेत) कहलाती थी। एक नया शब्द "केदार" है जो ब्राह्मण साहित्य में नहीं मिलता।

१—मानस, किष्किन्धा०, १५

'महावृष्टि चलि फूटि किआरी। जिमि सुतंत्र भएं बिगरहिं नारी॥
कृषी निरावहिं चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिं मोह मद माना॥

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १६४ १६५, अष्टाध्यायी में 'मांड़ने' को 'खल' तथा खलिहान को भी 'खल' कहा गया है। बहुत से खलिहान 'खलिनि' और 'खल्य' कहलाते थे। सादी भूमि 'कर्ष' और जोती हुई 'सीत्य' तथा 'हल्य' कहलाती थी। 'सीता' शब्द तो ऋग्वेद तक में मिलता है। पृ०, १६८, १६६ हल 'सीरनाम' तथा 'हल' कहा गया है। ऋग्वेद का 'लांगल' 'सीर' शब्द का ही समानार्थक था। बड़े हल को 'हलि' या 'जीत्य' भी कहते थे। अवधी बोली में 'हरी' और 'जीत' शब्द आज भी आपसी सहायता के लिए प्रयुक्त होते हैं जैसे हल बैल दूसरे को देना। हल के तीन भाग 'ईषा' (लम्बी लकड़ी), 'कुशि' (लोहे का फाल) तथा 'पोत्र' (बीच का झुका हुआ भाग) नाम से जाने

अतिरिक्त खेतों को नदियों तथा कुओं के जल से सींचने का उल्लेख भी है। इनमें सिन्धु, सुवास्तु, वर्णु, सरयू, विपास, देविका तथा चंद्रप्रभा आदि नदियों के नाम आ सकते हैं। धान के खेतों में नहरों का पानी भी काम में आता था। देविका नदी का तट (देविका-कूल) धान के लिये प्रसिद्ध था।[१]

हर्षचरित में बाण ने भी विन्ध्याटवी के वन-ग्रामों के वर्णन में कृषि तथा 'क्षेत्रों' का चित्रण किया है। इन छोटे-छोटे खेतों में[२] किसान बिना हल बैल के ही' कुदाल' की सहायता से बीज बो लेते थे। कुछ स्थानों पर हल तथा बैलों की जोड़ी भी काम में आती थी। किसान बंजर भूमि को खाद डालकर उपजाऊ बना लेते थे। इसी सिलसिले में गन्ने के खेतों, रूई, अलसी, सन, तथा अनेक तरकारियों आदि विभिन्न पैदावार का वर्णन भी है।

कृषि से संबंधित थोड़े से शब्द तुलसी की शब्दावली में मिल जाते हैं जैसे 'खेत' 'पाही खेत' (घर से दूर रहने का स्थान[३] 'पाही' और वहाँ का खेत) 'किसान' 'कृषि', 'जलद' आदि।

आज भी ग्रामीण बोली में 'हर' (हल) कहते है तथा उसके कई भाग होते हैं— 'हर', 'परिहथ', 'हरिस', 'नाधा' 'तथा 'जूआ'। हल में लोहे का फार (फाल) भी होता। हल बबूल की लकड़ी का अच्छा होता है।[४]

नग, धातु तथा सिक्के

नग

२०४—बहुमूल्य पत्थरों, धातुओं तथा कुछ प्रचलित सिक्कों के नाम भी सूरसागर में मिलते हैं। यह अधिकांश रूप से कृष्ण-राधा रूप-वर्णन, आभरण, पात्रों, हिंडोला तथा पालने आदि के वर्णन में प्रयुक्त हुए हैं। कहीं-कहीं नगों या धातुओं का प्रयोग उपमान रूप में भी हुआ है।

रतन[५] (६५६) [सं० रत्नं], नग (२१०) [फा० नगीनः] और मणि[६]

जाते थे। वैदिक साहित्य में 'फाल' शब्द कुशि की जगह प्रयुक्त होता था। हल के बैल 'हालक या सैरिक' नाम से प्रसिद्ध थे। यह अन्तर सवारियों के बैलों से किया गया था।

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १६४, २०४।

२—हर्षं० सां० अ०, पृ० १७८, १७६।

'भज्यमान भूरि खिल क्षेत्र खंडलकम्'

३—तुलसी, गीता०, बाल० ६३, 'खेत के से धौखे हैं'।

'पाही खेत, लगनवट, ऋन कुब्याज भा खेत। बैर बड़े सों आपने, किए पांच दुःख हेत॥'

'बुध किसान सर-वेद निजमते खेत सब सींच। तुलसी कृषि लखि जानिबो उत्तम, मध्यम नीच॥'

दोहा०, ४७८,

'फूलै न फरै बेत, जदपि सुधा बरषहिं जलद।'४८४

४—ग्रा० श०, पृ० १०, ११।

५—पं० सं० टी० ४८८।२ 'रतन लाग तेहि तीस करोरी' ४१६।४ 'और पांच नग दीन्ह बिसेखे', ५५४।६ 'रतन पदारथ नग जो बखाने'।

६—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० २३१, खान में काम करने वालों को कात्यायन ने 'खनक' कहा है। काशिका में 'मणि-प्रस्तार' का उल्लेख है। अष्टाध्यायी में नगों के लिए 'मणि' शब्द आया है।

(६५४) [सं० मणि] बहुमूल्य पत्थरों के साधारण अर्थ के सूचक शब्द हैं। कृष्ण तथा राम-जन्मोत्सव पर मागध, भिक्षुक, तथा ब्राह्मणों को दान में देने का उल्लेख बार-बार है—'देत दान राख्यौ न भूप कछु, महा बड़े नग हीर' (४६०) अथवा 'देस-देस तें टीकौ आयौ रतन-कनक-मनि-हीर (४६२) तथा 'हीरा-रतन-पटंबर हमकौं' (६५६)। कृष्ण का पालना भी रत्नजटित था—'मनिगन लगे अपार' (६५९) अथवा 'रतन जटित बर पालनौ' (६६५) तथा 'कनक रतन मनि पालनौ' (६६०)। नंद तथा यशोदा का वैभव इसी प्रकार खाने के पात्रों से भी प्रकट होता है—'थार कटौरा जटित रतन के' (१८३१)। कृष्ण तथा राधा का हिंडोला भी अनुपम ही था 'रतननि जटित सुहावनौ' (३४५०)। राधा को मौतिसिरी का 'इक-इक नग सत मत दामनि कौ' (२५९०) था। वस्त्राभूषणों में रत्न जड़े होने का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। आजकल नगों को 'जवाहरात' भी कहते हैं।

हरि-नाम महात्म्य में भी कहा गया है—'भक्तनि हाट बैठि अस्थिर है हरि नग निर्मल लेहि।' (३१०)। नौ रत्न प्रमुख माने गए हैं[1]— रेसम बनाई नव रतन पालनौ' (७०२) अथवा 'नव-मनि-मुकुट-प्रभा अति उद्दित' (६२५) खान से रत्न निकाले जाने का संकेत इस पद्यांश मे है—'तब तें बिरह कुटिल या गोकुल, कीन्हों है निज खानि।....निकसत नाहिं उपाह रतन ज्यौं, गयौ स्याम संग दूरि।' (४६५६)।

२०५—उपर्युक्त उल्लेखों के अतिरिक्त अन्य कुछ प्रसंगों में नगों के कुछ नामों की चर्चा है। प्रमुख नाम निम्नलिखित हैं—

हीरा[2] हीर (४६२, १६६) [सं० होरः, हीरकः] हीरे दान में देने तथा हीरक जटित वस्तुओं का ऊपर उल्लेख हुआ है—'सुठि हैम पटुली मध्य हीरा' (३४६०)। कवि की सम्पति से मनुष्य जीवन भी बहुमूल्य हीरे से कम नहीं है—'हीरा जनम दियौ प्रभु हमकौ' (१६६)। हीरे का समानार्थक शब्द बज्र (३४५९) [सं० वज्र] भी है—'वज्र कीलैं लगीं सुठि, सुभाग सोभा 'कारि'। सब नगों मे हीरा ही सबसे अधिक बहुमूल्य होता है। पद्मावत मे 'पदारथ' शब्द हीरे का बोधक है।[3] हीरा कई रंगों का होता है—सफ़ेद, पीलापन लिए सफेद अथवा लाल किन्तु सफेद हीरा ही अधिक लोकप्रिय है। इसकी चमक विशेष होती है। भारत का प्रसिद्ध कोहनूर हीरा अब इंगलैड मे है और वहाँ ताज मे जड़ा जाकर राजरत्न-कोष में सुरक्षित है। हीरे से कम चमक वाला किन्तु मिलता-जुलता एक नग 'पुखराज' भी होता है। यह मूल्य मे हीरे से बहुत कम होता है।

सीपज, (७५५) [सं०] मुक्ता (६५६) [सं०], बिधि वाहन-मच्छन' [सं० विधि वाहन भक्षण] शब्द मोती के ही पर्यायवाची हैं। मोती के आभरणों का वर्णन किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त हिंडौले में भी मोती की झालर लगाई गई थी (३४५०)। वर वेश मे कृष्ण के घोड़े की जीन मे मोती की लड़ें लटक रही थीं—'जीन जरित जराब पाखरि लगी सब मुक्तालरी' (४८०४)। शिशु कृष्ण का पालना हीरे तथा मोती से सजाया गया था—'पंच रंग रेसम लगाउ, हीरा मोतिनि मढ़ाउ' (६५९)। बाल-

१—नवरत्नों के नाम यह हैं—हीरा, माणिक, पन्ना, मोती, गोमेद, मूँगा, लहसुनियाँ, पुखराज और नीलम।

२—प० सं० टी०, १०७।१, 'दसन चौक बैठे जनु हीरा', 'वह जो जोति हीरा उपराहीं। हीरा दिपहिं सी तेहि परिछाहीं।'

३—१०७।५ 'रतन पदारथ मानिक मोती'।

कृष्ण के सुन्दर नन्हें दाँतों की आभा मोती की याद दिलाती थी 'प्रगटति हँसत दँतुलि, मनु सीपज दमकि दुरे दल ओलै री' (७५५)। सच्चा मोती समुद्र से निकाला जाता है तथा जितना बड़ा हो उतना ही मूल्य अधिक होता है। प्राचीन काल से ही भारतीयों को मोती विशेष प्रिय रहा है। आजकल इनकी अनुकृति रासायनिक ढंगों से भी बनाई जाने लगी है। हंस द्वारा मोती चुगने की कवि-प्रसिद्धि भी है—'जल तजि हंस चुगै मुक्ताहल' (३०४८) अथवा 'मुक्ति-मुक्ता अनगिने फल तहाँ चुनि चुनि खाहिं' (३३८)।

मानिक[1] (६५४) [सं० माणिक्यं; लाल पद्मराग] या लाल (३४५०) जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है लाल रंग का पत्थर होता है किन्तु इसमें कई वर्ण भी होते हैं। इन सभी नगों के नाम विशेष रूप से झूले के वर्णन में मिलते हैं—'हीरा-लाल-प्रबालनि पंगति, बहु मनि पचित पचावनो' (३४५०) अथवा 'मरुवे सौं मानिक चुनी लागी, बीच हीर तरंग' (३४५१) अथवा 'मनि लाल मानिक जटित भंवरा' (३४५८) तथा 'लाल हीरा लाइ' (३४४६)। माणिक्य तथा हीरक का जड़ाव आज भी लोगों को अत्यधिक प्रिय है[2]—'खचि हीरा बिच लाल प्रवाल' (७०२) गहरे रंग के लाल का ही संस्कृत नाम पद्मराग था।

२०६. मरकत[3] (१६५७) [सं० मरकतं] हिंडोले के डंडे मे मरकत जड़ा था— डांड़ी खर्चो पचि पाचि मरकतमय, सुपांति सुढार'। रास वर्णन मे कृष्ण तथा गोपियों के शरीर की आभा मरकत का स्मरण करा रही थी—'बिच श्री स्याम नारि बिच गौरी, कनक खंभ मरकत रुचि ढौरी।' (१६५७)। गोपियों का कंचन वर्ण तथा कृष्ण का रूप ऐसा था 'मानौ गज-मुक्ता मरकत पर, सोभित सुभग साँवरे गात।' (७७७) इस हरित वर्ण के पत्थर को आजकल अधिकतर 'पन्ना' कहा जाता है। कृष्ण रुक्मिणी विवाह वर्णन में पन्ना (४८०४) शब्द भी प्रयुक्त हुआ है—'मुकुट कुंडल जरित हीरा लाल सोभा अति बनी। पन्ना पिरोजा लगे बिच-बिच चहूँ दिसि लटकत मनी।........हाथ पहुँची हीर के नग जरित मुदरी भ्राजई।'[4] (४८०४)। मुसलमान इसे 'ज़मुर्रद' भी कहते हैं। आईने-अकबरी मे यही शब्द मिलता है।

बिद्रुम, प्रबाल (७५८, ७०२) [सं० विद्रुम, प्रवाल] अथवा मूँगा (३२३५) (सं० मुङ्ग] छोटे बच्चों को मूँगा पहनाने की प्रथा थी तथा अन्य प्रसंगों में यह पर्यायवाची नाम प्रयुक्त हुए हैं—'मुक्ता-बिद्रुम-नील-पीत मनि, लटकत लटकन भाल री' (७५८) तथा हीरा लाल प्रबालनि पंगति' (३४५०)। दीवाली का चौक नगो से बनाया गया था 'गज-मोतिनि के चौक पुराय, बिच-बिच लाल प्रवालिका।' (१४२७)।[5] बिद्रुम अधर का उपमान भी है—'अधर बिद्रुम, बज्रकन दाड़िम किधौं दसनावली' (४८०३) अथवा 'बलि-बलि जाऊँ

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० २३१ 'लौहितक' (माणिक्य) तथा 'सस्यक' (पन्ना) की गिनती मणियों में की गई है। इनका 'अर्थशास्त्र' में भी उल्लेख है। 'वैदूर्य' (Cats eye) की खानें 'वालवाय' पर्वत पर अधिक थीं। 'विदूर' में काटे जाने के कारण उनका यह नाम पड़ गया था। अमरकोष : २।९।९२। 'शोणरत्नं लोहितकः पद्मरागः'।

२—पं० सं० टी० ४४०।६ 'कंचन करी रतन नग बना। जहाँ पदारथ साँह न पना।'

३—अमरकोष. २।९।९२ 'गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः'।

४—प० सं० टी०, ४८२।७, 'कनक अंगूठी औ नग जरी'

५—प० सं० टी० २८५।४ 'रतन चौक पूरा तेहि मांझा।'

अरुन अधरनि की। बिद्रुम बिंब लजावन' (१२८२)।[१] इस मणि में चमक नहीं होती तथा गुलाबीपन लिए हलके लाल वर्ण की होती है। **नीलम** (२८३२) अथवा **इन्द्रनील** (८३४) [सं० इन्द्रनील] झूले में लटकती मोती की झालर, में बीच-बीच मे नीलम सुशोभित थे 'बिच नीलम बहुभावनो' (३४५०)। शिशु कृष्ण के मस्तक पर अन्य मणियों के साथ माता ने नीलम भी पहना दिया था—'मुक्ता-बिद्रुम-नील-पीत-मनि, लटकत लटकन भाल री। मानो सुक्र,-भौम-सनि-गुरु मिलि, ससि कै बीच रसाल री'। शरीर के उपमान रूप में भी 'इद्रनील' प्रयुक्त हुआ है 'इन्द्रनील मनि तैं तन सुन्दर' (८३४)। इन मणियों के प्रभाव मे भी कुछ लोगों को विश्वास है विशेषकर हीरा, मूँगा, नीलम आदि। लोग नीलम बहुत सोच-समझ कर पहनते हैं।

२०७. **फटिक सिला, स्फटिक** (३६६, ३४५०, ३४१८) [सं० स्फटिकशिला] झूले की पटली स्फटिक अथवा बिल्लौरी पत्थर की बताई गई है। 'स्फटिक सिहांसन मध्य बिराजत' (३४२०), 'स्फटिक पटुली संग' (३४५८)। द्वितीय स्कन्ध के आत्म-विभ्रम संबंधी एक पद मे यह उपमा दी गई है 'जैसे गज लखि फटिक सिला मैं, दसननि जाइ अर्‍यो' (३६६)।

पिरोजा (३४५०) [फा० फ़िरोजा] भी एक उल्लेखनीय रत्न है—'मरुव मयारि पिरोजा लटकत सुन्दर सुढर ढरावनौ' (३४५०)। यह हरापन लिए हुए हल्के नीले रंग की मणि है।

मानस में राम-जानकी विवाह के निमित्त बना मंडप भी अद्वितीय था। वह सोने के खंभों तथा मणियों से विभूषित था।[२] इसमें नगीने के जड़ाव में पच्चीकारी ('चीरि कोरि पचि') का वर्णन भी है। यह चित्रण सूरसागर के हिंडोले से बहुत मिलता-जुलता है। आईने-अकबरी में सम्राट् के रत्नकोष के अपूर्व रत्नों के नाम दिए गए हैं। इस विभाग में कार्यपटु 'बितक्चो,' 'दरोगा' तथा कई चतुर 'जौहरी (रत्नों को परखने वाले) नियत थे। रत्नों में लाल, हीरा, पन्ना, आसमानी तथा सुर्ख याकूत तथा मोती के नाम मिलते हैं तथा उनको श्रेणी-वद्ध करके मूल्य नियत कर दिए गए थे। अन्यत्र ज़मुर्रद, लाजहवर्द तथा बिल्लौर नाम भी दिए गए हैं।

२०८. इन बहुमूल्य रत्नों के साथ ही **पोत** (४१, ३३१८) तथा **कांच** (१६१८) का उल्लेख करना अनुचित न होगा। छोटे तथा नकली मोती को ही 'पोत' कहते हैं। मनुष्य जन्म हीरे के समान बहुमूल्य होते हुए भी उसका सदुपयोग हरिनाम में ही है अन्यथा वह पोत के समान ही व्यर्थ माना जायगा—'मानुष-जनम पोत नकली ज्यौं, मानत भजन बिना बिस्तार' (४१)। एक जगह मानिनी गोपी कहती है—'करों न अंजन, धरो न मरकत, मृगमद तनु न लगाऊँ। हस्त बलय, कटि ना पट मेचक, कंठ न पोत बनाऊं' (३३१८)। कांच के ही पोत बनाए जाते हैं—'कांच पोत गिरि जाइ, नंद घर गथौ न पूजै॥' (२२३६)। कृष्ण द्वारा

१—प० सं० व्या० ४४३।४,५ 'हीरा दसन सेत औ स्यामा बिद्रुम अधर रंग रस राते'।

२—मानस, बाल० २८८, बिरचे कनक कदलि के खंभा', 'हरित मनिन्ह के पत्र फल पदुमराग के फूल', 'बेनु हरित मनिमय सब कीन्हें' 'बिच-बिच मुक्तादाम सुहाए', 'मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा', 'हेम बौर मरकत घवरि लसत पाटमय डोरि।'

दधि.दान की छीन-झपट में गोपियों के गले को पोत की माला के टूटने का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है। इस वर्ग की स्त्रियाँ प्रायः पोत की माला पहनती हैं। एक ओर तो सोने के रत्न-जटित आभरणों का वर्णन है किन्तु साथ ही पोत का उल्लेख स्वाभाविकता ला देता है। माया शीर्षक पदों में काँच तथा कंचन के असाम्य का वर्णन है—

'सूरदास कंचन अरु कांचहिं, एकहिं धगा पिरोयो' (४३), 'रंच कांच सुख लागि मूढ़-मति, कांचन रासि गँवाई' (३२८) तथा गोपियों की दृष्टि में 'हेम कांच, हंस काग, खरि कपूर जैसो' (४२७१) कृष्ण-कुब्जा सान्निध्य था।

प्रसिद्ध पौराणिक मणियाँ

२०९. प्रसिद्ध पौराणिक मणियों से संबंधित उल्लेखनीय शब्दावली यह है........

१. **चिंतामनि** (६) [सं० चिन्तामणि] ध्यान करते ही अभिलिषित वस्तु देने वाला रत्न विशेष है—'परम उदार, चतुर चिंतामनि, कोटि कुबेर निधन को' (६) २. **कोस्तुभमनी** (४३५) विष्णु के हृदय पर शोभायमान मणि विशेष है। समुद्र-मंथन के फल-स्वरूप निकले हुए चौदह रत्नों[१] में कौस्तुभमणि भी था।

धातु

२१०—जिन प्रसंगों में रत्नों से संबंधित शब्दावली मिलती है वहाँ धातुओं[२] की चर्चा भी है। **धातु** (३५१९) [सं० धातुः, खनिज पदार्थ] शब्द का उल्लेख है। इनमें प्रमुख स्थान **सोने**, **कंचन**, **कनक हाटक**, अथवा हेम[३] [सं० स्वर्ण, सं०] से (६४२, ६५८, ६५६, ३९१४, ३४६०) को सरलता से दिया जा सकता है। राम-कृष्ण जन्मोत्सव पर सुवर्ण-दान की चर्चा है तथा आभूषण, पूजा एवं भोजन के पात्र, पालना तथा हिंडोला आदि सभी स्वर्ण-निर्मित बताए गए हैं—'लै ढाढ़िनि कंचन-मनि-मुक्ता' (६५६), 'कनक-रतन-मनि पालनौ (६६००), 'सकरी कनक', 'कनक किंकनी', 'किंकिनी कलित कटि हाटक रतन जरि' (७६६, १६७२), 'कंचन-धार दूध दधि रौचन' (१५८४); कंचन माट भराइ कै (३४८४), 'खचि खंभ कंचन के रुचिर' (३४४८), 'हाटक सहित सजावनो' (३४५०) तथा 'सुठि हैम पटुली मध्य हीरा' (३४६०)।

उनकी लकुटिया, मुरली तथा पिचकारी तक सोने की रत्नजटित वर्णित हैं—

१—चौदह रत्न इस प्रकार हैं—अमृत, ऐरावत, कल्पवृक्ष, कौस्तुभमणि, अश्व, चन्द्रमा, धनुष, धेनु, धन्वन्तरि, रम्भा, लक्ष्मी, वारुणी, विष, तथा शंख।

२—इंडिया एज़ नौन टु पाणिनि, पृ० २३१, बहुमूल्य धातुओं में 'हिरण्य' अथवा 'जातरूप' (सोना) तथा 'रजत' (चांदी) का उल्लेख है। इनके अलावा 'अयस' (लोहा) कांस, त्रपु (टीन तथा 'लोहितायस' (तांबा) नाम भी मिलते हैं। एक गण में 'सीस' तथा 'लौह' का ज़िक्र भी है। व्यापार की सामग्री में भी इन धातुओं तथा मणियों की गिनती की गई है।

३—कौटिल्य ने सोने के आठ भेद किये हैं। उनमें 'हाटक' इसी नाम की खान से निकलता था। इसमें एक जातरूप भी है। कसौटी पर कसने पर हल्दी के रंग का सुवर्ण हो तब 'सुवर्ण' नाम से जाना जाता था। (कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण २)

'मोहन मुरली अधर धरी।
कंचनमनि मय रचित, खचित अति' (१८४५)
'मेरी कनक लकुटिया दै री' (२०२४)
अथवा 'रत्न-जटित पिचकारिया' (३४८५)
तथा 'पिचकारी रतनन जरित' (३४६२)।

झूले की डोरी भी सोने के तारों से बनाई गई थी—'पंच रंग पाट कनक मिलि डोरी' (३४५०)। 'कनक' तथा 'कामिनि' सदैव से संसार के सबसे बड़े प्रलोभन माने गए हैं—'मोह्यौ जाइ कनक-कामिनि-रस ममता मोह बढ़ाई'। पद्मावत में रत्नों के समुद्र से निकलने की कल्पना जायसी ने की है[1]। यों उनको नगों का स्थल में होने का ज्ञान था।[2]

गोपियों और राधा के रूप-वर्णन संबंधी पदों में उनके वर्ण की उपमा प्रायः सोने से दी गई है[3]—

'गोपी मंडल मंडित स्याम। कनक नील मनि जनु अभिराम।' (१७६८)।

एक स्थल पर शिशु कृष्ण के पद चिह्नों की सुन्दर उत्प्रेक्षा भी है—'प्रति चरन मनु हेम बसुधा, देति आसन कंज' (८२६)।

सुनार तीन प्रकार के सोने से अपनी कला-कुशलता दिखाता है। एक तो नए सोने को ढालकर चीजें बनाता है, दूसरे पुराने आभरणों आदि को पिघलाकर दुबारा बनाता है तथा तीसरे सोने की पुरानी वस्तुओं को चमकाता और साफ़ करता है। पहले प्रकार के सोने को सूरसागर में अनगढ़ सोना (६५८) कहा गया है—'अनगढ़ सोना डालना (गढ़ि) ल्याए चतुर सुनार' (६५८)। भ्रमरगीत शीर्षक पदों मे एक स्थल पर रसाइनी [रसायनी सं०] का पारहिं (३६१४) [सं० पारद] से सोना बनाने का वर्णन भी है 'ब्रज में दोउ विधि हानि भई····जैसें हाटक ले रसाइनी[4], पारहिं आगि दई। जब मन लग्यौ दृष्टि तब बोल्यौ,

---

१—प० सं० टी०, १७७, 'कहाँ रतन रतनाकर कंचन कहाँ सुमेरु' तथा उलथहिं मोती मानिक हीरा' (१५१।२)

२—प० सं टी०, ३११।१, 'थल थल नग न होइ जेहि जोती। जल जल सीप न उपनै मोती।'

३—प० सं० टी०, ११२।१, 'कनक खंभ दुहु भुजा कलाई'।

४—प० सं० टी०, २६३।४,५,६ 'धातु कमाइ सिखे तै जोगी....कस हरतार पार नहिं पावा। गंधक कहां कुरकुरा खावा।'

(४) सिद्ध अथवा नाथ योगी रसायन अथवा धातुवाद की प्रक्रिया से सोना तथा चांदी बनाते थे। यह लोग तांबें में पारा मिलाकर सुवर्ण तथा रांगें में हरताल मिलाकर चांदी बनाते थे। बाण ने भी 'कारन्धमी' या धातुविदों का उल्लेख किया है। नागार्जुन उनके गुरु थे। बाद में यह रसेन्द्र-दर्शन के नाम से विख्यात हुआ। खनिज पारद में सोना, चांदी, तांबा, सीसा, रांगा आदि मिला होता है। सोना बनाने में रसायिनकों को पारद के अतिरिक्त अमलोनी बूटी की भी जरूरत पड़ती थी। २६४।५ 'सिद्ध गोटिका जायहं नाहीं। कौन धातु पूछहु तेहि पाहीं'।

'अब तेहि बाजु रांग भा डोलौं। होइ सार तब बर के बोलौ'
अभरक के तन ऐंगुर कीन्हा। सो तुम्ह फेरि अगिनि महं दीन्हा।'

(५) [illegible]

सीसी फूटि गई ।' (३९१४) । सोना गर्म करने का उल्लेख भी है— आँच लगें ज्यौनों सोनो सौं, यौं तनुधातु धई ।' (४०२२) ।

कसौटी (४२६३) [सं० कषवट्टिका]—'नेह कसौटी तौल'—परीक्षा के साधारण अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा है । कंचन का पारस द्वारा खरे करने की चर्चा भी है—'सो दुबिधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरो ।' (२२०)

पद्मावत में कसौटी पर सोना कसने, दुआदस बानि' (बारहबानी) उत्तम सुवर्ण तथा सुहागे का उल्लेख भी है[1] । बारहबानी सोने को कुंदन कनक भी कहा गया है । कुंदन के आभरण आज प्रसिद्ध हैं । अकबर के समय में खरेपन के लिए 'बान' शब्द चलता था । सबसे खरा 'बारहबानी' होता था । आजकल इसे 'कैरेट', 'टच' या 'बट्टा' कहते हैं ।

सोने के बाद धातुओं के निश्चित क्रम में रजत (३४४८) [सं०] अथवा रूपै (१४२) रूपै[2] (३७१०) [स० रूप्यं] का स्थान है । एक विनय पद में मनुष्यों से 'रूपै' का लोभ छोड़ देने का आग्रह किया गया है—'निर्भय रूपै लोग छांड़िकै (१४२) ।

कंस-बध के बाद दान में दी जाने वाली गायों का ताँबे, रूपे तथा सोने से सुसज्जित होने का वर्णन भी है—'ताँबे, रूपे, सोने साज राखी वै बनाई कै' (३७१०) हिंडोले के 'मरुव' तथा 'मयारि' रजत-निर्मित थे—'रचि रजत मरुव मयारि' (३४४८) । आजकल अधिक प्रचलित शब्द 'चाँदी' है ।[3]

और पारा मिला देने पर पारे के कण अलग नहीं रहते । ऐसा पारा 'कज्जली' कहलाता है । गंधक पारे को खा लेती है । अभ्रक, पारद तथा गंधक को एकत्र करके सिन्दूर बनाने का यहाँ उल्लेख है । इस शास्त्र के अनुसार पारा, हरताल तथा संखिया आग में डालने से उड़ जाते हैं किन्तु गन्धक पारे को बद्ध कर लेता है । इनमें मिलकर हरताल भी अग्नि को सह लेती हैं ।

भारत में पारा नैपाल, चीन, जापान तथा स्पेन से भी आता है ।

१—पं० सं० टी०, १००।३, 'कंचन रेख कसौटी कसी' 'कनक दुआदस बानि होइ चह सोहाग वह मांग', ६३।४ 'कनक सुगंध दुआदस बानी', १७९।५ 'चाहै सोनहि मिला सोहागू ।'

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि—पृ० २७१, २७२ सिक्कों को निधातिका से चिन्हित करने या 'ठप्पा' लगाने के अर्थ में 'रूप' शब्द अष्टाध्यायी में प्रयुक्त हुआ है । इन सिक्कों पर एक बार या अनेक बार विभिन्न छापें बनाई जाती थीं ।' 'रूप्यय' प्रशंसा या 'आहत' के अर्थ में आता था । 'अयन्त्रित' अथवा 'आहत' किए बिना सिक्के नहीं माने जा सकते थे ।

३—अर्थशास्त्र में चांदी के चार भेद बताए गए हैं—तुत्थोद्गत (तुत्थ पर्वत से प्राप्त) गौड़िक (गौड़ देश की), काम्बुक (कंबु पर्वत की), चाक्रवालिक (चक्रवाल पर्वत से प्राप्त) ।

वैद्यक ग्रन्थों में सोना, चांदी, तांबा, रांगा, लोहा, सीसा तथा जस्ता सप्त धातु मानी गई हैं । 'पारा' रस होता है । अष्टधातु में 'पारा' भी गिना जाता है । 'स्वर्णं रूप्यं ताम्रं च रंगं यशदमेव च । शींसं लौहं रसश्चेति धातवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः।' प्रातिमा निमार्ण के लिए अष्टधातु का उपयोग होता था । गंधक, ईंगुर, अभ्रक, हरताल, सुहागा, फिटकरी, गेरू आदि उपरसों में हैं ।

२११—ताँबे (६४२, ३७१०) [सं० ताम्र] कंस-बध के बाद दान के समान ही कृष्ण के जन्मोत्सव में नंद तथा यशोदा के द्वारा जो गायें ब्राह्मणों की दी गई थीं, वह भी इसी प्रकार अलंकृत थीं—

'खुर ताँबें, रूपें पीठि, सोनें सींग मढ़ी' (६४२)।

इस पद्यांश से इन धातुओं के क्रमानुसार महत्त्व तथा मूल्य पर प्रकाश पड़ता है साथ ही इस प्रकार सजाई गई गायों के दान की प्रथा पर भी।

प्रथम स्कन्ध में लोहा (२२०) [सं० लौहं] धातु का उल्लेख है—'इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परौ' (२२०)। धातुओं के उपयोगों की दृष्टि से लोहे को सर्वप्रथम स्थान मिला है। सोना तथा चाँदी तो वैभव, ऐश्वर्य तथा सम्पदा के सूचक हैं किन्तु किसी भी देश की सम्पन्नता एवं उन्नति बहुत कुछ लोहे पर आधारित होती है।

पद्मावत में 'सार' व 'लोहँ' प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ फ़ौलादी लोहा है।[१] अन्य पद मे 'पोलाद' (६२१) शब्द भी मिलता है।

आईने-अकबरी मे अबुलफ़ज़ल ने राजकीय टकसाल पर भी लिखा है। इसमें सोने-चाँदी को साफ़ करने की विधि तथा धातुओं की उत्पत्ति भी वर्णित है। उन्होंने लिखा है कि सोना बाहर से ही अधिक आता है साथ ही उत्तरी पर्वतों तथा तिब्बत में भी होता है। व्यापारी सोने-चाँदी से यथेष्ट लाभ उठाता है। खनिज पदार्थों मे उन्होंने पाँच श्रेणियाँ की हैं—(१) याकूत आदि (२) पारा (३) फिटकरी (४) गंधक (५) सोना आदि। सप्त धातुओं में उन्होंने चाँदी सोना, खारचीनी, ताँबा, राँगा, लोहा तथा सीसा रक्खा है तथा किस प्रकार इनकी उत्पत्ति होती है यह भी बताया गया है। मिश्रित धातुओं में काँसा, रूई, पीतल या बिरंज, सीमेसुख्ता, तालीकून, कौलपत्र तथा अष्टधातु है।[२]

सिक्के

२१२—सूरकालीन कुछ थोड़े से सिक्कों के नामों पर भी प्रकाश पड़ता है—

(१) रूपै[३] (१४२) 'रूपै' के लोभ छोड़ देने के उल्लेख में इस शब्द का अर्थ उस समय का प्रचलित रुपया हो सकता है।

(२) टका (६५८) [सं० टंकक] कृष्ण-जन्म पर यशोदा ने दाई को नेग में दिए थे—

'लाख टका अरु झूमका देहु सारी दाई कौ नेग।'

यह चाँदी का पुराना सिक्का था। उन्नीसवीं शताब्दी में अधन्ने को भी टका कहते थे।

(३) दाम[४] (२५९०) [फ़ा०] राधा की 'मोतिसिरी' के संबंध में माता कीर्ति कहती है—

१—प० सं० टी० ५१२।४ लौहँ सार पहिरि सब कोपा'।

रहीम—'मुई खाल की साँस से सार भसम होइ जाइ'।

२—आईने अ०, पृ०२९-८८

३—आईने अ०, पृ० ५६, रूपया चाँदी का सिक्का था। यह शेरखां के समय में चला था। एक रूपये में चालीस दाम होते थे। एक वर्गाकार रुपया भी चलता था जिसका नाम 'जलाला' था। दूसरा पुराना व गोल अकबरशाही रुपया था।

४—आईने० अ०, पृ० ५७, दाम तांबे का सिक्का था। यह रुपये का चालीसवां भाग था। पहले इसे 'पैसा' या 'बहलोली' कहते थे। दाम का पच्चीसवां भाग 'जीतल' होता था।

'इक इक नग सत दामिनि कौ, लाख टका दै ल्याई' (२५६०)।

मुक्ता-माल इतना बहुमूल्य था, अतः उनकी पुत्री पर क्रोधित होना उचित ही था। यह आजकल के पैसे के बराबर का पुराना सिक्का था। खराब सिक्का **खोटा** कहलाता है—'हरि कौं नाम' दाम खोटे लौं, झकि-झकि डारि दयौ।' (६४)।

(४) **कौड़ी** (२१६३) [सं० कपर्दः, कपर्दिका] दधिदान प्रसंग में कृष्ण गोपियों से कहते हैं—'अब तुमकौं मैं जान न दैहौं। दान लेउँ कौड़ी-कौड़ी करि, बैर आपनो लैहौं' अथवा 'सूरदास स्वामी बिनु गोकुल, कौड़ी हू न लहै' (३७६८)। कौड़ी मूल्यहीन होने का भाव व्यक्त करती है।

(५) **दमरी**[१] (१८६, १४१) अधर्मों तथा अपराधों की सूची वाले विनय पद में एक कृपण का चित्र खींचा गया है—'लंपट, धूत, पूत दमरी कौ, कौड़ी-कौड़ी जोरै (१८६)। कौड़ी-कौड़ी जोड़ना' मुहावरा थोड़ा-थोड़ा करके बहुत सा धन इकट्ठा करने का द्योतक है।

(६) **मोल** (३५१६) [सं० मूल्य] हिंडोले में झूलने के लिए राधा तथा गोपियाँ वस्त्राभरणों से अलंकृत हो एकत्रित हुईं। उनके वस्त्र **मँहगे** (३५१६) थे—'पहिरि विविध पट मोलनि मँहगा।' (३५१६)।

पद्मावत मे 'दिनार' सिक्के का भी उल्लेख है।[२] आईने-अकबरी में दीनार सोने की मुद्रा बनाई गई है। अन्य स्वर्ण मुद्राएँ भी अकबर के समय में प्रचलित थीं जैसे सहँसा, रहस, इलाही, मोहर आदि करीब छब्बीस थीं।[३] सूरसागर में इनका उल्लेख नहीं हुआ है।

१—आईने अ०, पृ० ५८, दमड़ी दाम का आठवाँ भाग था। 'अधेला' दाम का आधा तथा 'पावला' चौथाई भाग है।

२—प० सं० टी०, ४८८।३, 'लाख दिनार देवाई जेंवा'।

३—आईने अ०, पृ० ४६-५६।

खंड—५

राजदरबार, शासन-व्यवस्था तथा युद्ध

१—राजा, राज दरबार तथा महल

२१३—सूरसागर मे राजदरबार, शासन तथा युद्ध आदि की द्योतक शब्दावली यथेष्ट मात्रा में मिलती है। ये शब्द नवम-स्कंध तक की कथाओं तथा दशम-स्कंधउत्तरार्द्ध के पदों में अधिकांश रूप से प्रयुक्त हुए है। विनय-पदों मे राजदरबार-संबंधी कुछ रूपक पूरे-पूरे पदों में मिल जाते हैं। इन शब्दों के आधिक्य की दृष्टि से कुछ पदों (४०,१४५,२२०६,३३८७,३६३१,४८८५) पर ध्यान देना आवश्यक है।

राजा, राजदरबार[१] तथा उनके वैभव और शासन-व्यवस्था की सूचक शब्दावली निम्नलिखित है—

नृप, नृपति (२५०, ३४१,३४२) [सं०], **राजा** (१४४,४१६,४१६,४२५६) [सं०] **महाराज** (४०) [सं०] **राव, राउ, राइ** (३४८,१४५,३७१४) [सं० राजा-राय-राव], **महीपति** (२६१३) [सं०], **भुवाल, भुवाला** (६२२) [सं० भूपाल], **भूपति** (२४८) [सं०] अथवा **सुल्तान** (१४५) [अ०] ही राज्य का उच्चतम अधिकारी होता था। कुछ विनय पदों में तथा अन्य स्फुट प्रसंगों में परब्रह्म के अवतार कृष्ण सब सृष्टि के अधिनायक घोषित किए गए है—'तेज प्रताप राइ केसौ कैं, तीनि लोक पर गाजै।' (३७१४), जब कि कवि स्वयं सब पतितों का राजा है—'हरि हौं सब पतितनि कौ राजा', अथवा 'हरि हौ सब पतितनि कौ राउ' (१४५)। इस दृष्टि से उसकी कोई बराबरी नहीं कर सकता—'को करि सकै बराबरि मेरी, सो धौ मोहिं बताउ' (१४५)। राजाओं के ऊपर सुल्तान वर्णित है—'और हैं आजकाल के राजा, मैं तिनमैं सुलतान[२]।' (१४५)। मुग़ल राज्य-काल में हिन्दुस्तान का सम्राट् 'शाहंशाह' [फ़ा०] कहलाता था। वह राजधानी दिल्ली या आगरे में रहता हुआ राज्याधीन शासकों पर नियंत्रण रखता था। मुसलमान राजा ही प्रायः 'सुलतान' कहलाते थे।

द्रौपदी-चीर-हरण प्रसंग में दुर्योधन की सभा का चित्रण कई पदों में है, जहाँ अनेक भूप और नृपति बैठे हुए थे—'बैठी सभा सकल भूपनि की' (२४८), अथवा 'परै बज्र या नृपति-सभा पै।' (२५०)। कृष्ण का मथुरा तथा द्वारकापुरी के राजा होने का वर्णन भी कई पदों में है—'राजा भए तिहारे ठाकुर, अरु कुबिजा पटरानी' (४२५६)। अथवा 'कहं वै ब्रह्मादिक के ठाकुर, कहां कंस की दासी।' (४२६१)। यहाँ **ठाकुर** [सं० ठक्कुर] प्रतिष्ठासूचक है, जातिसूचक नहीं। पद २२०६ में राजा से सुन्दर रूपक बाँधा गया है।

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ३६८—४०७, ४११, 'संघ' राज्य के प्रतिकूल 'राजन्' से शासित प्रदेश 'राज्य' कहलाता था। अष्टाध्यायी में राजा को उसके अधिकारों के कारण 'ईश्वर' भी कहा गया है। प्रारंभिक संस्कृत साहित्य में 'ईश्वर' राजा का सूचक शब्द है, भगवान का नहीं। भाष्य में 'राजा' तथा 'ईश्वर' समानार्थी शब्द हैं। 'ऐश्वर्य' से युक्त वह 'स्वामी' नाम से जाना जाता था। 'स्वामिन् ऐश्वर्यः' पतंजलि के अनुसार 'ऐश्वर्य' शब्द इस भाव का द्योतक भी है। पाणिनि ने राजा का अन्य नाम 'भूपति' तथा अधिपति' भी बताया है। 'आधिपत्य' शब्द से कई राज्यों पर अधिकार होने का बोध होता है। 'सम्राट्' तथा 'महाराज' प्राचीन उपाधियाँ हैं। श्रेष्ठ राज्य को 'सौराज्य' कहते थे।

२—प० सं० टी०, ५३२।१, 'बनि सुलतान कि राजा महा'।

प्राचीन समय में अन्य राज्यों पर विजय-प्राप्ति के हेतु ही अश्वमेध-यज्ञ का विधान था। ऐसे राजा को ही **दिगविजयी** (१४४) [सं० दिग्विजयी] कहते थे[1], जिसका प्रताप चारों दिशाओं में छाया हो। पद्मावत में 'चक्कवे' अर्थात् चक्रवर्ती राजा का निर्देश है।[2]

२१५—**पटरानी**[3] (४२५६,४२६६,४२७०,४१६) [सं० पट्टराज्ञी]—प्रधान रानी को ही 'पट्टमहिषी', 'पट्टदेवी' अथवा 'पट्टराज्ञी' कहते थे। प्राय: पहली रानी को ही यह पद मिलता था। वह अपने विशेष अधिकार से राजा के साथ सिंहासन पर बैठती थी तथा यज्ञादि कर्मों में अर्धांगिनी का स्थान ग्रहण करती थी। कभी-कभी युवराज की माता भी इस सम्मान की अधिकारिणी होती थी। सूरसागर के भ्रमरगीत प्रसंग में कुब्जा के प्रति कहे गए व्यंग्य वाक्य यहाँ उल्लेखनीय हैं—'नृप हति छोड़ि सकल ब्रज-बनिता कान्ह कूबरी रीझौ...दासी लै पटरानी कीन्हीं, कौन न्याव यह बूझौ।' (४२६८), अथवा 'कुबिजा कौ पटरानी कीन्हीं, हमैं देत बैराग।' (४२७०) तथा 'हमको हौंस बहुत देखन को संग लिए कुबिजा पटरानी।' (४२५५)। **रानी** (४१६,४२५४) [सं० राज्ञी] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है—'कोऊ हुती कंस की दासी, कृपा करी महरानी।' (४२५४)।

वृत्रासुर-कथा में 'चित्रकेतु पृथ्वीपति राउ' तथा उनकी पटरानी एवं रानी का भी उल्लेख है— 'जा रानी कौं तू यह देहै। ता रानी सेंती सुत ह्वै है।
पटरानी कौं सो नृप दियौ। तिन प्रनाम करि भोजन कियौ।' (४१६)।

राज-पुत्री को ही **राजकुमारी** (४७९२) [सं०] कहा जाता था। भीष्मराय की पुत्री रुक्मिणी के चिन्तायुक्त असमंजस का सुन्दर वर्णन है—'नातरु मेरौ मरन होइगौ, असुर छुवैगौ आइ। राजकुमारि सोचि जिय अपनै, कर मीड़ै पछताइ।'

सूरसागर में **राज** तथा **राजपाट**, (३०३,१४१) [सं० राज्यं] शब्द शासन अथवा राज्य के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं—'राजपाट सिंहासन बैठो' (३०३) अथवा 'राज विभीषन दीजै' (५७०)।

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० १२५, राज्यवर्धन के वध के बाद हर्ष ने दिग्विजय का निश्चय किया। पूर्व में उदयाचल, दक्षिण में त्रिकूट, पश्चिम में अस्तगिरि तथा उत्तर में गन्धमादन तक उनके इस निश्चय की घोषणा की गई। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में 'सर्वपृथिवी विजय' तथा चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के उदयगिरि लेख में 'कृत्स्नपृथिवीजय' कहा गया है।

२—प० सं० टी०, २६।८, 'अइस चक्कवे राजा चहूँ खंड मैं होइ। सबै आइ सिर नावहिं सरबरि करै न कोइ।'

३—इंडिया एज़ नोन टू पाणिनि, पृ० ४०४, ४०५—हिन्दू राजतंत्र राज्य में रानी का अपना अलग स्थान सर्वस्वीकृत था। राजा तथा रानी का एक साथ ही राज-तिलक होता था। पाणिनि ने प्रमुख रानी को 'महिषी' कहा है। राजकुमारों की माता 'प्रजावती' कहलाती थी। कौटिल्य ने भी 'राजमहिषी' तथा 'कुमारमातृ' का उल्लेख किया है। जातकों में भी 'प्रजापती' तथा 'अज्जमहेसी' शब्द उल्लिखित हैं। अष्टाध्यायी में अन्तःपुर की स्त्रियों को 'असूर्यम्पश्यां' कहा गया है। 'राजदारा' (अन्तःपुर) के अर्थ में 'उरोधन' (अवरोधन) शब्द भी था। 'राजपुत्र' और 'राजकुमार' तो राजा के सभी पुत्र कहलाते थे, किन्तु राज्य का उत्तराधिकारी राजकुमार ही 'युवराज' तथा 'आर्यकुमार' नामों से संबोधित किया जाता था।

जिन व्यक्तियों पर राजा का शासन होता था वही प्रजा (२५०) [सं] नाम से जानी जाती थी। राजा की सफलता का माप उनकी सुख एवं समृद्धि ही थी। द्रौपदीकथा में अपने राजा दुर्योधन का अन्याय प्रजा को आतुर बना देता है—'परै बज्र या नृपति सभा पै, कहति प्रजा अकुलानी' (२५०)। लोक शब्द भी यहाँ इसी अर्थ में आया है—निरभय देह राज-गढ़ ताकौ, लोक-मनन उतसाहु।' (४०)।

राजा अथवा सम्राट का रहने वाला नगर ही रजधानी (१४६,४२५५) [सं० राजधानी] होता था। सूरसागर में आराध्य कृष्ण की राजधानी होने का श्रेय गोकुल, वृन्दावन या ब्रज का वर्णित है—

अब दिन चार चलहु गोकुल मैं, सेवहु आइ बहुरि रजधानी।' (४२५५)
अथवा—'माया-मोह-लोभ के लीन्हैं, जानी न बृंदावन रजधानी।' (१४६)
तथा—'रंगभूमि रमनीक मधुपुरी, रजधानी ब्रज की सुधि कीजौ।' (४८८३)
संघ-राज्यों में शासन केन्द्र को ही राजधानी कहते हैं।

२१५—राजा राजधानी के कोट (५६३, ४७८४) [सं० कोट:] अथवा गढ़, गढ़वै (१४४, ५२०) [सं० गड—खाई] या दुर्ग (५१६) [सं०] में आत्मरक्षा के निमित्त रहता था। गढ़ की दृढ़ता राज्य-शक्ति की सूचक थी—'सूर पाप कौ गढ़ दृढ़ कीन्हौ, मुहकम लाइ किवार।' (१४४) अथवा 'गढ़वै भयौ नरकपति मोसौं, दीन्हें रहत किवार' (१४१)। नवम स्कंध में लंका के दुर्ग का वर्णन भी है—'चहुँ दिसि लंक-दुर्ग दानव-दल कैसैं पाऊँ जान।' (१६) अथवा 'लंक गढ़ माँहि आकास मारग गयौ चहूँ दिसि बज्र लागे किवारा' (५५०) तथा 'सोवत कहाँ लंक गढ़ भीतर' (५६६)। गढ़ को चारों ओर से अगम्य बनाने के लिए पानी की खाई (४८८०) [सं० खातकं] होती थी तथा प्रमुख द्वार दृढ़ तो होता ही था, साथ ही उस पर पहरा भी होता था—'लंक सों कोट देखि जनि गरबहि, अरु समुद्र सी खाई।' (५६१)। किसी भी दुर्ग में प्रवेश करना सरल नहीं था, इस तथ्य पर ऊपर के सभी अवतरणों से प्रकाश पड़ता है।

दशमस्कंध-पूर्वार्ध में द्वारकापुरी के कोट का वर्णन है—'द्वारावती कोट कंचन मैं रच्यौ रुचिर मैदान' (४७८४) तथा 'सुनियत कहुँ द्वारिका बसाई। दच्छिन दिसा तीर सागर कै, कंचनकोट गोमती खाई' (४८८०)।

राजा के निवासस्थान अवासहिं (५१६) [सं० आवास] के लिए मन्दिर[१] (५१६, ६५२) [सं०] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। हनुमान का रावण के महल के निकट बैठ कर चिंतन करने का चित्रण है—'मंदिर की परछाया बैठ्यौ, कर मीजै पछताइ' (५१६) अथवा 'अगम अगोचर मंदिर फिर्‌यौ निहारि' (५१६)। 'मंदिर' शब्द सुन्दर भवन का परिचायक भी है—'(माई) आजु तौ बधाइ बाजै मंदिर महर कै' (६५२) अथवा 'पहुँच्यौं जाइ राजद्वारे पर, काहूं नहिं अटकायौ। इत उत चितै धंस्यौ मंदिर मैं, हरि कौ दरसन

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० १२७, बाण ने महासामन्त स्कन्दगुप्त के 'मन्दिर' का उल्लेख किया है।
प० सं० टी०, ५५४।४, 'कनक मंदिल नग कीन्ह जराऊ'
५५४।५, 'निस दिन बाजहिं मंदिल तूरा'
५५५।१ 'जहां मंदिल पद्मावति केरा'

पायौ।' (४८४५)

तथा—'सुदामा मंदिर देखि डर्‌यौ।

इहाँ हुतो मेरी तनक मड़ैया, को नृप आनि छर्‌यौ' (४८५३)।

यह शब्द घर के अर्थ में भी आया है—'पा लागौं मंदिर पग धरौ।' (४०१४) आजकल 'मंदिर' साधारणतया देवस्थान को ही कहा जाता है। थोड़े से स्थलों में मंदिर इस अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है—'रुकमिनि देवी मंदिर आई। धूप-दीप-पूजा-सामग्री अली संग सब ल्याई।' अथवा 'पाइ प्रसाद, अंबिका मंदिर' (४७६६)।

अन्य शब्द **भवन** (४८५४) [सं०] तथा **महल, महलनि** (६४६, १६०२) [अ०] भी उल्लेखनीय हैं। सुदामा-भवन भी स्वर्ण-निर्मित बताया गया है—'ऊँचे भवन मनोहर छाजे, मनि कंचन की भीति।' नंद तथा वरुण के महलों का वर्णन भी है—'मोतिनि बँधायौ बार महल मैं जाइकै।' (६४६) तथा 'महलनि बन्दनवार बँधाए।' (१६०२)।

भवन के अन्दर रानियों का निवासस्थान **अन्तःपुर**[1] (५१६, १६०२) [सं०] अथवा **रंगमहल** (३४६०) कहलाता था। रावण के अन्तःपुर की अनेक रानियों का कवि ने निर्देश किया है—

'चौदह सहस्र जुवति अन्तःपुर, लैहैं राघव चाहि'

चौदह सहस्र नाग-कन्या-रति पर्‌यौ सो रत मति-अंध' (५१६)। फिर इस स्थान की अद्वितीय कला एवं वातावरण का वर्णन भी है—'नगनि जरित मनि खंभ बनाए, पूरन बास-सुगंध—बीना झांझ पखाउज आउज और राजसी भोग' (५१६)। वरुण के महलों में भी अन्तःपुर बनाया गया है—'अन्तःपुर महलनि रानी कै' (१६०२)। इसी प्रकार नंदरानी के **रंगमहल** (३४६०) में स्त्रियों के तीज खेलने का चित्रण किया गया है। मुग़ल एवं राजपूत सरदारों के राजभवनों मे रंगमहल का प्रमुख स्थान था। इसके पर्याय 'सुखमंदिर' अथवा 'खानमगाह' भी प्रचलित थे। राजकीय ऐश्वर्य तथा वैभव का सूचक 'राजसी भोग' पद प्रयुक्त हुआ है। जायसी ने 'रनिवास' शब्द भी प्रयुक्त किया है[2]।

१—हिन्दी विश्वकोश, खंड १, अन्तःपुर; प्राचीनकाल में हिन्दुओं का 'रनिवास' 'अन्तःपुर' कहलाता था। मुसलमानों के समय में वही 'हरम' या 'ज़नानख़ाना' कहलाया। शुद्ध वातावरण एवं बाहरी अवरोध के कारण प्राचीन समय में अन्तःपुर को 'शुद्धांत' और 'अवरोध' भी कहते थे। चीनी सम्राटों के पूरे महल को ही 'अवरोध' या 'अवरुद्ध नगर' कहते थे। अन्तःपुर के जिस भाग में राजा रानियों के साथ विहार करता था वह ही 'प्रमदवन' था। अन्तःपुर के रक्षक 'प्रतीहारी' अथवा 'प्रतिहार रक्षक' होते थे। आईने अ०, पृ० ८६-६४, अबुल-फ़ज़ल ने अकबर के अन्तःपुर का विस्तृत वर्णन किया है। उसके विशाल दुर्ग में अनेक भवन थे। पाँच हज़ार महिलाओं के लिए अलग-अलग घर मनोनीत थे। बाहर के समान ही अन्दर भी अनेक कारख़ाने थे जिनमें स्त्रियाँ काम करती थीं और समुचित वेतन पाती थीं। आस-पास लगभग सौ स्त्रियाँ पहरा देती थीं। अन्तःपुर के सेवकों द्वारा संदेश भेज कर बेगमें तथा अन्य स्त्रियाँ बादशाह के दर्शन कर सकती थीं।

२—प० सं० टी०, ४६।१, 'बरनौ राजमंदिर रनिवासू—सोरह सहस पदुमिनी रानी—'

२१६—**सभा, राजसभा**[1] (३०१, २५०) [सं०] का परिचय प्रधान रूप से द्रौपदी-कथा से मिलता है—'जब गहि राजसभा मैं आनी, द्रुपद-सुता पतहीन करन कौं दुस्सासन अभिमानी' (२५०)। इस पद्यांश से राजसभा में विशेष नियमों आदि के पालन की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है—'ये कहा जानैं राजसभा[2] कौ, ये गुरुजन विप्रइँ न जुहारे।' (३५८६)। मुरली के पदों में **इंद्र-सभा** की चर्चा है—'इन्द्र-सभा थकित भई' (१२६७)। अनेक लोगों का किसी विशेष ध्येय को लेकर एक स्थल पर एकत्रित होना ही 'सभा' कहा जा सकती है। साधारण सभा का उल्लेख भी सूर ने किया है—'कबहुंक फूलि सभा में बैठ्यौ, मूछनि ताव दिखायौ। टेढ़ी चाल, पाग सिर टेढ़ी, टेढ़ैं-टेढ़ैं धायौ' (३०१) अथवा—'बैठे नंद सभा-मधि' (६४९)।

सभा के सदस्य[3] ही **पारषद** (६२०) [सं० पार्षदः] कहलाते थे—जय अरु विजय पारषद दोइ' (६२०)। राजसभा को मुसलमानी शासन में **दरबार** (३५२२) भी कहने लगे थे, किन्तु यहाँ नंद-दरबार का ही निर्देश है—'राग रंग रंगि मँगि रह्यौ नंदराइ-दरबार'।

राजसभा में राजा **सिंहासन**[4] (१४१) [सं०] अथवा **पाट** (१४१) पर बैठता था—'आसा के सिंहासन बैठ्यो दंभ-छत्र सिर तान्यौ।' (१४१) या 'पाट बिरध ममता है मेरैं, माया कौ अधिकार।' अथवा—'दृढ़ विश्वास कियौ सिंहासन तापर बैठे भूप, हरि-जस विमल छत्र सिर ऊपर राजत परम अनूप।' (४०)। सिंहासन स्वर्ण-निर्मित तथा रत्नजटित भी बताया गया है—'कनक सिंहासन बैठिहैं हरि होरी है' (३५३२)। जायसी ने 'सिंघासन' (५५६।३) के साथ 'पाट' तथा 'औरंगि' शब्द भी प्रयुक्त किए हैं[5]।

२१७—राजा के महल तथा उसके अपने सेवकों में से कुछ के नाम दिए गए हैं—**द्वारपाल** (१४१) [सं०], **प्रतिहारी** (१४४) [सं० प्रतिहारः] **पौरिया** (४०) [सं० पौरक] तथा **छरीदार** (४०) [हि० छड़ीदार]। ये राजमहल अथवा राजसभा के द्वार पर खड़े हो कर

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, ३९९, ४०३, पाणिनि ने तीन प्रकार की 'परिषद' का उल्लेख किया है—सामाजिक, साहित्यिक तथा राजनैतिक। इनका सदस्य 'पारिषद्' अथवा 'पारिषद्य' कहलाता था। सामाजिक परिषद् 'समाज' भी कहलाती थी। राजा की परिषद् (परिषदवली राजा) 'परिषदवल' नाम से जानी जाती थी। बौद्ध-साहित्य, अर्थशास्त्र तथा अशोक के लेखों में भी 'राजपरिषद्' का उल्लेख है। कौटिल्य ने 'मंत्रि परिषद्' शब्द दिया है। राजसभा परिषद् से भिन्न थी। वैदिक साहित्य में भी 'सभा' शब्द का अर्थ राजसभा एवं सभा करने का कक्ष है। 'सभास्थाणु' से खंभों वाले कक्ष का बोध होता है। मौर्यकाल के पहले 'काष्ठसभा' (लकड़ी के कक्ष) का भी प्रचार था। लुडविग के अनुसार सभा में श्रीमन्त तथा विद्वान् ही होते थे (सभायाम् साधुः समेयः)।

२—प० सं० टी०, ४७।१, 'राजसभा पुनि दीख बईठा।'
५३१।१, 'राजसभा सब मतैं बईठी'

३—आईने अ०, पृ० ६, अबुलफ़ज़ल ने मंत्रणा सभाओं का 'वकील' के ज्ञान से आलोकित होने का ज़िक्र किया है।

४—शाहजहाँ का बनवाया हुआ 'तख़्तताऊस' एक प्रसिद्ध राज-सिंहासन था जो मोर के आकार का था।

५—प० सं० टी०, ४७।४ 'मांथे छात बैठ सब पाटा।'
४४६।१ 'आइ औरंगि राजा के रहा'

वहाँ की रक्षा करते थे—'अर्थ-काम दोउ रहैं दुवारे, धर्म-मोक्ष सिर नावैं। बुद्धि बिवेक बिचित्र पौरिया, समय न कबहूँ पावैं।' इनकी आज्ञा के बिना कोई अन्दर प्रवेश नहीं पा सकता—'अष्ट-महासिधि[1] द्वारैं ठाढ़ीं, कर जोरे डर लीन्हे। छरीदार बैराग बिनोदी, झिटकि बाहिरैं कीन्हे' अथवा 'द्वारपाल अहंकार' (१४१) अथवा—'क्रोध रहत प्रतिहारी' (१४४)। **दरबाना** (५८३) का भी उल्लेख है—'पौरि-पाट टूटि परे भागे दरबाना (५८३)। पद्मावत में 'छरीदार' अथवा वेत्र-ग्राही प्रतिहारी को 'सोंटिया' कहा गया है (२६६।४)।

सम्पन्न घरों अथवा राजभवनों में व्यक्तिगत **सेवक**[2] (१४१) [सं०] अथवा **किंकरजू**(१०६,५४०) रखने की प्रथा प्राचीन समय से ही है। अच्छा सेवक मालिक को प्रिय हो जाता है—'सुकृती-सुचि-सेवक जन काहि न जिय भावै।' (१२४)। सेविका के लिए **दासी** [सं०] शब्द अनेक पदों मे मिलता है—'दासी तृष्ना भ्रमत **टहल**-हित, लहत न छिन विश्राम। अनाचार सेवक सौं मिलिकै करत चबाइनि काम।' (१४१) **टहल** शब्द आज भी सेवा का भाव व्यक्त करता है। दास दासी के लिए प्राचीन शब्द 'चेट' या 'चेटिका' था।

भ्रमरगीत के कुब्जा-प्रसंग में भी अनेक पदों में असुर-नृप कंस की दासी कुब्जा के प्रति गोपियों के विचार प्रकट किए गए है—'ह्वां दासी रति की कीरति कै, इहाँ जोग बिस्तारै' (४२१२) अथवा—'घर मैं कंस को दासी' (४४८६) अथवा 'फेरे फिरत असुर-दासी के, जनु जड़ भाँड़ धर्यो' (४२६४)। दासी का समानार्थक शब्द **लौंडी** (४२७०) भी है जो मुसलमानी संस्कृति की देन है--लौंडी की डौंड़ी जग बाजी बढ़्यौ स्याम अनुराग'।

इनके अतिरिक्त **खवास** (१४१,४२६१) [अ० खवास] भी धनिकों का व्यक्तिगत सेवक होता था। विनय-पदों में तथा कंस-दरबार के वर्णन में यह शब्द मिलता है—'खवास मोह के' या 'कहं वै ब्रह्मादिक के ठाकुर, कहाँ कंस की दासी। इन्द्रादिक की कौन चलावें, संकर करत खवासी' (४२६१) तथा 'कहि खवास कौं सैन दै, सिरोपाव मंगायौ' (३०५०)।

२१८—**राज-वैभव** सूचक सामग्री[3] में सिंहासन[4] के अतिरिक्त सिर पर छत्र (३५,

---

१—अष्ट-सिद्धियाँ—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व।

२—आईने अकबरी पृ० ६, सम्राट की सुश्रूषा करने के लिये कई सेवक थे। इनमें खवास (भोजन कराने वाला), क़ोरची (रक्षावर्ग का शस्त्रधारी प्रधान), शरबतदार, आबदार, तोशकची आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

३—आईने अ०, पृ० १०२ राज्य वैभव की सामग्री से संबंधित है। सिंहासन अथवा 'औरंग' अनेक प्रकार की आकृतियों के बनते थे तथा सोने-चाँदी के रत्नजटित होते थे। 'चत्र' (छत्र) सात से कम नहीं होते थे। ये भी रत्नजटित होते थे। इनके अतिरिक्त 'सायबान' अथवा 'आफ़ताब (धूप में लगाने के लिए) तथा 'कौकबा' (दरबार के सामने लटके हुए) सम्राट का वैभव बढ़ाते थे। सवारी के समय 'क़ोर' (तु०, वैभव सामग्री का समूह जो सम्राट के साथ चलता है) में पाँच से कम 'अलम' (झंडा) नहीं रहते थे। हिन्दुस्तानी पताका 'झंडा' कहलाती थी। 'क़ोर' में हर प्रकार का एक झंडा अवश्य होता था।

४—बर्नियर, पृ० २२२, सम्राट् का सिंहासन मोती तथा हीरे जवाहरात से अलंकृत था तथा उसकी क़ीमत तीन करोड़ रुपए तक आंकी जा सकती थी।

१४१, १४४, २३४०, ५१६) [सं० छत्रं], बाजि, गज, (१४४,१४१) पर चढ़ना—बाजि मनोरथ, गर्व मत्त गज, असत कुमत रथ-सूत' (१४१) तथा नौबत (१४१), दुन्दुभि (४६८), डांडी (५७३), निसान (१४४) [फ़ा० निशान] आदि द्वार पर बजना और सूत (६५८), बंदी (१४४), मागध (१४४) तथा नकीब (१४१) [अ० नक़ीब] आदि यश गाने वालों की गिनती की जा सकती है।

इन शक्ति-वैभव-प्रकाशन की सामग्रियों का वर्णन विशेष रूप से कुछ विनय पदों में ही मिलता है—'गज अहंकार चढ्यौ दिग-विजयी, लोभ-छत्र करि सीस।' (१४४)। अन्य प्रसंगों में कहीं-कहीं छत्र के साथ चिकुर-रूपी चौंर, चंवर[1] (१८७१) [सं० चामर] का निर्देश भी है—'बैठति कर पीठि दीठि अधर-छत्र-छाँहि। राजति अति चंवर चिकुर सुरद सभा माँहि।' (१२७१), 'अथवा चिकुर चौंर, अंचल धुजा, हरि होरी है।' (३५३२) एक सेवक राजा के सिर पर छत्र तानता, दूसरा चँवर डुलाता था। लंकापति रावण के छत्र[2] का सुंदर वर्णन है 'गरजत रहत मत्त गज चहुँ दिसि, छत्र धुजा चहुँ दीस।...स्वेत छत्र फहरात सीस पर मनौ लच्छि को बंध। (५१६)। छत्र धारण करना राजत्व का सूचक था—'कौन विभीषन रंक निसाचर हरि हँसि छत्र धरै।' (३५), अथवा 'उग्रसेन सिर छत्र धर्‍यौ (३६)'।

छत्र के लिए आतपत्र (३८४१) [सं०] तथा वर्तमान काल का प्रचलित शब्द छाता (२३) [सं० छत्रं] भी प्रयुक्त हुए है—'आतपत्र मयूर चंद्रिका, लसत है रबि ऐन' और, 'छाता लौ छांह किये सोभित हरि छाती' (२३)। आजकल 'छतरी' शब्द भी बोला जाता है, किन्तु 'छाता' तथा 'छतरी' राजसी छत्र के सूचक नहीं हैं। राजाओं अथवा विशिष्ट व्यक्तियों के मार्ग मे रेशमी पाँवड़े (१००२) [सं० पादपट्ट] बिछाने की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है—'पाटंबर पाँवड़े डसाए'[3]।

राजद्वार पर दुंदुभी बजने की प्रथा भी थी—'हठ अन्याय अधर्म, सूर नित नौबत द्वार बजावत।' '(१४१) या 'निंदा पर-मुख पूरि रह्यौ जग यह निसान नित बाजा।' (१४४) राम या कृष्ण की युद्ध में विजय-प्राप्ति पर देवताओं द्वारा फूल-वर्षा, दुंदुभी बजाना, ऋषियों का आशीर्वाद आदि प्राचीन साहित्य मे भी वर्णित हैं—'सुरति आकास तें पुहुप बरषा करि,' अथवा 'रिषिन' आसीस, जयधुनि उचारी' (४८७१) तथा 'सुरनि आकास दुन्दुभि बजाई' (४८३६)।

भ्रमर-गीत प्रसंग के एक पद में गोपियाँ कृष्ण को नृपति-कुमार रूप में भी आदर देने को तैयार है—'फिरि ब्रज आइयै गोपाल। नंद-नृपति-कुमार कहिहै, अब न कहिहैं ग्वाल।' (३८४५)। इसी पद में राजकीय चिह्नों की गणना की गई है—जैसे मुरली निशान, 'जुवति-

१—आईने अ० पृ० २४० पर लिखा है कि गर्मी के कारण धनिकों एवं सम्राट् के सेवक बड़े-बड़े पंखों से हवा करते थे।

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० २१, बाण ने कई स्थानों पर छत्र का वर्णन किया है। उस समय इन छत्रों में अर्धचन्द्र की आकृतियों वाली गोल किनार लगी रहती थी। कुषाण युग से इस प्रकार की सजावट मिलने लगती है। गुप्तकाल में कमल की पंखुड़ी तथा मोर या गरुड़ के अलंकरण भी आ गए थे। इनमें मोतियों की माला तथा रत्नों की सजावट होती थी।

३—मानस०, बाल, ३२८, 'परत पाँवड़े बसन अनूपा'

मंडल-भूप' दिग्विजय के लिए, सखा भट, मयूरचंद्रिका आतपत्र, मधुप बंदीजन, बन के पशु-पक्षी तथा वृक्ष बानक, पायक तथा पौरिया बताए गए हैं और फिर वे कहती हैं—'सूर-प्रभु व्रज राज कीजै, आइ अबकी बार।' (३८४५)। पद्मावत में भी इनका उल्लेख है।[१]

राज-वैभव बंदीजनों तथा चारणों के यश-गायन के बिना कैसे पूरा हो सकता है—'मोह-माया, बंदी गुन गावत, मागध दोष अपार' (१४८) अथवा—'निन्दा जग उपहास करत, मन बंदीजन जस गावत' (१४१), अथवा अपजस अति नकीब कहि टेर्‌यौ, सब सिर आयसु मान्यौ' (१४१)। राजाओं के पारस्परिक व्यवहार में दूत[२] (१४१) [सं०] का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु यदि दूत अपना कार्य ठीक से नहीं करता तो पूरे राज्य का ही अनिष्ट होता है—'सदा दुष्ट मति दूत' (१४१)। 'राजदूत' की प्रथा आज भी है।

'पतितेश' के इन रूपकों में राजदरबार से संबंधित शब्दावली द्वारा मनुष्य के सांसारिक प्रलोभनों, दुर्गुणों तथा दुर्बलताओं का वर्णन किया गया है। यह उपर्युक्त पद्यांशों से स्पष्ट हो जाता है।

२—शासन व्यवस्था

२१६—शासन-व्यवस्था के निमित्त नियत कुछ कर्मचारियों का भी निर्देश हुआ है उल्लेखनीय शब्दावली नीचे दी जा रही है—

मन्त्री अथवा उजीर[३] (४१, १४४, ६४) [सं० मंत्रिन्] [अ० वज़ीर] का स्थान एवं शक्ति राजा के बाद होती थी तथा वह राजा का सलाहकार भी होता था—

'मन्त्री ज्ञान न औसर पावै, कहत बात सकुचातौ' अथवा 'मंत्री काम क्रोध निज दोऊ'

१—प० सं० टी०, ५१३।५, 'चंवर मेलि चौरासी बांधे', ५१४।७, ऊपर कनक मंजूसा लाग चँवर औ डार।' ५१५।२, 'माथे मटुक छत्र सिर साजा', २८५।४ 'साजा पाट छत्र कै छांहा', ४७।३ 'मुकुट बाँध बैठे सब राजा। दर निसान नित जेन्ह के बाजा।'

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ४१०, पाणिनि के समय में 'दूत' का नाम, वह जिस राज्य में रहने को भेजा जाता था, उस पर आधारित होता था। दूत द्वारा बताया मौखिक संदेश 'वाचिक' कहलाता था।

३—मनूची, भाग २, पृ० ४१८, मनूची ने शासन के तीन प्रधान अधिकारी बताए हैं: (१) वज़ीर-प्रधानमंत्री तथा सलाहकार (२) दीवान—राज्य के सब करों और मालगुज़ारी का हिसाब-किताब रखने वाला और (३) मीर—जिस पर सामान और राजमहल के सब खरचों तथा वेतनों की ज़िम्मेदारी थी। इसके अलावा कोतवाल—पुलिस का प्रधान, मीबख़्शी—एक पैदल तथा दूसरा सवार सेना के ऊपर था तथा काजी के पास मुकदमों की अंतिम सुनवाई होती थी।

आईने अ०, पृ० ७, अबुलफज़्ल ने भी शासन-व्यवस्था के सिलसिले में प्रमुख विभागों एवं उनके अधिकारियों का वर्णन दिया है। उन्होंने 'वज़ीर' को सम्राट् का माली नायब बताया है।

अपनी-अपनी रीति। दुबिधा-दुन्द रहै निसि-बासर, उपजावत बिपरीति' (१४१)। तथा 'मंत्री काम कुमति दीवे कौ' (१४४)। मन्त्री की सलाह नृपति को शासन की व्यवस्था में बहुत सहायता देती है, किन्तु कुमति से अनर्थ भी हो सकता है—'पाप उजीर कह्यौ सोइ मान्यौ, धर्म-सुधन लुट्यौ। चरणोदक कौ छांड़ि सुधा-रस, सुरा-पान अंचयौ' (६४)। मन्त्री के लिए प्राचीन शासन-व्यवस्था में 'सचिव' तथा 'अमात्य' शब्द भी प्रचलित थे। कौटिल्य के अनुसार प्रधान मन्त्री का ब्राह्मण होना आवश्यक था। क्षत्रिय राजा तथा ब्राह्मण मन्त्री की शैशुनाग काल से अशोक के समय तक प्रचलित प्रथा थी। कुछ प्रसिद्ध राजाओं के समान मन्त्रियों के नाम भी इतिहास-प्रसिद्ध हैं जैसे वर्षकार (अजातशत्रु के), यौगन्धरायण (उदयन के), चाणक्य (चन्द्रगुप्त के) तथा राधगुप्त (अशोक के)[1]। दूसरा प्रमुख कर्मचारी **सेनापति** (६७९) [सं० सेनापति], **जूथपति** (५५६) [सं० यूथपति] अथवा **फौजपति** (३९२२) [अ० फ़ौज+सं० पति] था। सेनानायक का पद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था।

कुतवाल (६४) [सं० कोटपाल:] नगर की शान्ति का रक्षक होता है। यदि वह अपने कर्त्तव्य का पालन न करे तो वह स्वयं ही नागरिकों के भय एवं अशांति का कारण हो सकता है—'दगाबाज कुतवाल काम रिपु, सरबस लूटि लयौ।' (६४) **काजी**[2] (२१४८, २८७४) [अ० क़ाज़ी] का कार्य न्याय करना था। नेत्र शीर्षक पदों में एक स्थल पर उल्लेख है—'इनसौं तुम परतीति बढ़ावत, ये हैं अपने काजी। स्वारथ मानि लेत रति करि कै, बोलत हाँ जी, हाँ जी।' (२८७५)। मुसलमान राज्य में क़ाज़ी न्यायाधीश को ही कहते थे, जो मुसलमानी धर्मानुसार न्याय करता था। यह पद सदैव से ही सम्मान तथा उत्तरदायित्व का समझा गया है। जीवनदंड या फाँसी की सज़ा को **सूली** (विनय पद) कहा गया है। अन्य दंडों का उल्लेख चोरों, ठगों आदि के सिलसिले में किया गया है[3]। राज्य-प्रबंध से सम्बन्धित अन्य कर्मचारियों में **अमीन** [अ०], **अमल** [अ०=कर्मचारी वर्ग] (६४), **अहदी** (६४) [अ०], **मुस्तौफी** (१४३) [अ० मुस्तौफ़ी=हेड मुनीम, हेड एकांउटैंट] तथा **मोहरिल** (१४३) [सम्भवत: अ० मुहर्रिर=मुंशी, क्लर्क] आदि उल्लेखनीय शब्द हैं। इनमें से कुछ का तो ग्राम-प्रबन्ध में भी उल्लेख किया जा चुका है। विनय पदों के रूपकों

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ४०१, ४०२, ४०४—कौटिल्य के अनुसार राजा के बाद राजमंत्री, फिर राजपुरोहित, उसके बाद सेनापति होता था। इनके बाद युवराज का स्थान था।

२—आईने अ०, पृ० ६, अबुलफ़ज़ल के अनुसार क़ाज़ी न्याय करता था तथा मीर अदल सज़ा का हुक्म देता था।

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ४१६, पाणिनि ने 'न्याय' तथा 'धर्म' का उल्लेख किया है। धर्मपति क़ानून का रक्षक था। इसी सिलसिले में 'परिवादी' या 'परिवादक', 'साक्षी', 'सत्यम् करोति' आदि शब्दों का उल्लेख भी किया जा सकता है। शारीरिक तथा आर्थिक दोनों प्रकार के दंड देने की प्रथा थी। 'छेद' (अंग-छेदन) तथा 'शीर्ष-छेद' का भी उल्लेख है। 'दंड' शब्द प्राय: धन-दंड के अर्थ में आता था।

में ही इनकी चर्चा हुई है। आईने अकबरी में अबुलफ़ज़ल ने इनमें से कुछ अधिकारियों उल्लेख किया है।[१]

शासन में जसूस[२] (४८८५) [अ० जासूस] का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। बातों की खबर अधिकारियों को देकर उनकी सहायता करना इसका काम है—

'ऊधौ मधुप जसूस देखि गयौ, टूट्यौ धीरज पानि' (४८८५)। जासूस को ही गुप्त भी कहते हैं।

३—युद्ध तथा शस्त्रास्त्र

युद्ध

२२०—सूरसागर में युद्ध के पर्यायवाची कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं—लराई (२८ समर (२३) [सं०], रन (२४) [सं० रण], संग्राम (६०१) [सं०] तथा जुद्ध (४८० [सं० युद्ध]। पद्मावत में 'जुझाई' शब्द भी मिलता है (५०८।८)।

इसी प्रकार सैन, सैना, सेना (१४१) [सं० सेना] के अतिरिक्त चमू (३६२३ [सं०], दल (२३,५६२,४८०१,३६२२,३६२४) [सं०], दल-बल (४८३६), कटक (५२ ४८३६) [सं० कटक], फौज (१४४) [अ० फौज] तथा लसकर (६४) [फा० लश्कर] शब्दों नाम लिये जा सकते हैं। ये सभी शब्द स्थलों के अतिरिक्त युद्ध-प्रसंगों में ही प्रधानतया मि हैं—'कौरौ-दल नासि नासि कीन्हों जन-भायौ' (२३) अथवा 'साल्व के भटनि लखि कटक भगव कौ' तथा 'सैन के लोग पुनि बहुत घायल किये'। (४८३६)।

जूथ (५५६) [सं० यूथं] भी दल के अर्थ में आया है। साधारणतया यह शब्द स के अर्थ में आता है—'गज-जूथनि पर धाये' (२७४)। सेना के चार भाग होते थे—हाथी, घो

१—आईने अ०, पृ० ७, मुस्तौफी वजीर के नीचे होता था। इसको नायब दीवान कहते थे। वह वजीर की सलाह से अपना काम करता था। पृ० ९, आमिल कृषकों का रक्षक, मीरदाद—(न्यायाधीश), तीमारदारे सिपाह (सेनापति पृ० ३६, शाही टकसाल के अधिकारियों में अमीन (दरोगा का सहायक) त मुशारिफ़ (आय-व्यय लिखने वाला) भी थे।

२—आईने अ०, पृ० १०, जासूस का कार्य वर्तमान की घटनाएँ बिना घटाए-ब पहुँचाना था। सत्यवादिता एवं दूरदर्शिता उसके आवश्यक गुण थे।

३—हिन्दी विश्वकोश, खंड १, देखिए अक्षौहिणी सेना, चतुरंगिणी से की सबसे छोटी इकाई 'पत्ति' थी, जिसमें एक रथ, एक हाथी, तीन और पाँच पैदल होते थे। 'पत्ति', 'सेनामुख', 'गुल्म', 'वाहिनी', 'पृतन 'चमू', 'अनीकिनी', 'अक्षौहिणी—ये सब क्रमशः संख्या बढ़ते जाने वाले सेना भागों के ही नाम थे। अंतिम को छोड़ कर बाकी सब क्रमानुसार अपने पहले संख्या से तिगुने होते थे। 'अक्षौहिणी' में 'अनीकिनी' से दसगुनी अधिक सं होती थी—२१,८७० रथ, २१, ८७० हाथी, ६५,६१० घोड़े तथा १,०६,३ पदाति। अक्षौहिणी सेना में कुल अंगों की संख्या दो लाख अठारह हज सातसौ होती थी। महाभारत के आदि पर्व में इस गणना का उल्लेख है।

रथ तथा पैदल।[1] अतएव इसका चतुरंगिनी (३६४१) [सं० चतुरंगिणी] नाम पड़ा 'घेर्‌यौ है अति अरि मन्मथ लै चतुरंगिनि सेना साथ। गरजत अति गंभीर गिरा मनु, मयगल मत्त अपार। धुरवा धूरि उड़त रथ-पायक, घोरनि की खुरतार।' (३६३१) अथवा 'सखी री पावस सैन पज्ञान्यौ—मनौ चलत चतुरंग चमू, नभ बाढ़ी है खुरखेह।' (३६२३)।

युद्ध के सभी प्रसंगों में प्रायः इन चारों भागों का वर्णन है। पायक, पियादा[2] (१४१, ३८४५, ३६३१) [सं० पादात् पादातिकः] पैदल सिपाहियों का बोधक था—'सकल खग मृग पैक पायक' (३८४५)। पैदल चलने वाले राही को भी पियादा (२७२) कहा गया है। वन-गामिनी सीता के संबंध में इसका निर्देश हुआ है—'वह घर द्वार छांड़ि कै सुंदरि चली पियादे पाउं' (४८८)। धनुर्धारी सैनिकों को बानक अथवा बानैत (१४१, ३८४५) कहा जाता था—द्रुमलता-वन-कुसुम बानक' (३८४५)। रथ, हाथी तथा घोड़ो के सेना में होने का अनेक बार स्पष्ट चित्रण है—'बाजि मनोरथ, गर्व मत्त गज, असत-कुमत रथ-सू । पायक मन, बानैत अधीरज, सदा दुष्ट-मति दूत'। (१४१)।

घोड़े पर सवार सैनिकों को[3] असवार (३५३२) फा० सवार][4] कहा जाता था। यहाँ होली-प्रसंग में गधे पर सवार होने का ज़िक्र है, किन्तु 'सवार होने' के साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—'राते कवच बरात सजि, हरि होरी है। खरनि भये असवार, अहो हरि होरी है।' (३५३२)। सैनिकों के सूचक भी कई शब्द मिल जाते हैं—जैसे, सुभट, भट, महाभट (१४४, ३६७६,४७६६,४२३६) [सं०], जोधा (३६२१) [सं० योधः] तथा सूरमा (३६३१) [सं० शूर]—'मारु मारु करत भट दादुर, पहिरे बिबिध सनाह, उतरि उतरि वे परत आनि कै जोधा परम उछाहु।' तथा 'रह्यौ अहँकार सुखेत सूरमा, सकति रही उर सालि' (३६३१)। इनमें 'सुभट' शब्द सबसे अधिक प्रयुक्त हुआ है—'तृष्ना देस-रु सुभट मनोरथ' (१४४), 'रथ तै उतरि चक्र

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ४१६,४२०, पाणिनि के समय में भी सेना के चार अंग होते थे। इनको 'सेनांग' कहते थे। 'रथिकाश्वारोहम्' (रथ तथा सवार) 'रथिकापादातम्' (रथ तथा पैदल)। 'पदाति' (पैदल सिपाही) तथा 'सादि' (सवार सिपाही) प्रचलित शब्द थे। पाणिनि ने 'उष्ट्र-सादि' तथा 'उष्ट्र-वामि' का भी उल्लेख किया है। सवारों का सेनापति 'अश्व-पति' के नाम से जाना जाता था। वही पूरी सेना का 'सेनापति' भी होता था। सिपाही को 'सैनिक' अथवा 'सैन्य' कहते थे। 'प्रहरण' (शस्त्रों) के अनुसार इनके नाम थे, जैसे—'आसिक' (तलवार वाला) 'प्रासक' (भाले वाला) 'धानुष्क' (धनुषवाला) आदि। हर्ष० सां० अ०, पृ० ४३,—हर्ष के समय में भी स्कन्धावर में ऊंट थे, किन्तु इनसे प्रायः डाक का काम लिया जाता था।

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १५१, अष्टाध्यायी में रथ का विस्तृत वर्णन है। युद्ध के समय रथ के दोनों ओर दौड़ने वाले पैदल सिपाही (परिस्कंद) कहलाते थे।

३—हर्ष० सां० अ०, पृ० २०, हर्षचरित में भी आगे चलती हुई पदाति सेना तथा पीछे अश्वारोही या अश्ववृंद का वर्णन है। दधीच के वर्णन में हर्षकालीन संभ्रान्त सेनानायक का चित्र मिलता है।

४—प० सं० टी, ५१२।६, 'दुइ पैरी पहुँचे असवारा'

कर लीन्हौ, सुभट सामुहैं आए' (२७४) अथवा 'रखवारी कौ बहुत महाभट, दीन्हें हुक्म पठाई'। रथ चलाने वाले को सारथी (५८८,२७८) [सं०] कहते थे। महाभारत युद्ध में कृष्ण अर्जुन के रथ के सारथी थे–'मैं भीषम, तुम कृष्न सारथी, किये पीतपट लाल' (२७८) अथवा 'अरजुन के हरि हुते सारथी' (२६४)। सारथी को रथ-हंकवैया (४०६) भी कहा गया है।

२२१—युद्ध में सैनिकों के लिए सनाह[1] [सं० सन्नाह] अथवा कवच[2] [सं० कवचं] पहनना आवश्यक था। यह लोहे का कोट सा होता था जो शत्रुओं के प्रहार से रक्षा करता था। इसी प्रकार लोहे की कड़ियों से बना 'जिरह' भी होता था तथा उसमें लोहे के तवे से लगे होने पर 'बख्तर' कहलाता था। हथियारों के आघात से बचने के लिए 'ढाल' का प्रयोग भी होता था। यह लोहे का बड़ा तवा सा होता था। युद्ध के चित्रों में इसका उल्लेख होना स्वाभाविक ही है—'बहुत सनाह समर सर बेधे, ज्यौं कंटक नल-नाल' (२७८) अथवा 'आयुध धरैं समस्त कवच सजि, गरजि चढ़्यौ रनभूमिहिं आयौ' (५८४)। सैनिकों के वस्त्रों तथा कवचों के रंगों का भी निर्देश हुआ है—'हरे कवच उघरे .दिखि त है, बरहनि घाली धाह। कारे पट धारे चातक पिक कहत भाजि जनि जाहु। ' (३९३१)। युद्ध क्षेत्र में मृत्यु होने को खेत होना अथवा सुखेत (३९३१) कहते थे। इसी प्रकार का सिर का बचाव सिरत्राण (६०२) [सं० शिरस्त्राण] से होता था। युद्ध-क्षेत्र के अर्थ में अधिकतर रनभूमि (२७०, २७१, ४८३९) [सं० रणभूमिः] तथा रनखेत (४८०१) [सं० रणक्षेत्रं] शब्द प्रयुक्त हुए हैं—'सूरदास रनभूमि बिजय बिनु, जियत न पीठि दिखाऊं' अथवा 'सुरसरी सुवन रनभूमि आए' (२७१) तथा 'जरासंध जीव लै भज्यौ रनखेत है' (४८०१)। प्राचीन काल के युद्ध किसी बड़े मैदान या क्षेत्र में होते थे। युद्ध से नगरों के जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। इस संबंध में भारतीय आर्यों के अपने सिद्धान्त निश्चित थे। युद्ध में भी प्रायः धोखे के लिए स्थान नहीं था। रण मे भागना अथवा 'पीठ दिखाना' कायरता समझी जाती थी। बाद में इसी आधार पर राजपूतों में स्त्रियों के जौहर करने तथा उनके केसरिया बाना पहन कर रणभूमि में प्राण दे देने की प्रथा चल गई थी। कृष्ण का एक नाम 'रणछोर' भी है, क्योंकि जरासंध के साथ युद्ध में एक बार वे समरभूमि से भाग आए थे। युद्धभूमि में संग्राम आरंभ होने के पहले वीर रस के गाने एवं दुंदुभी बजाने की प्रथा थी। वीररसपूर्ण संगीत सैनिकों को युद्ध क्षेत्र मे उत्साहित करता था—'सूर साजौ सबै, देहु डौंडी अबै, एक तैं एक रन करि बताऊं।'[3] (५७३)।

१—तुलसी, कविता० ६,३१ 'साजि के सनाह गजमाह सउछाहदल',
प० सं० टी०, ४९९।४ 'जेबह खोलि राग सों मढ़े', ५१३।४ 'सार सँवारि सिले सब सोना'

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ४२०, 'कावचिक' सैनिकों का उल्लेख है। 'कवचहार' शब्द से सेना में प्रवेश पाने की आयु का भाव व्यक्त किया जाता था। उस समय सैनिक की वर्दी में कवच का भी स्थान हो गया था। चौथी श० (ई०पू०) में ग्रीक लोगों का ध्यान यहाँ की 'परिस्कंद' या 'चक्ररक्ष' (रथ के दोनों ओर पैदल ढाल लिए सिपाही) की प्रथा पर गया था। युद्ध में रथों के साथ छः सिपाही होते थे—दो ढाल लिए हुए, दो धनुर्धारी और दो रथवान जो लड़ने में भी भाग लेते थे।

३—मानस, अयोध्या०, १९२।२ 'कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू', प० सं० टी०, ४९५।२ 'डंड धाइया इन्द्र संकासा', ५०५।४ 'बीस सहस घुम्मरहिं निसाना'।

हर राज्य की **पताका**[1] (६०२) [सं०] अथवा **धुजा, ध्वजा, ध्वज** (५५८,५६३) [सं० ध्वजः] आज के समान ही निश्चित थी। वह रथों आदि पर फहराती थी—'टूटत धुजा, पताक-छत्र-रथ, चाप-चक्र-सिरत्रान' (६०२) अथवा 'आपने बान सौं काटि ध्वज रुक्म कौ' ४८०१), तथा 'ऊँची धुजा-देखि रथ ऊपर, लछिमन धनुष चढ़ायौ' (५६३)। राम की ध्वजा विमल बताई गई है—'दीसति बिमल ध्वजा' (५५८)। अर्जुन के रथ पर **कपिध्वज** (२७०) होने का उल्लेख है—'स्यंदन खंडि महारथि खंडौं, कपिध्वज सहित गिराऊँ' (२७०)। ध्वजा का गिराना विजय का द्योतक था।

शस्त्रास्त्र

२२२—प्राय: सूरकालीन सभी प्रमुख शस्त्रों के नाम सूरसागर में मिल जाते हैं। अनेक स्फुट प्रसंगों से इनको एकत्रित किया जा सकता है।[2] **आयुध** (३६३१) [सं० आयुध] तथा **हथियार** (३५३२) और **शस्त्र** (४८०१, २७०) [सं०] हथियार के साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं—'चपला चमचमाति आयुध' (३६३१) अथवा 'आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊं' (२७०)। वृन्दावन गोकुल पर इन्द्र के सेना सहित आक्रमण के रूपक तथा भ्रमरगीत के वर्षा-वर्णन में शस्त्रों के नाम मिलते है। आयुध तीन प्रकार के माने जाते थे—१—प्रहरण (तलवार, कटार आदि) २—हस्तमुक्त (चक्र, भाला आदि) ३—मंत्रमुक्त (बन्दूक, तोप आदि)।

धनुष प्राचीनतम शस्त्रों में प्रमुख स्थान रखता है। इसके कई पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त हुए है—**पिनाक** (३८४) [सं०], **चाप** (४७०, ३६३७) [सं०], **कोदंड** (३०७) [सं० कोदंडः, कोदंडम्], **धनु, धनुष** (३०७, ४६७) [सं० धनुः] तथा **कमान** (६४, ४८७६)—'कुबुधि-कमान चढ़ाइ कोप करि' (६४), 'कोपि समर कर चाप लयौ री' (३६३७), अथवा 'मनु मदन धनु-सर सँधाने, देखि घन-कोदंड' (३०७) तथा—'पिनाकहु के दंड लौं तन लहत बल सतराइ' (३८४)। शिव का धनुष 'पिनाक' है, अतः उनका एक नाम 'पिनाकपाणि' भी है[3]—'यह अति दुसह पिनाक पिता-प्रन, राघव बयस किसोर। इन पै दोरत धनुष चढ़ै क्यों, सखि यह संसय मोर'—'टूटत धनु नृप लुके जहां तहँ, ज्यों तारागन भोर' (४६७)। राम-कथा (नवम स्कन्ध) के अन्तर्गत धनुष-भंग के सिलसिले में प्राय: इन सभी शब्दों का उल्लेख हुआ है—'कर-धनु काक-पच्छ सिर सोभित।' अथवा 'करुनामय जब चाप लियौ कर' (४७०)। इसी स्कन्ध में बाल-क्रीड़ा में शर-क्रीड़ा का भी वर्णन है—'करतल सोभित बान **धनुहिया**' अथवा '**धनुहीं** बान लए कर डोलत।' (४६७)। बच्चों के छोटे धनुष को ही **धनुहीं** कहते थे। **धनुषधर** अथवा **धनुर्धर**

१—प० सं० टी०, ५०५।५, 'बैरख ढाल गगन गा छाई'
५५१।३, पाछें धजा अचल सो काढ़ी'

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ४२१, 'प्रहरण' शब्द हथियारों के साधारण अर्थ को व्यक्त करता था। उसमें 'धनुष', 'शक्ति', 'परशवध' (कुल्हाड़ी) 'कासू' या 'कासूतरी', 'हेति', 'असि', 'कुक्षि' या, 'कौक्षेपक' की गणना की जा सकती है। कमान को 'कार्मुक' भी कहते थे। बड़ा धनुष 'महेश्वास' कहलाता था। तीर में 'पत्र' लगा होता था। 'आयुध जीविन' लड़ाका जातियों को कहते थे। ग्रीक सेना के विरुद्ध लड़ने में इस जाति ने बहुत वीरता दिखाई थी।

३—कुमारसंभव, तृतीय सर्ग, श्लोक १०—
'कुर्यां हरस्याऽपि पिनाकपाणे धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये।'

(४६२७) शब्दों का परिचय भी मिलता है। कमान की डोरी 'प्रत्यंचा' अथवा 'पैंची' कहलाती है।

धनुष का अभिन्न अंग **सर** (४६४, २७६) [सं० शरः] अथवा **बान** (४६३, २७१) [सं० वाण) है। महाभारत युद्ध तथा रामकथा में ये शब्द बार-बार प्रयुक्त हुए है—'बान बरषा लगे करन अति क्रुद्ध ह्वै' (२७१) या 'बहुत सनाह समर सर बेधे, ज्यौं कंटक नल-नाल।' (२७८), तथा 'श्री रघुनाथ धनुष कर लीन्हों, लागत बान देवगति पाई' (५०३)।

कुंत [1] (५१६) [सं० कुंतः] तथा **सायकनि** (५८५) शब्द बाण के अतिरिक्त भाला या तलवार के बोधक भी हैं—'ठौर-ठौर अभ्यास महाबल करत कुंत-असि-त्रान।' (५१६) अथवा 'पंथ अकास सायकनि छायौ' (५८५)। तीर के सामने का लोहे का भाग 'फल' होता है तथा फल की नोक 'अनी'। बिना फल वाला तीर 'तुक्का' [फ़ा० तुक] कहलाता है।

धनुष कंधे पर रक्खा जाता था—'इतनी कहत कंध तैं कर गति लीन्हौ धनुष सँभारि।' कमर अथवा पीठ पर बँधे हुए **तरकस** (६४) [फा० तर्कश], **तुनीर** (४७०) [सं० तूणीर] **भाथा** (५०६) [सं० भस्त्रा-पा० भत्था] अथवा **निषंग** (३३२) [सं०] में बाण रक्खे जाते थे—'कुबुधि कमान चढ़ाइ, कोप करि, बुधि तरकस रितयो' (६४), अथवा 'अलख अनंत अपरिमित महिमा, कटि-तट कसे तुनीर।' (४७०), तथा 'हाथ धनुष लीन्हे कटि भाथा' (५०६)। हरि-विमुखों में परिवर्तन लाना ऐसा ह है जैसे—'पाहन पतित बान नहिं बेधन, रीतौ करत निषंग।' (३३२)।

२२३—प्रहरण अस्त्रों में प्रमुख स्थान **खड्ग** (१४४) [सं०] या **असि** (५१६) [सं०] का था। यह लोहे का बना शस्त्र है और काटने का काम करता है। तलवार **म्यान** [फ़ा० मियान] में रखते है तथा इसमें एक धार होती है। यह राजपूतों का प्रिय शस्त्र था [2]। सामने की पूरी किनार 'धार' तथा नोक 'अनी' कहलाती है। खड्ग अथवा खांडा की लम्बाई डेढ़ हाथ होती है। यह भारी, बिना धार का तथा बिना नोक का होता है। जिस तलवार में दोनों ओर धार होती है वही 'दुधारा' कहलाती हैं। **करवार, करबाल, करबार** (४८३६, ३६२२, २७४७) [सं० करवाल] का उल्लेख अनेक पदों में है। यह पावस दल में दामिनि या दाँतों की चमक का उपमान है—'दामिनि कर करवाल' (३६२२) या 'हँसनि दुज चमक करवरनि लौं।' (२७४७)। आज इनका अधिक प्रचलित नाम तलवार [सं० तरवारि] है।

तलवार की श्रेणी के अन्य शस्त्रों में **बरछी** (४२८१, ४८३६), **छुरी** (३१८५), **सेल्ह** (३६४६), **सक्ति** (४१६२) [सं० शक्ति], **भालि** (३६३१ [सं० भल्लक], **सांग** (४८०१), **नेजा** (२७४७) [फा० नेजः] तथा **सूल** (४६६२) [सं० शूल] आदि के नाम लिए जा सकते हैं। बरछी भाले से बड़ी होती है तथा इसकी नोक तीन पहलू होती है। इसे फेंक कर मारते हैं।

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ४२०, पतंजलि के अनुसार 'कुंत' का अर्थ भाला अथवा भाला चलाने वाला है।

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० १२०, गुप्तयुग के वीर वेश में कमर पर दाहिनी ओर छुरी, कटारी (छुरिका, पुत्रिका) तथा बांई ओर मियान (परतला) में असि रहती थी। पृ० १८६, कृपाणी का केंचुली के 'परीवार' (खड्ग कोष) में रखने का उल्लेख है। यह शब्द गुप्त काल में मियान के लिए चल चुका था। 'परतलीका' शब्द भी प्रयुक्त होता था। पीठ पर धौंकनी के आकार का तरकस भी वर्णित है, जो रीछ की खाल से बनाया जाता था।

भाले की नोक चौपहलू होती है। यह लाठी में लगा होता है और फेंक कर मारते हैं। नेज़ा पूरे लोहे का बना छोटा भाला होता है। साँग नेज़े से बड़ा होता है। सेल्ह बरछी को ही कहते हैं तथा शक्ति भाले का प्राचीन नाम है जिसका पाणिनि ने भी उल्लेख किया है। **त्रिसूल** [सं० त्रिशूल] शिव का आयुध माना गया है। रुक्मिणी-हरण शीर्षक पदों में भयंकर युद्ध का वर्णन कवि ने किया है—'सांग की झलक चहुँ दिसि चपला चमक, गज गरज सुनत दिग्गज डराये,' या 'बान बरसा लगे करन सारे' अथवा 'बान सौं बान तिनके निवारे', तथा 'खड्ग लै ताहि भगवान मारन चले' (४८०१)। इसी प्रकार साल्व-वध का चित्रण है—'सारथी ओर बरछी चलाई', तथा 'सीस ताको बहुरि काट करवार सौं' (४८३६)। इसी प्रकार के अन्य शस्त्रों में तेगा, गुप्ती, खंजर, करौली, किर्च, कृपाण तथा पौनी होते थे।[1]

इन्हीं युद्धों में **गदा** (४८३६,४८४०) [सं०] तथा **मुसल** (४८०१) [सं०] का उल्लेख भी है—'खैंचि गदा ता सीस मारी' (४८३९) अथवा 'बहुरि लै गदा परहार कियौ स्याम पर' अथवा 'हार गदा लगत गये प्रान ताके निकसि' (४८४०) अथवा 'राम दल मुसल संभारि धार्यो बहुरि' (४८०१)। 'मुसल' लोहे का भारी डंडा सा होता है। गदा के नीचे का भाग गोल गुंबद की तरह होता था। ये लोह के बनते थे तथा इनसे प्रायः सिर पर प्रहार किया जाता था। मुसल को **मुग्दर** (५४८) [सं० **मुद्गरः**] भी कहते थे। भीम का प्रिय आयुध गदा था—'बोस औ सत दिन गदा युद्ध कियो' (२५१,२४८)। काम रिपु के दल वर्णन में (४८८५, ४८३३) **दारू** [फ़ा० बारूद], **पलीता** [फ़ा० पलीतः] तथा **गोला** [सं० गोलः, गोला] आदि शब्दों के उल्लेख से मुसलमान काल के तोप[2] [तु०] नामक नये अस्त्र पर भी प्रकाश पड़ता है। हिन्दूकाल मे युद्ध के अस्त्रों मे इनका स्थान नही था। सिकंदर की सेना में कुछ तोपें थीं। 'जलद कमान बारि दारू भरि तड़ित पलीता देत। गरजन अरु तड़पन मनु गोला, पहरक में गढ़ लेत।' (४८८५) द्वारा वर्षा का चित्रण हुआ है।

स्पष्ट ही है कि महाभारतयुद्ध, लंकायुद्ध आदि प्रारंभिक स्कन्धों में उल्लिखित युद्ध—प्रसंगों में प्रयुक्त शस्त्रों के नाम फिर दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में वर्णित रुक्मिणी-हरण, भौमासुर-वध, वाणासुर-वध, पौड्रक, सुदक्षिण, जरासंध, शिशुपाल, साल्व, दंतवक्र आदि शत्रुओं के वधों के सिलसिले मे मिलते हैं। वर्षा-वर्णन के कुछ पदों में इंद्र तथा कामरिपु की सेना का वर्णन भी

१—कृ० जी०, प्र० १३, अध्याय १४, बाहु एक विशेष प्रकार की तलवार थी जिसे आज की 'भुजाली' कह सकते हैं। बराहमिहिर ने उत्तम तलवार की लंबाई पचास अंगुल कही है। 'ऊन' उससे आधी लंबाई की होती थी। वस्तुतः छुरी, कटारी, करौली, भुजाली सब तीस अंगुल के नाप से कम होते थे। तलवार का एक नाम 'निस्त्रिंश' भी था। अजंता के चित्रों में बाहु का अंकन है।

२—तुलसी, दोहा०, ५१५ 'काल तोपची तुपक महि, दारू अनय कराल।
पाप पलीता कठिन गुरु, गोला पुहुमीपाल॥
दोहा०, ५१६, 'गोली बान सुमंत्र सर, समुझि उलटि मन देखि।'
प० सं० व्या०, ५०६।१, 'चली कमानैं जिन मुख गोला'
'तिन्ह पर बिखम कमानैं धरीं। गाजहिं अष्टधातु की भरी'
सौ सौ मन विस्राहिं वै दारू। हेरहि जहां, सो टूट पहारू।
५०७।८, 'तिलक पलीत, तुपक मन'

है। इनमें युद्ध का सजीव चित्रण हुआ है तथा उस समय की युद्ध शैली पर भी प्रकाश पड़ता है।

पौराणिक अस्त्र

२२४—कुछ प्रसिद्ध अस्त्रों के नाम भी इस शब्दावली में रक्खे जा सकते हैं। जिस प्रकार राम का प्रिय अस्त्र धनुष-बाण था, उसी प्रकार विष्णु के आयुध सुदर्शन-चक्र के नाम से ही कृष्ण का ध्यान आ जाता है। ब्रज-लीलाओं में तो कृष्ण का बिलकुल ही भिन्न व्यक्तित्व है, किन्तु मथुरा जाते ही जैसे उनके जीवन का दूसरा अध्याय प्रारंभ होता है। इसमें कृष्ण एक कुशल नृपति, राजनीतिज्ञ, कूटनीतिज्ञ तथा योद्धा के रूप में सामने आते हैं। महाभारत में तथा दूसरे नृपतियों से युद्धों में उनका प्रिय आयुध **चक्र सुदरसन** (४८३७, २७३, २७४) अथवा **चक्र**[1] सूरसागर में भी बताया गया है—'गोबिंद कोपि चक्र कर लीन्हो' (२७३) अथवा 'सूरदास सुनि भक्त-विरोधी, चक्र सुदरसन जारौ।' (२७२) तथा 'कर धरि चक्र चरन की धावनि, नहिं बिसरति वह बानि' (२७६)। साधारण आयुधों में भी चक्र का स्थान है। इस लोहे के पहिए को खोखली नली पर घुमा कर मारते थे।

धनुष गांडीव (४६२७) [सं० गाण्डीव] अर्जन के धनुष का नाम था—'अर्जुन है मेरा निज नाम। धनुष गांडीव मम अभिराम' (४६२७) कथा यह है कि यह धनुष सोम ने वरुण को और वरुण ने अग्नि को दिया था, फिर खांडव-वनदाह के समय अग्नि से अर्जुन को मिल गया था।

नाग फांस (५८४) [सं० नागपाशः]—यह सागर के अधिपति वरुण का विशेष ऐन्द्र-जालिक फंदा था, जिससे वे शत्रु पर विजय पाते थे। इस फंदे को **बरुन फांस** (२७८०) [सं० वरुण+पाश] भी कहा गया है—'बरुन फांस तैं मोहि मुकराई' (३७२०)। नवम स्कन्ध के राम-मेघनाद युद्ध में नागफांस का उल्लेख है—'हंसि-हंसि नागफांस सर साधत', 'नागफांस तैं सैन छुड़ायौ' (५८५)।

ब्रह्म-अस्त्र (२८६) [सं० ब्रह्मास्त्रं]—यह अमोघ अस्त्र सब अस्त्रों में श्रेष्ठ समझा जाता था। इसको अभिमंत्रित करके चलाते थे। प्रथम स्कन्ध के अर्जुन-अश्वत्थामा युद्ध में इसकी चर्चा है—'हरि-अर्जुन रथ पर चढ़ि धाये। अस्वत्थामा पै चलि आए। अस्वत्थामा अस्त्र चलायौ। अर्जुन हूं ब्रह्मास्त्र पठायौ।' (२८६)। **ब्रह्म-फांस** (५४८), **ब्रह्मबान** (५४१) तथा **दिव्यबाना** (५४०) का भी उल्लेख नवम स्कन्ध के राम-रावण युद्ध में है।

बज्र (४१२३) [सं० वज्र] इंद्र का आयुध माना गया है।

मदन—धनुष (२३६५,३६४४) कामदेव का यह धनुष-विशेष पुष्पनिर्मित माना गया है। कालिदास ने 'कामदेव' को 'पुष्पधन्वा' तथा 'कुसुमायुधः' कहा है।[2] इसकी ज्या भ्रमरों से बनी कल्पित है।[3]

१—गीता, अध्या० ११, श्लोक १७, 'किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्ति मन्तम्' विष्णु के रूप-वर्णन में उनके हाथों में शंख, चक्र, गदा तथा पद्म का सदैव वर्णन किया जाता है।

२—कालिदास, कुमार सम्भव, तृतीय सर्ग, श्लोक १०

'तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।'

श्लोक ६६, 'सम्मोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणं।'

'प्रायःश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम्।'

३—मेघ दूत, उत्तरमेघ, श्लो० १०

२२५—तुलसी की शब्दावली में भी 'कोदंड', 'बाण', 'निषंग', 'सारंग', 'कृपान', 'तरवारि', 'शक्ति', 'परसु' 'चर्म', (ढाल), 'गोला', 'तुपक', 'दारू', 'पलीता', 'गोली' आदि शब्दों के नाम मिलते हैं। इनके अतिरिक्त 'सुभट', 'करक', 'सनाह', 'जुझाऊ ढोल' आदि शब्द भी उल्लेखनीय हैं। ये शब्द मानस के लंकाकाण्ड में विशेष रूप से मिलते हैं (२३,३४, ६७, ८६; ८८)।

जायसी ने भी पद्मावत के 'बाद चढ़ाई खण्ड' में युद्ध का सजीव वर्णन किया है (४६५।५, ४६६, ५०४, ५०६, ५२४)। कटक का प्रयाण या कूच, घोड़े हाथी पैदल तथा परिगह (परिच्छद-राजसी सामग्री छत्र, चंवर आदि) के उल्लेख भी हैं। अनेक शस्त्रों 'तीर' 'कमान', 'ढाल', 'धनु', 'गोलन', 'कमानै' (तोप) 'दारू' आदि के अतिरिक्त 'जेबा', 'खोल', (कवच तथा शिरस्त्राण) और 'बैरख' [तु०, झंडा] आदि नाम भी उल्लिखित हैं। रत्नसेन के सैनिकों का वर्णन अलाउद्दीन के सैनिकों से भिन्न है। यहाँ संस्कृत के तद्भव शब्द अधिक प्रयुक्त हुए हैं जैसे—'सनाहा', 'पहुँची'(=दस्ताना अबुलफ़ज़ल ने 'दस्तवाना' शब्द प्रयुक्त किया है), 'टोपा' आदि। सूरसागर की शब्दावली में तुलसी और जायसी की शब्दावली में कुछ ही नये शब्द हैं।

आईने-अकबरी से भी तत्कालीन प्रमुख शस्त्रों तथा उनके मूल्यों पर प्रकाश पड़ता[1] है। मुगलकालीन शस्त्रास्त्रों में सूर वर्णित नामों के अतिरिक्त तेगा, करौली, किर्च, छुरी, किरपान, कटार, पीनी, गुप्ती, खंजर, दुधारा, बघनखा, पंजा तथा तुपक [तु० तुफग= बन्दूक] थे।

इन कई सौ वर्षों में यदि जीवन के किसी अंग में स्पष्ट परिवर्तन हुआ है तो वह है युद्ध के आयुध तथा युद्ध की विधि। आज वैज्ञानिक आधार पर बने अस्त्रों के सामने मनुष्य-संख्या की शक्ति तथा दूरी कोई अर्थ नहीं रखती है। वर्तमान आविष्कार एटम तथा हाइड्रोजन बम, अंतर्राष्ट्रीय बैलिस्टिक मिसिल आदि ने तो साधारण तोप, गन, टैंक, हवाई-जहाज, बन्दूक, पैरासूट, पनडुब्बी आदि युद्ध सामग्री तथा लड़ने की विधि तक को बहुत पीछे छोड़ दिया है। आज के युद्ध में कुछ नगरों तो क्या पूरे संसार पर ही प्रभाव पड़ता है। एक युद्ध अपने बाद वर्षो तक के लिए निर्धनता, अकाल, तथा अनेक भयंकर रोग छोड़ कर जाता है।

१—आईने अ०, पृ० ११०

६—वर्ण-व्यवस्था तथा जातियाँ

२२६. भारतीय समाज की एक प्रमुख विशेषता उसकी वर्ण व्यवस्था भी रही है। प्रमुख चार व्यवसायों में लगे व्यक्तियों को तदनुसार चार भागों में बाँट दिया गया था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र।[१] प्रारंभ में कर्म के अनुसार वर्ण निश्चित होता था किन्तु धीरे-धीरे समय के साथ इस संबंध में रूढ़ता आती गई तथा जन्म से ही वर्ण की व्यवस्था होने लगी। आपस में छुआ-छूत, भेद-भाव आदि विचार समाज को शाप रूप प्राप्त हुए।[२] सूरसागर में भी प्रमुख वर्गों का उल्लेख है तथा ऊँच-नीच की भावना की ओर भी थोड़े से स्थलों में संकेत है। अपने समाज के इस प्रमुख अंग की ओर कवि का ध्यान जाना स्वाभाविक ही है।

विनय पदों में तथा अन्य कुछ स्फुट प्रसंगों में ब्राह्मण के कई पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख हुआ है—**बिप्र** (८६६, ६४८, ४६४, ३५८६) [सं० विप्रः], **द्विज** (६५२,८६८) [सं द्विजः] तथा **ब्राम्हन**[३] (८६७, ३७७०) [सं० ब्राह्मण]। इसके अतिरिक्त **पंडित**[४] (३५३२) [सं० पंडितः] तथा **पांडे** (८६६) भी ब्राह्मण के ही सूचक शब्द हैं। **पंडित** का साधारण अर्थ विद्वान् था[५] किन्तु ब्राह्मण का कार्य विद्या से संबंधित होने के कारण दोनो शब्द एक दूसरे के पर्याय रूप में प्रयुक्त होने लगे। आज भी पंडित शब्द इन दोनों अर्थों का द्योतक है। यज्ञोपवीत द्वारा ब्राह्मण का दूसरा जन्म माना गया है और वह ब्राह्मणत्व को प्राप्त होता है अतः उसका 'द्विज' नाम पड़ा।

यशोदा के मायके महराने से एक पाडे के आने का प्रसंग है (८६६, ८७०)—'महराने तै पांडे आयो (८६६)। इस प्रसंग मे ब्राह्मणो के विशेष सत्कार तथा उनका अलग भोजन बनाना

१—बर्नियर, पृ० ३४१, ३४२, भारतीय समाज के इस विभाजन का बर्नियर ने उल्लेख किया है। उन्होंने पंडितों के युग-विभाजन (सत, कल, त्रेता तथा द्वापर) का भी समाज की विशेषताओं में उल्लेख किया है।

२—ग्लोरीज़ ऑफ़ इंडिया, पृ० ५६, ६०, ऋग्वेद में 'ब्राह्मण' शब्द ऋषि अथवा प्रधान पुरोहित के अर्थ में ही प्रमुख रूप से (अड़तालिस बार) प्रयुक्त हुआ है। वर्ण सूचक केवल आठ बार ही आया है और मंत्र रचयिता के अर्थ में सबसे अधिक बार प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद के अन्तिम भाग के पुरुष मन्त्र में ही केवल चारों वर्णों का उल्लेख हुआ है। पुरुष (सृष्टि का रचयिता) के मुख से ब्राह्मण, बाहु से राजन्य, जांघ से वैश्य, तथा पैरों से शूद्रों के उत्पन्न होने का वर्णन है। पुराण-काल तक भेद-भावना का पूर्ण विकास हो गया था। धीरे-धीरे अनेक उपजातियों का भी जन्म होता गया तथा महाकाव्य काल (ई० पू० ७०० से ईसा पश्चात् ५०० शती तक) तथा गृह्य सूत्र तथा स्मृति (१०० ई०) के समय तक इस संबंध में निश्चित नियम भी बन गए थे।

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि पृ० ७६ 'ब्राह्मण' वैदिक शब्द है जिसका प्रयोग पाणिनि ने भी किया है।

४—प० सं० टी०, ३६।३, 'कतहूं पंडित पढ़हि पुरानू। धरम पंथ कर करहिं बखानू।'

५—प० सं० टी०, ५४।५, 'महापंडित हीरामनि नाऊं।'

और बच्चे द्वारा छू जाने पर भोजन का बेकार हो जाना आदि प्रचलित रूढ़ियों पर भी प्रकाश पड़ता है। खाना तैयार होने पर उसका भोग (८६७) लगाकर भोजन प्रारंभ करने की प्रथा की ओर भी संकेत है। कृष्ण-सुदामा कथा के अन्तर्गत विप्र सुदामा का सत्कार वर्णित है—'कर जोरे हरि बिप्र जानिकै' (४८४८)। जन्म, विवाह आदि शुभ अवसरों पर विप्र अथवा द्विजों को धन-धान्य, रत्न-वस्त्र तथा गोदान आदि करने की प्रथा भी प्रचलित थी—'ते दीनी द्विजनि अनेक, हरषि असीस पढ़ीं' (६४२) अथवा 'आनंदित विप्र, सूत, मागध, जाचक-गन, उमंगि असीस देत सब हित हरि के।' (६४८) तथा 'द्वै लख धेनु द्विजनि को दीनी' (६५०)। ऐसे अवसरों पर ब्राह्मणों का आशीर्वाद भी अभीष्ट समझा जाता था—'घसि चंदन चारु मंगाइ, विप्रनि तिलक करे। द्विज-गुरु-जन को पहिराइ, सब कैं पाइ परे।' (६४२)।

विनय पदों में आराध्य के समत्व भाव पर ही बार-बार बल दिया गया है—'प्रभु कौ देखो एक सुभाइ' (८) अथवा 'राम भक्त बत्सल निज बानौं। जाति,[1] कुल[2] नाम गनत नहिं, रंक होई कै रानौ।' (११)। जाति [सं], गोत [सं० गोत्रं], अथवा कुल [सं०] का भेद प्रशंसनीय नहीं है तथा मनुष्य मात्र ही स्नेह का पात्र होना चाहिये—इन सभी पदों में अनेक बार यही समझाने का यत्न किया गया है। निम्न कुल तथा जाति के कुछ ऐसे विशेष उदाहरण दिये हैं जिनको प्रभु की विशेष कृपा का सौभाग्य प्राप्त हुआ है 'काहू के कुल तन न बिचारत। अविगत की गति कहि न परति है, ब्याध अजामिल तारत। कौन जाति अरु पाँति बिदुर की, ताही कैं पग धारत। भोजन करत मांगि घर उनकैं, राज-मान-मद टारत।' (१२)। एक गोत्र में विवाह मना था। 'ऐसे जनम करम के ओछे, ओछनि हूँ ब्यौहारत'। निम्न कुल में खान-पान, विवाह आदि व्यवहार निषिद्ध थे, इस तथ्य पर इस पद्यांश से प्रकाश पड़ता है।

विनय पदों में उल्लिखित आदर्श के होते हुए भी समाज मे प्रचलित ऊंच-नीच के भाव का परिचय कृष्ण-कुब्जा-असमानता के अनेक उल्लेखों से मिलता है—'जैसे काग हंस की संगति,

---

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ७५, पाणिनि ने वैदिक शब्द 'वर्ण' के साथ-साथ बाद में प्रचलित 'जाति' शब्द का अधिक उल्लेख किया है। 'जाति' शब्द में 'गोत्र' तथा 'चरण' दोनों ही सम्मिलित थे। पतंजलि ने यह स्पष्ट किया है (गोत्रं च चरणैः सह)। पाणिनि ने दो जातियों के मिल जाने का भी उल्लेख किया है जैसे ब्राह्मण पति तथा वैश्य पत्नी (पृ० ९२)। एक ही वर्ण के लोग 'सवर्ण' कहलाते थे (पृ० ९१) और एक ही गोत्र के लोग 'सगोत्र'। सगोत्र व्यक्तियों के पूर्वज एक ही होते थे। जातकों में व्यक्ति के साथ उसके गोत्र की चर्चा भी है। पाणिनि ने गोत्र नाम इस प्रकार बताए हैं—पिता का नाम गर्ग, पुत्र 'गर्गि', 'गार्ग्य' पौत्र तथा उसका भी पुत्र 'गार्ग्यायण'। उन्होंने 'सपिंड', 'सनाभि', 'ज्ञाति' तथा 'संयुक्त' आदि संबंधों के अतिरिक्त 'कुल' शब्द का भी उल्लेख किया है। 'कुल' का अर्थ परिवार था और 'कुलीन' का अर्थ श्रेष्ठ कुल के व्यक्ति से था। 'वंश' का उल्लेख भी है।

२—प० सं० टी०, १८५।१, 'छतीस कुरी भै गोहने भली।' १—ज्योतिरीश्वर ठक्कुर ने छत्तीस कुलों की सूची दी है। पद्मावत में यहां पर 'कोरी', 'बांभनि', 'अगरवारिनि', 'बेसिनि', 'चंदेलिनि', 'चौहानी', 'कलवारि', 'बानिनि', 'कैथिनि', 'पटुइनि', 'बरइनि' का पद्मावती के साथ जाने का वर्णन है।

लहसुन संग कपूर। जैसे कंचन कांच बराबरि, गेरु काम सिंदूर। भोजन साथ सूद्र बाह्मन के, तैसौ उनकौ साथ।' (३७७०)।

२२७. छत्री[1] (४५७) [सं० क्षत्रिय] शब्द का उल्लेख परशुराम अवतार में हुआ है—'मारे छत्री इकइस बार।' (४५७)। ठाकुर[2] (१२२,४२६१) अथवा ठकुराइति (४२५५) तथा ठकुरानी (४६०६) (राधा तथा रुक्मिणी के लिये प्रयुक्त) शब्द प्रायः बड़प्पन के सूचक हैं। इनका उल्लेख विनय पदों में तथा भ्रमरगीत प्रसंग के गोपियों के व्यंग्य वचनों में अधिकांश रूप से हुआ है। 'ऐसो को ठाकुर, जन-कारन दुख सहि, भलौ मनावै' (१२२), अथवा 'हरि सौ ठाकुर, और न जन कौ (६), अथवा 'कहँ वै ब्रह्मादिक के ठाकुर, कहां कंस की दासी।' (४२६१), अथवा 'कहियौ ठकुराइति हम जानी।' (४२५५) अथवा 'राजा भए तिहारे ठाकुर, अरु कुबिजा पटरानी।' (४२५६) तथा 'नंदनंदन करि गर कौ ठाकुर' (२६६) एक विनय पद के खेती के रूपक में यह शब्द सम्भवतः जाति विशेष का सूचक है—'धर्म जमानत मिल्यौ न चाहै, तातै ठाकुर लूटौ।' (१८५)। ऊपर के पद्यांशों द्वारा स्पष्ट पता चलता है कि प्रतिष्ठा के साधारण अर्थ के सूचक रूप में ही 'ठाकुर' प्रायः प्रचलित था। आजकल साधारणतया 'ठाकुर' शब्द क्षत्रिय जाति के अर्थ में बोला जाता है। राम अथवा कृष्ण की मूर्ति-विशेष भी इसी नाम से जानी जाती है।[3]

व्यवसायों के सिलसिले में 'वणिज' का उल्लेख किया जा चुका है। व्यापार, व्यवसाय द्वारा जीवन-यापन करने वाले व्यक्ति ही वैश्य[4] वर्ग में आते थे। आजकल दूकान आदि के कार्य में लगे लोगों को 'महाजन'[5] या 'बनिया' भी कहा जाता है।

सूद्र[6] (३७७०) [सं० क्षुद्र=अधम, नीच] शब्द शूद्र वर्ण के साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। क्षुद्र कर्मों में लगे हुए कुछ व्यवसायिकों के संबंध में बताया जा चुका है।

१—तुलसी, कविता० ७, १०६ 'धूत कहौ रजपूत जुलाहा'

२—प० सं० टी०, ५७१४ 'ठाकुर अंत चहैं जो मारा, तहँ सेवक कहँ कहाँ उबारा।' इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि पृ० ७०, पाणिनि ने गोत्र जनपद तथा संघ के सिलसिले में 'क्षत्रिय' का उल्लेख किया है। संहिताओं में 'राजन्य' शब्द क्षत्रिय का पर्यायवाची है।

३—डा०सुनीत कुमार चैटर्जी, भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, (पृ० १०१) प्रो० सिलवें लेवी के मतानुसार 'ठाकुर' अथवा ठक्कुर शब्द का उद्गम प्राचीन तुर्की शब्द 'तेगिन्' से है।

४—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ७०, वैश्यों को 'आर्य' उपाधि प्राप्त थी जिससे उनके सामाजिक मान का अनुमान होता है।

५—प० सं० टी०, ३७१२, 'कनक हाट सब कुंहकुंह लीपी, बैठ महाजन सिंघलदीपी।'

६—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ७८, पतंजलि ने दो प्रकार के शूद्रों का उल्लेख किया है—आर्यावर्त तथा समाज में रहने वाले, २—उसके बाहर रहने वाले। शक तथा यवन समाज के अंग नहीं थे और यह भी शूद्र नाम से पुकारे जाते थे। आर्य-निवास-स्थानों के बाहर रहने वाले शूद्रों में 'चांडाल' का नाम लिया जा सकता है। समाज में रहने वाले तथा विभिन्न कर्मों में लगे शूद्रों में अनेक थे, जैसे 'तक्षा', 'रजक' 'तंतुवाय' आदि। कुछ ही शूद्र अस्पर्श्य समझे जाते थे।

भिल्लिनि (२५) [सं० भिल्लः] जाति का उल्लेख शवरी-कथा प्रसंग में है। यह एक प्रसिद्ध जंगली जाति है।

२—सती प्रथा

२२८. सूरकालीन समाज की विशेषताओं में सती प्रथा का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसका उल्लेख एक दो स्थलों में ही हुआ है। संभवतः इसका कारण यही है कि यह प्रथा आज पाशविक प्रतीत होते हुए भी उस समय के लिये साधारण ही थी। सूरसागर में सती (२६३) शब्द उल्लिखित है 'जती, सती तापस आराधैं, चारों बेद रहै।' (२६३)। सीता-त्रिजटा-संवाद में पातिव्रत्य का यह आदर्श रक्खा गया है 'कै तन देउ मध्य पावक कैं, कै बिलसैं रघुराइ। जो पै पतिव्रता व्रत तेरैं, जीवति बिछुरी काइ।' (५२१)।

पति के साथ सती होना अगाध-प्रेम का उदाहरण होते हुए भी देखने वालों को अतीव कष्ट पहुँचाता था—'देखि जरनि, जड़ नारि की (रे) जरति प्रेम के संग।...चिता न चित फीकौ भयौ, (रे) देखत नैननि त्रास।' (३२५)।

इस प्रथा के प्रारंभ काल में स्त्रियाँ अपनी इच्छा से ही सती होती थीं किन्तु मुग़लकाल तक आते-आते इसका अत्यन्त वीभत्स रूप हो गया था। उनकी अनिच्छा होने पर घर के लोग बलपूर्वक पकड़ कर आग में ढकेल देते थे। उस समय के विदेशी यात्री तो इस प्रथा से आतंकित थे। कुछ तो इस भयानक दृश्य को देखकर मूर्छित तक हो गए थे। बर्नियर ने कई आँखों देखे दृश्यों का वर्णन किया है जिनसे वह अत्यधिक पीड़ित हुए थे।[१]

बाण ने हर्ष की माता देवी यशोवती के सती होने का वर्णन किया है।[२] राज्यश्री के सती होने के लिये उद्यत होने तथा हर्ष द्वारा रोक लेने से यह भी पता चलता है कि उस समय सती होना आवश्यक नहीं था।

पद्मावत में भी[३] 'पद्मावती नागमती सती-खंड' में इस प्रथा के वर्णन-विस्तार है। विवाह के समान ही नया शृंगार, बाजे बजना, दान, चिता पर बैठने के पहले सात भांवरे लगाने आदि की प्रथा थी। अर्थी के लिये 'खाट', 'खाटा' शब्द आये हैं (६४६।२,३)। जौहर की प्रथा अधिकांश रूप से राजपूतों में थी।[४]

३—संस्कार, गृह्यकर्म तथा आश्रम धर्म

२२९. भारतीय हिन्दू परिवारों में जन्म से मृत्युपर्यन्त व्यक्ति का जीवन षोडश

१—बर्नियर पृ० ३११, ३१४, ३४१, बर्नियर ने इस प्रथा के अतिरिक्त अन्य विशेषताओं का वर्णन भी किया है जिन्होंने उनका ध्यान आकर्षित किया था—जैसे धार्मिक समुदाय—सूफी, जोगी, फकीर आदि, वर्ण व्यवस्था, त्रिदेव के अलावा अन्य अगणित देवी देवताओं की पूजा आदि।

२—हर्ष० सा० अ०; पृ० ६७, १६६ (गृहीतमरणप्रसाधनम्)

३—प० सं० टी०, ६४८।१, 'पदुमावति नइ पहिरि पटोरी, चली साथ होइ पिय की जोरी।'

४—६५०।१, 'सर रचि दान पुन्नि बहु कीन्हा। सात बार फिरि भांवरि दीन्हा।

५—प० सं० टी०, ६५१।८, 'जौहर भई इस्तिरी पुरुख भए संग्राम।'

संस्कारों[1] की सीमा से बांधा गया है। यह संस्कार उसके जीवन को संस्कृत कर सही मार्ग पर निर्देशित करने का यत्न करते हैं। सूरसागर के कवि ने अपने आराध्य के जीवन को हर दृष्टि-कोण से अंकित करने का प्रयत्न किया है अतएव हिन्दू धर्म द्वारा निर्धारित इन नियमों की सीमा उसने भी स्वीकार की है। सूरसागर में उल्लिखित इन संस्कारों में जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, विवाह तथा अन्त्येष्टि से संबंधित शब्दावली की ओर स्वतः ध्यान चला जाता है। उपर्युक्त सभी संस्कारों में जन्मोत्सव तथा विवाह संस्कार सूचक शब्दावली वर्णन-विस्तार की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण के दो प्रधान विवाहों (राधा तथा रुक्मिणी) के अतिरिक्त राम-सीता विवाह का वर्णन भी किया गया है।

शास्त्र सम्पादित संस्कारों के साथ-साथ हिन्दू परिवारों मे कुछ लोकगृहीत गृह्य कर्म भी प्रचलित हैं। इनके अन्तर्गत उल्लिखित शब्दावली से सूरकालीन कुछ प्रादेशिक प्रथाओं का भी सूक्ष्म परिचय मिलता है। अतएव यहाँ संस्कारों के साथ इस गृह्यकर्मों का विवरण देना अनुचित न होगा।

बालक के जन्म के अवसर से संबंधित शब्दावली

२३०. कृष्ण-जन्म के पहले विष्णु का अवतार रूप में देवकी के गर्भ मे आना और उसका प्रभाव वर्णित है 'हरि कै गर्भ-त्रास जननी कौ बदन[2] उजारौ लाग्यौ।...अबिनासी को आगम जान्यौ, सकल देव अनुरागी। कुछ दिन गएँ गर्भ को आलस, उर देवकी जनायौ।... बुध-रोहिनी-अष्टमी-संगम, बसुदेव निकट बुलायौ। सकल लोकनायक सुखदायक सजन जन्म धरि आयौ।' (६२२)। फिर अलौकिक घटनाओं के फलस्वरूप वसुदेव शिशु को मित्र नंद के पास गोकुल छोड़ने में सफल हुए। यशोदा का भी पुत्र जन्म के पहले की अवस्था का 'सोहिलौ' में वर्णन है—'आठ मास चंदन पियौ (हौ) नवएं पियौ कपूर। दसएं मास मोहन भए[3] (हो) आंगन बाजै तूर।' (६५८)। इसके बाद शिशु-जन्मोत्सव[4] से संबंधित पद है (६२२-६५२)। दाई द्वारा नार छेदना तथा नेग के लिये झगड़ने का (६३३, ६३६) का उल्लेख भी किया जा सकता है। पुत्र-जन्म पर नंद का घर ही नहीं किन्तु सारा गोकुल ही उल्लास के सागर में

१—१. गर्भाधान २. पुंसवन ३. सीमन्तोन्नयन ४. जातकर्म ५. नामकरण ६. निष्क्रमण ७. अन्नप्राशन ८. चूड़ाकर्म ९. कर्णवेध १०. उपनयन ११. वेदारंभ १२. समावर्त्तन १३. विवाह १४. गृहस्थ १५. वानप्रस्थ १६. सन्यास।

२—प० सं० टी०, ५०।७, 'जस औधान पूर होइ तासू, दिन-दिन हिएं होइ परगासू। जस अंचल झीने महं दिया। तस उजियार देखावै हिया।'

३—प० सं० टी०, ५१।१, 'भए दस मास पूरि भै घरी।'

४—हर्ष० सां० अ०, पृ० ६५, बाण ने भी हर्ष के जन्मोत्सव का विशद चित्रण किया है। यह सूरसागर में वर्णित चित्र से आश्चर्यजनक रूप से मिलता है। हर्षचरित में शंख, दुंदुभी, पटह आदि मंगल वाद्य, सुवर्ण शृंखलाओं से बंधी कलसियां, यज्ञ-शालाओं में प्रज्वलित अग्नि, ब्राह्मणों का वेदोच्चारण, परिचारकों एवं धनियों का प्रसन्नता से नृत्य करना आदि उल्लेखनीय है। सूतिगृह में जातमातृ देवी अथवा चर्चिका की आकृति बनाई गई थी।

डूब गया। इस उत्सव की कुछ महत्त्वपूर्ण बातों पर भी प्रकाश पड़ता है। मंगल कलश रखना, **होम** [सं० होमः], **द्विज पूजा** तथा भवन चंदन से लोपने की[1] प्रथा बार-बार वर्णित है—कंचन-कलश, होम, द्विज-पूजा, चंदन भवन लिपायौ।' (६२२)।

मालिन और बारिन का बंदनवार बांधना, अरगजा चंदन हल्दी आदि छिड़कना[2] भी उत्सव के अंग थे—'बाजत ताल मृदंग जंत्रगति, चरचि अरगजा अंग चढ़ाई। अच्छत दूब लिये रिषि ठाढ़े, बारनि बंदनवार बंधाई।' (६३७) अथवा 'चोवा चंदन अबिर, गलिनि छिटकावन रे।' (६४६) तथा 'लछिमी सी जहँ मालिनी बोले। बंदन माला बांधत डोले।' (६५०)।

अच्छत [सं० अक्षतः] (पूजन के निमित्त धुले चावल), **दूब** [सं० दूर्वा—देवता या पितृ पूजन के निमित्त घास विशेष] तथा **बंदनवार** आज भी इसी प्रकार ऐसे उल्लास पूर्ण वातावरण में सम्मिलित हैं। मोती का बंदनवार भी बाँधा गया था—'मोतिनि बंधायौ बार महल मैं जाइकै' (६४६)। **तोरना** की भी [सं० तोरण] चर्चा है—'मालिनि बाँधै तोरना' (६५८)। द्वार पर लगे पत्तों के अर्धचन्द्राकार बन्दनवार को ही तोरण कहते हैं।[3]

२३१—पुत्र-जन्म पर स्त्रियों का **बधायौ** [सं० वर्धनं] (६४५) तथा **सोहिलौ**[4] अथवा मंगलगान गाना, तथा वाद्य यन्त्रों का ध्वनि-नाद हर्षोत्साह प्रकट करता है। इस प्रसंग में अनेक पद इस बात के सूचक हैं। गोकुल की स्त्रियाँ नंद के सौभाग्य को सुनकर, वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर मंगल **थाल** सजा सजाकर बधावा गाने गाने लगीं—'कंचन-थार-दूब-दधि-रोचन गावति चारु बधाई।' (६४०), अथवा 'कर कंकन, कंचन थार, मंगल साज लिए।...गुन गावत **मंगल-गीत**, मिलि दस पाँच अली। मनु भोर भऐ रबि देखि, फूली कमल-कली...सिर दधि-माखन के माट, गावत गीत नए।' (६४२), अथवा 'सुबरन-थार रहे हाथनि लसि।... कंचन-कलस जगमगैं नग के।' (६५०), तथा 'आजु **बधायौ** नंदराइ के, गावहु मंगलचारा। आई मंगल-कलस साजि कै, दधि फल नूतन-डारा।' (६४५)।

इन गीतों में **सोहिलौ** (६५८) गीत विशेष का महत्वपूर्ण स्थान है। इसे आज प्रायः घरेलू बोली में 'सोहर' कहते हैं। इनके अधिकांश भाग में नंद, सास, जिठानी, देवर आदि के नेगों का वर्णन होता है साथ ही नौ महीने तक की माता की अवस्था तथा पुत्र-जन्म पर सबकी प्रसन्नता का वर्णन भी होता है। यह गीत जन्मोत्सव के अतिरिक्त अन्य कुछ संस्कारों जैसे मुंडन, कनछेदन, यज्ञोपवीत आदि में भी गाए जाते हैं। पद्मावत में भी पद्मावती के विवाह पर सोहिला गाने का उल्लेख है।[5] सूरसागर में जन्म के मंगल-गीतों में इसका निर्देश हुआ है—'गौरि गनेस्वर बीनऊं (हो) देवी सारद तोहिं। गावौं हरि को सोहिलो (हो) मन-आखर दे मोहिं। हरषि बधावा

१—प० सं० टी०, ५०।८ 'सौनै मंदिर सँवारै और चंदन सब लीप।'

२—तुलसी०, गीता०, १, १, 'बीथिन्ह कुंकुम कीच अरगजा अगर अबीर उड़ाई।'
गीता०, १, २ 'दल फल फूल दूब दधि रोचन घर-घर मंगलचार।'

३—कालिदास, उत्तरमेघ, श्लो० १२
'दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन'

४—तुलसी, गीता० १, २, 'सहेली सुनु सोहिलो रे।...'
भूपति सदन सोहिलो सुनि, बाजैं गहगहे निसान।'
गीता०, १, १ 'सहज सिंगार किये, बनिता चलीं मंगल बिपुल बनाई।'

५—प० सं० टी०, २७७।७ 'सब कबिलास होइ सोहिला।'

मन भयौ (हो) रानी जायौ पूत।' (६५८)। गौरी गणेश्वर एवं शारदा की विनय करके आज भी प्रायः गीत प्रारंभ करते हैं। इनको देवी के गीत कहते हैं। ब्रज में देवी गीतों में एक 'सुरही' [सं० सुरभि] गीत भी है। घरों में शुभ अवसरों पर गाए जाने वाले मंगल गीतों को कुछ देवी के गीत गाने के बाद ही गाते हैं। गारी, गारि (६२२) [सं० गालिः) के गीत गाने की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है—'वे देत महरि कौं गारी।' (६२२), अथवा 'बहुत नारि सुहाग सुंदरि और घोष कुमारि। सजन-प्रीतम नाम लै लै दै परसपर गारि' (६४४)। अन्नप्राशन संस्कार में भी सखियों द्वारा गाली गाने की चर्चा है—'जुवति महरि कौं गारी गावति, और महर कौ नाम लिए।' रुक्मिणी-विवाह के बाद भी एक लम्बा सा पद गारि का है—'तोसौं गारि कहा कहि दीजै...बाप जुगल काकौं नावं लीजे, जाति गोत न जानियै।...तेरी माई सकल जग खोयौ।' (४८०५)। इनसे उस समय के गाली-गीतों का अनुमान हो सकता है। गाली-गीतों में संबन्धियों पर व्यंग्य होते हैं तथा यह श्लील तथा अश्लील दोनों प्रकार के होते हैं।[1] स्त्रियों के बधावे के अतिरिक्त ढाढ़ी, ढाढ़िनि के बधावा गाने और 'बकसीस' (६५७) [फा० बख्शिश] अथवा दान मिलने से संबंधित भी कई पद हैं (६५३-६५७)। ढाढ़ी का उल्लेख जीवन-निर्वाह के साधनों के सिलसिले में किया जा चुका है।

गीतों के साथ ही आनंदमग्न हो नंद और गोप ग्वालों के नृत्य करने का वर्णन भी है[2]—'नाचत महर मुदित मन कीन्है, ग्वाल बजावत तारी।' (६२२), अथवा 'आनंदित गोपी ग्वाल, नाचैं कर दै दै ताल अति अहलाद भयौ जसुमति माई कै' (६४९), तथा 'नृत्य ठांवहि ठांव' (६४४)।

अनेक प्रकार के वाद्य-यन्त्रों[3] की ध्वनि ने वातावरण को और भी उल्लासमय बना दिया—'घर घर बाजे निसान' (६४६), अथवा 'बाजत पनव निसान पंच-बिध, रुंज मुरज सहनाई' (६४०)। इन बाजों की व्याख्या संगीत संबंधी शब्दावली के अन्तर्गत की गई है। आज भी शुभ अवसरों पर शहनाई, नौबत या 'बैंड' बजने की प्रथा चल रही है।

२३२—नंद का पुत्र जन्म पर ढाढी, मागधसूत, तथा ब्राह्मणों आदि को बहुमूल्य वस्तुयें दान करने का निर्देश है—'महर महरि ब्रज-हाट लुटावत, आनंद उर न समाई।' (६४०) अथवा 'जिन जो जाच्यौ सोइ दीन, अस नंदराइ ढरे।' (६४२) तथा 'एकनि कौं गोदान समर्पत, एकनि कौं पहिरावत चीर। एकनि कौं भूषन पाटम्बर, एकनि कौं जु देत नग हार।' (६४३)। इन सबका तथा गुरुजनों का असीस [सं० अशिस] देना भी वर्णित है—'आए पूरन आस कै, सब

---

(७) मांगलिक गीत जो विवाहादि अवसरों पर गाते हैं। [सं० शोभावत्-प्रा० सोहल + क-सोहला]।

१—हर्ष० सा० अ०, पृ० ६७, हर्ष-जन्मोत्सव के अवसर पर बाण ने भी वार-विलासनियों के अश्लील रासक पदों (सीठनों) के गाने का उल्लेख किया है। 'अश्लील-रासक-पदानि', रासा + ग्रामगीत।

२—तुलसी, गीता०, १, १ 'नाचहिं पुर नर नारि प्रेम भरि देह दसा बिसराई।'
१, २ 'नृत्य करहिं नट नटी नारि नर, अपने-अपने रंग।'

३—तुलसी, गीता० १, २ 'घंटा घंटि पखाउज आउज झांझ बेनु डफ तार।'

मिलि देत असीस। नंदराइ को लाड़िलौ, जीवै कोटि बरीस।' (६४५),[1] अथवा 'ते निकसीं देति असीस, रुचि अपनी-अपनी।' (६४२), तथा 'देतिँ असीस जियौ जसुदा-सुत, कोटिनि बरष कन्हाइ।' (६५१)।

इन लोकाचारों के अतिरिक्त अन्य कुछ लोक कृत्यों का भी परिचय मिलता है, जैसे— 'एक फिरत दधि दूब धरत सिर, एक रहत गहि पाइ। एक परस्पर देत बधाई, एक उठत हंसि गाइ।' (६३८), अथवा 'आनंद उर अंचल न सम्हारति, सीस सुमन बरषावति' (६४१) या 'गृह-लगन-नषत पल सोधि, कीन्ही बेद धुनी'...'लहूँ भीतर भवन बुलाइ, सब सिसु-पाइ-परी'। इक बदन उघारि निहारि, देहिं असीस खरी।...गुहि गुंजा, घसि बनधातु, अंगनि चित्र ठए।...मिलि नाचत करत कलोल, छिरकत हरद-दही। इक दधि-गोरोचन-दूब, सबकैं सीस धरैं।...तब न्हाइ नंद भए ठाढ़, अरु कुस हाथ धरे। नांदीमुख पितर पुजाइ[2] अंतर सोच हरे।...घसि चंदन चारु मंगाइ, बिप्रनि तिलक करे। द्विज-गुरुजन कौं पहिराइ, सब कैं पाइ परे। सब इष्ट मित्र अरु बंधु हंसि-हंसि बोल लिये। मथि मृगमद-मलय-कपूर माथैं तिलक किये।' (६४२) अथवा, 'एकनि कों पुहुपनि की माला' (६४३), या 'नंद द्वारें भेंट लै लै उमह्यौ गोकुल गावैं। चौक चंदन लीपि कै, धरि आरत संजोइ।...द्वार सथिया देति स्यामा, सात सींक बनाइ।' (६४४), अथवा 'सिर पर दूब धरि, बैठे नंदसभा मधि...' (६४६), तथा 'अनगढ़ सोना ढोलना (गढ़ि) ल्याए चतुर सुनार। करहु लाल की आरती (री) अरु दधि कांदौ मूत। नाइन बोलहु नवरंगी (हा) ल्याइ महावर वेग।...लै आयौ गढ़ि डोलना बिसकर्मा सुतहार।...काढ़ो कोरे कापरा' (अरु) काढ़ो घी कै मौन' (६५८)।

उपर्युक्त उद्धरणों से अनेक घरेलू कृत्यों पर प्रकाश पड़ता है। जातकर्म संस्कार का ध्येय नवजात शिशु का पिता द्वारा स्वागत, अमांगलिक प्रभावों से उसकी रक्षा-कामना तथा उसकी दीर्घ आयु एवं स्वास्थ्य की प्रार्थना करना है।

२३३—जन्मजात संस्कार पर किये जाने वाले गृह्य-कर्मों के साथ-साथ कवि ने उनके विष्णु रूप को न भुला कर कुछ पदों में देवताओं की प्रसन्नता का चित्रण भी किया है—'देवनि दिवि दुंदुभी बजाई...विद्याधर-किन्नर-कलोल...गावत गुन गंधर्व पुलकि तन, नाचति सब सुर-नारि रसिक अति। बरषत सुमन सुदेस सूर सुर'...'जय जयकार करत मानत रति। सिव बिरंचि इन्द्रादि अमरमुनि, फूले सुख न समात मुदित मति।' (६२४), अथवा 'अमर विमान चढ़े सुख देखत, जै-धुनि सब्द सुनाई।' (६४०), तथा 'अमर नगर उतसाह, अप्सरा गावन रे। ब्रह्म लियौ अवतार, दुष्ट के दावन रे।' (६४६)। अष्ट सिधि [सं० सिद्धिः] तथा नवनिधि[3] [सं० निधिः] का जन्मोत्सव में भाग लेने का वर्णन इसी दृष्टि से है—'द्वार बुहारति फिरति अष्ट-सिधि। कौरनि सथिया चीतति नव निधि।' (६५०)। ब्रह्म के अवतार लेने का यह वर्णन नंद यशोदा के अमित सौभाग्य को बताता है।

१—तुलसी गीता० १, १ 'गावहिं देहिं असीस मुदित चिरजिवौ तनय सुखदाई।'

२—मानस, बाल०, १९३ 'नंदीमुख सराध करि, जातकरम सब कीन्ह।'

३—अष्ट सिद्धि :—'अणिमा लघिमा प्राप्ति, प्राकाम्यं महिमा तथा।
ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता॥'

नवनिधि—कुबेर के नौ खजाने माने गए हैं—पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील तथा खर्व।

छठी [सं० षष्ठी] अथवा छठे दिन होने वाले गृह्य-कर्म का उल्लेख भी है—'काजर-रोरी आनहु (मिलि) करौ छठी कौ चार।[1] ऐपन की सी पुतरी (सब) सखियनि कियौ सिंगार।' (६५८)। छठी गृह-शुचि का उत्सव है। इस दिन माता और शिशु को स्नान कराया जाता है। माता को साधारण खाना दिया जाता है तथा सोबर की छूत नहीं रहती। जन्म के छठे दिन आज भी 'छठी' या 'छट्ठी' नामक गृह्यकर्म स्त्रियाँ करती हैं। बच्चे की बुआ सोबर [सं० शोभागृह] के द्वार पर गोबर और जौ[2] से 'सतिया' [सं० स्वस्तिक] रखती है और शिशु के नेत्रों में काजल लगाती है। बुआ उसके लिये वस्त्राभरण, मिठाई, खिलौने, मेवा आदि लाती हैं।[3] इसको ननद का बधावा लाना भी कहते हैं। इस कृत्य में ननद भावज का नेग के लिये हास-परिहास-युक्त झगड़ा भी चलता है।

ऐपन[4] पिसे हुये कच्चे चावल का हल्दी मिला वह द्रव पदार्थ है जिसमें मांगलिक अवसरों पर चौक अथवा छापे आदि बनाते हैं।[4] 'गोपी गावति चहरके' (६४८) से चहरका शब्द का बोध होता है। यह छठा की रात को सबसे अन्त मे गाया जाने वाला गीत है। इसमें भी गाली दी जाती है।

नवम-स्कन्ध में राम-जन्म संबंधी कई पद हैं (४६०-४६२)। इनमें कृष्ण-जन्म से मिलता-जुलता चित्रण है किन्तु अत्यन्त संक्षिप्त—'फूले फिरत अजोध्या-बासी, गनत न त्यागत चीर। परिरंभन हँसि देत परसपर आनंद नैननि नीर।...देत दान राख्यौ न भूप कछु, महा बड़े नग हीर।'[5] (४६०), अथवा 'गावैं सखी परस्पर मंगल, रिषि अभिषेक कराई। भीर भई दसरथ कैं आँगन, सामबेद-धुनि छाई।[6] (४६१), तथा 'देस देस तैं टीकौ आया रतन-कनक-मनि-

---

१—तुलसी गीता० १, ५'जागिय राम छठी मंजुल मठी...किए नींद भामिनि जागरन ...बलिदान पूजा मूलिकामनि साधि राखी आनि कै। जो देव देवी सेइयत हित लागि...जागन होहिंगे नेवते दिये।'

प० सं० टी०, ५२।१ 'भइ छठि राति छठी सुखमानी। रहस कोड सौ रैनि बिहानी।'

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० ७२, बाण ने कादम्बरी में सूतिकागृह के वर्णन में सोबर के बाहर बने 'सथिये' का उल्लेख किया है। यह रंगीन कपास के फाहों से अलंकृत किये गये थे।

३—ब्रज लोक साहित्य, पृ० १४६, जब ननद बच्चे के लिये कुरता टोपी लाती है उस समय ब्रज में गाया जाने वाला एक प्रसिद्ध लोकगीत 'जगमोहन लुगरा' है। इसमें ननद अपनी भाभी से नेग में 'जगमोहन' नामक साड़ी तथा 'लुगरा' नामक लहंगा मांगती हैं और रुक्मिणी-कथा का प्रसंग भी है। 'सोहिलौ' आदि लोकगीत स्फुट तथा प्रबंध दो प्रकार के हैं।

४—हर्ष० सा०, अ०, पृ० ७०, राज्य श्री के विवाहोत्सव के वर्णन में ओखली, सिल मूसल आदि पर ऐपन की थापें लगाने का उल्लेख किया है।

५—मानस, बाल० १९४ 'हाटक धेनु बसन मनि, नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह।'

६—हर्ष० सा० अ०, पृ० १४, बाण के समय में ऋग्वेद के पाठ तथा सामगान का बहुत प्रचार था। यह अनेक उल्लेखों से स्पष्ट है। शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों द्वारा भी अपने-अपने चरण तथा शाखाओं के अनुसार वेदाभ्यास करने वालों ब्राह्मणों का परिचय मिलता है।

हीर...देत असीस सूर, चिरजीवौ रामचन्द्र रनधीर ।' (४६२) । तुलसी ने 'ढोब' शब्द उपहार अथवा 'टीको' के अर्थ में प्रयुक्त किया है ।[१] नृपति-पुत्र होने के कारण राम के जन्म पर देश-देश से टीका आने का उल्लेख स्वाभाविक है । (२३४)

सूर ने **नामकरण** का भी संक्षिप्त वर्णन किया है (७०३-७०५) नामकरण संस्कार का ध्येय नवजात शिशु का नियमानुकूल नाम चुनना है । जातकर्म के समय पिता घर का नाम तय कर लेता है । विप्र-सुजन-चारन-बंदीजन, सकल नंद गृह आए । नूतन सुभग दूब-हरदी-दधि, हरषित सीस बंधाए ।' (७०५)—आदि मांगलिक आचारों के अतिरिक्त प्रधान रूप से गर्ग मुनि के आगमन तथा शिशु के जन्मपत्र को देखकर उज्ज्वल भविष्य की घोषणा का वर्णन है[२] ।—इस प्रसंग में सूर के ज्योतिष ज्ञान का परिचय भी मिलता है । ज्योतिष शास्त्र की सूचक शब्दावली पद ७०४ में विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है—'नंद जू आदि **जोतिषी**[३] तुम्हारे घर कौ, पुत्र जन्म सुनि आयौ । **लगन सोधि सब जोतिष** गनिकै, चाहत तुमहिं सुनायौ । संवत सरस विभावन, भादौं, आठै **तिथि** बुधवार । कृष्न पच्छ, रोहिनी, अर्द्ध निसा, हर्षत लोग उदार । **वृष** है **लग्न**, **उच्च** कै **निसिपति**, तनहिं बहुत सुख पैहैं । चौथे **सिंह, रासि** के दिनकर, जोति सकल महि लैहैं । पचएँ **बुधकन्या** कौ जौ है पुत्रनि बहुत बढ़ैहैं । छठएँ **सुक्र**, तुला के **सनि जुत**, सत्रु रहन नहिं पैहै । ऊंच नीच जुवती बहु करिहै, सतएँ **राहु** परे हैं । **भाग्य-भवन** मैं मकर मही-सुत, बहु ऐश्वर्य बढ़ैहैं । **लाभ भवन** मैं मीन **बृहस्पति**, नव-निधि घर में ऐहैं । **कर्म भवन** के ईस **सनीचर**, स्याम बरन तन ह्वैहैं । (७०४) ।

जन्म के दसवें अथवा बारहवें दिन नामकरण संस्कार होता है । इसको साधारण बोली में 'दष्ठौन' [सं० दशोत्थापन] या 'बरहीं' कहते हैं । जन्म तथा अन्नप्राशन पर भी सुलग्न निकालने की सूचना मिलती है—'ग्रह-लगन-नषत-पल सोधि, कीन्ही बेद धुनी ।' (८४२) अथवा 'बिप्र बुलाइ नाम लै बूझ्यौ, रासि सोधि इक सुदिन धर्‌यौ । आछौ दिन[४] सुनि महरि जसोद सखिनि बोलि सुभ गान कर्‌यौ ।' (७०६) ।

२३५—**अन्नप्राशन अथवा पासनी** (७०६,७०७) [सं०] यह संस्कार भी सुदिन दिखवाकर किया गया ।[५] छ महीने में कुछ दिन कम थे तभी नंद ने यह संस्कार करने का

१—तुलसी, गीता० १, २ 'ले ले ढोब प्रजा प्रमुदित चले भाँति-भाँति भरि भार ।'

२—हर्ष० सा० अ०, पृ० ६५, बाण ने भी हर्ष-जन्म पर तारक नामक गणक, का जो गृह संहिताओं में पारंगत था, हर्ष के भविष्य के संबंध में बताने का उल्लेख किया है । बृहत्संहिता में ज्योतिष के तीन अंग हैं—ग्रहगणित, संहिता तथा होराशास्त्र । ज्योतिषी ने ग्रहों की गणना करके सूचना दी कि 'सब ग्रह उच्च के हैं । 'मान्धाता के बाद इस प्रकार का चक्रवर्ती योग किसी का नहीं हुआ है । यह पुत्र सात चक्रवर्तियों में सबसे श्रेष्ठ, सप्त समुद्रों का पालनकर्ता, व सूर्य के समान तेजस्वी होगा ।'

३—प० सं० टी०, ५३।१, 'अही जनमपत्री सो लिखी । दै असीस बहुरे जोतिषी ।'

४—तुलसी गीता०, १, ६, 'नामकरन रघुबरनि के नृप सुदिन सोधाए ।'

५—हर्ष० सा० अ०, पृ० ७१, हर्ष के समय में भी सुन्दर लग्न निकालकर शुभकार्य करने की प्रथा थी । राज्यश्री के विवाह की शुभ लग्न निकलवाने का उल्लेख है ('गणनाभियुक्तगणकगणगृह्यमाणलग्नगुणम्') ।

विचार किया। इस संस्कार पर अपनी जाति बिरादरी वालों का भोजन व मंगल-गान के साथ[1] नंद का शिशु को खीर खिलाने का वर्णन है—'नंद-घरनि ब्रज-बधू बुलाई, जे सब अपनी पांति। कोउ ज्यौनार करति, कोउ घृत-पक षटरस के बहु भांति...आपु गए नंद सकल-महर-घर, लै आए सब ज्ञाति।' (७०७)। संस्कार से पहले बच्चे को नहला-धुलाकर नये वस्त्र पहनाए गये थे—'जसुमति उबटि न्हवाइ कान्ह कौं, पट-भूषन पहिराइ। तन झँगुली, सिर लाल चौतनी, चूरा दुहुं कर-पाइ।...घरी जानि सुत मुख जुठरावन नंद बैठे लै गोद। कनक-थार भरि खीर धरी लै, तापर घृत-मधु नाइ। नंद लै-लै हरि मुख जुठरावन, नारि उठी सब गाइ।' (७०७)।

आज भी बहुत कुछ इसी प्रकार अन्नप्राशन संस्कार सम्पादित किया जाता है। होम तथा पूजन के बाद इष्ट-मित्र तथा बन्धुबांधवों के भोजन का आयोजन होता है। मंगल-गान के साथ इसी प्रकार शिशु को चावल की खीर खिलाकर पहली बार अन्न खाने का उत्सव मनाते हैं अधिकतर बाबा चाँदी के रुपये से अथवा चाँदी या सोने की चम्मच कटोरी से शिशु को खीर खिलाते है। शिशु के माता-पिता उनको अन्नप्राशन का नेग देते हैं। 'पासनी' तथा 'अन्नप्राशन' दोनों शब्द आज भी चल रहे हैं। यह संस्कार दाँत निकलने के पहले छठे या आठवें महीने में किया जाता है। दाँतों की रक्षा एवं सभी शरीर-वृद्धि के लिये इसके बाद धीरे-धीरे अन्न का अभ्यास कराया जाता है।

३३६—बरष गाँठि (७१२-७१४) का उत्सव भी मनाने की प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। बालक को स्नान के बाद नये वस्त्राभूषण इस दिन भी पहनाए गये थे—'सिर चौतनी डिठौना दीन्हौं, आँखि आँजि पहिराइ निचोल।' (७१२), अथवा 'बागे चीरे बनाइ, भूषन पहिरावौ' (७१३)। उत्सव की 'सुभ घरी' पहले ही ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित की जा चुकी थी—'एक सुभ घरी धराइ' (७१३)। अन्य संस्कारों के समान स्त्रियों का इस उत्सव में भी मंगल-गीत गाना, आंगन को चंदन से लीपना तथा चौक [सं० चतुष्क-चउक्क चौक] पूरना, मांगलिक पदार्थों—'अक्षत, दूध, दल, रोचन दधि, फूल डार'—आदि एकत्रित करने का वर्णन हुआ है—'सखिनि कौं बुलाइ मंगल-गान करावौ। चंदन आँगन लिपाइ, मुतियनि चौकें पुराइ, उमंगि अंगनि आनंद सौं, तूर बजावौ।' (७१३) अथवा, 'गावहिं मंगल गान नीके सुर नीकी तान। आनंद अति हरषनि। कंचन-मनि-जटित-थार रोचन, दधि फूल-डार मिलिबे की तरसनि।' (७१४)।

पहले प्रत्येक जन्म दिन पर एक डोरे में गांठ बांधते जाने की प्रथा थी। इसी प्रकार आयु सूचक वर्षों की गणना की जाती थी। इस प्रथा का परिचय इन पदों से प्राप्त होता है—'ब्रज-जन-मोहन-बरस-गांठि कौ डोरा खोल' (७१२), अथवा 'बरष-गांठि-जुरावौ' (७१३), तथा 'प्रभु बरष-गाँठि जोरति' (७१४)। इस प्रथा से ही 'वर्ष-गांठ' शब्द बना है। एक अन्य समानार्थक शब्द 'सालगिरह' भी बोला जाता है। कुछ अंग्रेजी संस्कृति से प्रभावित नागरिक-परिवारों में विदेशी पद्धति से वर्षगांठ मनाने का ढंग चल गया है जैसे केक काटना, वर्षों की प्रतीक जलती हुई मोमबत्तियाँ बुझाना, शुभकामनाएं देना, फूल और भेंट देना, मंगल कामनाओं से अंकित छपे कार्ड भेजना, भोज, गान एवं नृत्य आदि। इस नयी विधि से वर्षगांठ मनाने पर भी अधिकांश परिवारों में भारतीय प्रथा ही चल रही है जो सूर वर्णित उत्सव से मिलती-जुलती है। डोरे में गांठ बांधने की प्रथा अवश्य लुप्तप्राय है।

१—हर्ष० सां० अ०, पृ०, ७२, राज्यश्री के विवाह के पहले सामन्त पत्नियों के मंगलगीत गाने का वर्णन है (वधूवरगोत्रग्रहणगर्भाणि श्रुतिसुभगानि मंगलानि गायन्तीभिः)।

२३७—कनछेदन—'कनछेदन'[1] संस्कार का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन है (७६८)—'कान्ह कुंवर कौ कनछेदन है, हाथ सोहारी भेली गुर की'। इस पद में बच्चे का ध्यान आकर्षित करने के लिए 'गुर' की भेली देना, कान पर सींक [सं० इषीका] से 'रोचन' देना, कंचन के दो दुर कान में पहनाना, कान छेदने के दर्द से बच्चे का रोना देखकर माता का भी व्याकुल होकर 'नौआ' को डाटना तथा सबका 'बधाई' देना आदि सरल स्वाभाविक रूप में चित्रित हैं। इसी प्रकार का दृश्य आज भी कनछेदन के अवसर पर देखने को मिल सकता है। अब लड़कों के कान छिदवाने की प्रथा उठ सी गई है। इसका कारण यही है कि पुरुषों द्वारा कर्णाभरण पहनने की प्रथा नहीं रही है।

सूरसागर में झंडूले बार (७६९) अथवा गभुआरे केस (७५२) का तो उल्लेख है किन्तु चूड़ाकर्म संस्कार-विशेष का वर्णन नहीं है।

२३८—जनेऊ—कंस-वध के बाद वसुदेव का वंश परम्परा के अनुकूल कृष्ण और बलराम का जनेऊ (३७११) [सं० यज्ञोपवीतं][2] कराने का चित्रण है 'वसुद्यौ कुल-ब्यौहार बिचारि। हरि हलधर कौं कियौ जनेऊ, करि षटरस ज्यौनारि।' (३७११)। गर्ग मुनि का गायत्री मन्त्रोच्चारण, ब्राह्मणों को वस्त्राभूषण तथा गोदान, स्त्रियों का सामूहिक गान, 'निछावरि' देना, वाद्य-वादन, स्थान स्थान से 'टीकौ' आना आदि वर्णित है (३७११, ३७१२)।

यह सभी संस्कार आजकल 'सनातनी' व 'आर्य समाजी' (वैदिक रीतियों पर आधारित) दो प्रमुख पद्धतियों के अन्तर्गत होते हैं। जनेऊ ब्राह्मणत्व का सूचक भी है तथा इस संस्कार के बाद उसको 'द्विजत्व' (दूसरा जन्म) प्राप्त होता है। इसका एक नाम 'उपनयन' भी है। इस संस्कार के बाद बालक गुरु के पास विद्याध्ययन के लिये चला जाता था। वहां वह 'वेदव्रत' अथवा 'ब्रह्मचर्य' धारण करने की प्रतिज्ञा करता था। यज्ञोपवीत के साथ ही पिता पुत्र को ब्रह्मचारी के योग्य अन्य सामग्रियाँ भी देता था—वस्त्र, अजिन, दंड तथा मेखला।[3] इसके बाद में पिता का स्थान गुरु ग्रहण कर लेता था।

२३९—विवाह—हिन्दू धर्म में शास्त्रानुसार विवाह आठ प्रकार के माने गये है।[4] दशम-स्कन्ध-पूर्वार्ध में राधा कृष्ण का विवाह गंधर्व बिवाह (१६८९) [सं० गान्धर्व + विवाह] बताया

१—मानस, अयोध्या, १० 'करनबेध उपबीत बिआहा। संग-संग सब भए उछाहा।'

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० १६, वाण ने ब्रह्मा को 'धवलयज्ञोपवीतो' कहा है। कुषाण-कालीन मूर्तियों में 'यज्ञोपवीत' का अंकन नहीं है किन्तु गुप्तकालीन ब्राह्मण-धर्म संबंधी मूर्तिकला में देखा जा सकता है।

३—कुमारसम्भव, सर्ग ५, श्लो० ३० 'अथाऽजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा। विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा।

४—मनुस्मृति तथा अन्य ग्रन्थों में भी यह आठ विवाह वर्णित हैं—१—ब्रह्म (गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों के साथ मुक्ति प्राप्ति का प्रयत्न) २—देव ३—आर्ष ४—मानुष अथवा प्राजापत्य ५—आसुर ६—गान्धर्व (शकुन्तला तथा दुष्यन्त का ऐसा ही विवाह था।) ७—राक्षस (स्त्री हरण के उपरान्त विवाह जैसे कृष्ण-रुक्मिणी, और अर्जुन-सुभद्रा का विवाह) ८—पैशाच (उषा-प्रद्युम्न-विवाह इसी प्रकार का था।) प्रथम चार प्रकार समाज द्वारा अधिक मान्य थे। अन्तिम चार का विधान केवल असाधारण परिस्थितियों के लिये किया गया था।

गया है—'जाकौं व्यास बरनत रास है गन्धर्व विवाह चित दै सुनौ बिबिध बिलास।' इस विवाह में स्त्री-पुरुष स्वेच्छा से एक-दूसरे का वरण करते थे तथा प्रेम ही इसका आधार होता था। **स्वयंवर** (४८१०) की प्रथा पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार राजकन्या निमन्त्रित राजाओं में से स्वयं वर चुनकर जयमाल पहना देती थी।

विवाह निश्चित होने का जो उत्सव मनाया जाता है एवं कृत्य होते हैं उसको आज के समान ही सूरदास जी ने **मंगनी** (४२६७) तथा **सगाई** (४४१७) कहा है किन्तु यह विवाह-वर्णन में न आकर स्फुट प्रसंगों में आए हैं—'बैद मिल्यौ कुबिजा कौं नीकौ।...सूरदास प्रभु समुझि न देखौ **मंगनी** चढ़ौ चही कौ।' (४२६७), अथवा 'हमसौं उनसौं कौन **सगाई**। हम अहीर अबला ब्रजवासी, वे जदुपति जदुराई।' यहाँ 'सगाई' अपनत्व के साधारण अर्थ में भी लिया जा सकता है। आज इस लोकाचार के अवसर पर प्रायः वर पक्ष से वधू के लिये वस्त्राभूषण और मेवा-मिठाई आदि आते हैं और वधू के घर के लोग उन लोगों को भेंट देते हैं। सूरसागर मे विवाह के साथ इन कृत्यों का वर्णन नहीं है।

विवाह-कृत्य के सरलता से तीन भाग किए जा सकते हैं—१. मांगलिक सजावट, २. संस्कार विशेष, ३. परम्परागत सामाजिक रूढ़ियाँ। राधा तथा गोपियाँ सर्वप्रथम मनोवांछित पति-प्राप्ति के लिये अनेक व्रत-साधन तथा देवी की उपासना करती हैं—'कियौ प्रथम कुमारिकनि व्रत, धरि हृदय बिस्वास। नंद-सुत पति देहुं देवी, पूजि मन की आस। दियौ तब परसाद सबकौं, भयौ सबनि हुलास।' (१६६६)।

सूरसागर में तीन विवाह प्रमुख रूप से वर्णित है—१. राम-सीता, २. कृष्ण-राधा तथा ३. कृष्ण-रुक्मिणी। कृष्ण के अन्य विवाहों में जांववती, सत्यभामा विवाह (४८०८) तथा पंचपटरानी विवाह (४८१०) थे। प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा सांब (४८१४,४८१५,४८२७) विवाह शीर्षक भी कुछ पद हैं। प्रथम तीन विवाहों का ही अधिक महत्व है।

२४०—सजावट की परिचायक शब्दावली में बंदनवार-बन्धन, आरती तथा मंगलकलश सजाना[1], दधि अक्षत फल फूल रखना, आंगन में चौक पूरना, अरघ [सं० अर्घ्य—एक जल पात्र में अक्षत, दूर्वा, तिल, यव, गन्ध, पुष्पादि डालकर वह जल देवता पर चढ़ाने को ही अर्घ्य देना कहते हैं], भाट या बन्दीजनों का विरुदावलि-गायन, वाद्य-वादन आदि कृत्य अन्य संस्कारों के समान ही गिने जा सकते हैं। विवाह का **मंडप**[2] (१६६०) अथवा **मंडल** (४८०३) अवश्य 'कदली जूथ' एवं 'किसलयदल' और फूलों से अलंकृत किया गया था। मंडप तथा **चौरी** [सं०

१—मानस, बाल० २८६, 'मंगल कलस अनेक बनाए। ध्वज पताक पट चरम सुहाए।'
प० स० टी०, २७५।५, ६ 'चंदन खंभ रचे चहुँ पाँती। मानिक दिआ बरहिं दिन राती। घर-घर बंदन रचे दुआरा। जांवत नगर गीत झनकारा।'

२—प० स० टी, २८५।३, 'मांडौ सोने का गगन सवारा। बंदनबार लाग सब तारा। साजा पाटछत्र कै छाहाँ। रतन चौक पूरा तेहि माहाँ। कंचन कलस नीर भरि धरा। इन्द्र पास आनी अपछरा।' अथवा २७५।५ 'रचि-रचि मानिक माड़ौ छावहिं।'
तुलसी, रामलला नहछू ३, ४ 'आलहि बांस के मांडव मनिगन पूरन हो। गजमुकुता हीर मनि चौक पुराइय हो।...कनक खंभ चहुँ ओर मध्य सिंहासन हो। मानिक दीप बराय बैठि तेहि आसन हो।'

चतुर=वेदी] विवाह-संस्कार का महत्वपूर्ण अंग है। वर वधू मंडप के नीचे ही बैठते हैं।[१] यह आज भी कदली-खंभों तथा फूल-मालाओं से सजाया जाता है—'रची चौरी आपु ब्रह्मा जटित खंभ लगाइ कै।...चौक मुक्ताहल पुरायौ, आइ हरि बैठे तहाँ।'[२] (४८०४)।

विवाह के उल्लासमय वातावरण का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'सूर जन मंगलचार गाए' (४८०१), अथवा 'सजि आरती कलस लै धाई' (४८०२) तथा

'बांधहु बंदनबार मनोहर, कनक कलस भरि नीर धरावहु।
दधि अच्छत फल फूल परम रुचि, आंगन चंदन चौक पुरावहु।
कदली जूथ अनूप किसल दल, सुरंग सुमन लै मंडल छावहु।

हरद दूब केसर मग छिरकहु, भेरी मृदंग निसान बजावहु।' (४८०३) और 'करी सुभद्रा आरती' (४८०४), 'संख भेरि निसान बाजे, बजैं बिबिध सुहावने। भाट बोलैं बिरद बार बचन कहैं मनभावने।' (४८०४) और 'बार्जाहि जु बाजन सकल सुर।' (१६६०), अथवा 'नव फूलनि के मंडप छाए' (१६९०)। शुभ मुहूर्त में ही मंडप बनाने की प्रथा आज भी है—'सोधि महूरत चौरी बिधि रची।' (४८०४)[३]। मंडप के नीचे चौक पूरा जाता है तथा यज्ञ करने के लिये चौरी अथवा बेदी (१६६०) [सं० वेदी] बनाते हैं—'छाए जु फूलनि कुंज-मंडप, पुलिन मैं बेदी रची।' (१६६०)।

कुछ व्यवसायिकों की उपस्थिति[४] भी आवश्यक सी समझी जाती है, जैसे—'मालिनी' 'चोलिनि', 'सुनारि', 'दरजिनि' तथा 'गंधिनि' (१६६३)।[५] स्त्रियों के गाली गाने की प्रथा की सूचना भी है—'तोसौं गारि कहा कहि दीजै' (४८०५), अथवा 'आई जु नेवते दुहूँ दिसि तैं, देति आनंद गारियाँ।' (१६६०)। **नेवता** शब्द घरेलू निमन्त्रण के अर्थ में आज भी बोला जाता है। विवाह में बारात के खाना खाते समय कुछ घरों में स्त्रियों के गाली गाने की प्रथा आज तक सुरक्षित है।

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० ७२, राज्यश्री-विवाह के निमित्त वेदी के खंभे गीली ऐपन की थापों तथा आलता से रंग हुये लाल वस्त्रों, आम तथा अशोक पल्लवों से सजाये गये थे।

२—मानस, बाल०, २८७, बिरचे कनक कदलि के खंभा। २८६, २८८—'रचे रुचिर बर बंदनिबारे।' 'चौकैं भाँति अनेक पुराई।'

३—तुलसी, जानकीमंगल, १२७, 'मुनिगन बोलि कहेउ नृप मांडव छावन।
गावहिं गीत सुवासिनि बाज बधावन।'

४—हर्ष० सां० अ०, पृ० ७०, बाण वर्णित राज्यश्री के विवाह की तैयारी का चित्रण महत्वांकन की दृष्टि से बेजोड़ है। इससे प्राचीनकाल के समृद्ध भारतीय घराने में अनेक प्रकार के कार्यों में नियुक्त व्यक्तियों का विशद चित्रण मिलता है। इस वर्णन से तत्कालीन विवाह की तैयारी पर भी प्रकाश पड़ता है। आतिथ्य-सत्कार में सुगंधि, पान और फूल बाटे जाने लगे। दूर-दूर से चतुर शिल्पी बुलाए गये थे। ढोल बजाने वाले चमार को शराब दी गई थी। सफेदी करने वाले कारीगर सुगन्धित जल से क्रीड़ा वापियाँ भरने वाले लोग, सुनार (हेमकार), मांगलिक चित्र बनाने वाले चित्रकार, मिट्टी के खिलौने बनाने वाले, चित्र बनाने वाली तथा मालायें, उबटन एवं वस्त्र तथा डोरे की लच्छियाँ रंगनेवाली स्त्रियों तथा अन्य अनेक कामों में व्यस्त व्यक्तियों का स्वाभाविक चित्रण है।

२४१. बिबाह[१] (१६८६), ब्याह (१६६१, ४८०५) [सं० । विवाह] अथवा पानिग्रहन (१६६०) [सं० पाणिग्रहण । संस्कार बेदबिधि से सम्पादित होने का निर्देश भी कवि ने किया है ।—'बेद-बिधि कियौ ब्याह बिधि' (४८०४) अथवा 'बिप्र लगे धुनि वेद उचारन, जुबतिनि मंगल गाए' (४६८) तथा 'धरे निसान अजिर गृह मंगल, बिप्र बेद अभिषेक करायौ । सूर अमित आनन्द जनकसुर सोइ सुकदेव पुराननि गायौ ।' (४६६)

पाणिग्रहण संस्कार मात्र तो कुछ ही घंटों में पूरा हो जाता है किन्तु उसके स्वागत समारोह की तैयारी वधू पक्ष वाले महीनों मे करते हैं । दूलह (१६६२, १६६०) [सं० दुर्लभ] ४८०० अथवा बर [सं० वरं] के[२] पक्ष के लोग बरात[३] (४८०४) (सं० वरयात्रा] लेकर निश्चित तिथि पर दुलहिनी (१६६०, ४८०६) अथवा दुलहिनि (१६६२) के घर उपस्थित होते हैं । बरात में आने वाले वर के बंधु बांधव एवं इष्टमित्र ही बराती [सं० वरयात्रिक] (१६६०) कहलाते हैं—'मनमथ सैनिक भए बराती । (१६६०) उग्रसेन और वसुदेव के बरात सजाकर लाने का वर्णन है—'चले साजि बरात

---

५ —४. तुलसी, रामललानहछू, ५, १०—'लोहारिनि', 'तंबोलिन', 'अहिरिनि' मोचिनि', 'मलिनिया' ,'बरिनिया', 'नउनिया', 'नाउनि', आदि अनेक व्यवसायिकों का विवाह के अवसर पर उपस्थित होने तथा उनके अपने-अपने निश्चित कार्यों का महत्वपूर्ण निर्देश है ।

६ —मानस, बाल०, ३२६,'जेवत देहिं मधुर धुनि गारी । लै लै नाम पुरुष औ नारी ।'

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ८५, ८६, पाणिनि ने विवाह का पर्यायवाची शब्द 'उपयमन' प्रयुक्त किया है जिसका अर्थ 'स्व-करण' (वर का वधू को अपना बना लेना) था । विवाह संस्कार 'पाणिग्रहण' से पूरा होता था । पाणिग्रहण का भी उपर्युक्त भाव ही है । वर पिता के हाथ से वधू का हाथ ग्रहण कर उसकी जिम्मेदारी स्वीकार करता है । मनु के अनुसार विवाह अपनी जाति में ही होते थे । कात्यायन ने शास्त्रानुसार विवाहिता पत्नी को पाणिग्रहण विधि के कारण ही 'पाणि-गृहीती' कहा है । इस विधि के अनुसार विवाहिता न होने पर 'पाणि-गृहीती' कहा है । मनु के अनुसार कन्या 'प्रदान' रूप में पति को पिता द्वारा दी जाती थी । पाणिनि के अनुसार पत्नी 'कुमारी' होनी चाहिये तथा पतंजलि ने भी 'अपूर्वा पति', 'कुमारी माया तथा' 'कुमार पति' का उल्लेख किया है । 'पत्नी' शब्द उसका पति के साथ यज्ञों में भाग लेने से बना है: ('पत्युर नो-यज्ञा-संयोगे') । पति की सामाजिक स्थिति पत्नी को स्वतः प्राप्त हो जाती थी जैसे महामात्र की पत्नी महामात्री और आचार्य की पत्नी आचार्याणी ।

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० ७२, बाण ने 'वर' तथा 'वधू' शब्द प्रयुक्त किये हैं । ('वधू वरगोत्रग्रहणगर्भाणि')

३—हर्ष० सां० अ०, पृ० ८२, बाण ने राज्यश्री की बारात चढ़ने का भी विस्तृत वर्णन किया है । आगे पैदल लाल चंवर लिये हुए, उसके बाद घोड़े और फिर पीछे सोने के साज से अलंकृत हाथी थे । गृहवर्मा हथिनी के ऊपर बैठे थे । आगे-आगे चारण गाते आ रहे ।

जादो कोटि छप्पन अति बली।' (४८०४) **समधी** (१२१) सं० संबन्धी] का गाते-बजाते आने का चित्रण विनय पद में भी है—'ताल पखावज चले बजावत, समधी सोभा कीं।' बारात के साथ इस प्रकार बाजे की व्यवस्था आज भी होती है—'संख भेरि निसान बाजे बजें विबिध सुहावने।' (४८०४)। इसके अतिरिक्त उस समय सजे हुए हाथी घोड़े एवं रथ भी बारात की शोभा-वृद्धि करते थे[1]—'गज रथ बाजी बनाइ, चंवर छत्र साजि।' (१६६२)। वर का वाहन विशेष रूप से सुसज्जित किया जाता है। वह उस समय अलंकृत घोड़े अथवा रथ पर आता था[2]। इसका संकेत सूर ने किया है—'तुरी ताजी बिना ताजन चपल चपला श्री रही। जीन जरित जराव पाखरि लगी सब मुक्ता लरी।' (४८०४)। वधू की विदा भी इसी रथ पर होती है—'चंदन के स्यंदन बैठे हरि, संग श्री राधा गोरी।' (१६६५)।

बहुमूल्य नये वस्त्राभूषणों के अतिरिक्त वर के वेश में **मौर** (१६८६) तथा **सेहरा**[3] (१६६२, ४८०४) इस विशिष्ट शुभ अवसर की सूचना देते हैं—'सेहरा सिर मुकुट लटकत, कंठ माला राजई।' हाथ पहुँची हीर की नग जरित मुदरी भ्राजई॥' (४८०४) अथवा 'लटकत सिर सेहरौ मनु' (१६६२) तथा 'मोर मुकुट रचि मौर बनायौ' (१६९०)। मौर तथा सेहरा बनाने का काम माली का है। सिर पर मुकुट के समान 'मौर' होता है तथा चेहरे पर पड़ी फूल मालाओं को 'सेहरा' कहते हैं।

इस संस्कार के शास्त्र, विदित अंगों में[4] **लग्न** (१६८६) निकालना—'धरी लग्न जु सरद निसिकी' **मधुपरक** [सं० मधुपर्क एक भाग दही, दो भाग शहद तथा घी मिलाकर

---

१ मानस, बाल० २९८, 'हाय गय स्यंदन साजहु जाई।'
२९२, 'तुरग नचावहिं कुंअर बर, अकनि मृदंग निसान।
१०७, 'सहस राग बाजहिं सहनाई।'
जानकी मंगल, १८०, 'नट भाट मागध सूत जातक जस प्रतापहि' बरनहीं।'

२—प० सं० टी०, २७६। ८, ६, 'पांवरि तजहु देहु पग पैरीं, आवा बांक तोखार। बांधहु मौर छत्र सिर तानहु, बेगि होहु असवार।'
२७७। ७, 'औराता रथ सोने क साजा भए बरात गोहन सब राजा। बाजत गावत भा असवारू। सब सिंघल जे करहिं जोहारू।'

३—हर्ष० सां० अ०, पृ० ८३, वर गृहवर्मा के सिर पर मल्लिका पुष्पों की माला तथा उसके बीच में फूलों का सेहरा वर्णित है ('उत्फुल्ल मल्लिका मुंडमाला मध्याध्यासित कुसुमशेखरेण शिरसा')।

४—हर्ष० सा० अ०, पृ० ८३, राज्यश्री के विवाह की वेदी चूने से पुती थी और नये उगे हुए जवारे युक्त मंगल कलश रक्खे थे। विवाहाग्नि के निकट हरी कुशा, आरोहण के लिये सिल, कृष्ण मृगचर्म, घृत, स्रुवा और समिधाएँ रक्खी हुई थी। नये सूप में लाजाहोम के लिये खीलें भी रक्खी गई थी। होम के बाद राज्यश्री और गृहवर्मा ने अग्नि के चारों ओर भांवरें घूमी और लाजांजलि दी। विवाह कार्य की समाप्ति पर वर-वधू ने सास-ससुर को प्रणाम कर वासगृह में प्रवेश किया।

मधुपर्क बनता है] और पूजन विधान[1] में इसका स्थान है] (१६८६), **भांवरि**[2] (१६८६, १६६०) [सं० भ्रमण=अग्नि परिक्रमा], **ग्रन्थि बन्धन** १६८६, १६६०) **पानिग्रहन**[3] (१६६०) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है—'अधर मधु **मधुपरक**[4] करि कै, करत आनन हास। **फिरत भांवरि** करत भूपन, अग्नि मनो उजास ॥...जिय परी **ग्रन्थि** कौन छोरै, निकट ननद न सास।' (१६८६) अथवा 'तब **देत भांवरि** कुंज मंडप, प्रीति ग्रन्थि हियैं परी।[5] (१७६०) तथा 'ता परि **पानिग्रहन** बिधि कीन्हीं। तब मंडप भ्रमि भाँवरि दीन्ही।' (१६६०)। सात भाँवरों को 'फेरा' भी कहा जाता है।[6] वर बधू द्वारा की गई अग्नि-परिक्रमा को ही 'भाँवरे' कहते हैं।

शास्त्रविधि के साथ **कुल ब्योहार** (४८०४) अथवा **लोक रीति** (१६६२) पूरो करने की भी सूचना है—'जुआ जुवति खिलाइ कुल ब्योहार सकल कराइयौ।' (४८०४), अथवा 'ब्रज की सब रीति भई, बरसानैं ब्याह।' (१६६२)।' विवाह-संस्कार के बाद स्त्रियों के मनोविनोद तथा हास-परिहास पूर्ण कुछ कृत्य हैं जिन्हें लोक-गृहीत कह सकते हैं। उपर्युक्त पद्यांश में उल्लिखित **जुवा**[7] का चित्रण नवम-स्कन्ध के राम-सीता-विवाह में भी है—पूंगीफल-जुत जल निरमल धरि, आनी भरि कुंडी जो कनक की। खेलत जूआ सकल जुवतिनि में, हारे रघुपति, जिती जनक की।' (४६६)।

दूसरे प्रमुख लोकाचार **कंकन-चार**[8] (१६६१) का तीनों विवाहों में सुन्दर वर्णन

१—पूजन के सोलह अंगों में मधुपर्क भी है—'आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचनीयकम्। मधुपर्कं चमस्नानं वसनाभरणानि च ॥ गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यं वन्दनं तथा ॥

२—तुलसी, जानकी-मंगल, १६२' 'होन लागी भांवरी'

३—मानस, बाल०, ३२४, 'भयो पानिगहन'

४—तुलसी, पार्वती-मंगल, १३५, 'अरघ देइ मनि आसन बर बैठायउ।
पूजि कीन्ह मधुपर्क अमी अंचवायउ।'

५—प० सं० टी०, २८१' तैसि गाँठि पिय जोरब जरम न होइहि छूटि ', २५८-६, गाँठि दुलह दुलहिनि कै जोरी। दुओ जगत जो जाइ न छोरी।' वेद भनहिं पंडित तेहि ठाऊँ। कन्या तुला रासि लै नाऊँ।'
२८६, दुहूं नाउं होइ गोत उचारा। चांद के हाथ दीन्ह जैमाला।'

६—२८६-७ 'चांद सुरुज दुई भाँवरि लेहीं...सातौ फेर गाँठि सो एकै।

७—तुलसी, जानकी मंगल, १६८, 'जुआ खेलावत कौतिक कीन्ह सयानिन्ह।'

८—हर्ष० सां० अ०, पृ० ७२, ब्याह के कंगनों के लिये सूत की लच्छियों के रंगने का बाण ने उल्लेख किया है ('वैवाहिककङ्कणोर्णा सूत्रन्नहांश्च रंजयन्तीभिः')। पृ० ८३, विवाह के पहले गृहवर्मा को स्त्रियों द्वारा कौतुक गृह में ले जाने का वर्णन भी मिलता है। यहां लोकाचार तथा हंसोड़ स्त्रियों के परिहास की चर्चा भी है। बाण ने कोहबर का विवाह के पहले वर्णन किया है। पंजाब में यही प्रथा है तथा कुरुक्षेत्र में भी प्रचलित होगी। दिल्ली मेरठ में उल्टा होता है। यहां स्त्रियों के देवताओं की थापना वाले पूजाचार, विवाह कार्य के बाद होते हैं।

है—'कर कंपै, कंकन नहिं छूटै। राम-सिया-कर-परस मगन भए, कौतुक निरखि सखी सब लूटैं...तब कर-डोरि छुटै रघुपति जू, जब कौसिल्या माता आवै।' (४६६), अथवा' थम ब्याह बिधि होइ रह्यो हो कंकन-चार बिचार।[१] रचि-रचि पचि-पचि गूंथि बनायौ, नवल निपुन ब्रजनारि।। बढ़े हुहो तो छोरि लेहु जो, सकल घोष के राइ। कै करि जोर करौ बिनती, कै छुवो राधिका पाइ।।'''छोरहु बेगि कि आनहु अपनी, जसुमति माइ बुलाइ। सहज सिथिल पल्लव तैं हरिजू, लीन्हौ छोरि संवारि।'''दुलहिनि छोरि दुलह को कंकन, बोलि बबा वृषभान। कमल-कमल करि बरनत हैं हो, पानि प्रिया के लाल। अब कबि कुल सांचे से लागत, रोम कंटीले नाल।' (१६६१), तथा 'कंकन छोर्‌यौ द्वारिका बाज्यौ अनंद निसान।' (४८०६)। तेल चढ़ाते समय वर-वधू के हाथ में कंकण बाँधने की प्रथा आज भी है। एक छोटी सी पोटली में हल्दी सुपारी और लोहे का छल्ला कलावे से बांध देते हैं। दोनों ओर की स्त्रियाँ (प्रायः भाभी) इसमें खूब गाँठें बाँध देती हैं जिससे सरलता से खुल न सके। ऊपर के पद्यांश में इसका संकेत है। कलावा (लाल पीले व सफेद रंग) तिरंगा सूत होती है जिसे शुभ कार्यों में काम में लाते है। आजकल इसी प्रकार और भी कुछ खेल 'कोहबर' (एक कोठरी जिस में कुछ देवी देवता स्थापित किये जाते हैं) में सम्मिलित हैं जैसे वर-बधू का एक दीपक[२] की दो बत्तियाँ मिलाकर एक करना, मटकी से पुए मुट्ठी से भरकर निकालना आदि। यह सभी कृत्य दो व्यक्तियों के एक-प्राण होने के प्रतीक रूप हैं। हर घर में किसी न किसी रूप में यह लोकाचार सुरक्षित है।

२४२—विवाह के समय दुलहन के घूंघट काढ़ने की प्रथा का इन प्रसंगों में उल्लेख नहीं है। हिंडोला शीर्षक तथा दधि-दान आदि में जो उल्लेख आये हैं उनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। घूंघट की प्रथा आजकल धीरे-धीरे कम होती जा रही है। विवाह के समय अधिकांश परिवारों में आज भी बधू का मुख घूंघट से आवृत रहता है और एक रस्म 'मुंह दिखाई' की भी है। इसमें सब गुरुजन नव वधू का मुख देखकर कुछ भेंट देते हैं।

विवाहोपरान्त कृत्यों में वन्दी एवं याचकों तथा ब्राह्मणों को दान देना, उनका आशीर्वाद देना तथा 'न्योछावरी'[३] भी उल्लेखनीय हैं—(४८०४, ४६०६) 'देवकी पियो वारि पानी, दे असीस निहारती।' अथवा 'मुक्ति-भुक्ति न्यौछावरी पाई सूर सुजान।'

भारतीय हिन्दू परिवारों मे प्रचलित विवाह सम्बन्धी रूढ़ियों में दाइज[४] (४७१'

१—मानस, बाल० ३६०, 'सुदिन सोधि कल कंकन छोरे।'

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० ६०, राज्यश्री के विवाह-वर्णन में बाण ने कोठरी में इन्द्राणी के रूप में कुछ देवी-देवता स्थापित करने का उल्लेख किया है। ('प्रतिष्ठाप्यमानेन्द्राणीदैवतम्')। बिवाह-पद्धतियों के अनुसार इन्द्राणी का पूजन भी होता है ('विवाहे शचीपूजनं') बाण ने मुखलेपन एवं उबटन तैयार करने का उल्लेख भी किया है।

३—तुलसी, जानकीमंगल, २०६, 'करहिं निछावरि छितु-छितु मंगल मुद भरी।' प० सं० टी०, २८६-६, 'नखत मोंति नेवछावरि वेहीं।'

४—हर्ष० सां० अ०, पृ० ७१, राज्यश्री को दहेज में दिये जाने वाले हाथी एवं घोड़ों का उल्लेख बाण ने किया है, (निरूप्यमाणयौतकयोग्यमातंगतुरंग-

४८०१) का दायज[1] [सं० दातव्यं-दायज्ज-दाइज्ज] सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। सूर ने भी इस प्रसंग में कई बार उल्लेख किया है—'जनकराइ बहु दाइज दे करि, बार-बार पद बंदत।' (४७१), अथवा 'आइ भीषम दियो दाइज ता ठौर बहु' (४८०१), तथा 'सतभामा समेत ले आयौ, मनि को हठि सिर नाइ। और बहुत दायज दीन्हें उन, करि विवाह ब्यौहार।'(४८०८), तथा 'ताके पिता ब्याह तब कीन्हों, दाइज बहु प्रकार तिन दीन्हों।।' (४८१०)। इस प्रकार कवि ने अनेक प्रकार की सामग्री दहेज में देने का उल्लेख मात्र किया है। उसके वर्णन विस्तार नहीं हैं।

वर्तमान सामाजिक कुरीतियों में दहेज प्रथा का विशिष्ट स्थान है। प्राचीन समय के विपरीत आज वधू के पिता को बाध्य होकर सामर्थ्य से अधिक दहेज देना पड़ता है। कुछ जातियों तथा प्रान्तों में यह कुप्रथा अधिक प्रचलित है।

आज भी विवाह का बीजारोपण सगाई अथवा मंगनी से ही होता है। इसको 'गोद भरना' भी कहा जाता है। यह विवाह पक्का होने का छोटा सा उत्सव है।[2] विवाह के पहले दूसरा उत्सव 'लगुन' के नाम से प्रसिद्ध है। लड़की के हाथ पर रक्खी लग्नपत्रिका तथा भेंटकी सामग्री लड़के के घर पर भेजी जाती है और उसके हाथ पर भी रक्खी जाती है। यह निश्चित तिथि पर कन्या के घर आने का निमन्त्रण है। अन्य वर्तमान लोक-गृहीत कृत्यों में तेल चढ़ना, निकरौसी, द्वाराचार, आरती, मामा का भात, चढ़ावा आना, भात बड़हार की दावत, न्यौतनो, विदा, वर बधू का वर के घर स्वागत, तथा भोज और मुख-दिखरौनी आदि की गणना की जा सकती है।

विवाह का एक पर्यायवाची शब्द 'शादी' [फा० = खुशी] आजकल खूब बोला जाता है। 'पाणिग्रहण' के पीछे पिता द्वारा कन्यादान करने की भावना है अतएव 'कन्यादान' शब्द भी प्रचलित है। यही विचार मनु ने भी रक्खा है। हिन्दू परिवारों में कन्यादान का बहुत महत्त्व है और इससे पुण्य-प्राप्ति का विश्वास है। कन्यादान के साथ गोदान तथा कुछ धन दान करने का विधान भी है। हिन्दू विवाहों का रूप अन्य देशों से बहुत भिन्न रहा है। यह एक संस्कार माना गया है न कि एक समझौता। यह भाग्य-निर्धारित एवं जन्मजन्मान्तर का साथ है। व्यक्ति के प्रमुख सामाजिक कर्तव्य गृहस्थाश्रम में ही पूरे होते हैं अतः विवाह संस्कार अत्यधिक महत्वपूर्ण है। वर्तमान विवाह-विच्छेद नियम अब धीरे-धीरे इस आदर्श को अवश्य बदल देगा।

तरंगितांगनं, पृ० ८६)। इस प्रकार ससुराल में दस दिन रह कर गृहवर्मा वधू व दहेज के साथ चले गये ('यौतक निवेदितानि शम्बलानि आदाय')।

१—मानस, बाल० ३२६, 'कहि न जाइ कछु दाइज भूरी।......कंबल बसन विचित्र पटोरे।...गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत कामदुहासी।' ३३३, 'भरि-भरि बसह अपार कहारा।......दाइज अमित न सकिय कहि, दीन्ह बिदेह बहोरि।'

प० सं० टी०, २८६-८,६ 'मैं भाँवरि नेवछावरि राजचार सब कीन्ह। दाइज कहौं कहां लगि, लिखि न जाइ तत दीन्ह।' २८७ : 'रतनसेनि जौं दाइज पावा'

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० ६६, बाण ने राज्यश्री के विवाह पक्का होने की जो विधि दी है उससे बाणकालीन वग्दत्ता बनाने की प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। प्रभाकर वर्द्धन ने शुभ मुहूर्त में गृहवर्मा के दूत के हाथ पर राजकुल के समक्ष कन्या-जल गिराया।

आश्रम धर्म

२४३—मनुष्य जीवन के सौ वर्षों को चार बराबर भागों में बाँटना अथवा आश्रम धर्म भी हिन्दू समाज की अपनी विशेषता मानी जा सकती है।[१] सूरसागर में युधिष्ठिर-गुरुकुल-हत्या (२६१) तथा कृष्ण का यज्ञोपवीत संस्कार (४०२६) के बाद गुरु के पास विद्याध्ययन के लिये जाना वर्णित है। वहाँ से समावर्तन के पहले गुरु को दछिना (४०२६) [सं० दक्षिणा] देने का परिचय भी मिलता है—'गुरु सो कह्यौ जोरि कर दोऊ दछिना कहौ सो देउं मंगाई।' सुदामा-चरित में भी गुरुगृह तथा चटसार (४८४८) का उल्लेख आया है।

विवाह के साथ ही पच्चीस वर्ष का गृहस्थाश्रम[२] माना गया है। सूरसागर में विवाह का तो अनेक बार वर्णन है ही। बानप्रस्थ (४७१२) तथा संन्यास (४२०१) आश्रमों की भी एक दो स्फुट प्रसंगों में चर्चा मात्र है—'आपुहिं पुरुष आपुहीं नारी। आपुहिं बानप्रस्थ ब्रह्मचारी।' (४७१२)। सन्यास का उल्लेख योग के अन्तर्गत सांसारिक सुखो के त्याग के साधारण अर्थ में हुआ है—'स्याम राम कौ संगी यह अलि, काजत कह सन्यास।' (४२०१)।

गृहस्थ जीवन का त्याग पचास वर्ष आयु समाप्त होने पर बताया गया है। वानप्रस्थ धर्म ग्रहण करके पत्नी भी पति के साथ जा सकती थी। इस जीवन में भी गृहस्थ के समान ही पाच यज्ञों का आदेश था। फिर पचहत्तर वर्ष की आयु से संसार से पूर्ण विरक्ति या 'न्यास' प्रारंभ होता था। इस आश्रम में सन्यासी भिक्षु का कोई घर नहीं होता था। उसकी दैनिक आवश्यकताएँ भी अत्यन्त सीमित हो जाती थी। चिन्तन एवं मनन में एकचित्त संन्यासी सब भय त्यागकर मृत्यु का स्वागत करता था।

अन्त्येष्टि कर्म

२४४. नवम स्कन्ध में महाराज दशरथ के अन्त्येष्टि कर्म[३] शीर्षक पद ४६४ है। इस पद से तत्कालीन प्रचलित विधि का अनुमान होता है। इसमें कुछ शब्द, जिनका संबंध अन्त्येष्टि-कर्म से है, उल्लेखनीय हैं जैसे—चिता [सं०], बिमान, तिल-अंजलि, जलकुंभ, दीपदान, बिप्रभोजन, दान, कर्म आदि—

> 'चंदन अगर सुगंध और घृत, बिधि करि चिता बनायौ।
> चले बिमान संग गुरु-पुरजन, तापर नृप पौढ़ायौ।

१—इन्डिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ८१, पाणिनि ने 'ब्रह्मचारिन्' 'गृहपति' 'परिव्राजक' तथा 'भिक्षु' शब्दों का उल्लेख किया है।

२—गार्हस्थ धर्म नित्य किये जाने वाले पांच यज्ञ (ब्रह्म-यज्ञ, देव-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, मानुष-यज्ञ तथा भूत-यज्ञ) तथा विशेष अवसरों पर किये जाने वाले तीन यज्ञों (पाक, हविर् तथा सोम) का आदेश था। इनमें एक प्रकार से उसके सभी सामाजिक कर्तव्य आ जाते थे।

३—हर्ष० सां० अ०, पृ० १०३, प्रभाकरवर्धन के अन्त्येष्टि संस्कार से बाणकालीन प्रथा पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। भरहुत व साँची की कला में बुद्ध की धातु-गर्भ मंजूषाएं इसी प्रकार हाथियों पर जाती हुई चित्रित की गई हैं। हर्ष ने सरस्वती में स्नान करने के बाद जलांजलि दी। बाण ने दश अशौच दिवसों का वर्णन भी किया है। ('गतेषु अशौच दिवसेषु')।

भस्म अंत तिल-अंजलि दीन्हीं, देव बिमान चढ़ायौ।
दिन दस लौं जल कुंभ साजि सुचि, दीप-दान करायौ।
जानि एकादस बिप्र बुलाए, भोजन बहुत करायौ।
कीन्हौ दान बहुत नाना बिधि, इहिं बिधि कर्म पुजायौ।' (४६४)।

'क्रिया'[१] शब्द साधारण अर्थ में प्रयुक्त किये जाने पर भी इस कर्म विशेष का बोधक है। आज भी 'क्रिया-कर्म' कहा जाता है। सम्पन्न घरों में राजा दशरथ की अन्त्येष्टि क्रिया के अनुरूप ही इसी प्रकार दान, भोजन आदि की प्रथा है। मृत्यु के बाद दस दिन आज भी अशुद्ध माने जाते हैं। तुलसी ने 'विमान', 'चंदन', चिता, 'दाहक्रिया', 'तिलांजलि' आदि शब्दों का उल्लेख दशरथ के देहावसान के बाद किया है।[२] शव को तेल की नाव में रखने का जिक्र भी है।[३] जटायु तथा शबरी का अन्तिम कर्म राम द्वारा होने का उल्लेख मात्र है 'अपनें कर करि ताहि जरायौ।' (५१०), 'पुनि तन तजि हरि-लोक सिधारी।......। निज कर करि तिल-अंजलि दई।' (५११) कुछ विनय पदों के अन्तर्गत अन्त्येष्टि क्रिया में मृत शरीर जलाने तथा कपाल-क्रिया का उल्लेख है—'लै देही घर-बाहर जारी, सिर ठोंकी लकरी।' (७१), 'जिन पुत्रनिहिं बहुत प्रतिपाल्यौ, देबी देव मनैहैं। तेइ लै खोपरी बाँस दे, सीस फोरि बिखरैहैं।' (८६)।

मृत-शरीर को जला देने की प्रथा हिन्दुओं में ही है अन्यथा मुसलमानों व ईसाई धर्मों में मृत-शरीर को जमीन में गाड़ने की प्रथा है। छोटे बच्चों के मृत-शरीर को अकसर हिन्दू भी जलाते नहीं हैं और जलप्रवाह कर देते हैं। भस्मीभूत शरीर को भी जल में प्रवाहित किया जाता है, विशेष रूप से गंगा में। विश्वास के अनुसार गंगा में प्रवाहित करने से आत्मा को मुक्ति मिल जाती है।

२४५. सूरसागर में उल्लिखित शब्दावली के अतिरिक्त तुलसी ने कुछ और संस्कारों और लोक-कृत्यों से संबंधित शब्दों का उल्लेख भी किया है जैसे 'जातकरम', 'बारहौं', 'नामकरन', 'चूड़ाकरन' तथा 'नहछू'।[४] इनके नामों के मात्र उल्लेखों के अतिरिक्त उन्होंने कुछ विस्तार भी अधिक दिये हैं। माता-पिता का नामकरण के समय शिशु को गोद में लेकर चौक के पास बैठने की वर्तमान प्रथा का उल्लेख भी है।[५] लोक-कृत्यों में तुलसी ने 'नहछू' को अधिक महत्त्व दिया है। यह सम्भवतः यज्ञोपवीत अथवा विवाह के प्रारंभिक लोक कृत्यों में से है। यह नाखून में नहरनी छुआने की प्रथा है। तुलसी ने 'रामललानहछू' नामक स्वतंत्र पुस्तक की रचना इस प्रथा के वर्णन-विस्तार देने के लिये ही की है। विवाह-संस्कार को भी प्रधानता दी गई है। मानस, कवितावली और गीतावली के विवाह-प्रसंगों के अतिरिक्त जानकीमंगल तथा पार्वतीमंगल में

१—मानस, अरण्य०, ३२, 'तेहि की क्रिया जथोचित, निज कर कीन्हीं राम।'
२—अयोध्या, १७०, 'नृप तनु बेद बिदित अन्हवावा।···भे परिपूरन काम।'
३—मानस, अयोध्या० १५७, 'तेल नाव भरि नृप तनु राखा।'
४—मानस, १,१९३, 'जातकरम सब कीन्ह'
गीता०, १,४ 'छठी बारहौं लोक बेद बिधि करि।'
गीता०, १,६ 'नामकरन रघुबरनि के···।'
मानस, १,२०३, 'चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई।'
रामललानहछू, १३, 'अति बड़भाग नउनिआ छुये नख हाथ सो हो।'
५—तुलसी, गीता० १,६ 'चारु चौक बैठत भई भूप भामिनी सोहैं।'

जानकी और पार्वती के विवाह का कवि ने मनोयोगपूर्ण चित्रण किया है। सूरसागर में उल्लिखित शब्दावली के अतिरिक्त तुलसी के इन ग्रंथों में प्रयुक्त अन्य कुछ नये नामों पर भी ध्यान जाता है जैसे 'बरेखी' (=अवधी 'बरदेखी'), 'तेल' चढ़ाना, 'लगन' देना, 'अगवानी', 'जनवासा', 'सुसामथ', 'परिछन', 'नेगचार', 'कुसोदक' लेना, 'कन्यादान', 'साखोच्चार', 'सिंदूर-वंदन', 'होमलावा', 'सिलपोहनी', 'कोहबर', 'लहकौरि' आदि। 'मुख दिखरौनी' तथा 'घूंघट' का उल्लेख भी है। कोहबर के 'जुआ' तथा 'कंकनाचार' के अतिरिक्त 'सींक के धनुष' से वर की शक्ति की परिहासयुक्त परीक्षा का उल्लेख भी है। शास्त्रोचित कार्यों से अधिक इन लोकाचारों का, उस समय की प्रथाओं पर प्रकाश डालने के कारण, अधिक महत्व है।

जायसी ने पद्मावती के 'ओधान', जन्म, छठी, तथा नामकरण आदि का वर्णन किया है। छठी के दूसरे दिन पंडित का आना, कन्या का भविष्य बतलाना तथा नाम रखना आदि वर्णित हैं।[१] विवाह कार्य से संबंधित शब्दावली में 'बर', 'बरोक' (बरच्छा), 'तिलक', 'जेमारा' 'मंगलचार', 'लगन', 'बिआहू', नेवत', सुहाग' गाना, लाल वस्त्र मंडप के निकट बिछाना, 'बरात', बराती, 'जनवासे' [सं० जन्यवासक], 'गवना' [सं० गमन—गवन—गौना] तथा 'जेवनार' आदि उल्लेखनीय हैं। गौने के बाद दुबारा पिता के घर न लौटने की प्रथा का अनुमान होता है। यात्रा की सुविधाएँ न होने के कारण सरलता से मायके जाना सम्भव न होगा और फिर यदि दूरी अधिक हो तब तो दुष्कर ही होगा।[२] वर वधू का एक दूसरे को जयमाला पहनाना, अंजलि में जल लेकर कन्यादान करना, ग्रन्थि-बन्धन आदि कृत्य भी वर्णित हैं।[३]

४. त्यौहार

२४६. सूरसागर में तत्कालीन कुछ प्रमुख त्यौहारों और उनके मनाने की पद्धति का परिचय भी मिलता है। गोवर्धन-पूजा शीर्षक महत्त्वपूर्ण प्रसंग के पहले ही दीपमालिका[४] (१४२७,२४३०,१५१३) का वर्णन है। कृष्ण इस दिन सुरपति इन्द्र की पूजा के स्थान पर गोवर्धन-पूजा करने का आग्रह करते हैं। दीपमालिका वर्णन में मोती और प्रवाल से चौक पूरने, कंचन की थालिका में दीपक जलाना, पूजा की बलि-सामग्री तैयार करना, घरों के द्वारों पर 'थापें लगाना' (१४२७,१४३०,१४३६) तथा 'अन्नकूट-विधि' के लिये पकवान और 'नेवज' एकत्रित करना (१४३४) आदि वर्णित हैं—'आजु दीपति दिव्य दीपमालिका।...गज मोतिन के चौक पुराए बिच-बिच लाल प्रबालिका। बर शृंगार बिरचि राधा जू चली सकल ब्रज बालिका। झलझल दीप समीप सौंज भरि लेकर कंचन थालिका।' (१४२७) दिवाली के दूसरे दिन अन्नकूट का उत्सव मनाते हैं। यह ब्रजभूमि में विशेष लोकप्रिय पर्व है। कृष्ण-मन्दिरों अथवा विष्णु-मन्दिर में इसका विशेष आयोजन करते हैं। गोवर्धन-पूजा का अन्नकूट से ही संबंध है। विविध नैवेद्य तथा भोज्य पदार्थों का पहाड़ के समान ढेर सा लगाते हैं और गोबर के बने गोवर्धन की तथा गौ की पूजा होती है। इसके साथ ही त्यौहार के उल्लासमय वातावरण का दृश्य भी उपस्थित किया गया है—

'गावत हंसत गवाय हंसावत पटकि-पटकि कर तालिका।', (१४२७)।

१—प० सं० टी०, ५८-५२।

२—प० सं० टी०, २७४-२८३।

३—प० सं० टी०, २८६।

४—तुलसी, गीता०, ७,२० 'ललित दीपमालिका बिलोकहिं हित करि अवध धनी।'

हठरी (१४२८) नामक दीवाली के विशेष मिट्टी के खिलौने का उल्लेख आगे किया गया है। दीवाली[1] के दीपक अमावस्या की अंधेरी रात में अत्यधिक चित्ताकर्षक लगते हैं। आज इसी त्यौहार में दिये जलाना[2], लक्ष्मी-पूजन, पकवान बनाना, खील, शक्कर के खिलौने, मिट्टी के खिलौने, आतिशबाजी आदि का उल्लेख किया जा सकता है। बरसात की समाप्ति पर दीवाली के पहले लोग अपने-अपने घर साफ करते हैं और पुताई कराई जाती है। इस दिन जुआ खेलने की प्रथा भी चल गई है। विश्वास के अनुसार दीवाली के त्यौहार का मूल राम का अयोध्या पुनरागमन आनंदोत्सव है।

दीवाली से पहले सावन के महीने में 'हिंडोले' का कवि ने विशद चित्रण किया है। इसके सम्बन्ध में मनोविनोद के साधनों के सिलसिले में बताया गया है। वर्षा ऋतु में हल्की-हल्की बूंदों, ठंडी हवा एवं हरियाली का आनंद झूले में झूलकर लड़कियाँ आज भी लेती हैं। बसंत-लीला शीर्षक पदों में प्रकृति के प्रफुल्लित रूप का विशेष रूप से चित्रण है। प्राकृतिक शोभा मनुष्य के चित्त में भी अनुपम उत्साह एवं उमंग भरती है। 'नई प्रीति, नई लता, पुहुप नए, नयन नए रस पागे। नए नेह, नव नागरि हरषित, सूर सुरंग अनुरागे।' (३४६६)।

२४७. फागुन मास की पूर्णिमा के दिन मनाये जाने वाले बसन्त ऋतु के उत्सव फागु (३४६६), फाग (३४७०,३४७८) अथवा फगुआ (३५११) शीर्षक अनेक पद हैं (३४६७-३५३९)। बसन्तपंचमी से आरंभ करके वसन्तोत्सव का अन्त फाल्गुन की पूर्णिमा को होने के कारण इसको वसन्तोत्सव में सम्मिलित कर लेना अस्वाभाविक नहीं है। होरी[3] (३४८४, ३४८६-३४९०,३५०९) शब्द भी अनेक पदों में बार-बार उल्लिखित हैं। यमुना तट पर, गलियों तथा अटारियों में फाग खेलने का दृश्य उपस्थित किया गया है। इसमें रत्नजटित या कंचन पिचकारी[4] (३४७२,३४८४,३५१२) तथा कलश से सुगंधित द्रव्य तथा रंग डालना, झूम-झूम कर झूमक गाना, परस्पर गालियाँ देना, अनेक प्रकार के वाद्य यन्त्र बजाना, एक दूसरे को पकड़ने के लिये दौड़ना, छीना झपटी, लज्जा छोड़कर 'होली हो' आदि कहकर चिल्लाना, गली-अटारी का रंग अबीर गुलाल से भर जाना आदि चित्रों में मदमत्त ब्रजवासियों तथा प्रेम एवं यौवन की उमंग से युक्त राधा-कृष्ण और गोपियों का अत्यधिक विशद चित्रण है। इसमें शिष्ट एवं अशिष्ट दोनों कृत्यों का विवरण मिलता है। ब्रज में मनाई जाने वाली होली का प्रभाव इन पदों में स्पष्ट रूप से पड़ा है। निम्नलिखित पद्यांशों से अनुमान हो सकता है कि कवि ने कितने मनोयोग से फाग के उत्सव का वर्णन किया है—

'कुमकुम चंदन अरगज घोरे। हाथिनि लै पिचकारी दौरे।
गोपी गोप भए झकझोरे। अंचल-गांठि परस्पर जोरे।

१—ब्रजलोक साहित्य, पृ० २४६, ब्रज की स्त्रियाँ दूध तथा नारियल के खोपड़े के कोयले को मिलाकर दीवार पर 'दीवाली' रखती हैं।

२—तुलसी, कविता० ७,१७९ '...चारि दिवारी को दीयो।'

३—ब्रजलोक साहित्य, पृ० २४६, स्त्रियाँ आटे की टिकुली सी रोज बनाती हैं। इसके अतिरिक्त गोबर की ढाल, तलवार, गूलरी बनायी जाती है। इनकी माला 'धरगुली' पर रखते हैं और होली की आग में जलाते हैं। होली के लोकगीत कृष्ण-राधा तथा शिव से संबंध रखते हैं।

४—तुलसी, गीता० २,२२ 'झोलिन्ह अबीर पिचकारि हाथ।'

उड़त गुलाल अरुन भए अंबर । कुमकुम कीच मची धरनी पर ॥
चंग मृदंग बांसुरी बाजै ।[1] पकरत एक एक भरि भाजै ॥
इक लै आवत हरद कपोलनि । इक लै पोंछति ललित पटोलनि ।
इक अवलंबति, इक अवलोकति । चुंबन दान देति इक दंपति ॥
गुरुजन खरे सबै मिलि देखै । तिनकौ तरुनी तृन सम लेखैं ।।'[2] (३५१६)

अथवा 'गारी होरी देत दिवावत ।[3] ब्रज में फिरत गोप-जन गावत ।
दूध दही के माते डोलैं । काहे न हो हो हो हो बोलैं ॥
बगलनि में दाबे पिचकारी । बांधत फेरैं पाग संवारी ।
छज्जनि तैं छूटति पिचकारी । रंगि गई बाखरि महल अटारी ।' (३५२०)

या 'खेलत फागु कहत हो हौरी ।
उत नागरी-समाज विराजत, इत मोहन हलधर की जोरी ।...
इहिं बिधि उमंग चल्यौ रंग जहँ तहँ, मनु अनुराग सरोबर फोरी ।' (३५२६)

या खेलत हरि ग्वाल-संग फागु-रंग मारी ।
इक मारत इक तारत, इक भाजत, इक गाजत, इक धावत, इक पावत, इक आवत मारी ।' (३५०६)

या 'उत जेरी धरे ग्वार, बांसनि रत परी मार । (३५०७)
अथवा 'आंजति आँख मनावहि फगुआ'। (३५११)
तथा 'यह ढोटा धौं आहि कौन कौ, मारत मनसिज बान' । (३५१३)
तथा 'मानत कौन फाग मैं प्रभुता, मन भायौ सो कीन्यौ' ।(३५३४)

आँखों में काजल लगाना, युवतियों का छरी बेंत लेकर[4] निकलना तथा गांठ जोड़ने की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है । बेतों की मार का प्राय: सभी पदों में निर्देश है—[5]
'फूलनि के कंदुक नौलासी कनक लकुटिया हाथ ।' (३५२५) ।

२४८. होली पर नये वस्त्राभूषण पहनने का संकेत है—'नये बसन आभूषन पहिरत, अरुन सेत पाटंबर कोरी' (३५२६) तथा फूलों के शृंगार का भी चित्रण है (३५३५) । होली पर गाये जाने वाले गीतों[6] धमारि (३५१३), झूमक (३५२३) तथा चांचरि (३४७५) की व्याख्या संगीत के अन्तर्गत की गई है ।

फगुवा, फगुआ (३५३५) में मेवा-मिष्ठान तथा वस्त्र देने का जिक्र है : (फूले) फगुआ दियौ रस राख्यौ, पट भूषन नहिं (रह्यौ) काख्यौ,...।' (३५३५), अथवा 'जसुमति घरि वृषभानु कैं, फगुआ हमरौ देहु । जसुमति हँसि सब सखिनि त्यों, राधे लिन्ही ओल । मेवा मिश्री बहु

१—गीता० ७,२२ 'बाजहिं मृदंग डफ ताल बेनु । छिटकहिं सुगंध भरे मलय रेनु ।'
२—गीता० ७,२२, 'करैं कूट निपट गई लाज ।'
३—गीता० ७,२२ 'नर नारि परसपर गारि देत ।'
४—कृ० जी० प्र० १५, अध्या० १ बरसाने की स्त्रियाँ फागुन सुदी नौमी अथवा दसमी को नंद गाँव के पुरषों को डंडे मारती हैं । पुरष इस चोट से अपने को लोहे की ढालों से बचाते हैं । इस प्रथा को 'हुरंगा' कहते हैं ।
५—तुलसी० गीता०, ७,२०, 'लिये छरी बेंत सोधैं बिभाग । चांचरि झूमक कहैं सरस राग ।' तथा 'लोचनि आंजहि फगुआ मनाइ । छांड़हि नचाइ हा हा कराइ ।'

रतन, दई सबनि भरि ओल।' (३५३३) तथा 'फगुआ बहुत मंगाइ दियौ मिलि झूमक हो।' (३५२१) साथ ही ब्राह्मणों और बंदीजनों को भी दान दिया गया—'दुइज समाज समेत करत द्विज तिलक, दूब दधि रोचन रोरी। सूर स्याम बिप्रनि बंदीजन देत रतन कंचन की बोरी।' (३५२६)। फाग में बारुनी का स्थान भी था—'कोटि कलस भरि बारुनी, दई बहुत मिठाई पान' (३५२७)।

होली के बाद कृष्ण-राधा एवं गोपियों का झूले में झूलना तथा यमुना में जल-बिहार[१] का वर्णन हुआ है—'गोकुल नाथ बिराजत डोल। संग लिए वृषभानु-नंदिनी, पहिरे नील निचोल।' (३५३८)

अथवा' जदुपति जल-क्रीड़त जुबति संग।
सागर रुकुचित तजियत तरङ्ग।
षोडस सहस्र सत अष्ट नारि।
तिन मैं अति सोभित श्री मुरारि॥' (३५३०)
तथा 'करत जदुनाथ जलधि-जल केलि।' (३५२६)।

संस्कार तथा त्योहारों में उल्लिखित बाजों तथा गीतों के सम्बन्ध में आगे बताया गया है। होली एक महत्वपूर्ण त्योहार होने की चर्चा भी है—'खाइ खेलि हंसि लीजिये, फाग बड़ौ त्यौहार'[२] (३५२२) जीवन के अस्थायी सुख होली के हर्षोल्लास के समान ही बताए गये हैं—'सूरदास भगवंत-भजन बिनु, चले खेलि फागुन की होरी।' (३०३) अथवा 'बिना चारि होरी के अवसर, बहुरि आपनौ लेहु' (३४८२)। 'होली खेलना' आज भी कहा जाता है। 'फगुवा' शब्द होली पर भेजी जाने वाली भेंट का परिचायक है। प्रायः देवर-भाभी तथा नंदोई-सलहज के सम्बन्धों में फगुवा देने की प्रथा अधिक है। सावन में तीज (३४६०) खेलने का कवि ने हिंडोला-वर्णन में उल्लेख किया है—'रङ्गमहल में जहं नन्दरानी, खेले तीज सुहाई।' (३४६०)।

२४९. होली सम्बन्धी लोक-गीतों में ब्रज की होली और कृष्ण-राधा तथा गोप-गोपियों का ही प्रायः वर्णन होता है। ब्रज की होली भी प्रसिद्ध है। होली के दिन, उत्तर प्रदेश में, विशेष रूप से सूरसागर में वर्णित दृश्य उपस्थित होता है। कई दिन पहले से ही बाजार व सड़कों पर रंग पड़ना शुरू हो जाता है। उच्चवर्ग के नागरिक परिवारों में अवश्य इसका संयमित रूप प्रचलित है। बांस से मारना, कीचड़ फेंकना, गाली, निर्बन्ध छीना झपटी आदि अशिष्ट आचरण वर्जित हैं। पूर्णिमा की रात को शुभ मुहूर्त में होली जलाने की प्रथा है। इसका प्रारम्भ बसन्त पंचमी के दिन होता है और निर्दिष्ट स्थान पर एक डाल गाड़ दी जाती है तथा झाड़ झंखाड़ व लकड़ी एकत्रित की जाने लगती है। होली के दिन सब भेद एवं विरोध समाप्त हो जाते हैं। लोग दोपहर तक रंग खेलने के बाद संध्या समय नये वस्त्र आदि पहनकर मित्रों से मिलने जाते हैं। होली में गले मिलने, अबीर-गुलाल लगाने तथा इत्र, गुझिया-समोसा आदि पकवान से आतिथ्य सत्कार करने की प्रथा है। सूरसागर में वर्णित सुगन्धित द्रव्यों के

१—तुलसी, गीता० ७,२१, 'खेलि बसंत कियौ प्रभु मज्जन सरजू नीर। बिबिध भांति जाचक जन पाए भूषन चीर।'

२— ० स० टी०, १८६-२
'यह बसंत सब कर तेवहारू'

स्थान पर इत्र छिड़कने का रिवाज़ हो गया है। होली के विशिष्ट लोक-गीतों एवं संगीत का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उत्तर प्रदेश, बिहार आदि में होली के बाद नये वर्ष का आरम्भ भी माना जाता है। होलिका सम्बन्धी अनेक लोक-कथाएँ प्रचलित हैं। सबसे अधिक लोक प्रिय हिरण्यकशिपु की बहन होलिका तथा प्रहलाद की कथा है। विद्या की देवी सरस्वती तथा विष्णु-लक्ष्मी-पूजन भी कहीं-कहीं होता है।

दीवाली तथा होली के अतिरिक्त वर्तमान समय के अन्य प्रचलित त्यौहारों में दशहरा, रक्षाबन्धन, शिवरात्रि, रामनवमी, जन्माष्टमी, भैयादूज, नागपंचमी या गुड़िया, बसन्त पंचमी तथा हरितालिका तीज आदि के नाम लिए जा सकते हैं। मुगलकाल में भी प्रायः यह सभी त्यौहार प्रचलित थे। उस समय भी गांवों में एवं क्षत्रिय वर्ग में दशहरे का महत्व था। साधारण वर्ग का मनोरंजन सदैव से इन त्यौहारों और उत्सवों से ही प्रधानतया होता रहा है। सावन के लोकगीत प्रायः पति-पत्नी और भाई-बहन से सम्बन्धित हैं। इनमें ही झूले के गीत भी हैं। होली के समान हिंडोले के अधिकांश गीतों का सम्बन्ध राधा-कृष्ण तथा ब्रज की अन्य गोपिकाओं से है।

जायसी ने भी होली जलाने, खेलने[1] तथा पकवानों[2] आदि के पहले **बसन्त पंचमी**[3] के उत्सव का भी उल्लेख किया है। सूर उल्लिखित लोक-गीतों का पद्मावत में भी निर्देश हुआ है।

१—प० सं० टी, १८६-१८९।

२—प० सं० टी०, १९२-४।

३—पं० सं० टी० १८३-१८६।

खण्ड ७

धर्म तथा दर्शन

१—दार्शनिक तथा धार्मिक शब्दावली[1]

१—भक्ति से संबंधित शब्द

२५०—सूरदास जी प्रारम्भ में दास्य-भाव से पद लिखते थे। वल्लभ-संप्रदाय में प्रवेश करने के बाद सांप्रदायिक सिद्धान्तों एवं विचारधारा का प्रभाव उनकी काव्य-रचना पर पड़ना स्वाभाविक ही था। वल्लभ-संप्रदाय के अनुयायी होने के नाते अन्य अष्टछाप कवियों के समान ही सूरदास जी की दार्शनिक तथा धार्मिक शब्दावली वल्लभीय सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में ही समझी जा सकती है। पुष्टिमार्गीय आचार्यों द्वारा प्रपादित तथा अष्टछाप कवियों द्वारा प्रचारित प्रक्ति-भावना की मूल धारा ब्रह्म-सूत्र, भागवत, गीता, महाभारत के नारायणी उपाख्यान, नारद पंचरात्र तथा शांडिल्यभक्ति-सूत्र, आदि में है। इस दृष्टिकोण को सामने रख कर ही इस शब्दावली का विवेचन करने का यत्न किया गया है।

दार्शनिक दृष्टि से ज्ञात शुद्धाद्वैतवाद, ब्रह्मवाद अथवा अविकृत-परिणामवाद ही धार्मिक अथवा सांप्रदायिक दृष्टि में पुष्टिमार्ग अथवा वल्लभ सम्प्रदाय समझा जा सकता है। इस संप्रदाय के अनुसार भगवत्प्रेम-प्राप्ति के तीन साधन माने गए हैं—(१) मर्यादा मार्ग (कर्म तथा ज्ञान), (२) प्रवाह मार्ग (लौकिक कर्मों में रत रह कर) (३) पुष्टि (भगवत् अनुग्रह द्वारा)। अन्तिम मार्ग श्रेष्ठतम समझा गया है 'जा पर कृपा तुम्हारी होइ। रूप तुम्हारौ जानै सोइ।' (४९१६) तथा—'अपनी भक्ति देहु भगवान।' (१०६)। सांसारिक विषयों में अनासक्ति आवश्यक है—'जौ लौं मन-कामना न छूटै...... काम, क्रोध, मद, लोभ सत्रु हैं जो इतननि सौं छूटै। सूरदास तबहीं तम नासै, ज्ञान-अगिनि झर फूटै।' (३६२) अथवा—'धोखैं ही धोखैं डहकायौ। समुझि न परी, विषय-रस गीध्यौ, हरि-हीरा घर मांझ गंवायौ।' (३२६) तथा—'रे मन छांड़ि विषय को रंचिबौ।' (५९)। प्रारंभिक स्कन्धों के अनेक पदों में कवि ने बार-बार संसारिक प्रलोभनों से दूर रखने का आग्रह किया है।

संप्रदाय ने चार प्रधान प्रमाण माने हैं—वेद (ब्राह्मण-ग्रंथ, संहिता तथा उपनिषद्), गीता, वेदांत-सूत्र तथा भागवत। सूरसागर के अनेक पदों में इनका प्रमाण दिया गया है। इसका उल्लेख इन ग्रन्थों के सिलसिले में किया गया है—'ऊधो बेद वचन प्रमान।' (४६५३)।

२५१—ब्रह्म के तीन रूप माने गए हैं—१—पूर्ण पुरुषोत्तम, परब्रह्म, रस रूप अथवा श्रीकृष्ण—'सच्चिदानन्द देव तुम' अथवा, 'पूरन परमानन्द' (१७९३)। २—अक्षरब्रह्म—यह त्रयी अथवा चौबीस अवतारों में प्रकट होता है। ३—योगियों द्वारा आत्मा में ही साक्षात्कार होने वाला अन्तर्यामी ब्रह्म। परब्रह्म विरुद्ध धर्मों का आगार है जैसे सगुण तथा गम्य, किन्तु साथ ही निर्गुण एवं अगम्य। वह सच्चिदानन्द स्वरूप है तथा उसके छः गुण हैं—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य।

सूर के उपास्य देव श्रीकृष्ण हैं जो पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। उनकी आस्था निर्गुण रूप में भी है, साथ ही उन्होंने राम की स्तुति भी की है। गोपियों द्वारा शिवपूजन भी करवाया है, किन्तु यह दोनों पूर्ण ब्रह्म कृष्ण के ही अन्य रूप हैं—'प्रभु तुम्हरे इक रोम प्रति कोटिक ब्रह्मा सींव'

१—इस अध्याय की शब्दावली की पृष्ठभूमि सम्बन्धी सामग्री का मुख्य आधार डॉ० दीनदयाल गुप्त के 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' शीर्षक महत्वपूर्ण ग्रंथ के दूसरे भाग के पञ्चम तथा षष्ठ अध्याय हैं।

(१११०)। निर्गुण के प्रति उनके विचार स्पष्ट ही हैं—'अविगत गति कछु कहत न आवै, ज्यौं गूंगे मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै। सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन पद गावै।' (२)। सूर ने उनके विराट-रूप का भी वर्णन किया है—'हरि जू की आरती बनी' (३७१) अथवा—'नैननि निरखि स्याम-स्वरूप। रह्यौ घट-घट ब्यापि सोई, जोति रूप अनूप' (३७०)। उनके विचार से ज्ञान तथा कर्म मार्ग दुष्कर हैं जिसमें निर्गुण की उपासना बताई गई है। भ्रमर-गीत वाला अंश इसका ही प्रमाण है। गोपियों के मुख से मानो सूरदास जी ने अपने विचार ही रक्खे हैं—'मधुकर निरगुन ज्ञान तिहारो। तीच्छन तेज तपस्या यामैं, कापैं जात जु धारौ।' (४५४४), अथवा 'यह गोकुल गोपाल-उपासी। जे गाहक निरगुन के ऊधौ ते सब बसत ईसपुर कासी।' (४५४६), अथवा 'अगम पंथ परम कठिन, गौन तहाँ नाहिं।' (४५१७), तथा 'ब्रज जन सकल स्याम ब्रत-धारी। बिना गुपाल और जिहिं भावै, तिहिं कहियै ब्यभिचारी।' ((४५४६)।

सूर ने इस प्रकार अपने इष्टदेव को ही परब्रह्म माना है। त्रिदैव तथा चौबीस लीलावतार सब उनके ही रूप हैं—'हरि कै रूप रेख नहि राजा। अलख रूप कछु कह्यौ न जाइ। हरि जू कै हिरदै यह आई। देउँ सबनि यह रूप दिखाई।' (४६१८) अथवा 'जगत पिता तुम ही हो ईस '(४६१६)' तथा 'परमहंस तुम सबके ईस। बचन तुम्हारे सुन जगदीस। तुम अच्युत अविगत अविनासी। परमानंद सकल सुख-रासी। तुम तन धारि हर्‌यौ भुव-भार। नमो-नमो तुम्हें बारम्बार।' (४६१५), अथवा 'अलख निरंजन निराकर अच्युत अबिनासी। सेवत जाहि महेस सेस, सुर माया दासी।। धर्म स्थापन हेत पुनि, धर्‌यौ नर औतार।...मैं ब्यापक सब जगत, बेद चारौ मोहिं गायौ। मैं करता मैं भोगता, मो बिनु और न कोइ। जो मौकौं ऐसै लखै ताहि भरम नहि होइ...मैं उदास सब सो रहौं यह मम सहज सुभाइ। ऐसौ जानै मोहिं जौ, मम माया तरि जाइ।।'[१] (४८२८) 'तुम जानत मोहिं नन्द-ढुटौना, नन्द कहाँ तैं आये। मैं पूरन अबिगत अबिनासी, माया सबनि भुलाए।'(२१३८) सृष्टि ब्रह्म का ही अंश है। जड़ सृष्टि में उसका सत् अंश है तथा जीव में सत्, चित्। वह परमात्मा के वशीभूत है—'करी गोपाल की सब होइ (२६२) अथवा 'भावी के बस तीन लोक हैं, (२६४)। जीव में ब्रह्म के छः गुणों तथा आनन्दांश का तिरोभाव है। इसकी प्राप्ति से ही ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है तथा संसार के आवागमन से मुक्ति। जीव असंख्य, नित्य तथा सनातन है। निम्नलिखित पंक्तियाँ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं—'आपुहिं' पुरुष आपुहीं नारी...आतम ज्ञान बिना जग भूला।...परमानन्द तबहिं सुख पावहु।' (४७१२) अथावा 'चेतन जीव सदा थिर जानौ' या 'एक प्रान द्वै देह है, द्विबिधा नहि यामैं। गर्ब कियौ नरदेह तैं मैं रहौं न तामैं। '(१७१६) तथा 'घट-घट ब्यापक दारु अगिनि ज्यौं, सदा बसै उर माहीं।' (४२२४)।

२५२—जगत भी ब्रह्म का अंश है तथा वही इसका निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों है। जगत सत्य है क्योंकि ईश-निर्मित है तथा इसका लय भी ईश्वराधीन है। सूरसागर में भी जीव तथा जगत सम्बन्धी यही सिद्धान्त वर्णित है—'तीन लोक हरि करि

१—गीता० अ० ६, श्लोक ६, 'उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।'
२२—'पुरुषः सः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया परः।
यन्यास्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।'

बिस्तार। अपनी जोति कियौ उजियार। जैसैं कोऊ गेह संवारि। दीपक बारि करै उजियार। घट-घट में सोई दरसाई।...जोति सरूप आतमा मानौ।...थावर जंगम जहं लगि भए। जोति तुम्हारी चेतन किए।' (४६१८), अथवा 'जो जग, क्यौं मिथ्या कहि जाइ। जहाँ तरै तुमरै गुन गाइ।' (४६१६) तथा, 'ज्यौं पानी मैं होत बुदबुदा, पुनि ता माँहि समाइ। त्यौंही सब जग प्रगटत तुमतैं, पुनि तुम मांहि बिलाइ। (४६२०)।

संप्रदाय के अनुसार संसार को असत्य बताया गया है। यह जीव निर्मित तथा उसकी ममतात्मक कल्पना तथा अहंता का ही नाम है। जगत सत्य है तथा ईश-निर्मित, किन्तु संसार असत्य है तथा जीव की अविद्या नाश कर इससे मुक्ति पाने का यत्न करना चाहिए: 'इहि संसार अपार बिरत ह्वै' (६२), 'हरि बिन अपनौ को संसार।' (८४)। माया भी दो प्रकार की बताई गई है—एक विद्या (ब्रह्म की शक्ति-स्वरूपा जो जगत का प्रसार करती है) तथा दूसरी अविद्या (संसार का निर्माण करने वाली)। सूरसागर में अविद्या माया का वर्णन अनेक पदों (४२-५५) में है—'महामोहिनी मोहि आतमा' तथा 'अपमारगहि लगावै' तथा कवि ने इससे छूटने को बार-बार कहा है। भक्ति तथा ईश-अनुग्रह ही इससे निस्तार के उपाय हैं—'माया जलधि अगाध महाप्रभु, तरि न सकै तिहि कोइ।' नाम जहाज चढ़े जो कोऊ तुव पद पहुँचे सोइ।' (४६२०) 'मैं पूरन अबिगत अबिनासी माया सबनि भुलाए' (२१३८)। अथवा—'ईहि माया सब लोगनि लूट्यौ। जिहिं हरि कृपा करी सो छूट्यौ' (२८२), अथवा—'हरि, तेरौ भजन कियौ न जाइ। कह करौं तेरी प्रबल माया देति मन भरमाइ।' (४५) तथा '(गोपाल) तुम्हरी माया महाप्रबल, जिहिं सब जग बस कीन्हौ (हो)।' तथा (४४) 'तुम्हरी माया जग उपजाया।' (४६१८)।

पुरुषोत्तम का अंश-रूप माया के भुलावे में पड़ कर अपने सत्यस्वरूप का विस्मरण कर देता है तथा अनेक कष्ट पाता है। जीव की आत्मा में ही सत्य स्थित है तथा संसार तो स्वप्न-समान है। सूर ने इस भावना को अनेक पदों में समझाया है—'अपुनपौ आपुन ही बिसर्यो... कहि कौने पकर्यौ' (३६६), 'चकई री, चलि चरन सरोबर, जहाँ न प्रेम बियोग।' (३३८), 'जौ लौं सत-सरूप नहिं सूझत।' (३६८)

सूरसागर के कमरी-पदों में शक्ति-रूप माया का रूपक बाँधा गया है—'यह कमरी कमरी करि जानति...जो तिहुँ लोक अडंबर', 'कमरी के बल असुर संहारे।' (२१३३)। ब्रह्म की शक्ति राधा-रूपिणी माया का इस रूप में भी वर्णन है। आत्म-भ्रम नष्ट होने पर दुःखाभाव हो जाता है जो एक प्रकार की मुक्ति ही है—'बिषया जात हरष्यौ गात।' (३६७) 'अंतरु तैं हरि प्रगट भए।' (१७४८)।

२५३—चारि पदारथ (३४६, ३५६, १४१८ ४७७८) का उल्लेख अनेक बार है—'चारि पदारथ के प्रभु दाता' (३५६) अथवा नारि, पतिव्रत मानै जोई। चारि पदारथ पावै सोई' (१४१८)। इनके नाम भी बताए गये हैं—'अर्थ, धर्म, कामना, मुक्ति, फल चारि पदारथ पावै' (४७७८) संसार-दुःख से छुटकारा तथा आनंदावस्था की प्राप्ति ही 'मोक्ष' है। मर्यादा मार्ग से सालोक्य, सायुज्य, सारूप्य तथा सामीप्य मुक्तियों की प्राप्ति हो सकती है। सूरसागर में इनका उल्लेख है—'सालोक्यता, समीपता, सारूपता, भुज चारि। इक रही सायुज्यता सो सिद्ध नहिं बिनु ज्ञान।' अथवा 'हम सालोक्य सरूप सायुज्यो, रहति समीप सदाई।' (४५१८)। सालोक्य मुक्ति का अर्थ है भगवान के लोक मात्र में पहुँचना। 'चकई री, चलि चरन सरोबर, जहाँ न प्रेम बियोग' (३३८), अथवा 'भृंगी री,

भज स्याम कमल-पद, जहां न निसि कौ त्रास।' (३४१), तथा—'सुवा, चलि ता बन कौ रस पीजे।' (३४०)। सामीप्य का अर्थ है उनके निकट पहुँचना, सारूप्य उनका रूप पा लेने का बोधक है तथा सायुज्य है एकीभूत हो जाना। वल्लभ सम्प्रदाय में पाँचवीं तथा श्रेष्ठतम मुक्ति सायुज्य-अनुरूपा मानी गई है। प्रथम चार अक्षर ब्रह्म तक पहुँचाती हैं तथा पाँचवीं पूर्ण पुरुषोत्तम तक। इस उच्चतम अवस्था में आत्मा पूर्णपुरुषोत्तम की लीला में प्रवेश पाकर पूर्णानन्द को प्राप्त होती है। इस अवस्था में भेद इसलिए किया गया है क्योंकि अभेद से आनन्दानुभव नहीं हो सकता। सूर-वर्णित रास का सुख इसी प्रकार का है।

पुष्टिमार्गीय भक्त के प्रारब्ध तथा संचित कर्मों का भगवत्कृपा से शमन हो जाता है—किन्तु अन्य मार्गों से क्रम-मुक्ति मिलती है—'माधौ जू, जौ जन तैं बिगरै। तउ कृपाल करुनामय केसव, प्रभु नहिं जीय धरै।' (११७) अथवा—'जिन जिनहीं केसव उर गायौ। जिन तुम पै गोबिंद-गुसाई, सबनि अभय-पद पायौ।' (१६३)

पुरुषोत्तम का लीलाधाम ही 'गोलोक' कहा गया है। इसका स्थान बैकुंठ से उच्चतर है। पुरुषोत्तम सर्वव्यापक हैं अतएव गोलोक भी। यह स्थान-विशेष नहीं है वरन् स्थिति-विशेष है। इस नित्य लीला-धाम का ही अवतरित रूप वृन्दावन तथा गोकुल है। इसीलिए ब्रजभूमि, ब्रज की भाषा, गोप-गोपिका, पशु-पक्षी, वृक्ष, यमुना आदि सभी का विशेष माहात्म्य माना गया है। सूरदास जी ने भी इसको बैकुंठ से ऊपर स्थान दिया है—'तीन लोक तृन-सम करि लेखत, नन्दनन्दन उर जोएं। बंसीबट, बृन्दाबन, जमुना, तजि बैकुंठ न जावै।' (३४६) अथवा—'बृन्दाबन रज ह्वै रहौं, ब्रह्म लोक न सुहाइ...बृन्दाबन बृज कौ महत कापे बरन्यौ जाइ।' (१११०) तथा—'बृन्दाबन द्रुम लता हूजिये' (१६६४)।

२५४— **रास** (१६५७, १६५५) [रस=आनन्द—रस तथा आनन्द का समूह ही रास है]। यह तीन प्रकार के माने गए हैं—विषयानन्द, काव्यानन्द, तथा ब्रह्मानंद। वल्लभ सम्प्रदाय में एक चौथा श्रेष्ठतम आनन्द भजनानन्द अथवा प्रेमानन्द भी माना गया है। सूरसागर में इनका उल्लेख है—'भजनानंद हमैं अलि प्यारौ। ब्रह्मानंद सुख कौन बिचारौ।' (४७१२)। 'रास' शब्द का सम्बन्ध 'रहस' [एकान्त आनंद] से भी माना गया है। रास एक नृत्य विशेष है। सम्प्रदाय में रास आध्यात्मिक अर्थ में भी लिया गया है अर्थात् अप्राकृत देहधारी रस-रूप श्रीकृष्ण का उनकी आनन्द-प्रसारिणी-सामर्थ्य-शक्तियों अर्थात् गोपियों के साथ नित्य लीला का रससमूह। रास के चार भेद किये गये हैं : १—नित्य रास, २—अवतरित रास, ३—अनुकरणात्मक रास (भक्तों का भावात्मक या मानसिक), ४—देहात्मक या दैहिक रास (भक्तों द्वारा किया जाने वाला नृत्य विशेष)। सूरसागर में रास का विस्तृत वर्णन है। इसमें नित्य रास तथा अवतरित रास दोनों का एकीकरण है—'सुरगन चढ़ि बिमान नभ देखत।...धनि-धनि सूरदास के स्वामी, अद्भुत राच्यौ रास।' (१६६२) अथवा—'मानौ माई घन-घन अन्तर दामिनि। घन दामिनि दामिनि घन अन्तर सोभित हरि-ब्रज भामिनि।' (१६६६)। अथवा—'मुरली धुनि बैकुंठ गई।' नारायण-कमला सुनि दम्पति, अहि रुचि हृदय भई। सूर निरखि नारायण इकटक, भूले नैन निमेष।' (१६८२) तथा—'स्रवन सुन्यौ न कहूँ अवलोक्यौ यह सुख अब लौं कहाँ संच्यौ। (१७६१)। दास्य, वात्सल्य, सख्य, तथा कान्ता या माधुर्यभाव की भक्तियों में से रास-रस की अनुभूति

केवल अन्तिम भाव से ही प्राप्त की जा सकती है। सूरसागर में माधुर्यभाव से भक्ति करने वाली गोपिकाएँ तथा राधा ही इसकी अधिकारिणी समझी गई हैं।

गोपियाँ परब्रह्म की आनन्द-प्रसारिणी सामर्थ्य-शक्ति-रूपा हैं तथा राधा इनका पराकाष्ठा वाला रूप है। वह भगवान के आनन्द की पूर्ण सिद्ध शक्ति हैं। गोपियाँ सिद्ध अथवा सिद्धि में लगे कान्ताभाव से भक्ति करने वाले भक्तों का रूप भी समझी जा सकती हैं। भागवत में राधा का उल्लेख नहीं है। विट्ठलनाथ ने राधा का उल्लेख किया व दो ग्रंथ स्तुति में लिखे। वल्लभाचार्य ने पहले वात्सल्य-भाव की भक्ति का प्रचार किया था। वास्तव में भक्ति का प्रारम्भ इसी भाव से होता है। वल्लभाचार्य के उत्तर-जीवनकाल में तथा विट्ठलनाथ जी के समय में युगल-स्वरूप की उपासना होने लगी। राधा का भी निश्चित स्थान हो गया। निम्बार्क सम्प्रदाय, गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय (चैतन्य महाप्रभु) तथा राधा-वल्लभीय संप्रदाय (हित हरिवंश) में युगल रूप की उपासना का गौण रूप में प्रभाव माना जा सकता है।

गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में राधा की उपासना परकीया भाव से है किन्तु पुष्टिमार्ग में स्वकीया भाव से। सूरदास जी ने भी स्वकीया नायिका रूप में ही राधा का चित्रण किया है। उन्होंने कृष्ण तथा राधा का गांधर्व विवाह भी करा दिया है। गोपियाँ दोनों प्रकार की वर्णित है—स्वकीया तथा परकीया। परकीया गोपियों का लोक-लज्जा की चिन्ता न करना, पति-पुत्र को भूल मुरली ध्वनि 'सुनकर दौड़ना—'सूर निठुरि बिधि की मर्जादा निसि बन कौं सब जाहीं' (१६१७), अथवा 'मानति नहीं और रिसि पावति, निकसी नातौं तोरि' 'जैसै जल-प्रवाह भादों कौ, सो को सकै बहोरि।' (१६२१) लोक-मर्यादा की दृष्टि में गर्हित होते हुए भी आध्यात्मिक दृष्टि से उत्कृष्टतम प्रेम का चित्र है। कहीं-कहीं लौकिक दृष्टि से अश्लीलता भी मानी जा सकती है किन्तु दार्शनिक दृष्टि से देखने पर खटकता नहीं है।

राधा का स्वामिनी रूप में चित्रण है—
'रास-मंडल मध्य स्याम राधा।'
'मनौ घन बीच दामिनी कौंधति सुभग, एक है रूप द्वै नाहिं बाधा।' (१६७०)।
वह कृष्ण-चंद्र की चाँदनी हैं—
'बृन्दाबन-चन्द राधा निरमल चांदनी।' (१६९४)
तथा—'प्रान इक द्वै देह कीन्हे, भक्ति-प्रीति प्रकास।
सूर-स्वामी स्वामिनी मिलि, करत रंग-बिलास।' (१७००)
'राधा परम निर्मल नारि'
रास-सुख प्राप्त करने वाली गोपियाँ साधारण स्त्रियाँ नहीं हैं—
'ब्रज सुन्दरि नहिं नारि, रिचा स्रुति की सब आहीं।
मैं अरु सिव पुनि सेष, लच्छमी तिन सम नाहीं' (१७९३)।

२५५—मुक्ति-लाभ के तीनों साधनों—ज्ञान, योग या कर्म तथा भक्ति (३९४) में सूरदास जी ने भी भक्ति को ही चुना है। भ्रमर-गीत प्रसंग में उद्धव-गोपी संवाद द्वारा यह बार-बार स्पष्ट किया गया है—'यह जो कहत जोग की बातैं, जामैं रस जरि जात।" (४०३३); या 'कहाँ प्रेम ऽरु जोग।' (४०३५)। ज्ञान तथा योग मार्गों में निर्गुण ब्रह्म उपास्य हैं। कृष्ण उद्धव को ब्रजवासियों के निकट यही समझाने के लिये भेजते हैं—'मो बिन, बिरह भरीं ब्रज-बाला, जाइ सुनावहु जोग।' 'प्रेम मिटाइ ज्ञान परबोधहु, तुम हौ पूरन ज्ञानी।'

(४०४३) अथवा 'पूरन ब्रह्म अकल अबिनासी, ताके तुम हौ ज्ञाता...ब्रह्म बिना नहिं आसत।' (४०४४)। किन्तु भला सगुण रूप की आराधना करने वाली गोपियों को यह मार्ग क्योंकर रुचिकर हो सकता था—'जोग जुगुति हम कछू न जानैं, न कछु ब्रह्म ज्ञानौ । नव किसोर मोहन मृदु मूरति तासौं मन उरझानौ। '(४२२६) अथवा 'हमकौं हरि की कथा सुनाउ। ये आपनी ज्ञान गाथा अलि मथुरा ही लै जाउ।' (४२२६), अथवा...'निरगुन कौन देस को बास।' (४२४६) अथवा—'जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै—गुन कर मोही सूर सावरैं को निरगुन निरबैहै।' (४२८२) तथा 'तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान' (१६६) तथा 'भक्ति-पंथ कौ जो अनुसरै। सौ अष्टांग जोग कौ करै।' (३६४)।

भक्ति नवधा (४७१२) बताई गई है—'जोगी होइ सो जोग बखानै, नवधा-भक्ति दास रति मानै।' नवधा भक्ति में श्रवण, कीर्तन, स्मरण (नाम व लीला से सम्बन्धित), पादसेवा, अर्चन, वंदन (रूप से सम्बन्धित), तथा सख्य, दास्य, आत्म-निवेदन या आत्म-समर्पण (मानसिक स्थिति) आदि नौ अङ्ग हैं। सूरसागर में यह सभी अंग मिल जाते हैं। पुष्टिमार्ग में दसवीं भक्ति 'प्रेमरूपा' मानी है। प्रथम नौ इस अन्तिम स्थिति तक ही पहुँचाती हैं। सूरदास जी की आस्था इसी प्रेम-भक्ति पर है—'ऊधौ प्रेम-भक्ति रहित निरस, जोग कहा गायौ। (४२१५) अथवा 'किहिं अपराध जोग लिखि पठवत, प्रेम-भगति तें करत उदासी।' (४५४६) तथा' 'भ्रमरगीत जो सुनै सुनावै। प्रेम-भक्ति गोपनि की पावै।' (४७१२)। इन पद्यांशों से स्पष्ट है कि पूरा भ्रमर-गीत-प्रसंग प्रेम-भक्ति की महत्ता बताता है। यह अंश इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि माधुर्य-भाव या प्रेम भक्ति में विरह की स्थिति का चित्रण करता है। उत्कट प्रेम में मिलन की व्याकुलता ही चरमोत्कर्ष है—'बिरह दुःख जहं नाहिं नेकहुँ, तहं न उपजे प्रेम।' (४०३१), अथवा 'मिलि बिछुरन की बेदन न्यारी।' (३८२४)।

सूरदास जी ने सकामी तथा निष्कामी (३६४) भक्ति का उल्लेख भी किया है। सकामी भक्ति में तामसी (पर अपकार की कामना), राजसी (धन, कुटुम्ब की कामना तथा सात्वकी (मुक्ति-कामना) तीन प्रकार की भक्ति होती है। निष्कामी भक्ति श्रेष्ठतम है जिसमें भक्त कुछ भी कामना नहीं करता है। इसी प्रकार की भावना से प्रेरित होकर कवि ने कुछ पदों में आराध्य के मुखामृत अथवा अधरामृत-पान की इच्छा प्रकट की है 'अधर सुधा पियाइ बिछुरे' (४६५३)। सूरदास जी ने भक्त भी तीन प्रकार के बताए हैं—कर्मजोग, ज्ञान-जोग तथा भक्ति-जोग (३६४)।

२५६—पुष्टिमार्गीय प्रेम लक्षणा भक्ति में चार अवस्थाएं बताई जाती हैं १—सनेह (स्नेह) (१२६, ४१७७) लोक से विकर्षण तथा भगवान में ध्यान—'गृह जन की नहिं पीर हमारे—पाप पुन्य दोऊ परित्यागे, अब जो होइ सो होइ' (१६४६), अथवा—'बिधि-मरजाद लोक की लज्जा, तृनहू तैं धरि मान।' (१६५०), 'मैं मन मोल गुपालहिं दीन्हौ।' (४१४६) तथा 'मन रे माधव सों करि प्रीति' (३८५)। २—आसक्ति—इसमें ग्यारह भाव हैं—(१) गुण-माहात्म्य तथा उसमें आसक्ति। विनय पदों में यह भाव मिल जाता है—'प्रभु कौ देखौ एक सुभाइ' (८)।

(२) रूपासक्ति— '(अलि हौं) कैसें कहौं हरि के रूप रसहिं' (४१५२), 'तरुनी निरखि हरि प्रति-अङ्ग' (१२५८)

(३) पूजासक्ति—'चरन कमल बंदौं हरि राइ।' आराध्य कृष्ण के स्तुति प्रसंगों में यह भाव है।

(४) **स्मरणासक्ति**—'कब देखौं इहिं भांति कन्हाई' (३८३५) अथवा 'एक द्यौंस कुंजन मैं माई' (४००२)। कृष्ण-वियोग में राधा तथा गोपयों का यह भाव वर्णित है।

(५) **दास्यासक्ति**—'प्रभु मेरे गुन-अवगुन न बिचारौ।' (१११)। विनयपदों में यह भाव मिलता है।

(६) **सख्यासक्ति**—'आजु हौं एक एक कर टरिहौं।' (१३४)। गोप इसी भाव से भक्ति करते थे।

(७) **कान्तासक्ति**—'नैना हरि अंग-रूप लुब्धे री माई' (२८५५)। संयोग-प्रेम के पद इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

(८) **वात्सल्यासक्ति**—'चलत देख जसुमति सुख पावै।' (७४४)। यशोदा तथा नंद की प्रेम-भक्ति इसके उदाहरण हैं।

(९) **आत्मनिवेदनासक्ति**—'अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।' (१५३), 'नाथ अनाथनि की सुधि लीजै।' (३८०८)। विनय तथा विरह संबंधी पद इस दृष्टि से देखे जा सकते है।

(१०) **तन्मयासक्ति**—'ऊधौ ह्याँ नाहीं मन मेरौ। गयौ जु संग नंदनंदन के, बहुरि न कीन्हौ फेरौ।' (४३४१) अथवा 'मन मैं रह्यौ नाहिन ठौर। (४३५०)। राधा तथा गोपियों का प्रेम इस सीमा तक पहुँच जाता है।

(११) **परम विरहासक्ति**—'(मेरे) नैना बिरह की बेलि बई।' (३८६४) अथवा 'निसि दिन बरसत नैन हमारे' (३८५३)। इसमें वात्सल्य-भाव का विरह भी आ जाता है—'मेरे कुंवर कान्ह बिनु सब कुछ वैसहिं धर्‌यौ रहै।' (३७६८) मथुरा-गमन के बाद ब्रज की अवस्था का चित्रण इस अवस्था का उदाहरण है।

३—व्यसन

इस अवस्था में आराध्य का ध्यान हर समय रहता है—'नहिं बिसरति वह रति ब्रज-नाथ।' (३८२१) तथा 'बिचारत ही लागे दिन जान।' (३८३१)।

४—तन्मयता

सूरदास जी ने गोपियों की इस अवस्था का चित्रण कया है। वह स्वयं कृष्णमय हो जाती हैं—'कहा कहति तू मोहिं री माई। (२२६६)। वह 'दही लो' की जगह तन्मयता की अवस्था में 'गोपाल लो' कहने लगती हैं—'ग्वालिनी प्रगट्‌यौ पूरन नेहु। दधि-भाजन सिर पर धरे कहति गुपालहिं लेहु।' (२२६८)।

२५७—सूरदास जी प्रेम की जिस गहराई तक उतरे है तथा जितने पक्षों में उसका वर्णन किया है उतना हिन्दी कवयों में कोई नहीं कर पाया है। उपर्युक्त सभी अवस्थाओं पर अनेक उत्कृष्ट पदों की रचना हुई है। उनके राधा कृष्ण पूर्ण मानव भी हैं। हंसी विनोद, सुख-दुख सभी का चित्रण कवि ने किया है।

सूरदास जी ने भक्ति के सहायक अंगों **सत्यगुरु** (४०७,४३२७) तथा **सत्संग** (३६०) की महिमा-वर्णन भी किया है—'अपुनपौ आपुन ही में पायौ। सब्दहिं सब्द भयौ उजियारौ, सतगुरु भेद बतायौ।' ४०७) अथवा 'सतगुरु-चरन भजे बिनु बिद्या कहु कैसैं कोउ पावै। (४३२७) तथा—'जा दिन संत पाहुने आवत। तीरथ कोटि समान करैं फल जैसौ दरसन पावै।' (३६०) वल्लभ सम्प्रदाय में गुरु कृष्ण का अंशावतार माना गया है। इसमें संन्यास की आवश्यकता नहीं समझी गयी है। गृहस्थ आश्रम में रह कर भी भक्ति की जा सकती हैं। तृतीय-स्कन्ध का जगत-रचनाक्रम भागवत के अनुसार किया गया है। यह सूरदास जी का अपना मत नहीं समझना चाहिए।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, सूर के उपास्य देव बाल, किशोर तथा तरुण अवस्था वाले लीलाधारी श्रीकृष्ण हैं। उनके मथुरा तथा द्वारिका वाले रूप की ओर उनका आकर्षण नहीं है। उन्होंने राधा के साथ उनके युगल-रूप की उपासना ही की है। भौतिक दृष्टि से यह गोवर्द्धन में स्थित श्रीनाथ जी के मंदिर में सेवा-कीर्तन का कार्य करते थे।

२—योग मार्ग से संबंधित शब्द

२५८—सूरसागर के कुछ प्रारंभिक पदों तथा भ्रमरगीत प्रसंग के उद्धव-गोपी संवाद में योग से संबंधित कुछ शब्दावली मिलती है। इन पदों में योग के सिद्धान्तों का विवेचन नहीं है। केवल कुछ पारिभाषिक नामों का उल्लेख मात्र है। योग का अर्थ [सं० युज्] जोड़ना है। जिन शारीरिक एवं मानसिक साधनों द्वारा आत्मा बल-पूर्वक परमात्मा से जोड़ी जाती है उसको ही योग कहते हैं।[1] अनेक प्रकार के योगों, जैसे—राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा हठयोग में से यहाँ हठयोग से ही तात्पर्य है। हठयोग में अंगों तथा श्वासादि को संयमित किया जाता है। उद्धव-गोपी संवाद में प्रेम-भक्ति की ओर उन्मुख गोपियों की उद्धव के इस शारीरिक संयम वाले हठयोग के प्रति विरक्ति होना स्वाभाविक है—'भक्ति बिरोधी ज्ञान तुम्हारौ' (४७१२) अथवा 'सांचौ निहचै प्रेम कौ, जीवन मुक्ति रसाल।' (४७१३) तथा 'ऊधौ जोगहिं ना छुएँ, छुएँ तो प्रेम लजाहिं।' (४१४०)।

अतएव इन पदों में भी **जोग** (३६४,३८४४; ४०३३) [सं० योग] प्रायः हठयोग का ही बोधक है। पतंजलि ने इसके आठ अंग माने हैं।[2] सूरदास जी ने **अष्टांग-जोग** (३६४) का ही उल्लेख नहीं किया है। किन्तु आठ अंगों के नामों का निर्देश भी किया है—'भक्ति-पंथ कौं जो अनुसरै। सो अष्टांग जोग कौं करै। **यम नियमासन, प्रानायाम**। करि अभ्यास होइ निष्काम। **प्रत्याहार-धारना-ध्यान**। करैं जु छांड़ि बासना आन। क्रम-क्रम सौं पुनि करै **समाधि**। सूर स्याम भजि मिटै उपाधि ॥'

यम तथा नियम[3] आचार-विचार संबंधी अंग हैं। यम के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आते है तथा नियम में पवित्रता, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्राणिधान आवश्यक हैं। ईश्वर के प्रति चित्त स्थित करने में आसन से भी सहायता मिलती है। इसमें शरीर की विभिन्न स्थितियाँ होती हैं। शिवसंहिता में चौरासी आसनों का उल्लेख है जिसमें प्रमुख चार सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन तथा स्वस्तिकासन हैं। सूरसागर में **पद्मासन** (४३२८) [सं० पद्मासन] की चर्चा है—'**पद्मासन** इक चित मन ल्यावौ। नैन मूंदि अन्तरगति ध्यावौ' (४६६७)। इन आसनों द्वारा शरीर के विभिन्न अंग शक्तियुक्त होते हैं।

२५९—प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वास को संयमित करने का विधान है। सूरदास जी ने इनके नामों का उल्लेख किया है—**रेचक** (४३२८) **कुंभक**, (४३२८) तथा **पूरक** (४३२८)। बाहर छोड़ी जाने वाली वायु 'रेचक' तथा भीतर जाने वाली 'पूरक' कहलाती है। जो वायु

१—कबीर का रहस्यवाद, पृ० ६८

२—पतंजलि-'योग दर्शन' २—साधनपाद, सूत्र, २९ 'यम नि[illegible]ासन प्राणायाम प्रत्याहार धारण ध्यान समाधयोऽष्टावंगानि'

३—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ३९३, योग की सूचक शब्दावली में पाणिनि ने 'यम', 'नियम', 'संयम' तथा 'योगी' शब्दों का उल्लेख किय है।

अन्दर रोक ली जाती है वही 'कुंभक' के नाम से प्रसिद्ध है । यहाँ नाक दबा कर वायु संयमित करने का उल्लेख भी है–'नासा कर गहि ध्यान सिखावत ।' (४१६६) ।

इन साधनों द्वारा योगी इंद्रियों पर अधिकार पा लेता है । यही प्रत्याहार की स्थिति है जिसमें इंद्रियाँ उसकी दासी हो जाती हैं जबकि साधारण व्यक्ति उनका दास रहता है । इसके बाद ही योगी धारणा द्वारा अपने मन को विशिष्ट वस्तु पर केन्द्रित करने में समर्थ होता है । इस वस्तु विशेष का निरन्तर चिन्तन ही ध्यान है । योग की उत्कृष्टतम स्थिति समाधि है— 'सहज समाधि रहत जोगी ज्यौं, मुद्रा जटा बिभूति लगाए' (४६५८)[1] । इस स्थिति में योगी का अपना अस्तित्व नहीं रहता । चिन्त्य विषय में ही आत्म-भाव का तिरोभाव हो जाता है तथा एक ज्योति से वह प्रकाशित हो उठता है—'हृदे कमल में ज्योति बिराजै—सोऽ अच्युत अबिगत अबिनासी ।—इहि उपाइ बिरहा तुम तरिहौ । जोग-पंथ क्रम क्रम अनुसरिहौ ।' (४६६७) ।

प्राणायाम द्वारा वायु-नाड़ियों तथा चक्रों में शक्ति आती है । शिव-संहिता में ३५०,००० नाड़ियाँ बताई गई हैं किन्तु इनमें से दस ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं । इनमें से भी तीन इडा, पिंगला तथा सुषुमन[2] (४६७,४१८६,४७१२) का विशिष्ट स्थान है । उद्धव-गोपी संवाद शीर्षक अनेक पदों में इनका उल्लेख है—'इडा पिंगला, सुषुमन नारी । सुन्न सहज में बसत मुरारी । ब्रह्म भाव करि सब मैं देखौ । अलख निरंजन ही कौं लेखौ ।'

अथवा 'जाकैं रूप बरन बपु नाहीं । नैन मूँदि चितवौ मन माहीं ।
हृदय-कमल मैं जोति बिराजै । अनहद नाद निरंतर बाजै ।
इड़ा पिंगला सुषमन नारी । सहज सुन्न[3] मैं बसहिं मुरारी ।
माता पिता न दारा भाई । जल-थल घट पट रह्यौ समाई ।
इहि प्रकार भव दुस्तर तरिहौ । जोग पंथ क्रम-क्रम अनुसरिहौ ।' (४७१२) ।

२६०—योग से संबंधित उपर्युक्त शब्दावली में सहज, सुन्न, निरंजन,, ब्रह्म, हृदय कमल तथा अनहद नाद नाम भी महत्त्वपूर्ण हैं । सुषुम्ना नाड़ी की शक्ति-वृद्धि करना ही योगी का ध्येय है जिससे उसको सिद्धि मिल सके । यह नाड़ी नाभि प्रदेश से निकल कर मेरुदण्ड मे होती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है । इसमें छः स्थितियाँ (चक्र), छः शक्तियाँ तथा छः कमल होते है ।[4] कंठ से इस नाड़ी के दो भाग हो जाते हैं—एक त्रिकुटी (भौंहों के बीच में) से होती हुई ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है तथा दूसरी सिर के पीछे से होकर । इडा नाड़ी मेरुदण्ड की बायीं ओर है तथा पिंगला दाहिनी ओर । यह दोनों सुषुम्ना से लिपटती हुई नाक तक जाती हैं किन्तु पहले ही एक दूसरे को पार कर लेती हैं । इस प्रकार इडा तो नाक के दाहिनी ओर तथा पिंगला बायीं ओर जाती है । प्राणायाम द्वारा योगी की सुषुम्ना नाड़ी के नीचे भाग में रहने वाली सर्पाकार

१—प० सं० टी०, १६७।२, 'दिस्टि समाधि ओहि सौं लागी । जेहि दरसन कारन बैरागी ।'

२—" वही, २३५।३ 'गही पिंगला सुखमन नारी ।
सुन्नि समाधि लागि गौ तारी ।'

३—कबीर ग्रन्था०, शब्द ६६, 'कहै कबीर सोई जोगेश्वर सहज सुन्न ल्यौ लागै ।'

४—शिवसंहिता, द्वितीय पटल, श्लोक २७—
'षटस्थानेषु च षट-शक्ति षटपद्मं योगिनो विदुः ।'

दिव्य शक्ति कुंडलिनी जागृत होती है तथा यही धीरे-धीरे ब्रह्मरन्ध्र की ओर बढ़ती है ।[१] ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्रदल-कमल तक पहुँचने पर मन तथा शरीर पर अधिकार प्राप्त कर योगी को सिद्धि मिल जाती है । कुंडलिनी ज्यों-ज्यों ऊपर जाती है, योगी को विभिन्न शक्तियाँ प्राप्त होती हैं ।[२] मनुष्य-शरीर में दस वायु हैं, इनमें से पंचवायु (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) प्रमुख हैं। योगी इनको प्राणायाम द्वारा ऊपर उठाता है—'अरु **अवराधन पौन**' (४३०८) अथवा 'परी पुकार द्वार गृह-गृह तैं, सुनौ सखी इक जोगी आयौ । **पवन सधावन**, भवन छुड़ावन, रवन रसाल, गोपालैं पायौ ।। आसन बाँधि, परम **ऊरध चित**, बनत न तिनहिं कहा हित ल्यायौ । कनक-बेलि कामिनि ब्रजबाला, जोग अगिनि दहिबे कौं धायौ ।।' (४१३१) तथा—

आसन बैसन ध्यान धारना मन आरोहन कीजै ।
षट दल अरु द्वादस दल निरमल, अजपा जाप जपाली ।
त्रिकुटी संगम ब्रह्म द्वार भिदि, यों मिलिहैं बनमाली ।। (४४८४) ।

सुषुम्ना नाड़ी में स्थित छः चक्रों में **त्रिकुटि** (४१४८) [सं० त्रिकुटी] के आज्ञा-चक्र को सिद्ध कर लेने से बड़ी से बड़ी सफलता मिलती है । इसको 'वाराणसी' भी कहते हैं (इसके एक ओर इड़ा वरुणा के समान है तथा दूसरी ओर पिंगला असी के समान) । सूर ने **कासी** का उल्लेख किया है–'जे गाहक निरगुन के ऊधौ ते सब बसत ईसपुर **कासी**।' (४५४६) । यहाँ ही विश्वनाथ निवास करते है । इन छः चक्रों के बाद ही कुंडलिनी तालु-मूल में स्थित सहस्र-दल-कमल या ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचती है । योग की यही चरम स्थिति है । यही ब्रह्म की स्थिति है । इसका रूप विन्दु (०) के समान है । इसमें स्थित चंद्र से सदैव अमृत प्रवाहित होता है जो मूलाधार चक्र के सूर्य द्वारा नष्ट होता रहता है जिससे वृद्धत्व की प्राप्ति होती है । **सबद अनाहद**[३] (४१४८) [सं० अनाहत] समाधि की अवस्था में योगी को **सुन्न** [सं० शून्यं] अथवा ब्रह्मरन्ध्र के शून्य-रूप वातावरण में सदैव होने वाला संगीत-नाद सुनाई देता है । इसके द्वारा उसका चित्त ईश-चिन्तन में लगा रहता है—'कहत हौ अनगढ़ी **अनहद** सुनत ही चपि जात ।' (४५२०) । ब्रह्म यहाँ निवास करता है—'नैन नासिका अग्र है तहाँ ब्रह्म कौ बास । अबिनासी बिनसै नहीं, सहज जोति परकास ।' अथवा 'हरि तजि भजहु **अकास**' (४४३१) । शून्य का ही समानार्थक 'आकाश' भी है ।

सूरसागर में उल्लिखित **हृदय-कमल** से संभवतः हृदय-स्थल पर स्थित रक्त वर्ण के कमल से तात्पर्य है जिसमें बारह दल हैं । इसका नाम अनाहत-चक्र भी है । योगी को इसके चिन्तन से भूत-भविष्य-वर्तमान जानने की शक्ति तथा 'खेचरी' (आकाश में गम्यता) शक्ति मिल जाती है ।

इस पद्यांश से योग-साधना पर कुछ प्रकाश पड़ता है—हम अलि गोकुल नाथ अराध्यौ ।

१—प० सं० टी०, २१५।४,५,६, 'दसवँ दुआर गुपुत एक नाँकी । अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँकी । भेदी कोई जाइ ओहि घाटी । जौं लै भेद चढ़ै होइ चाँटी । गढ़तर सुरंग कुंड अवगाहा । तेहि महं पंथ कहौं तोहि पांहा ।'
२१६।८ 'दसवँ दुआर ताऊका लेखा ।

२—वही, २१२।१, २, 'सिद्ध अंग नहिं बैठे माखी । सिद्ध पलक नहिं लागै आंखी । सिद्धहि संग होइ नहिं छाया। सिद्धहिं होइ न भूख औ माया ।'

३—वही, २५६।६, 'तुम पर सबद घटइ घट केरा । मोहि घट जीउ घटत नहिं बेरा ।'

मान पयान परम परितोषी, सुस्थल थिति मन राख्यौ। सकुचासन कुल सील करषि करि जगत बंध करि बंदन। मौनऽपवाद पवन आरोधन, हित-क्रम काम-निकंदन। गुरु-जन कानि अगिनि चहुँदिसि नभ तरनि ताप बिनु देखे। पिवत धूम उपहास जहां तहं अपजस स्रवन अलेखे॥ सहज समाधि सारि बपु बानक निरखि निमेष न लागत। परम ज्योति प्रति अंग माधुरी धरति यहै निसि जागत। त्रिकुटि संग भ्रूभंग तराटक नैन नैन लगि लागै।—मुरली अधर स्रवन धुनि सो सुनि सबद अनाहद कानै।' (४१५८)।

२६१—**निरंजन** (४७१२,४७१३,४६६७) का भी अनेक पदों में उल्लेख है—'आपुहि आप निरंजन सोह।' (४७१२), अथवा 'एक अलख अपार आदि अवगत है सोई। आदि निरंजन नाम ताहि रीझै सब कोई।' (४७१३)। कबीर-पंथियों के अनुसार[१] सत्पुरुष (प्रारंभ की एक ही शक्ति अथवा सारभूत आत्मा) ने ६ ब्रह्माओं के बाद निरंजन की सृष्टि की थी। निरंजन तथा माया के तीन पुत्र थे—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश। पुत्रों की उत्पत्ति के बाद निरंजन अंतर्धान हो गया था। ब्रह्मा की सृष्टि इन तीनों का पूजन करने लगी, किन्तु माया इसे सहन न कर सकी और उसने सांसारिक ममता मोह का जाल फैला दिया—'माया नित्यहि अंध, ताहि द्वै लोचन जैसे। ज्ञानी मैन अनंत ताहि सूझत नहिं कैसे।' (४७१३)।

प्रकृति के पाँच तत्वों का उल्लेख भी है—'पंचतत्व प्रकृति परे, अपर कैसें जानी' (४५१८)। अद्वैतवाद में मूलतत्व परब्रह्म है। सृष्टि करने के लिए इसका ही रूप प्रकृति है जिसके पाँच रूप हैं—आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी।

योग के उपकरण

२६२—भ्रमर-गीत के योग-प्रसंग में गोरखनाथ जी के अनुयायी सिद्धों का उल्लेख है तथा उनकी वेश-भूषा का चित्रण भी अनेक पदों में है। आराध्य कृष्ण में अनुरक्त ब्रज की स्त्रियों का इस ओर जरा भी आकर्षण नहीं है। इन सभी उपकरणों से भी उनको विराग है। वह तो समझ ही नहीं पाती कि कृष्ण ने योग-संदेश उनको भेजा ही क्योंकर, उनके लिए उसका क्या प्रयोजन ?—भक्ति-मार्ग पर चलने वाली गोपियाँ योग-साधना कैसे कर सकती हैं अथवा योगिनी-वेश कैसे धारण करें—'काग हंसहि संग जैसो, कहाँ दुख कहँ भोग।' (४०३५)।

गोरख शब्द[२] (४३११,३८४४) द्वारा गोरखनाथ जी के अनुयायियों का उनकी जय-जयकार करने की प्रथा पर प्रकाश पड़ता है—'गोरख सब्द पुकारत आरत, रस रसना अनुराग।' (४३११) अथवा 'गोपालहिं पावौ धौं किहि देस। सिगी मुद्रा कर खप्पर लै, करिहौं जोगिनि भेष।—हरि·कारन गोरखहि जगाऊँ जैसैं स्वांग महेस।' (३८४४)।

इस वेशभूषा में सर्वप्रथम **बिभूति, भस्म** अथवा **भसम** (३८४४,४३११,४३०८)

१—कबीर का रहस्यवाद, पृ० ४२।

२—प० सं० टी०, १२६, 'तजा राज राजा भा जोगी। औ किंगरी कर गहें बियोगी। तन बिसंभर मन बाउर रटा। अरुझा पेम परी सिर जटा। चंद बदन औ चंदन देहा। भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा। मेखल सिंगी चक्र धंधारी। जोगौटा रुद्राख अधारी। कंथा पहिरि डंड कर गहा। सिद्धि होइ कहं गोरख कहा। मुंद्रा स्रवन कंठ जपमाला। कर उदपान कांध बघछाला। पांवरि पाव लीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह भेस कै राता।'

१८२।२, 'गोरख मिला मिला उपदेसू।', २१२।८, 'जोगी सिद्ध होइ तब जब गोरख सौं भेंट।'

लगाने का विधान है—'जिहिं सिर केस कुसुम भरि गूंदे, कंसैं मस्म चढ़ैयै ।' (४३१०) अथवा—'चंदन छाँड़ि विभूति बतावत'[1] (४१६६)। वस्त्रों में चीर पुरातन (४३११), त्वचा-मृग (४३०८), अथवा कंथा (४३१२, ३८४४) का स्थान है। कानों में कुण्डल के स्थान पर मुद्रा (४३०८,४३११), माटी की मुद्रा (४२१९) पहनी जाती थी अथवा 'कस्मीरी मुद्रा' (४४३३)। हाथों में 'भिच्छा' के लिए पात्र (४३११) अथवा खप्पर (४३१२) आवश्यक था। यह नारियल का बनाया जाता था। इसके अतिरिक्त चमत्कार दिखाने के लिये योगी के पास दंड (४३००) भी रहता था। यह आबनूस का बनाया गया छोटा डंडा था। प्रायः इन सभी पदों में सिंगी (४३१२) अथवा शृंगी[2] (४३०८) [सं० शृंग] का उल्लेख भी है। यह सींग का बना हुआ फूंकने वाला एक वाद्य-विशेष था। योगी को बालों को जटा रूप में रखने की आज्ञा थी—तजन कहत अंबर आभूषन, गेह नेह सुत ही कौ। 'अंग भस्म करि सीस जटा धरि सिखवत निरगुन फीकौ' (४१३२ तथा—'जो ये लट हरि सुमननि गूंथी, सीस जटा अब कौन धरैगो।' ४२३७)।

अधारी (४२२१,४३११) एक प्रकार की टिकटी सी थी जिस पर योगी बैठते या सोते थे—'ऊधौ जोग सिखावन आए। स्रिगी भसम अधारी मुद्रा दै जदुनाथ पठाए।' अथवा 'शृंगी, मुद्रा, भस्म, अधारी, हमहीं कहा सिखावत' (४४३१)। सेली (४३१२) या सेल्ही (४११०) योगियों की माला को कहते हैं।

परिशिष्ट

निम्नलिखित पदों अथवा पद्यांशों द्वारा ऊपर दी गई नामावली को एक साथ पढ़ने से स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है। साथ ही इस संबंध में गोपियों की मनः स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है। उनका कृष्ण के प्रति प्रेम ही किस योग से कम दुष्कर था—

(१) फिरि फिरि कहा सिखावत मौन।
बचन दुसह लागत अलि तेरे, ज्यों पजरे पर लौन।।
सृंगी-मुद्रा, भस्म, त्वचा-मृग, अरु अवराधन पौन।
हम अबला अहीरि सठ मधुकर, धरि आनति कहं कौन।। (४३०८)

(२) हम तौ तबहीं तैं जोग लियौ।
रहित सनेह सिरोरुह सब तन, श्रीखंड भसम चढ़ाए।
पहिरि मेखला चीर पुरातन, फिरि फिरि फेरि सियाए ।।
श्रुति ताटंक मेलि मुद्रावलि, अवधि अधार अधारी।
दरसन भिच्छा माँगत डोलतिं, लोचन पात्र पसारी।।
बांधे बैनु कंठ सिंगी, पिय, सुमिरि-सुमिरि गुन गावत।
करतल बेंत दंड डर डरत न, सुनत स्वान दुःख धावत।।
रहत जु चित्त उदास फिरतिं बन बीथिनि दिन अरु राति।
बारक आवत कुटुम्ब जातरा, सोऊ अब न सुहाति।। (४३११)

(३) ऊधौ करि रहीं हम जोग।
कहा एतौ बाद ठान्यौ, देखि गोपी भोग ।।

१—प० स० टी०, १३९।३, 'कथा मलै तेहि भसम मलीजा।'
२— वही १३६।१, 'सिंहनाद जोगिन्ह कर बाजा।'

सीस सेली-केस, मुद्रा, कान-बीरी बीर ।
बिरह भस्म चढ़ाइ बैठीं, सहज कंथा चीर ।।
हृदय सिंगी टेर मुरली, नैन खप्पर हाथ।
चाहतीं हरि दरस भिच्छा, देहि दीनानाथ ।। (४३१२)

(४) जुवतिनि सौं कहि कथा जोग की, सामग्री कहँ पाऊँ ।
ऊधौ कहं सृंगी अरु सेली, देही भस्म जराऊँ ।
सोलह सहस सुंदरी काजैं, मृगछाला कहँ पाऊँ ।' (४१५६)

(५) एक समय हरि अपने हाथनि, करनफूल पहिराए ।
अब कैसें माटी के मुद्रा, मधुकर हाथ पठाए ।।
बेनी सुभग गुही अपने कर, चरननि जावक दीन्हौ ।
कहा कहौं वा स्याम सुन्दर सौं, निपट कठिन मन कीन्हौ ।।
चोवा चंदन और अरगजा, जा सुख मैं हम राखी ।
अब तन कौं हम भस्म चढ़ावैं, तुम मधुकर हौ साखी ।। (४२१६) ।

२६३—पद्मावत में उपर्युक्त योग की सभी सामग्री के अतिरिक्त 'किंगरी' [सं० किन्नरी] जिसे बजाकर भीख मांगते थे, 'चक्र' [पवित्री नामक अंगूठी], 'धंधारी' [तार के छल्लों का बना गोरखधंधा जिसे योगी सुलझाते थे], 'जोगौटा' [सं० योगपट्ट—ध्यान के समय सिर से पैर तक डाला जाने वाला वस्त्र], तथा 'जपमाला' आदि[1] का उल्लेख रत्नसेन के योगी-वेश तथा बादशाह—दूती-प्रसंग (जो योगिनी रूप धारण करके आई थी ।) में हुआ है । जायसी ने नाथ-संप्रदाय के नौ आचार्यों तथा सिद्ध-सम्प्रदाय के चौरासी गुरुओं का उल्लेख भी किया है ।[2] आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, जालंधरनाथ तथा गोरखनाथ आदि संप्रदाय के प्रमुख आचार्य थे । जायसी द्वारा उल्लिखित 'जोगौटा' ही बाण द्वारा वर्णित सावित्री के बाएँ कंधे पर पड़ा हुआ 'कुंडलीकृत योगपट्ट' है ।[3]

३—धार्मिक कृत्य

२६४—सूरसागर से हिन्दू-समाज की आस्तिकता का यथेष्ट परिचय मिल जाता है । प्रारम्भिक पदों में नाम-माहात्म्य, प्रभु-भक्त-वत्सलता तथा अवतारों का वर्णन इस विचारधारा के प्रमाण स्वरूप हैं । आत्मा की अमरता, पूर्व जन्म के पाप-पुण्य का प्रभाव तथा फलस्वरूप स्वर्ग-नरक की प्राप्ति आदि का उल्लेख किया जा चुका है । जीवन में प्राप्त सुख सम्पदा ईश-

---

१—प० स० टी० १२६।३-७।६०१।
'जोगिनि एक बार है कोई । मागै जैस बियोगिनि होई ।
अबिहू नवल जोबन तप लीन्हे । फारि पटोरा कंथा कीन्हें ।
बिरह भभूति जटा बैरागी । छाला काँध जाप कंठ लागी ।
मुंद्रा स्रवन डंड न थिर जीऊ । तन तिरसूल अधारी पीऊ ।
छात न छांह धूप जस मरई । पाय न पावहिं भूंभुरि जरई ।
सिंगी सबद धंधारी करा । जरै सो ठाउं पाउं जहं धरा ।
किंगरी गहे बियोग बजावे, बारहिं बार सुनाव ।
नैन चक्र चारिहुँ दिसि हेरै, दहुँ दरसन कब पाव ।।
२—प० स० टी०, २६४।८, 'नवौ नाथ चलि आवहिं औ चौरसी सिद्ध'।
३—हर्ष० सां० अ०, पृ० १५।

लगाने का विधान है—'जिहिं सिर केस कुसुम भरि गूंदे, कंसैं भस्म चढ़ैयै ।' (४३१०) अथवा—'चंदन छाँड़ि विभूति बतावत'[१] (४१६६)। वस्त्रों में चीर पुरातन (४३११), त्वचा-मृग (४३०८), अथवा कंथा (४३१२, ३८४४) का स्थान है। कानों में कुण्डल के स्थान पर मुद्रा (४३०८,४३११), माटी की मुद्रा (४२१६) पहनी जाती थी अथवा 'कस्मीरी मुद्रा' (४४३३)। हाथों में 'भिच्छा' के लिए पात्र (४३११) अथवा खप्पर (४३१२) आवश्यक था। यह नारियल का बनाया जाता था। इसके अतिरिक्त चमत्कार दिखाने के लिये योगी के पास दंड (४३००) भी रहता था। यह आबनूस का बनाया गया छोटा डंडा था। प्रायः इन सभी पदों में सिंगी (४३१२) अथवा शृंगी[२] (४३०८) [सं० शृंग] का उल्लेख भी है। यह सींग का बना हुआ फूंकने वाला एक वाद्य-विशेष था। योगी को बालों को जटा रूप में रखने की आज्ञा थी—तजन कहत अंबर आभूषन, गेह नेह सुत ही कौं। 'अंग भस्म करि सीस जटा धरि सिखवत निरगुन फीकौ' (४१३२ तथा—'जो ये लट हरि सुमननि गूंथी, सीस जटा अब कौन धरैगो।' ४२३७)।

अधारी (४२२१,४३११) एक प्रकार की टिकटी सी थी जिस पर योगी बैठते या सोते थे—'ऊधौ जोग सिखावन आए। स्रिगी भसम अधारी मुद्रा दै जदुनाथ पठाए।' अथवा 'शृंगी, मुद्रा, भस्म, अधारी, हमहीं कहा सिखावत' (४४३१)। सेली (४३१२) या सेल्ही (४११०) योगियों की माला को कहते हैं।

परिशिष्ट

निम्नलिखित पदों अथवा पद्यांशों द्वारा ऊपर दी गई नामावली को एक साथ पढ़ने से स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है। साथ ही इस संबंध में गोपियों की मनः स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है। उनका कृष्ण के प्रति प्रेम ही किस योग से कम दुष्कर था—

(१) फिरि फिरि कहा सिखावत मौन।
बचन दुसह लागत अलि तेरे, ज्यों पजरे पर लौन।।
सृंगी-मुद्रा, भस्म, त्वचा-मृग, अरु अवराधन पौन।
हम अबला अहीरि सठ मधुकर, धरि आनति कहं कौन।। (४३०८)

(२) हम तौ तबहीं तैं जोग लियौ।
रहित सनेह सिरोरुह सब तन, श्रीखंड भसम चढ़ाए।
पहिरि मेखला चीर पुरातन, फिरि फिरि फेरि सियाए।।
श्रुति ताटंक मेलि मुद्रावलि, अवधि अधार अधारी।
दरसन भिच्छा माँगत डोलतिं, लोचन पात्र पसारी।।
बांधे बैनु कंठ सिंगी, पिय, सुमिरि-सुमिरि गुन गावत।
करतल बेंत दंड डर डरत न, सुनत स्वान दुःख धावत।।
रहत जु चित्त उदास फिरतिं बन बीथिनि दिन अरु राति।
बारक आवत कुटुम्ब जातरा, सोऊ अब न सुहाति।। (४३११)

(३) ऊधौ करि रहीं हम जोग।
कहा एतौ बाद ठान्यौ, देखि गोपी भोग।।

१—प० स० टी०, १३६।३, 'कया मलै तेहि भसम मलीजा।'
२— वही १३६।१, 'सिंहनाद जोगिन्ह कर बाजा।'

सीस सेली-केस, मुद्रा, कान-बीरी बीर ।
बिरह भस्म चढ़ाइ बैठीं, सहज कंथा चीर ।।
हृदय सिंगी टेर मुरली, नैन खप्पर हाथ ।
चाहतीं हरि दरस भिच्छा, देहिं दीनानाथ ।। (४३१२)

(४) जुवतिनि सौं कहि कथा जोग की, सामग्री कहँ पाऊँ ।
ऊधौ कहं सृंगी अरु सेली, देही भस्म जराऊँ ।
सोलह सहस सुंदरी काजैं, मृगछाला कहँ पाऊँ ।' (४१५६)

(५) एक समय हरि अपने हाथनि, करनफूल पहिराए ।
अब कैसें माटी के मुद्रा, मधुकर हाथ पठाए ।।
बेनी सुभग गुही अपने कर, चरननि जावक दीन्हौ ।
कहा कहौं वा स्याम सुन्दर सौं, निपट कठिन मन कीन्हौ ।।
चोवा चंदन और अरगजा, जा सुख मैं हम राखी ।
अब तन कौं हम भस्म चढ़ावैं, तुम मधुकर हौ साखी ।। (४२१६) ।

२६३—पद्मावत में उपर्युक्त योग की सभी सामग्री के अतिरिक्त 'किंगरी' [सं० किन्नरी] जिसे बजाकर भीख मांगते थे, 'चक्र' [पवित्री नामक अंगूठी], 'धंधारी' [तार के छल्लों का बना गोरखधंधा जिसे योगी सुलझाते थे], 'जोगौटा' [सं० योगपट्ट—ध्यान के समय सिर से पैर तक डाला जाने वाला वस्त्र], तथा 'जपमाला' आदि[1] का उल्लेख रत्नसेन के योगी-वेश तथा बादशाह—दूती-प्रसंग (जो योगिनी रूप धारण करके आई थी ।) में हुआ है । जायसी ने नाथ-संप्रदाय के नौ आचार्यों तथा सिद्ध-सम्प्रदाय के चौरासी गुरुओं का उल्लेख भी किया है ।[2] आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, जालंधरनाथ तथा गोरखनाथ आदि संप्रदाय के प्रमुख आचार्य थे । जायसी द्वारा उल्लिखित 'जोगौटा' ही बाण द्वारा वर्णित सावित्री के बाएँ कंधे पर पड़ा हुआ 'कुंडलीकृत योगपट्ट' है ।[3]

३—धार्मिक कृत्य

२६४—सूरसागर से हिन्दू-समाज की आस्तिकता का यथेष्ट परिचय मिल जाता है । प्रारम्भिक पदों में नाम-माहात्म्य, प्रभु-भक्त-वत्सलता तथा अवतारों का वर्णन इस विचारधारा के प्रमाण स्वरूप हैं । आत्मा की अमरता, पूर्व जन्म के पाप-पुण्य का प्रभाव तथा फलस्वरूप स्वर्ग-नरक की प्राप्ति आदि का उल्लेख किया जा चुका है । जीवन में प्राप्त सुख सम्पदा ईश-

---

१—प० स० टी० १२६।३-७।६०१।
'जोगिनि एक बार है कोई । मागै जैस बियोगिनि होई ।
अबिह नवल जोबन तप लीन्हे । फारि पटोरा कंथा कीन्हें ।
बिरह भभूति जटा बैरागी । छाला कांध जाप कंठ लागी ।
मुंद्रा स्रवन डँड न थिर जीऊ । तन तिरसूल अधारी पीऊ ।
छात न छांह धूप जस मरई । पाय न पावहिं भूंभुरि जरई ।
सिंगी सबद धंधारी करा । जरै सो ठाउं पाउं जहं धरा ।
किंगरी गहे बियोग बजावै, बारहिं बार सुनाव ।
नैन चक्र चारिहुँ दिसि हेरै, दहुँ दरसन कब पाव ।।
२—प० स० टी०, २६४।८, 'नवौ नाथ चलि आवहिं औ चौरसी सिद्ध'।
३—हर्ष० सां० अ०, पृ० १५ ।

कृपा से ही मिल पाती है। भोजन के प्रारम्भ में आराध्य को भोग लगाने की प्रथा इसी भावना पर आधारित थी—'पांडे नहिं **भोग** लगावन पावै' (८६७), अथवा 'परुसि कृष्ण-हित ध्यान लगायौ।' (८६६) तथा—'मनसा करि प्रभुहिं अर्पि, भोजन कर डाटे।' (५४०)।

देवताओं की पूजा भी इसी प्रवृत्ति की परिचायक है। सूरसागर में **सिवसंकर**[1] (१३८४), **त्रिपुरारि** (१३८५), **गौरीपति** (१३८४), **महादेव** (१३८४), **गौरि** (४७६८; ४७६९), **सिवगौरि** (६६८), **रबि** (१३८५), **सालिग्राम** (८८१), **इंद्र** तथा **गोबर्द्धन-पूजा** (१४३८) प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। शिव-पूजा का निर्देश गोपियों द्वारा कृष्ण को पति-रूप में प्राप्त करने की कामना को प्रकाशित करता है। वह **'मालूर-पत्र-फल'** तथा **'कमल-पुहुप'** लेकर अर्चना करती हैं तथा' 'नेम-धर्म' से रहती हैं—'गौरी-पति पूजतिं ब्रजनारि—महादेव पूजतिं मन बच करि सूर स्याम की आस।' (१३८४), अथवा 'सिव सौं बिनय करतिं कुमारि। जोरि कर मुख करतिं अस्तुति, बड़े प्रभु त्रिपुरारि। छहौं रितु तप करतिं नीकैं, गेह नेह बिसारि।' (१३८५)। फिर इस तपस्या का फल उनको मिल जाता है—

'सिव संकर हमकौं फल दीन्हौ।

पुहुप, पान, नाना फल, मेवा, षटरस अर्पन कीन्हौ।' (१४१६)। इसी प्रसंग में **रबि** पूजन का वर्णन भी है—'बिनय अंचल छोरि रबि सौं, करतिं हैं सब बाम। हमहिं होहु दयालु **दिन-मनि** तुम बिदित संसार।' (१३८५), अथवा 'रबि सौं बिनय करतिं कर जोरे।' (१३८६), तथा '**नेम सहित** जुबती सब न्हाईं। मन मन **सबिता** बिनय सुनाई। **मूंदे नैन** ध्यान उर धारे। नन्द-नन्दन पति होंहिं हमारे। रबि करि विनय **सिवहिं** मन लीन्हौ। हृदय मांझ अवलोकन कीन्हौ। त्रिपुर-सदन **त्रिपुरारि त्रिलोचन**। गौरीपति **पशुपति** अघ-मोचन। गरल-असन, अहि-भूषन-धारी। जटा धरन, सिर गंगा प्यारी।।' (१४१७)।

नवम स्कन्ध में सीता द्वारा सूर्य-विनती का उल्लेख है—'दई असीस तरनि सन्मुख ह्वै चिरजीवौ दोउ भ्राता।' (५३१)। यशोदा भी सूर्य का ध्यान करती हैं—सूर महरि, सबिता सौं बिनवति, भली स्याम की जोरी।' (१३२१)। यशोदा का पुत्र-कामना के लिए

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० ५६,५७, थानेश्वर में सातवीं शती में ही शिव-पूजा का खूब प्रचार था। वाण ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। ('गृहे गृहे भगवानपूज्यत खण्डपरशु':)। शिव-भक्त गुग्गुल जलाते थे, शिव को दुग्ध स्नान कराते थे तथा विल्वपल्लव चढ़ाते थे। अन्य सामग्रियों में स्वर्ण स्नपन-कलश, अर्घपात्र, धूपपात्र, पुष्पपट्ट, यष्टिप्रदीप, ब्रह्मसूत्र तथा मुखकोश आदि शिवलिंग पर चढ़ाए जाते थे। मथुरा-कला में कुषाण काल से ही एकमुखी, चतुर्मुखी तथा पंचमुखी शिवलिंग मिलने लगते हैं। गुप्तकाल में एकमुखी शिवलिंग अधिक लोकप्रिय थे। पाशुपत शैव-धर्म की यह विशेषता (पत्थर में ही मुख बनाना) ज्ञात होती है। फिर उन पर सोने के खोल चढ़ाए जाने लगे जिनको 'मुखकोश' कहते थे। इसके आगे वाण ने भैरवाचार्य नामक महाशिव का वर्णन किया है।
पृ० १०८, प्रथम शताब्दी ईसा के बाद से मथुरा तथा पूरे उत्तर भारत में पाशुपत शैवों का प्रचार हो गया था।

सिव-गौरि की मानता का उल्लेख भी है—'जा सुख कौं सिव-गौरि मनाई, तिय ब्रत-नेम अनेक करी'' (६६८)।

कृष्ण को वर-रूप में पाने के लिए रुक्मिणी का गौरि-मन्दिर[1] (४७६८) अथवा अंबिका[2] मन्दिर (४७६६) में जाकर प्रार्थना करने का वर्णन है—'मुदित ह्वै गई गौरि मन्दिर, जोरि कर बहु बिधि मनायौ।' (४७६८) अथवा 'रुकमिनि देवी-मन्दिर आई। कुंवरि पूजि गौरी बिनती करी बर देउ जादवराई। मैं पूजा कीन्हीं इहिं कारन, गौरी सुनि मुसकाई। पाइ प्रसाद अम्बिका-मन्दिर, रुकमिनि बाहर आई।' (४७६६) इस प्रसंग में 'धूप दीप पूजा-सामग्री' (४७६६) लाने का उल्लेख भी है तथा देवी का मुस्कराना तथा उनका प्रसाद पाना भी वर्णित है।

२६५—गोवर्द्धन पूजा के पहले ब्रज के कुल देवता इन्द्र (१४२१) बताये गये हैं। कृष्ण के आग्रह पर ही ब्रजवासी गोवर्द्धन की पूजा करने को तत्पर होते हैं—'सुरपति की पूजा बिसराई' (१४२६), अथवा 'तुमहूं करौ भोग सामग्री, कुल देवता अमाति' (१४३१) अथवा 'करौ बिचार इन्द्र पूजा कौ—घर-घर नेवज करौ चंढ़ाई' (१४३४), और 'सुरपति की पूजा कौं मेटत, गोवर्द्धन की करत बड़ाई।' (१४३८) तथा—'कान्ह कह्यो गिरि गोबर्द्धन तैं और देव नहिं दूजा। गोपनि सत्य मानि यह लीन्ही, बड़ो देव गिरिराज।' (१४४०)। यहाँ गोबर्द्धन-पूजा का नैवेद्य शकटों में ले जाना (१४४५), स्त्रियों का शृंगार करके जाना (१४४७), ब्राह्मणों को बुला जज्ञ कराना, वेद-पाठ तथा गोबर्द्धन का तिलक तथा अन्नकूट की रचना आदि विधियों का उल्लेख किया जा सकता है—'बिप्र बुलाइ लिये नंदराइ। प्रथमारंभ जज्ञ को कीन्हौ, उठे बेद-धुनि गाइ। गोबर्द्धन सिर तिलक चढ़ायौ, मेटि इंद्र ठकुराई। अन्नकूट ऐसो रचि राख्यौ, गिरि की उपमा पाई।' (१४५०)। इसके बाद ही इन्द्र-कोप, गिरिवर-धारण तथा इन्द्र का कृष्ण की वंदना करना आदि प्रमुख प्रसंग आए हैं। गोवर्द्धन-पूजा ब्रज की स्थानीय विशेषता कही जा सकती है। इसी प्रसंग में कृष्णाभिषेक तथा उनके परब्रह्म रूप की विवेचना है—'पूरन ब्रह्म सनातन वेई, मैं भूल्यौ संसार। उनके आगैं चाहौं पूजा ज्यौं मनिदीप प्रकास।' (१५६२)[3]।

१—तुलसी ने भी मानस में विवाह के पहले सीता का गौरि-पूजन करने का महत्त्वपूर्ण प्रसंग दिया है। बाल० २३१; 'पूजन गौरि सखी लै आई'।, राम-दर्शन के बाद भवानीभवन (२३५) में पुनः जाकर प्रार्थना करती हैं—'पति देवता सुतीय महुं मातु प्रथम तव रेख। महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेख।, (२३५) मोर मनोरथ जानहु नीके'। गौरी का आशीर्वाद प्राप्त कर लौटती हैं—'पूजहिं मन कामना तुम्हारी।'

२—प० सं० टी०, १६०।१, महादेव पढ़ जाइ तुलानी।'

१६१।४, फर फूलन्हं सब मंडप भरावा। चंदन अगर देव नहलावा।
भरि सेंदुर आगे होइ खरी। परसि देव औ पाएन्ह परी।
बर संजोग मोहि मेरवउ, कलस जाति हौं मानि।

प० सं० टी०, २१०।२११, 'गौरि महेस खंड' में रत्नसेन की प्रेम-परीक्षा, पार्वती द्वारा उन पर अनुकम्पा करने का प्रसंग है।

३—ब्रज-लोक-संस्कृति, पृ०, १६०, ई० पूर्व दूसरी शती से ईसा सन् की छठी शती तक मथुरा उत्तर भारत में बौद्ध, जैन तथा हिन्दू धर्म का प्रधान केन्द्र था। कला

नन्द द्वारा सालिग्राम (८८१) [सं० शालिग्रामः] अथवा हरि-पूजा (८७८)[२] के वर्णन-विस्तार कई पदों में (८७८-८१) मिलते हैं। इसमें नन्द का 'अस्नान' कर यमुना-जल भारी में लाना, कंज आदि पुष्प संग्रह कर चरण धोकर मन्दिर में जाना, 'अस्थल' को लीप कर, पात्र[३] धोकर देव के काज करना आदि वर्णित हैं। (८७८) यह पूजा 'बिधिवत औ बहुभांति' (८७८) थी। यहाँ ही घण्ट बजाकर देवता को स्नान कराना तथा दल व चंदन

की दृष्टि से भी इसका महत्व था। यहाँ की बनी मूर्तियाँ कौशाम्बी, वाराणसी, श्रावस्ती आदि अनेक स्थानों में भेजी जाती थीं। हिन्दुओं के प्रायः सभी देवी-देवताओं—जैसे त्रिदेव, विष्णु, ब्रह्मा, शिव, पुरुष व लिंग, अग्नि, कार्तिकेय, सूर्य, कृष्ण, कामदेव, दुर्गा, पार्वती तथा बौद्धों, के बुद्ध ,जैनों के चौबीस तीर्थंकर आदि सबके स्वरूप निश्चित हो चुके थे। गुप्तकाल में इस मूर्तिकला का ही विकास हुआ। उसमें विश्वरूप विष्णु तथा महाविष्णु की मूर्तियाँ भी बनने लगी थीं। इनमें विष्णु के तीन मुख मिलते हैं—बीच का साधारण तथा एक वाराह व एक नृसिंह का। पीछे प्रभामंडल पर त्रिदेव, सूर्य, चंद्र, अग्नि नवग्रह आदि हैं। मध्यकालीन धार्मिक इतिहास में भी मथुरा, वृन्दावन वैष्णव धर्म के प्रमुख केन्द्र थे। वैष्णव धर्म के चार प्रमुख संप्रदाय थे—१. वैष्णव प्राचीनतम संप्रदाय था। वृन्दावन का रंग जी का मंदिर प्रधान था। रामनुज ने इसकी नींव डाली थी। २. निम्बार्क–निम्बार्काचार्य ने नींव डाली थी। मथुरा के पास ध्रुव टीले पर प्रधान मंदिर था। ३. मध्वाचार्य का माध्व संप्रदाय था जो मथुरा भर में फैला था। ४. बल्लभसंप्रदाय—गोवर्द्धन में श्रीनाथ जी का मंदिर प्रधान था।

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० १०६, धार्मिक संप्रदायों में बाण ने गृहस्थ जीवन के बाद वानप्रस्थ में प्रविष्ट होने वाले 'वैखानसों' का उल्लेख किया है। उन्होंने भागवत धर्म तथा पांचरात्रों की व्यूहपूजा के साथ साथ वैदिक यज्ञों को भी अपने धर्म में ग्रहण कर लिया था। वशिष्ठ तथा जनक उनके आदर्श थे। वैष्णव में भी चार भेद थे—भागवत, पांचरात्र, वैखानस, तथा सात्वत। पांचरात्रिक चतुर्व्यूह तथा उनमें से कुछ 'एकन्तिन्' कहे जाने वाले वासुदेव विष्णु को मानते थे। सात्वतों का प्राचीन नारायणीय धर्म था। वे विष्णु के अन्य अवतारों—वाराह, नृसिंह आदि को भी मानते थे। मथुरा-कला में इन अवतारों से संबंधित विष्णु की मूर्तियाँ मिली हैं। पृ० ११०, पांचरात्रिक संप्रदाय के लोग वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा साम्ब (पंचव्यूह) की उपासना करते थे। इनमें से वासुदेव तथा संकर्षण-पूजन प्राचीन था।

३—कृ० जी०, पृ० १२, अध्या० १५, मंदिरों में पूजा के पात्रों में कोपर, तस्टा, चरणोदकी (ठाकुर जी को नहलाने को तांबे की छोटी कटोरी), पंचपात्र (चरणामृत देने की चम्मच), परघी (पंचामृत देने की कटोरी), झारी (भगवान के सिंहासन के एक ओर रखते हैं), बन्टा (पूजा के जल का लोटा), हुरसा (चंदन घिसने का) आदि उल्लेखनीय नाम हैं।

भेंट करना, भोग[1] लगाना, आरती करना,[2] (८७६) तथा ध्यान समाधि लगाना (८८०) भी उल्लेखनीय हैं। कृष्ण का देवता द्वारा भोग न ग्रहण करने का सन्देह 'कहत कान्ह बाबा तुम अरप्यौ, देव नहीं कछु खाइ।' (८७६) सुनकर नन्द अनर्थ की शंका कर देवता को प्रणाम करने का आग्रह करते हैं—'सूर स्याम देवनि कर जोरहु, कुसल रहैं जिहिं गात।' (८७६)। देवताओं के प्रति इस अगाध विश्वास को आज भी अनेक हिन्दुओं में देखा जा सकता है। इस प्रसंग में कृष्ण का शालिग्राम की बटी मुख में रख लेना व नन्द को तीनों लोक दिखाना आदि भी वर्णित है (८८०, ८८१)। काले रंग की गोल पत्थर की बटिया को ही 'शालिग्राम' कहते हैं जो एक प्रकार की विष्णु की ही मूर्ति है।

अन्य देवी देवताओं में सारद (६५८ १११०) [सं० शारदा=सरस्वती] तथा बलराम का गुणगान भी है—'स्याम बलराम कौं सदा गाऊं' (१६७)। 'सोहिलौ' में ब्रज की स्त्रियाँ शारदा का भी स्मरण करती है—'गौरि गनेस्वर बीनऊं (हो) देवी सारद तोहिं।' (६५८)। जायसी ने मनोवांछित वर-प्राप्ति के लिए महादेव-पूजन का उल्लेख किया है (१६१), किन्तु वसन्त पूजन में 'बिसेसर देउ' का उल्लेख है (१८६)।

२६६—उपर्युक्त पद्यांशों मे पूजा से पहले स्वच्छता के लिए स्नान का बराबर निर्देश है। इसके अतिरिक्त पवित्र नदियों तथा तीर्थस्थानों में स्नान के माहात्म्य का अनुमान भी गंगा-स्नान तथा [3]कुरुक्षेत्र-स्नान के उल्लेखों से किया जा सकता है—'गंग-प्रवाह जो न्हाइ। सो पबित्र, ह्वै हरिपुर जाइ।' (४५३)।

अथवा—'परम पवित्र, मुक्ति की दाता, भागीरथहिं भव्य बर दैन।' (४५६)

तथा—'बड़ौ परब रबि-ग्रहन कहा कहौ तासु बड़ाई।
चलौ सकल कुरुखेत, तहाँ मिलि न्हैयै जाई।' (४८६३)।

रबिग्रहन (४८६३) अथवा सूरजग्रहन (४६१६) के परब अथवा पर्ब (४८६३, ४६१६) [सं० पर्व] पर कुरुक्षेत्र स्नान का महत्त्व दशम-स्कन्ध उत्तरार्द्ध के इन पदों से स्पष्ट है। साथ ही ये अंश धार्मिक दृष्टि से ग्रहण के माहात्म्य के परिचायक हैं।

दान[4] का उल्लेख संस्कारों तथा त्योहारों आदि के सिलसिले में किया जा चुका है। हिन्दू धर्म में दान का विशिष्ट स्थान है। सूरसागर के अनेक उल्लेखों से यह अनुमान किया जा

१—भगवान को भेंट किया जाने वाला नैवेद्य ही 'भोग' कहलाता है। भोग चढ़ाने के बाद उसमें से ही भगवान का प्रसाद भक्तों को दिया जाता है।

२—पूजा के समय आज भी दाहिने हाथ से आरती करते हैं तथा बांएं हाथ से घण्टी बजाते हैं। आरती पीतल की बनती है तथा उसमें सात या आठ दीपक होते हैं।

३—बर्नियर पृ० ३०२, बर्नियर ने सूर्य-ग्रहण के अवसर पर हिन्दुओं का यमुना में स्नान करने और उसके बाद ब्राह्मणों को दान देने का उल्लेख किया है। उन्होंने इस पर्व पर गंगा, सिन्धु आदि अन्य नदियों तथा थानेश्वर के तालाब के स्नान की महत्ता का भी जिक्र किया है। उस समय का प्रसिद्ध सूर्य-ग्रहण १६६६ ई० में पड़ा था।

४—प० सं० टी०, २४५।२, 'दिया सो सब जप तप उपराहीं।'
१४५।४, 'दिया सो काज दुहूं जग आवा।'
१४६।१, 'राजा दत्त सत्त दुहुं सतं।'

सकता है। विपत्ति टलने पर दान देने की प्रथा की ओर भी कवि ने संकेत किया है। नन्द वरुण के पाश से छूटकर जाते हैं तो यशोदा आनन्दित हो दान करने का आग्रह करती हैं—

'अब तौ कुसल परी पुन्यनितें[1] द्विजनि करौ कुछ दान।' (१६०३)।

पुण्य कर्मों का प्रभाव मनुष्य जीवन पर पड़ने की धारणा भी हमारे अनेक विश्वासों में से एक है। तीर्थस्थानों के माहात्म्य का उल्लेख विनय पदों में है। स्थानों के नाम में इस सम्बन्ध में बताया जा चुका है।

२६७—जप-तप[2] भी धार्मिक कृत्यों में सम्मिलित हैं। गोपियों की कृष्ण को पति-रूप में प्राप्त करने की कामना इतनी तीव्र थी कि वे इसके लिए जप-तप, स्नान, पूजा आदि सभी[3] करती थीं—'नेम धरम तप साधन कीजै', 'व्रत साधति नीकै तन गारी।', 'प्रात उठैं जमुना-जल खोरैं। सीत उष्न कहुं अंग न मोरैं।', 'पति कैं हेत नेम तप साधैं।' तथा 'माघ सीत कौ भीत न मानैं। षट ऋतु के गुन सम करि जानैं।' (१४१७)। इस प्रकार छहों ऋतुओं में साधना, माघ की ठंड से भी न डर, तीन बार स्नान तथा नियमों के अनुसार रहना तथा श्रद्धा पूर्वक चौदह रातें जागना व भोजन न करना आदि उनकी तपस्या में वर्णित है—'सीति भीति नहिं करतिं छहौ रितु त्रिविध काल जल खोरैं।' गौरी-पति पूजतिं, तप साधतिं करत रहतिं नित नेम। भोग-रहित निसि जागि चतुर्दसि जसुमति सुत कैं प्रेम।' (१४००)। सूर वर्णित गोपियों की यह तपस्या कालिदास वर्णित पार्वती-तपस्या का स्मरण कराती है।[4] ब्रजवासिनी गोपिकाओं के तप तथा व्रत का 'नीकें व्रत कीन्हौ तनु गारी। व्रत ल्यायौ धरि मैं गिरधारी।' (१४१७) वर्णन तो अनेक बार हैं ही, साथ ही कुछ विशेष व्रतों का भी उल्लेख है। इनमें एकादसि (१६०२) [सं० एकादशी] के वर्णन-विस्तार मिलते हैं—'उत्तम सकल एकादसि आई। विधिवत व्रत कीन्हौ नन्दराई। निराहार जल-पान बिबर्जित। पापनि रहित धर्म-फल-अर्जित।' (१६०२)। निर्जल रहने के साथ ही नन्द ने दिन रात निरन्तर नारायण का जप किया तथा रात्रि जागरण में व्यतीत की। तदनन्तर देव मन्दिर पाटम्बर से सुसज्जित कर पुहुप-माल-मंडली बनाई

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ३८७, पाणिनि ने भी 'पुण्यकृत', 'सुकर्मकृत', तथा 'पापकृत' आदि कर्मों के भेद किए हैं। 'महापातक' भयंकर पाप कर्म के उल्लेख के साथ सुकृत्यों में 'प्रज्ञा', 'श्राद्ध', 'तप', 'त्याग', 'विवेक', 'धर्म', 'शम', 'दम', आदि माने जाते थे। पाणिनि ने 'धर्म' शब्द को दो अर्थों में प्रयुक्त किया है—१. धर्म-सूत्रों में आए आचार अथवा तत्कालीन समाज द्वारा निर्देशित नियमों के अनुकूल, २—धार्मिक अथवा नैतिक कर्म। अन्य विश्वासों में पाणिनि ने शरीर के प्राकृतिक चिन्हों से भविष्य सूचना, भविष्य-वेत्ताओं से शुभ बातें तथा कुछ दिन-रात शुभ मानना आदि का उल्लेख किया है।

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ३८६, पाणिनि ने धार्मिक कृत्यों में जप (मंत्रों को बार बार पढ़ना), 'चान्द्रायण', 'बलि' आदि का उल्लेख किया है।

३—पूजन के सोलह अंग माने गए हैं—'आसनं स्वागतं पाद्यमर्घमाचमनीयकम्।
मधुपर्काचमस्नानं वसनाभरणानि च।
गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यं वन्दनं तथा।

४—कालिदास, कुमारसंभव, पंचम सर्ग, श्लोक २२, २६, २६।

तथा चंदन में लीपा। फिर चौक की रचना कर बैठकी पर सालिग्राम को बैठाया। उनकी पूजार्चना में धूप-दीप नैवेद्य, आरति, ध्यान आदि की चर्चा की गई है। तृतीय पहर रात्रि जाने पर उन्होंने यशोदा से कहा—'दंड एक द्वादसी सकारे। पारन की विधि करौं संवारे।' (१६०२)। फिर वह स्नान करने यमुना तट पर गए। पारन [सं० पारणं= समाप्ति] व्रत की समाप्ति पर प्रथम भोजन को कहते हैं। एकादशी व्रत विष्णुभक्त विशेष रूप से रखते हैं। उपर्युक्त वर्णन से तत्कालीन व्रत रखने की विधि पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। सूर ने एक विनय पद में तीर्थों के नामों के साथ चंद्रायन[२] (३४६) [सं० चान्द्रायण] का नाम-मात्र ही दिया है।

२६८—यह सभी धार्मिक कृत्य पुण्य के साधन हैं। यहाँ जज्ञ[१] (३९११, १४१८) [सं० यज्ञः] अथवा होम (६२२) [सं० होमः] का उल्लेख भी किया जा सकता है। यज्ञ तथा होम[२] साधारणतः संस्कार, उत्सवों आदि के अवसर पर उल्लिखित हैं अथवा व्रत, तप आदि पुण्य कृत्यों में। कृष्ण-लीलाओं में एक प्रसंग यज्ञ-पत्नी-लीला भी है। इसमें भक्ति-भावना को इस वैदिक कर्मकांड से ऊँचा स्थान दिया गया है। भूख लगने पर गोप कृष्ण की आज्ञानुसार यज्ञ-कर्म में व्यस्त बाम्हनों के निकट जाते हैं किन्तु वे यज्ञ की रसोई [सं० रसवती] देने से इंकार कर देते हैं—'हरि कह्यौ जज्ञ करत तहं ब्राह्मन। जाहु उनहिं ढिग भोजन मांगन—जज्ञ हेत हम करी रसोई। ग्वालनि पहिलैं देहिं न सोई।' किन्तु उनकी पत्नियों से उनको भोजन मिल जाता है—'उनकैं हिय दृढ़ भक्ति हमारी। मानि लेहिं वैं बात तुम्हारी।...भक्ति भाव सौं जो हरि ध्यावै। सो नर नारि अभय-पद पावै।' (१४१८)

राजसूय[३] (११) यज्ञ का विशेष उल्लेख एक विनय पद में है—'राजसूय मैं चरन पखारे स्याम लिये कर पानी।' इसी प्रकार अस्वमेध जज्ञहु (३४६) से गोविंद-भजन की महिमा अधिक बताई गई है। (११)। यज्ञ में पशु बलिदान प्रथा का निर्देश भी है—'हम तौ भई जज्ञ के पशु ज्यौं, केतिक दुख सहियै।' (३९११)

यह दोनों यज्ञ क्षत्रिय राजा किया करते थे। इनमें 'इष्टि', 'पशु' तथा 'सोम' सम्मिलित होते थे। राजसूय यज्ञ राजा के राज्याभिषेक के समय किया जाता था। यह वसन्त से प्रारम्भ होकर दो वर्ष तक चलता था। इसमें साधारणतया पशु-बलि तथा सोमरस का वितरण किया

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० १०७, धार्मिक सम्प्रदायों के वर्णन में वाण ने जैन साधुओं का उल्लेख भी किया है जो 'चान्द्रायण' आदि अनेक व्रत रखते थे तथा अत्यधिक अल्पाहार करते थे।

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ३६५, यज्ञ शब्द यज् (=पूजा करना) से निकला है। पाणिनि ने 'इज्या' शब्द भी प्रयुक्त किया है। यजुर्वेद वलि तथा पूजन आदि विषयों से संबंधित है।

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० १६०, १११, सम्प्रदायों की सूची में 'सासतन्तव' शब्द यज्ञवादी मीमांसकों का द्योतक है। ऋग्वेद (१०।५२।४, १०।१२४।१ में 'सप्ततन्तु' यज्ञ का ही विशेषण है। महाभारत में भी सप्ततन्तु यज्ञ को कहा गया है।

३—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ३६७, पाणिनि ने राजसूय का उल्लेख किया किया है।

४—० सं० टी०, ३७।१६, 'कहे मरौं पै बिनउर करौं जगि असुमेत्र'

जाता था। राज्याधीन राजा सम्मिलित होकर उपहार भेंट करते थे तथा अन्य अनेक प्रकार से उत्सव मनाते थे। अश्वमेध यज्ञ भी वसन्त से प्रारम्भ होकर एक वर्ष तक चलता था। इसका प्रधान ध्येय अन्य राजाओं पर आधिपत्य प्राप्त करना था। एक घोड़ा सेना के साथ छोड़ दिया जाता था। जो राज्य आधिपत्य मानने से इनकार कर देता था उसको युद्ध करना पड़ता था।

२६९—सूर ने सभी तीर्थ-स्थलों में ब्रज का माहात्म्य सबसे अधिक माना है जहाँ विष्णु ने अपने सगुण रूप में अनेक लीलाएं कर सबको अमित आनंद दिया—'बृन्दाबन ब्रज कौ महत कापै बरन्यौ जाइ' अथवा 'बृन्दाबन रज ह्वै रहौं, ब्रह्मलोक न सुहाइ' (१११०) तथा 'बंसीबट, बृन्दाबन, जमुना, तजि बैकुंठ न जावै।' (३४९)।

विनय-पदों में कवि ने नाम-महिमा को सभी पुण्य संचय करने वाले प्रचलित धार्मिक कृत्यों के ऊपर रक्खा है—'गोबिन्द-भजन करौ इहिं बार। संकर पारबती उपदेसत, तारक मंत्र लिख्यौ स्रुति द्वार। अस्वमेध जज्ञहु जो कीजै, गया बनारस अरु केदार। राम-नाम सरि कोऊ न पूजै, जौ तनु गारौ जाइ हिवार। सहस बार जौ बेनी परसौ, चंदायन कीजै सौ बार।' (३४६) अथवा 'जो सुख होत गुपालहि गाएँ। सो सुख होत न जप-तप कीन्हें, कोटिक तीरथ न्हाएँ।' (३४९)। कवि ने यही मार्ग श्रुति प्रदर्शित भी माना है—'है हरि नाम कौ आधार। सकल स्रुति दधि मथत पायौ इतोई घृत-सार।' (५४७)।

इस प्रकार कवि की सम्मति में कर्मकाण्ड की उतनी महिमा नहीं जितनी कामना-हीन भक्ति भाव की है—'जौ लौं मन कामना न छूटै। तौ कहा जोग-जज्ञ-ब्रत कीन्हैं, बिनु कन तुस को कूटै। कहा सनान कियैं तीरथ कै, अंग भस्म जट-जूटै। कहा पुरान जु पढ़ैं अठारह, ऊर्ध्व धूम के घूंटै।' (३६२)।

२७०—सराध[1] (२९०) [सं० श्राद्ध] अथवा नांदीमुख पितर (६४२) [सं० नान्दीमुख + पितरः] भी एक धार्मिक कृत्य माना गया है। इसमें शास्त्रानुसार पूर्वजों के लिए कृत्य किए जाते हैं। परीक्षित कथा में 'सराध' का उल्लेख है—'जज्ञ, सराध न कोऊ करै। कोऊ धर्म न मन मैं धरै।' (२९०)। नांदीमुख श्राद्ध एक आभ्युदयिक श्राद्ध है जो किसी शुभ कार्य के प्रारंभ में करते हैं—जैसे अन्नप्राशन, उपनयन या विवाह।[2] दूसरा श्राद्ध 'अश्रुमुख' है जिसे मृत्यु आदि शोक अवसर पर या वैसे भी कभी कभी करते हैं। अतएव कृष्ण जन्मोत्सव में नंद द्वारा इस कृत्य के करने का उल्लेख स्वाभाविक है—'तब न्हाइ नंद भए ठाढ़...अंतर सोच हरे।' (६४२)

४—अन्य विश्वास

२७१—सूरसागर में हिन्दू समाज में प्रचलित कुछ तत्कालीन अंध-विश्वासों का भी निर्देश हुआ है। इनमें से बच्चे को बुरी नजर से बचाने के लिए केहरि-नख, बघनहाँ (७३९, ७६६) पहनाने की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। बच्चे पर टोना[3] (४४,२२०४) [सं० स्तवन—टउन + क—'मोहन, जोहन, मंत्र जंत्र टोना, सब तुम पर वारत' (२२०४) कर देने में विश्वास था। अपने बच्चे के रूपा धिक्य से भयभीत हो माता का कुदृष्टि से बचाने

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ३८६, अष्टाध्यायी में 'पितृ' को देवता माना गया है तथा श्राद्ध में भोजन करने वाले 'श्राद्धी' या 'श्राद्धिक' कहलाते थे।

२—नांदीमुख श्राद्ध को 'काम्य' (पूर्वजों का आशीर्वाद लेना), 'आभ्युदयिक' (समृद्धि के लिए) अथवा 'वृद्धि' श्राद्ध भी कहते हैं।

३—प० सं० टी०, ४४८।६, 'सिखा कावरूँ पाढ़ित टोना।'

के लिए **राइलोन** (७३६) उतारने की प्रथा की ओर ध्यान जाता है—'बलि गइ बाल-रूप मुरारि।...कबहुँ अंग भूषन बनावति, राइ लोन उतारि।' (७३६)। इसी प्रकार आपत्ति को टालने के लिए माता का **तृन तोरना** भी प्रचलित था–'प्रभु बरष-गांठि जोरति, वा छबि पर **तृन तोरति**, सूर अरस परसनि।' (७१४)। बच्चे को बाहरी लोग खाते समय **दीठ** (१०५) न लगा दें, इसका उल्लेख भी हुआ है—'बाहिर जनि कबहूँ कछु खैये, डीठि लगैगी काहु।' उसके अनिष्ट की इच्छा करने वाले शत्रु के प्रति माता की यह भावना थी–'बैरिनि कैं मुँह खेह।' (१६०५)। जल को सिर पर से उतार कर पीने के पीछे भी यही भावना रहती थी। देवकी कृष्ण-रुक्मिणी-विवाह की समाप्ति पर ऐसा करती हैं- 'देवकी पियौ वारि पानी, दै असीस निहारती।' (४८०४)। गोपियाँ भी तृणावर्त-वध के बाद ऐसा ही करती हैं—'पीवति सूर वारि सब पानी।' (६६६)। निछावर का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसके द्वारा भी भावी विपत्ति टलने का विश्वास प्रचलित है। 'घर-घर हाथ **दिवावति डोलति**' (७०१) का उल्लेख कृष्ण के मुख में तीनों लोक देखने पर यशोदा के चिन्ता-वर्णन में है।

२७२—अन्धविश्वासों में ही **सगुन** [सं० शकुन] (५२७,४८६५), अथवा **कुसगुन** (११५६,११६०) तथा **अपसगुन** (२८६) का उल्लेख किया जा सकता है। लोग शुभ सूचनाओं का पूर्वाभास अच्छे शकुन से मानते हैं। सूरसागर में इनकी लम्बी सूची कई प्रसंगों मे मिलती है। इनमें से प्रमुख प्रसंग यह है—नवम स्कन्ध में हनुमान के आने के पहले सीता को अच्छे शकुन का आभास होना—'इतनौ कहत **नैन उर फरके**[1] सगुन जनायौ अंग।' (५२७) इसी स्कन्ध में कौशल्या का **सगुनौती**[2] (६०८) मानने का उल्लेख है। वह राम-लक्ष्मण के आने की कामना कर रही थीं कि कौआ उड़कर हरी डाल पर बैठ गया। अच्छा शकुन मान कर उन्होंने अपने अंचल में गाँठ लगा ली। उसको दूध-भात देने व चोंच सोने से मढ़ाने की प्रतिज्ञा करती है[3]। कौए का आँगन में बोलना भी शुभ-सूचना देता है—'तेरैं आवैंगे आजु सखी हरि, खेलन कौं फागु री। **सगुन संदेसौ हौं सुन्यौं**, तेरैं आंगन बोलै काग री। (३४७७)।

अक्रूर वृन्दावन जाते समय 'दाहिनैं देखियत मृग-माल'[4] को शुभ शकुन (३५६४) मान

१—रामाज्ञा, ५, २, ५ फरकत मंगल अंग सिय बाम बिलोचन बाहु।
मानस, उत्तर०, ४, 'भरत-नयन भुज दच्छिन, फरकत बारहिं बार।
जानि सगुन मन हरष अति, लागे करन बिचार॥'

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० ३६, बाण का घर से चलते समय का वर्णन है। उसमें तत्कालीन प्रचलित कुछ धार्मिक कृत्यों एवं अन्धविश्वासों पर प्रकाश पड़ता है। सूरसागर में उल्लिखित विश्वासों से उनकी सरलता से तुलना की जा सकती है।

३—तुलसी, गीता०, ६, १६ 'दूध भात की दोनी दैहौं सोने चोंच मढ़ैहौं।'

४—तुलसी ने (मानस, बाल०, ३०३) भी राम के विवाह के पहले कुछ शकुनों का वर्णन किया है—'बनइ न बरनत बनी बराता। होहिं सगुन सुंदर सुभ दाता।
चारा चाखु बाम दिसि लेई। मनहुँ सकल मंगल कहि देई॥
दाहिन काग सुखेत सुहावा। नकुल दरस सब काहूँ पावा।
सानुकूल बह त्रिबिधि बयारी। सघट सबाल आव बर नारी॥
लोवा फिरि फिरि दरस देखावा। सुरभी सन्मुख सिसुहिं पिआवा।
मृगमाला फिरि दाहिनि आई। मंगल गन जनु दीन्हि देखाई॥

लेते हैं। इसी प्रकार उद्धव के आने से पहले वृन्दावन में अच्छे शकुनों को देख लोग किसी शुभ सूचना की प्रतीक्षा करते हैं। इस सूची में 'बार-बार अलि लागै स्रवननि', 'काग उड़ावन लागी' (४०७२) तथा 'भुज फरकत अंगिया तरकति, कोउ मीठी बात सुनावै' (४०७२) तथा 'तौ तू उड़ि न जाइ रे काग। जौ गुपाल गोकुल कौ आवै, तौ ह्वै है बड़भाग। दधि ओदन भरि दोनौं देहौं, अरु अंचल की पाग।' (४०७४)। इन शकुनों से ही वह कृष्ण के आने के समाचार का निश्चय कर लेती है—'स्यामसुंदर कौ आगम जानिय, वै निश्चय घर आवैं। इमि सगुननि कौ यहै भरोसौ, नैननि दरस दिखावैं।' (४०७२)।

कृष्ण जब व्रज के लोगों को कुरुक्षेत्र में मिलने का संदेश भेजते हैं तो वहाँ पहले से ही वह लोग शुभ-समाचार की प्रतीक्षा कर रहे थे। शकुनों में यहाँ भी कौए का बोलना व नैन तथा शरीर के अंगों का फड़कना प्रमुख रूप से वर्णित है—'बायस गहगहात सुनि सुंदरि'—कुच भुज नैन अधर फरकत हैं, बिनहिं बात अंचल ध्वज डोली।' (४८६४)।

अथवा—'माधौ अ वनहार भए। अंचल उड़ि मन होत गहगहौ फरकत नैन खए।
बेई देखि सोच जिय अपनैं, परगट सगुन दए।' (४८६०)।

सुदामा भी कृष्ण के पास जाते समय सगुन से ही आश्वासित होते हैं (४८४५), किन्तु यहाँ इनकी सूची नही दी गई है।

२७३—अशकुन अनिष्ट की सूचना देते हैं। सूरसागर में वर्णित सूची द्वारा उस समय जन-साधारण में प्रचलित इन विश्वासों का अनुमान हो जाता है।[1] काली-दह-लीला तथा दावानल-पान-लीला के पहले माता पिता को अशुभ घटना की आशंका छींक से हो जाती है—'महर पैठत सदन भीतर, छींक बाईं धार। (११४२) तथा—छींक परी ती आजु सवारे।' (१२१३)। कालीदह-घटना के पहले अशकुन-सम्बन्धी (११५८-११६०) कई पद हैं। इनमें 'मंजारो आगै ह्वै आई, बाएँ काग, दाहिनै खग-धार' (११५८) 'पैठत पौरि छींक भई बांए, दहिने धाह सुनावत। फटकत स्रवन स्वान द्वारे पर गररी करति लराई। माथे पर ह्वै काग उड़ान्यौ, कुसगुन बहुतक पाई।' (११५९)। प्रथम-स्कन्ध में भी कृष्ण की मृत्यु से पहले युधिष्ठिर आदि अपसगुन देखकर भावी दुर्घटना से चिन्तित हो उठते हैं—'रोवैं बृषभ, तुरग

छेमकरी कह छेम बिसेखी। स्यामा बाम सुतरु पर देखी।
सन्मुख आयउ दधि अरु मीना। कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना।'
प० सं० टी०, १३५।१-८, 'आगे सगुन सगुनियाँ ताका।—कवि कहा बिस्रास।'
जायसी द्वारा दी गई इस सूची में दही, मछली, जल से भरा कलश, मोर, सर्प के मस्तक पर खंजन का बैठना, दाईं ओर दौड़ता हुआ हिरन, तीतर व गधे का बाई ओर बोलना, सांड़ का चिल्लाना, गादुर, क्षेमकरी चील व लोमड़ी का दर्शन, तथा कुररी व क्रौंच पक्षी का बोलना आदि उल्लेखनीय हैं।
'ओजा मृगाः व्रजन्तोऽपि धन्या वामे खरस्वनः', मुहूर्त चिन्तामणि, यात्रा प्रक०, श्लोक १०४।

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० ६६, प्रभाकरवर्धन की मृत्यु से पहले तथा हर्ष के सैनिक प्रयाण से शत्रुओं में होने वाले अनेक अपशकुनों की लम्बी सूची से बाणकालीन विश्वासों पर प्रकाश पड़ता है तथा सूर के समय में माने जाने वाले अपशकुनों से उनकी तुलना की जा सकती है।

ग्ररु नाग। स्यार द्यौस, निसि बोलैं काग[१]। कंपै भुव वर्षा नहिं होइ। भयौ सोच नृप-चित यह जोइ।' कुसपने का निर्देशन भी हुग्रा है। (२८६) तुलसी की शब्दावली में भी ग्रशकुनों की लम्बी सूची है।[२] कुछ तो सूर सागर में मिलते ही हैं।

२४७—सूरसागर में कुछ प्रसंगों से स्वप्न-सम्बन्धी विश्वासों पर भी प्रकाश पड़ता है। नवमस्कन्ध में त्रिजटा-स्वप्न का वर्णन है—'सुनि सीता सपने की बात। रामचन्द्र लछिमन मैं देखे, ऐसी बिधि परभात। कुसुम-बिमान बैठी बैदेही देखी राघव पास।...रावन-सीस पुहुमि पर लोटत, मंदोदरि बिलखाइ। या सपने कौ भाव सिया सुनि, कबहु बिफल नहिं जाइ।' (५२७)। इस प्रकार के ग्रच्छे स्वप्नों के समान बुरे स्वप्न भी होते थे जिसको सत्य मान कर लोग व्याकुल हो उठते थे—'सपनै कूदि पर्यौ जमुना-दह, काहूँ दियौ गिराइ।' (११३५), ग्रथवा 'सपनौं सुनि जननी ग्रकुलानी (११३७) इसी प्रकार कृष्ण एक स्वप्न में गिरि गोवर्धन की पूजा करने के सम्बन्ध में देखते है ग्रौर ब्रज-वासियों से ऐसा करने का ग्राग्रह करते हैं—'सुपनैं ग्राजु मिल्यौ मोकौं, इक बड़ौ पुरुष ग्रवतार जनाई—गिरि गोबर्धन देवनि कौ मनि, सेवहु ताकौं भोग चढ़ाई' (१४३७)।

उपर्युक्त स्वप्नों से भविष्य की घटनाग्रों का ग्राभास[३] होने तथा उन पर लोगों के विश्वास का परिचय मिलता है। वियोगिनी गोपिकाग्रों के स्वप्न विभिन्न प्रकार के हैं। इन स्वप्नों द्वारा ग्राराध्य के दर्शन की तीव्र ग्राकुलता का चित्रण किया गया है। यह उनके दिन-रात इष्टदेव का चिन्तन करने का प्रमाण है। स्वप्नों में वे उनके क्षणिक भ्रम पूर्ण दर्शन को ग्रसत्य समझती हुई भी उनसे बिछड़ना नहीं चाहतीं—'सोवत मैं सपनैं सुनि सजनी,

---

१—हर्ष० सां० ग्र०, पृ० १३५, शांख्यायन गृह्यसूत्र (५-५-४) के ग्रनुसार ग्राधी रात को कौवों का बोलना ग्रशुभ समझा जाता था।

२—रामाज्ञा, ५,६,३ ऊकपात दिकदाह दिन, फेकरहिं स्वान सियार।
उदित केतु गतहेतु महि, कंपति बारहि बार।'
मानस०, ग्रयोध्या० २०, 'सुनु मंथरा बात फुरि तोरी।
दहिनि ग्रांख नित फरकइ मोरी।।
दिन प्रति देखहुँ राति कुसपने।
कहउं न तोहि मोह बस ग्रपने।।
१५८, 'खर सियार बोलहिं प्रतिकूला।'
मानस, लंका, १०२, 'प्रतिमा स्रवहिं नयन मग बारी।'
'प्रतिमा रुदहिं पबिपात नभ ग्रति, बात बड़ डोलति मही।
बरषहिं बलाहक रुधिर कच रज, ग्रसुभ ग्रति सक को कही।'

३—हर्ष० सां० ग्र०, पृ० ६४, बाण के समय में भी इस प्रकार के स्वप्नों पर विश्वास किया जाता था। देवी यशोवती ने बच्चों के जन्म के पहले एक स्वप्न देखा कि दो कुमार एक कन्या के साथ सूर्यमण्डल से निकल कर उनके उदर में प्रविष्ट हुए।
जायसी ने भी पद्मावत में रत्नसेन के दर्शन के बाद पद्मावती के एक स्वप्न देखने का उल्लेख किया है (१६७।३-६)। सखी ने उस पर विचार कर बताया कि महादेव ने तुम्हारी कामना पूरी कर दी है तथा तुम्हें मनोवांछित पति प्राप्त होगा (१६८)।

ज्यों निधनी निधि पाई। गनतहिं आनि अचानक कोकिल, उपबन बोलि जगाई (३८७७), अथवा—'सुपनैं हरि आए हौं किलकी।' (३८७६) तथा 'बहुरौ भूलि न आंखि लगी। सुपनैहूँ के सुख न सहि सकी, नींद जगाइ भगी।' (३८८३)।

स्वप्नों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में इन दो प्रकार के स्वप्नों की भी गिनती है—एक तो भविष्य का पूर्वाभास करने वाले, तथा दूसरे अतृप्त इच्छाओं को पूरी करने वाले तथा हर समय मस्तिष्क में रहने वाले विचारों के फलस्वरूप आने वाले स्वप्न।

५—अन्य सांप्रदायिक शब्द

२७५—सूरसागर में जहाँ तहाँ कुछ सम्प्रदायों के नामों का उल्लेख हुआ है। उनके नाममात्र ही मिलते है अत: यहाँ इनका संक्षेप में निर्देश कर देना अप्रासंगिक न होगा।

जोगी अथवा **जोगिनि** (४५५, ४०३७, ३५, २६३) के सम्बन्ध में अलग बताया ही गया है, क्योंकि इनसे सम्बन्धित अनेक शब्दों का परिचय मिलता है। उद्धव-गोपी संवाद में विशेष रूप से प्रेम-भक्ति मार्ग के साथ योग-मार्ग की तुलना अनेक पदों में की गयी है।

कपालिक[१] (४५५) [सं० कापालिक:]—'जय, जय, जय, जय, माधव बेनी। जा परसैं जीतैं जम-सैनी, जमन **कपालिक, जैनी**।' (४५५)। यह शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही एक प्रकार से उसका उप-सम्प्रदाय सा था। कापालिक अपने पास कपाल रखने के कारण इस नाम से विख्यात हो गए। इसी पद्यांश में **जैनी**[२] साधुओं का उल्लेख भी हुआ है। **दिगम्बर** (४१३६) का उल्लेख योग-प्रसंग में हुआ है—'कहं अबला कहं दसा दिगम्बर, मष्ट करौ पहिचाने।' जैन धर्म की दो प्रधान शाखाएँ थीं—श्वेताम्बर और दिगम्बर।

इनके अतिरिक्त ज्ञान अथवा कर्म मार्ग के अन्य कुछ अनुयायियों के लिए साधारण अर्थ में कुछ शब्द जैसे **तपसी** (५२६, ५३८), **साधु** (४५, ३५३२), **गुसाईं** (१०३) [सं० गोस्वामिन्] तथा **स्वामी** (५२) आदि मिलते हैं—'**तपसी** तप करैं जहाँ, सोई बन झाँखौ।' (५२६), अथवा—'रावन भेष धर्‌यौ तपसी कौ, कत मैं भिच्छा मेली।' (५३८), अथवा 'मेरौ मन मति-हीन **गुसाईं**।' (१०३), अथवा—'तिलक बनाइ चले **स्वामी** ह्वै बिषयिनि के मुख जोए।' (५२) तथा 'बेष धरि-धरि हर्‌यौ पर-धन, साधु-साधु कहाइ।' (४५) तथा 'साधु असाधु न समझहीं, हरि होरी है।' (३५३२)। इस प्रकार कवि ने प्राय: कर्मकांड का उपहास किया है तथा भगवत्भजन ही श्रेयस्कर बताया है—'बाद बिबाद, जज्ञ-ब्रत-साधन, कितहूँ जाइ, जनम डहकावै। होइ अटल जगदीस भजन मैं, अनायास चारिहुं फल पावै।' (२३३)। 'अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल' (१५३) पद में साधुओं की

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० ५६, भैरवाचार्य की बेताल-साधना में स्फटिक कुंडल का उल्लेख है। इन कनफटे साधुओं का सम्प्रदाय सातवीं शती में कापालिकों के साथ मिल गया था। गोरखनाथ ने इस सम्प्रदाय में प्रचलित वीभत्स क्रियाओं को हटाकर सम्प्रदाय को ठीक करने का यत्न किया था।

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० १०६,१०२,१०८,१६१, हर्षचरित में उल्लिखित सम्प्रदायों में जैन साधुओं का उल्लेख भी है। इन लोगों को निराहार रहने वाला तथा लम्बे लम्बे उपवास करने वाला बताया गया है।

वेशभूषा तथा मंदिरों के कीर्त्तन पर भी प्रकाश पड़ता है। 'चोलना', 'माल', 'नूपुर', 'पखावज', 'नाद', 'ताल', 'फेंटा बाँध्यो,' 'तिलक' आदि शब्द इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। एक अन्य पद में भी ऐसा ही चित्रण है—

'भाल तिलक, स्रवननि तुलसीदल मेटे अंक बिए।
मूँड़्यौ मूँड़, कंठ बनमाला, मुद्रा चंद्र दिए।' (१७२)।

'साधु' का प्रयोग संतों के साधारण अर्थ में भी किया गया है—'ना हरि-भक्ति न साधु समागम, रह्यौ बीचहीं लटकैं।' (२९२)। सत्संग को भक्ति का साधन समझ अनेक पदों में कवि ने उसकी महिमा का गुणगान किया है।

जायसी ने भी तत्कालीन सम्प्रदायों का उल्लेख किया है।[1] यह नामावली तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश डालने के कारण महत्त्वपूर्ण है।

१—प० ं० टी०, ३०१४-९—

कोइ रिखेस्वर कोइ सन्यासी। कोइ रामजन कोइ मसवासी।
कोई ब्रह्मचर्ज पंथ लागे। कोइ दिगम्बर आछहिं नागे॥
कोइ सरसती सिद्ध कोउ जोगी। कोइ निरास पंथ बैठ बियोगी।
कोइ महेसुर जंगम जती। कोइ एक परखै देबी सती॥
सेवरा खेवरा बानपरस्ती, सिध साधक अवधूत।
आसन मारि बैठ सब, जारि आतमा भूत॥

खण्ड ८

साहित्य, संगीत तथा नृत्य

१—साहित्यिक ग्रंथ

२७६. सूरसागर में कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों के नाम भी मिलते हैं। विनय के भगवत्भक्त-वत्सलता अथवा नाम-माहात्म्य संबंधी पदों में विशेष रूप से कवि ने साक्षी रूप में इन ग्रन्थों के नामों का बार-बार उल्लेख किया है।[१] निम्नलिखित नाम महत्त्वपूर्ण हैं—

वेद (११४,२२३१ [सं० वेदः]—विनय पदों में कवि ने भगवत्भक्ति की ओर उन्मुख होने का आग्रह किया है तथा सांसारिक पदार्थों एवं आकर्षणों की निःसारता घोषित की है। उसकी दृष्टि से भक्त-वत्सल प्रभु के चरणों का आश्रय ही अन्तिम सत्य है। इसी बात पर और अधिक बल डालने के लिए प्राचीन ग्रन्थों का सहारा लिया गया है—'जस बेद उपनिसद गावैं' (१२२) अथवा 'बेद बचन उर धारौ' (१६२), अथवा 'साखी बेद पुरानौ' (११)[२], तथा 'लोक बेद बरजत सबै' (३२५)। एक दो स्थलों पर चार वेदों[३] का उल्लेख भी है—'चारौ बेद चतुर्मुख ब्रह्मा जस गावत है ताकौ।' (११३) अथवा 'चारौं बेद रटे।' (२६३)।

मुरली-ध्वनि से विमोहित गोपिकाएँ वेद-वर्णित कुल-मर्यादा भी विस्मृत कर बैठती है—'कुल मर्जाद बेद की आज्ञा, नैकहुँ नहीं रही।' (१६१८)। रास-लीला के पहले सांसारिक सीमाओं तथा बन्धनों की याद दिलाकर कृष्ण गोपियों की प्रेम मे दृढ़ता की परीक्षा ले लेते हैं—'इहिं बिधि बेद मारग सुनौ। कपट तजि पति करौ पूजा, कहा तुम जिय गुनौ।' (१६३४)। निर्बन्ध प्रेम-प्रदर्शन करने पर ही उनको रासलीला द्वारा दुर्लभ सुख मिलता है—'साध नहीं जुबतिनि मन राखी। मनवांछित सबहिनि फल पायौ, बेद-उपनिषद साखी।' (१७६०) अथवा 'जो रस-रास-रंग हरि कीन्ह्यो, बेद नही ठहरान्यौ।' (१७६१)। भ्रमर-गीत प्रसंग में भी गोपियाँ कृष्ण की वेद-वर्णित भक्त-वत्सलता को निष्कारण बताती हैं। उनका कठोर योग संदेश ही यह सिद्ध करता है—'भक्त-बिरह-कातर-करुनामय, बेद निरंतर गाए। को है जोग सुनत ह्यां ऊधौ, सूर स्याम बन भाए।' (४५१२)। कृष्ण-जन्म पर

१—वल्लभ सम्प्रदाय में चार प्रधान प्रमाण माने गए है : वेद (ब्राह्मण-ग्रंथ, संहिता तथा उपनिषद) गीता, वेदान्त सूत्र तथा भागवत।

२—तुलसी, दोहा०, ५५४, 'भगति निरूपहिं भगत कलि, निंदहिं बेद पुरान। विनयपत्रिका, ७, 'वेद-पुरान, कहत उदार हर'।

३—प० सं० टी०, १०८।५, 'चतुरबेद मति सब ओहि पाहाँ। रिग जजु साम अथर्बन माहां।'

वही, ४४६।४, स्रवन सों नाद बेद कबि सुना।', ४४६।८ 'बेद भेद जस बररुचि........'

होम (६२२) तथा **बेद धुनी** होना भी उल्लेखनीय है—'ग्रह-लगन-नषत पल सोधि, कीन्ही बेद-धुनी ।' (६४२) ।

वेद प्राचीनतम तथा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । 'वेद' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' है । वेद चार हैं : ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद ।[1] इनमे ऋगवेद प्राचीनतम हैं । सूरसागर में **सामबेद** का उल्लेख है । राम-जन्म पर दशरथ के घर अन्य मांगलिक कृत्यों मे सामवेद पढ़ने का निर्देश हुआ है[2]—'भीर भई दशरथ के आँगन, **सामबेद** धुन छाई ।' (४६१) ।

२७७. **निगम** (२०४, २३५) [सं० निगमः] वेद का पर्यायवाची है[3] तथा इन्हीं प्रसंगों में इसका भी उल्लेख हुआ है—'निगम जाकौ सुजस गावत' (२३५) । गोपियों के मिथ्या गर्व को नष्ट करने के लिए कृष्ण रास के बीच अन्तर्धान हो जाते हैं । उसके पहले भावना का महत्त्व उनको समझाने का प्रयत्न करते हैं—'भावबस्य सब पैं रहौं, निगमनि यह गायौ ।' (१७१६) । भ्रमरगीत शीर्षक पदों में एक स्थल पर गोपियाँ वेदों द्वारा अग्राह्य योग के प्रति विरक्ति प्रकट करती है—'बारिध जोग अपार अगम कौ निगम न थाह लही ।' (४२२८) । वेदसंहिता को भी निगम कह देते हैं ।

वेद के तीन प्रमुख भाग हैं—संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद । इनके अतिरिक्त चौथा भाग 'सूत्र' है—श्रौत-सूत्र (यज्ञ, बलि आदि के नियमः), गृह्य-सूत्र (संस्कारों के समय की जाने वाली बलियों का विधान), धर्म-सूत्र (व्यक्ति के साधारण तथा धार्मिक जीवन संबंधी नियमों का प्राचीनतम ग्रंथ), तथा कल्प-सूत्र (श्रौत गृह्य-सूत्रों को मिलाकर) ।

स्रुति अथवा **श्रुति** (३७११,३४६) [सं० श्रुतिः]—इसका भी उदाहरण-रूप में उल्लेख है—'जीवनि आस प्रबल श्रुति लेखी' (२८४) अथवा '(हरि) पतित-पावन, दीनबन्धु, अनाथनि के नाथ । संतत सब लोकनि स्रुति, गावत यह गाथ ।' (१८२) तथा 'गोबिंद भजन करौ इहि बार । संकर पारबती उपदेसत, तारक मंत्र लिख्यौ स्रुति-द्वार' (३४६) । मथुरा में सम्पन्न कृष्ण के यज्ञोपवीत संस्कार के संबंध में कवि कहता है—'जाके स्वास-उसांस लेत मैं प्रगट भए श्रुति चार । तिन गायत्री सुनी गर्ग सौं प्रभु गति अगम अपार । (३७११) । दशम-स्कन्ध उत्तरार्ध में कवि ने एक पद में वेद-स्तुति की है तथा उन्हें ब्रह्म रूपी हरि के श्वास से उत्पन्न बताया है—'स्वासा तासु भए स्रुति चार । करैं सौ अस्तुति या परकार' (४६१२) ।

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० १२६, अष्टाध्यायी में ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद की विभिन्न शाखाओं का स्थान - स्थान पर उल्लेख है । पाणिनि ने 'आथर्वाणिक' अर्थात् 'अथर्वन् ग्रंथ का अध्ययन करने वाला विद्यार्थी' का निर्देश किया है ।

२—हर्ष० सा० अ०, पृ० १४, बाण के समय में ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के पाठ तथा सामगान का बहुत प्रचार था ।

३—तुलसी, कविता० ७,८४ 'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग, निगम नियोग ते से, केलि ही छरो सो है ।

गोपियों को श्रुति की रिचा (१७६३) के समान पवित्र बताया गया है—'ब्रज सुंदरि नहिं नारि, रिचा श्रुति की सब आहीं। मैं अरु सिव पुनि सेष लच्छमी तिन सम नाहीं।।' (१७६३)। श्रुतियों के आग्रह पर ही साकार रूप में वृन्दावन में आना तथा श्रुतियों का गोपिका रूप में साहचर्य प्राप्त करने का वर्णन भी है—'स्रुतिनि कह्यौ कर जोरि सच्चिदानंद देव तुम।....मन बानी तैं अगम जो, दिखरावहु सो देव।....स्रुतिनि कह्यौ ह्वै गोपिका, केलि करैं तुम संग, एवमस्तु निज मुख कह्यो, पूरन परमानंद। ....वेद ऋचा है गोपिका, हरि संग कियौ बिहार।।....नारि पुरुष कोउ होइ, स्रुति-ऋचा गति सो पावै....सर्ब सास्त्र को सार, सार-इतिहास[1]-सर्ब जो। सर्ब पुराननि सार, सार जो सर्ब स्रुतिनि को....व्यास जु कह्यौ पुरान मैं, सूर कह्यौ सो गाइ।।' (१७६३)।

२७८--गायत्री (३७१७) [सं०] ब्राह्मणों द्वारा उपास्य एक पवित्र वैदिक मंत्र है। इसकी उपासना से ब्राह्मणत्व का रूप पूर्ण होता है। यहाँ कृष्ण का गर्ग से गायत्री सुनने का वर्णन है (३७११)। ब्रह्म-यज्ञ के अन्तर्गत गायत्री-पाठ आता है। सावित्री अथवा गायत्री-पाठ उपनयन से प्रारंभ होता है तथा गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों में भी इसका पाठ आवश्यक है। यह एक प्रकार की आत्मिक एवं मानसिक शक्ति देता है।

ऋचा[2] (१७६३) [सं०]—कवि ने गोपियों को वैदिक ऋचा के समान पवित्र माना है। पद्य रूप के वैदिक मन्त्रों को ही ऋचा कहते हैं। ऋग्वेद पद्य में लिखा हुआ है।

संहिता (२३०) [सं०]—यह वेदों का मन्त्र भाग या सूक्त है।[3] यह भी चार हैं। सूरसागर मे बताया गया है कि कलियुग के कारण व्यास-अवतार हुआ तथा उन्होंने संहिता तथा पुराणों की रचना के बाद भागवत लिखी—'तातैं हरि करि व्यासअवतार। करो संहिता बेद-बिचार। बहुरि पुरान अठारह किए। पै तउ सांति न आई हिए।' (२२०)।

१—हर्ष० सा० अ०, पृ० १११, हर्ष को समझाने के लिए श्रुति-स्मृति-इतिहास के वेत्ता भी उपस्थित थे—श्रुतिस्मृतीतिहास विशारदाश्च जरद्द्विजातयः ।

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ३१८, पाणिनि ने 'छन्द', 'मंत्र', 'ऋक्' 'यजुष्', 'ब्राह्मण' तथा 'निगम' आदि शब्दों का सूत्रों में प्रयोग किया है। 'छन्द' का अर्थ पवित्र साहित्य है, जबकि 'भाषा' बोलने वाली भाषा के लिए आया है। छन्द में ही 'संहिता' तथा 'ब्राह्मण' दोनों लिए गए हैं। ऋक् (पद्य) तथा यजुष् (गद्य) के पवित्र पारिभाषिक सिद्धांतों को ही 'मंत्र' कहा गया है— 'ब्राह्मण' के विरोध में। तुलसी, गीता०, १,६ 'लगे पढ़न रच्छा ऋचा ऋषि-राज बिराजे।'

३—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ३१३, पाणिनि को 'ऋग्वेद' तथा 'यजुर्वेद' की संहिताओं तथा उनके 'सूक्त', 'अध्याय', 'अनुवाक' आदि भागों का ज्ञान था।

उपनिसद्[1]—(१२२,२२३१) [सं० उपनिषद्]—'उपनिषद्' का अर्थ 'निकट बैठना' अर्थात् शिष्य का गुरु के निकट बैठकर आत्मा परमात्मा का रहस्यात्मक निरूपण करना है। वेद तथा उपनिषद का प्रायः साथ-साथ उल्लेख हुआ है —"जस बेद-उपनिसद गावैं।" (१२२) अथवा 'सूर स्याम तुम अन्तरजामी, बेद उपनिषद भाखैं।' (२२३१)। यह वेद की शाखाओं का दर्शन संबंधी भाग हैं जिनमें आत्मा-परमात्मा आदि की व्याख्या की गई है। ब्राह्मणों द्वारा किए जाने वाले यज्ञ, बलि तथा उनके महत्त्व आदि पर भी प्रकाश पड़ता है।

२७९—पुरान (६८,१५७,१५) [सं० पुराण]—वेद के साथ ही पुराण का भी उल्लेख कवि ने किया है—'जाति-पाँति-कुल-कानि न मानत, बेद पुराननि साखै।' अथवा 'सुनियत कथा पुराननि गनिका ब्याध अजामिल तारौ।' (१५७) तथा 'बेद, पुरान, भागवत, गीता, सबकौ यह मत सार।' (६८)। योग के संबंध में सुनकर गोपियाँ झुँझला उठती हैं—'आये जोग सिखावन पांड़े। परमारथी पुराननि लादे, ज्यौं बनजारे टाँड़े।' (४२२२)।

पुराण[2] अठारह हैं तथा वेद व्यास द्वारा रचित माने गए हैं—'तातैं हरि करि ब्यास अवतार। करी संहिता बेद-बिचार। बहुरि पुरान अठारह किए।[3] पै तउ सांति न आई हिए।' (२३०) इनका समय महाभारत में बाद का माना गया है[4] तथा इनमें वर्णित सभी प्रधान आख्यानों का आधार महाभारत है।

भागवत—(६५,१५५,२२६) [सं० भागवतः] अठारह पुराणों में से सबसे महत्त्वपूर्ण भागवत पुराण ही है। भागवत सुनने की बहुत महत्ता है—'श्री भागवत सुनी नहिं

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० २३७ एक सूत्र में पाणिनि ने 'उपनिषद' शब्द प्रयुक्त किया है, वहाँ यह 'जो गुप्त है' के अर्थ में आया है। कीथ के विचार से भी पाणिनि उपनिषद से परिचित थे।

२—हर्ष० सा० अ०, पृ० ५२,५३, बाण के पुस्तकवाचक सुदृष्टि का कंठ मधुर था तथा वह नित्य प्रति वायु पुराण की कथा सुनाता था ('पवमानप्रोक्तं पुराणं पपाठ')। इस प्रसंग में बाण ने 'पुस्तक' शब्द प्रयुक्त किया है तथा प्राचीन हस्त-लिखित ग्रन्थ किस प्रकार रक्खे जाते थे, इसका भी निर्देश है। पुस्तक के लिए प्राचीन शब्द 'ग्रन्थ' था। वैदिक साहित्य में कहीं भी 'पुस्तक' शब्द नहीं मिलता है। पाणिनिकृत अष्टाध्यायी तथा पतंजलि के महाभाष्य में भी 'पुस्तक' का उल्लेख नहीं है। अमरकोश तथा अश्वघोष और कालिदास के काव्यों में भी नहीं आया है, अतः सम्भवतः बाण के समय के आसपास ही 'पुस्तक' शब्द किताबों के अर्थ में प्रचलित हुआ था। पाँचवी शती के मध्य में 'पुस्तक' शब्द के ईरान से अपनी भाषा में आने की सम्भावना है। ईरान में चमड़े पर किताबें लिखी जाती थीं अतः 'पुस्तक' शब्द का अर्थ ग्रन्थ हो गया। हमारे देश में आकर दो सौ वर्षों में यह साहित्य में भी प्रयुक्त होने लगा। पहलवी भाषा में 'पुस्तक' शब्द खाल का द्योतक है।

३—प० सं० टी०, ३६।३, 'कतहूँ पंडित पढ़हिं पुरानू। धरम पंथ कर करहिं बखानू।'

४—आईन पृ० १०५, अबुल फ़ज़ल ने रामायण तथा हरिवंश पुराण के फ़ारसी अनुवादों का उल्लेख किया है। सभी प्रमुख प्रसिद्ध ग्रन्थ सम्राट के पुस्तकालय में थे।

स्रवननि, गुरु गोबिंद नहिं चीनौं। भाव-भक्ति कछु हृदय न उपजी, मन बिषया मैं दीनौं।' (६५) अथवा 'श्री भागवत सुनी नहिं स्रवननि नैंकहुँ रुचि उपजाइ।' (१५५)। व्यास[1]-रचित होने का निर्देश भी है—'अंतर-दाह जु मिट्यौ ब्यास को इक चित ह्वै भागवत किएँ।' (८६), अथवा 'श्रीमुख चारि स्लोक दए ब्रह्मा कौं समुझाइ। ब्रह्मा नारद सौं कहे, नारद ब्यास सुनाइ। ब्यास कहे सुकदेव सौं द्वादस स्कंध बनाइ। सूरदास सोई कहै पद भाषा करि गाइ।' (२२५)। इस पद्यांश से भागवत के प्रति अगाध श्रद्धा का संकेत है तथा उसमें बारह स्कंध होने का उल्लेख भी है।

सूरसागर के प्रथम स्कन्ध में ही भागवत के वक्ता-श्रोता, व्यास-अवतार तथा भागवत-अवतरण के कारण आदि शीर्षक पद हैं। सूरसागर के अनुसार व्यास को संहिता तथा अठारह पुराणों की रचना से शांति नहीं मिली—'तब नारद तिनकैं ढिग आइ। चारि स्लोक कहे समुझाइ।' (२३०)। भागवत-माहात्म्य का अनेक बार वर्णन है—'श्री भागवत सुनै जो कोइ। ताकौं हरि-पद प्रापति होइ....जैसैं लोहा कंचन होइ। ब्यास, भई मेरी गति सोइ। दासी-सुत तैं नारद भयौ। दोष दासपन कौ मिटि गयौ। ब्यास देव तब करि हरि-ध्यान। कियौ भागवत कौ ब्याख्यान।' (२३०) तथा 'श्री भागवत सुनै जौ हित करि, तरै सो भव-जल पार।' (२३१)।

कवि ने भागवत से अपने काव्य का कथानक लेने का भी अनेक बार उल्लेख किया है—'सूर कहै भागवत बिचारि।' (२६०), अथवा 'सूर कह्यौ भागवतऽनुसार।' (३९६-४०६)। शुकदेव द्वारा राजा परीक्षित ने भागवत की कथा सुनी थी—'बहुरौ भयो परीच्छित राजा। ताकौं साथ बिप्र सुत गाजा। सुनि हरि-कथा मुक्त सो भयौ। सूत सौनकनि सौं सो कह्यौ। (२६०)।

२८०—भारत[2] (२६७) अर्थात् महाभारत की कथा पर आधारित अनेक पद प्रथम स्कन्ध में हैं (२३६ ÷ २९०)—'भारत[3] माहिं कथा यह बिस्तृत, कहत होइ बिस्तार। सूर भक्त-वत्सलता बरनौं, सर्ब कथा कौ सार।' (२६७)।

इन पदों में युद्ध का कारण, रणक्षेत्र का वर्णन, राजा धृतराष्ट्र का वैराग्य, कृष्ण की मृत्यु आदि का संक्षिप्त विवरण है। महाभारत एक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है। रामायण के समान यह भी कई शताब्दियों में रचा जाने वाला ग्रन्थ है। इसमें कौरव-पांडव युद्ध के अलावा प्राचीन पौराणिक कथाओं के साथ धर्म, राजनीति, दर्शन, इतिहास आदि अन्य अनेक विषय आ गए हैं।

१—प० सं० टी०, ४४६।२, 'कबि बियास पंडित सहदेऊ'।

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० ३४०, पाणिनि 'भारत' तथा 'महाभारत' से परिचित थे। उन्होंने उसके प्रधान चरित्रों—वासुदेव, अर्जुन तथा युधिष्ठिर का उल्लेख किया है। इस उल्लेख से महाकाव्य के विकास पर प्रकाश पड़ता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में एक स्थल पर 'भारत' तथा 'महाभारत' का साथ साथ निर्देश है। भारत २४,००० पदों का व्यास कृत मूल रूप था जो भाटों द्वारा प्रचलित किया गया। भृगु ने इसमें ही धर्म, नीति तथा उपाख्यान सम्बन्धी भाग जोड़ा। शौनक ने सम्भवतः सबके अन्त में इसको बढ़ाया था।

३—प० सं० टी०, १०८।७, 'अमर भारथ पिंगल औ गीता। अरथ जूझ पंडित नहिं जीता।'

गीता—(१६६,२८६) [सं० भगवद्गीता] वेद, उपनिषद के साथ नाम-माहात्म्य तथा प्रभु की भक्त-वत्सलता की साक्षी गीता से भी की गई है —'गीता-बेद-भागवत में प्रभु, यों बोले हैं आथ। जन के निपट निकट सुनियत है सदा रहत हौं साथ।' (१९६)।

अर्जुन को कृष्ण द्वारा संदेश-रूप में गीता मिलने का उल्लेख भी सूर ने किया है—'कह्यौ हरि जू औ गीता गायौ।' (२८६)। गोपियाँ भी गीता का उल्लेख करती हैं—'समुझन नहीं ज्ञान गीता कौ, मृदु मुसकानि अरे।' (४३४८)। गीता महाभारत के भीष्मपर्व का ही एक भाग है। इसमें अर्जुन-कृष्ण संवाद है। इसका विषय ज्ञान, कर्म तथा भक्ति मार्गो से संबंधित है। आज गीता का धार्मिक ग्रन्थों मे अत्यधिक उच्च स्थान है।

२८१—सुम्रिति, सुमृति (३४८,२०४,२२५) [सं० स्मृतिः] जीवन-पथ के निर्देशन करने वाले ग्रंथों में इसका भी उल्लेख है - 'सुमृति-बेद मारग हरिपुर कौ, तातै लियौ भुलाई।' (१८७), अथवा 'बेद, पुरान, सुमृति, संतनि कौ, यह आधार मीन कौ ज्यौ जल।' (२०४) तथा 'हरि समान द्वितिया नहिं कोई, स्रुति सुमृति देख्यौ सब जोई।' (३४८)।

स्मृति शास्त्र मे हिन्दू धर्म के नियम दिये गये है। सास्त्र[1] (१७९३) 'सर्व सास्त्र को सार'[2] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। यहाँ इतिहास (१७९३) शब्द का भी उल्लेख किया जा सकता है। काम-शास्त्र का संबंध अर्थ के क्षेत्र में काम की पूर्ति से है तथा अर्थशास्त्र का राजनैतिक जीवन से, किन्तु धर्म-शास्त्र का व्यक्ति के धार्मिक जीवन तथा मोक्ष से है। प्राचीन-तम धर्मशास्त्रों मे गौतम, बौधायन, आपस्तंब (ई० पू० ६०० से ३०० तक) है। विष्णु धर्मशास्त्र एवं हारीत के धर्मशास्त्र के अतिरिक्त अन्य और भी अनेक शास्त्र हैं। इनके बाद अनेक स्मृतियो की रचना हुई। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण मनुस्मृति है। इनका वर्तमान रूप २०० ई० का माना जाता है।

ऐतिहासिक तथ्यों को संचित करने की प्रवृत्ति प्राचीन काल से ही मिलने लगती है। प्रत्येक धर्म में यह अपने मूल रूप में है, जैसे जैन (तीर्थंकरों के संबंध मे) तथा बौद्ध-धर्म (बुद्ध के संबंध में)। इसके बाद बाणकृत 'हर्षचरित' तथा कल्हणकृत 'राजतरंगिणी' के नाम भी लिए जा सकते हैं।'

२८२—सांख्य (३९४)। [सं० सांख्यं, सांख्यः] यह प्रसिद्ध छः दर्शनों में से एक है—'सूर सकल षट दरसन वै, हौं बारहखरी पढ़ाऊँ।' (४७४४)। सूरसागर में कपिलदेव द्वारा सांख्य रचना का उल्लेख है—'कपिलदेव सांख्यहिं जो गायौ' (३९४)। कपिलदेव के अवतार, देवहूति-कपिल संवाद तथा सांख्य-दर्शन की प्रमुख बातें भी वर्णित हैं—'मम सरूप जो सब घट जान। मगन रहै तजि उद्यम आन। अरु सुख दुख कछु मन नहि

१—प० सं० टी०, ४४६।, 'राजा भोज चतुर्दस विद्या भा चेतन सौं हेत।' चार वेद, छः वेदांग, पुराण, मीमांसा, न्याय, तथा धर्मशास्त्र इनको चतुर्दश विद्याओं में गिनते हैं। ('पुराण न्याय मीमांसा धर्म शास्त्रांगमिश्रिता। वेदा स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश' ।।)

प० सं० टी० ४५०।१ 'चला निसरि कै राघौ गुनी'। 'गुनी' किसी शास्त्र या कला में पारंगत व्यक्ति को कहते थे। यह पारिभाषिक शब्द था। 'मानस' में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—मानस, बाल०, ३१९।७' 'पठये बोल गुनी तिन्ह माना।'

२—तुलसी, वैराग्य संदीपनी, 'तुलसी-बेद-पुरान-मत, पूरन सास्त्र बिचार।'

ल्यावै । माता, सो नर मुक्त कहावै ।' (३९४) । फिर चार प्रकार की भक्ति—'सात्विकी, 'रजोगुनी', 'तमोगुनी' तथा 'सुद्धा' के संबंध में बताया गया है । इनमें 'सुद्धा' भक्ति सर्वश्रेष्ठ है जो मुक्ति की इच्छा का भी त्याग कर देती है (३८४) । सांख्य के अनुसार त्रिगुणात्मक माया से सृष्टि तथा समस्त पदार्थों का विकास हुआ है—'माया कौं त्रिगुनात्मक जानौ । सत-रज-तम ताके गुन मानौ ।' ईश्वर की सत्ता नहीं मानी है । आत्मा ही पुरुष, आत्मा अकर्त्ता साक्षी एवं प्रकृति से भिन्न है—"आदि पुरुष चेतन को कहत । तीनो गुन जामै नहिं रहत । जड़ स्वरूप सब माया जानौ ।....जब लगि हैं जिन मैं अज्ञान । चेतन कौ सो सकै न जान ।.... चेतन घट घट है या भाई ।....घट उपजै, बहुरौ नसि जाइ । रबि नित रहै एकही भाइ । जड़ तन कौ है जनमऽरु मरना । चेतन पुरुष अमर-अज बरना ।'

सकाम भक्ति से भी धीरे धीरे मुक्ति मिल जाती है —'भक्त सकामी हू जो होइ । क्रम क्रम करिके उधरे सोइ ।' (३९४) । सांख्य में सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम तथा प्रकृति एवं जगत के मूल पर भी प्रकाश डाला गया है ।

पद्मावती के नखशिख वर्णन में उसका रसना पांडित्य बताने के लिए जायसी ने कुछ सुने हुए उस समय के पाठ्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है । इनमे 'चतुरवेद', 'भारथ', 'गीता' तथा 'पुरान' के अतिरिक्त कुछ और भी नाम दिये हैं जैसे 'अमर' (अमरकोष) 'पिंगल' (छंद) तथा शतानन्द विरचित ज्योतिष ग्रन्थ 'भावसती' (भास्वती)।[१] जायसी ने 'कबि' 'कबिराज' तथा 'कबिता' शब्द भी प्रयुक्त किये हैं[२] तथा 'नाटक' का भी निर्देश किया है ।[३]

२—वाद्य-यंत्र

२८३. श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु ने व्रज मे श्रीनाथ जी की स्थापना कर वैष्णव धर्म के प्रचार के साथ-साथ संगीत कला की नीव भी डाली । गऊघाट पर सूरदास जी से भेट होने तथा उनका शिष्यत्व स्वीकार करने के बाद मंदिर का कीर्त्तन तथा गायन कार्य उनको ही सौंप दिया गया । वल्लभाचार्य जी के पुत्र श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अष्टछाप की स्थापना कर इस कार्य को और बढ़ाया । ब्रज में प्रचलित झाँकी, उत्सवों तथा ऋतुओं में गाये जाने वाले पदों की रचना इन आठ कवियों ने की जो गेय शैली में थे तथा बाजों के साथ गाये जाते थे । इन कवियों मे संगीत-कला-पांडित्य की दृष्टि से सूरदास, कृष्णदास तथा गोविन्दस्वामी के नाम उल्लेखनीय हैं ।

अष्टछाप के अन्य कवियों के समान ही सूर-काव्य मे अनेक वाद्य यन्त्रों तथा संगीत के पारिभाषिक शब्दों का निर्देश हुआ है । इनसे तत्कालीन संगीत-ज्ञान तथा प्रचलित बाजों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है । इस नामावली से उस समय ब्रज में लोकप्रिय तथा वहाँ के मंदिरों के कीर्तन में प्रयुक्त होने वाले बाजों का अनुमान किया जा सकता है । किन्तु प्रायः बाजों के आकार-प्रकार आदि का परिचय प्राप्त नहीं हो पाता है । प्रायः एक साथ अनेक बाजों, राग-रागिनियों आदि के नाम गिना दिये गये हैं ।

१—प० सं० टी०, १०८।८-९, 'भावसती ब्याकरन सरसुती पिंगल पाठ पुरान । बेद भेद सैं बात कह तस जनु लागहि बान ।'

२—प० सं० टी० ४४६।४,८, कबि सो पेम तंत कबिराजा,तथा 'कबिता संग दारिद मति भंगी ।'

३—प० सं० टी० ३६।६, 'कतहूँ नाटक चेटक कला ।', ५५७।४, 'नटनाटक पतुरिनि औ बाजा ।'

सूरसागर में इन प्रधान प्रसंगों मे बाजों से संबंधित शब्दावली मिलती है—१. कृष्ण-जन्मोत्सव, २. रास-लीला, ३. बसन्त अथवा फाग उत्सव, ४. विवाह-प्रसंग । इन पदों में बाजों के नाम एक साथ दिए गए हैं । कृष्ण की प्रिय 'मुरली' पर भी अनेक पदों की रचना हुई है जिसका उल्लेख आगे भी किया गया है ।

सूरसागर में **बाजे** (४८०५), **बाजन** (६२८) [सं० वाद्यः] तथा **साज** (३५२३) शब्द वाद्य यन्त्रों के साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं । संगीतकारों के अनुसार बाजे चार प्रकार के होते हैं—१. तत्[1] (तार या तंतु वाले), २. सुषिर (जो वायु के दबाव से बजाये जाते हैं, जैसे बाँसुरी), ३. आनद्ध अथवा अवनद्ध (चमड़े से मढ़े हुए), ४. घन (एक दूसरे पर चोट करके बजाये जाने वाले, जैसे झाँझ) । वाद्यों के यह दो भेद भी सरलता से किये जा सकते है—१. स्वर वाद्य, २. ताल वाद्य । सूरसागर मे **सुर** (३४८४) तथा **ताल** (३४८४) का कई स्थलों पर उल्लेख है ।

वाद्ययन्त्रों से संबंधित नामावली की व्याख्या उपर्युक्त चार भागो में अलग-अलग करने से सरलता होगी । प्रमुख नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) तार वाले बाजे—

२८४. **बीन** (३४८७) **बीना** (५१६, ३५०६) [सं० वीणा] इस श्रेणी मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीन वाद्य है — 'बाजी **तांति** राग हम बूझौ ।' (४२६८) । तन्तु-युक्त बाजे के तारों को नाखून, मिज़राब, जवा अथवा घोड़े के बालों वाली कमान से झंकृत करके स्वर-माधुर्य उत्पन्न किया जाता है । वीणा का वर्णन वैदिक काल से ही मिलता है । प्राचीन समय में वीणा के कई रूप प्रचलित थे । 'संगीत रत्नाकर' मे वीणा के दस भेद दिये गये हैं तथा 'संगीत पारिजात' में आठ भेद। हेमचन्द्र के अनुसार प्रत्येक देवता की वीणा के नाम पृथक्-पृथक् थे । यह वीणा के भेद संभवतः तारों की संख्या तथा तंबूरे के आकार एवं संख्या पर आधारित थे । आईने-अकबरी के (पृ० २६८) अनुसार वीणा तीन डोरी वाली तथा किन्नरी दो तारों की होती थी ।

इन भेदों में से कुछ नाम सूरसागर में भी मिल जाते हैं, जैसे **किन्नरी**[2] (३४८५,३४८८) तथा **सुरमंडल** (३५१३, ३५३४) [सं० स्वरमंडल]—'सुरमंडल झनकार' (३५३५) । किन्नरी वीणा का अत्यधिक सरल रूप था । यह वंश दंड तथा तीन तूंबों से युक्त एक ताँत वाली होती थी । कलकत्ता के संग्रहालय मे इन दोनों वीणाओं को देखा जा सकता है । यों किन्नरी वीणा के भी कई भेद हो गये थे । इस वाद्य का स्वर कोमल होता है । होली के उल्लास-मय वातावरण मे सूर ने अन्य बाजों के साथ किन्नरी का उल्लेख किया है—'बाजत बीन बाँसुरी महुवरि, किन्नरि औ मुंहचंग । अमृतकुंडली औ सुरमंडल, आउझ सरस उपंग ।। ताल मृदंग झाँझ डफ बाजै, सुर की उठति तरंग ।' (३५३४) अथवा 'झाँझ झालरी किन्नरी, रंगभीजी ग्वालिनि ।' (३४८५) तथा 'बाजत ताल मृदंग और किन्नरि की जोरी ।' (३४८८) ।

यहाँ किन्नरी का अर्थ 'किंगरी' अथवा 'कर्करी' नामक वाद्य भी हो सकता है जो ब्रज में बहुत प्रचलित है । यह त्रिकोणात्मक लोहे की छड़ का एक बाजा है जिसे लोहे की छड़ से

१—प० सं० टी०, ५२७17 'तंत बितंत सुभर घनतारा ।'

२—अष्टछाप वाद्य० पृ० ७, बाइबिल में 'किन्नोर' नामक एक बाजे का उल्लेख है किन्तु इसका रूप अनिश्चित है ।

ही बजाते हैं।[१] इसे प्रायः कहरवा नाच के साथ बजाते है। अन्तिम पद्यांश मे ताल-वाद्यों के साथ आने तथा 'जोरी' के उल्लेख से इस नाम के अन्य ताल-वाद्य का भी सन्देह होता है। 'संगीत रत्नाकर' तथा 'संगीत पारिजात' में किन्नरी का उल्लेख है।

स्वरमंडल वीणा में इक्कीस अथवा अट्ठाइस तार होते है।[२] इसको ही 'कात्यायनी वीणा' अथवा शारंगदेव द्वारा वर्णित 'मत्त कोकिला' कहा जा सकता है।[३] इसे मिज़राब अथवा लकड़ी के टुकड़े से बजाते थे। 'संगीत पारिजात' में वीणा के भेदो मे 'स्वरमंडल' नाम भी है। 'यतिमान पाद खंड' में भी 'शरमंडल' नाम है।[४]

अष्टछाप कवियों द्वारा उल्लिखित 'बीन' अथवा 'बीना' प्राचीन रुद्रवीणा की द्योतक है। इसमें सात तार तथा बाइस पर्दे होते थे। दो तूंबी वाली इस वीणा मे किनारे की ओर मोरनी की आकृति होती थी। 'वीणा' नामक वाद्य आज भी इसी वीणा की ओर संकेत करता है। सूरदास जी ने बीन के स्वर-माधुर्य का प्रभाव प्रकृति पर भी पड़ने वाला बताया है—'दूर न करहि बोन कौ धरिबौ। रथ थाक्यौ मानौ मृग मोहे नाहिंन होत चन्द्र कौ ढरिबौ।' (३९७५)

'बीन' शब्द के अन्य अर्थ भी आज चल गए हैं जैसे सँपेरे की 'महुवरि' तथा भैरव के नाम पर भीख मांगने वाले 'मोपा' का 'मसक' वाद्य।

२८५. तुंबुर (३५०६) [सं० तुंबुर] का उल्लेख भी होली के बाजो मे ही है—'इक वोना इक किन्नरि इक मुरली इक उपंग इक तुंबुर इक रबाब भाँति सौ बजावै' (३५०६)। तोम्बुरी वीणा अथवा वर्तमान तानपूरा सूर के समय मे भी था। स्वामी हरिदास का एक चित्र इसको बजाते हुए प्राप्त हुआ है।[५] तानपूरे से गायक को केवल स्वर का बोध होता है, अतः यह पूर्ण वीणा नहीं है।

रबाब (३५०६) अहोवाल द्वारा उल्लिखित[६] होने के कारण इस बाजे की गिनती भी प्राचीन बाजों में की जा सकती है। पद्मावत में भी इसका उल्लेख है अतः यह अकबर के कुछ पहले चल चुका था।[७] आईने-अकबरी (पृ० २६९) में भी इसका वर्णन है। आज भी कुछ रबाबकार रामपुर ज़िले में हैं। रबाब सारंगी से मिलता जुलता बाजा है। पश्चिमी पंजाब से अफ़गानिस्तान तक यह बाजा अपने विविध रूपों में प्रचलित है।

अमृत कुंडली (३५३४, ३५०६)—'अमृत कुंडली औ सुरमंडल, आउझ सरस उपंग।' अष्टछाप कवियों ने इस वाद्ययन्त्र का उल्लेख अधिक किया है। प्राचीन संगीत

१—अष्टछाप वाद्य, पृ० १४।

२—अष्टछाप वाद्य, भूमिका, पृ० ७, उस्मान कृत चित्रावली द्वारा सुरमंडल में बत्तीस तार होने के संबंध में पता चलता है—'सुरमंडल तहं अपुरब दीसा। एक सरासन पइंच बतीसा।' (७२।५)।

३—अष्टछाप वाद्य, पृ० १५।

४—अष्टछाप वाद्य, पृ० ८।

५—अष्टछाप वाद्य, पृ० १०।

६—अष्टछाप वाद्य, पृ० १७ 'रवं वहति यद्यस्मात्ततो रवावहः स्मृतः' २, १२५-१२८।

७—प० सं० टी० ५२७।३।

ग्रन्थों मे इसका निर्देश नहीं है और न आजकल ब्रज में प्रचलित बाजों में यह मिलता है। पोपले ने 'रावणहस्त वीणा' से मिलते हुए एक प्राचीन बाजे 'अमृत' का उल्लेख अवश्य किया है। ब्रज के कुछ लोगों के अनुसार यह सर्प के फन के आकार का स्वर-वाद्य है।[१]

जन्त्री (४०६२) जन्त्र (३५१३) [सं० यंत्र] साधारण वाद्ययन्त्र[२] के अर्थ मे ही नहीं प्रयुक्त हुआ है, वरन् वह एक वाद्य विशेष भी है। आईने-अकबरी मे इसका वर्णन है। इसके दंड मे दो आधे तूंबे तथा सोलह स्वर चिह्न बताए गए हैं। 'जंत्र' में पाँच तार होते थे। सूरसागर में जन्त्री (यंत्र- वादक) तथा तोमरी शब्दों का उल्लेख है—'हम पर काहे कौं भुकति ब्रजनारी।.... . फलन माँभ ज्यों करुई तोमरी रहत घुरे पर डारी। अब तो हाथ परी जन्त्री के बाजत राग दुलारी।' (४०६२)।

(ख) वायु के दबाव अथवा फूँक से बजने वाले वाद्य

२८६. कृष्ण का प्रिय वाद्य-यंत्र होने के कारण सूरसागर में मुरली शीर्षक अनेक पद है तथा इसके बहुत से पर्यायवाची नाम मिलते हैं। मुरली का रूपक रूप में भी चित्रण है जो दार्शनिक विचारधारा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण की प्रिय वस्तुओं मे मुरली के सम्बन्ध में विस्तार से बताया गया है। पर्यायवाची शब्दों में बंसी (१२६६,६०२) [सं० वंशी] बाँसुरी (१२६७,१२६८) [सं० वंशिका], मुरली, (१३३०,६०२) [सं० मुरली], मुरलिका (१२७४) तथा बेनु (६०२) [सं० वेणु] उल्लेखनीय है। 'बंसी' तथा 'बासुरी' नामों से स्पष्ट है कि यह बाँस से बनती है। सूरसागर के कुछ मुरली पदों मे (१८६४,१८७४) गोपियों द्वारा उसके नीच वंश मे जन्म लेने पर बार-बार व्यंग्य है तथा मुरली-उत्तर शीर्षक पदों मे (१६४८-१६५६) बंशी बनाने का वर्णन भी है। कहीं-कहीं इष्टदेव की मुरली को सुवर्ण की और रत्नखचित बताने का प्रलोभन कवि नहीं रोक पाया है (१८४५)।

बंशी पके हुए पीले बाँस से बनाते है जो दस अंगुल से एक हाथ तक लम्बी और छः से नौ छेद वाली होती है। उपर्युक्त भिन्न-भिन्न पर्यायवाची नाम सम्भवतः लम्बाई के आधार पर रखे गए होंगे।[३]

सहनाई (६४०, ४७३) [फ़ा० शहनाई] शब्द के उद्गम से ही स्पष्ट है कि यह वाद्य विशेष मुसलमानी संस्कृति की देन है। शहनाई एक हाथ लम्बी लाल चंदन की बनाई जाती है तथा इसमे आठ छेद होते है। इसका बड़ा रूप 'नफ़ीरी' नाम से प्रसिद्ध है। शहनाई शुभ अवसरों पर बजाया जाने वाला बाजा है जैसा कि सूरसागर से भी पता चलता है। राम का विवाह के बाद अवधपुरी लौटने पर शहनाई से ही स्वागत होता है और कृष्ण-जन्म के बाजों में भी उल्लेख हुआ है—'घुरत निसान मृदंग संख धुनि, भेरि भांभ सहनाई।' (४७३)

१—अष्टछाप वाद्य, पृ० १८।

२—प० सं० टी० ५२७१३ (३) 'वस्तुतः सर्वयन्त्रेषु रागाणां वादनं समम्,' संगीत रत्नाकर ६।३६६।

३—अष्टछाप वाद्य, 'सगीत रत्नाकर' में चार स्वर वाली बांसुरी को ही 'मुरली' नाम दिया गया है—'चतुःस्वर छिद्र युक्ता मुरली चारुवादिनी' (६, ७८४)।

अथवा 'बाजत पनव निसान पंचबिध[1] रुंज मुरज सहनाई।' (६४०)। इन प्रांशों से यह और पता चलता है कि आज के समान ही शहनाई नगाड़े के साथ बजाई जाती थी। आज भी 'दष्ठोन' तथा विवाह आदि मंगल अवसरों पर शहनाई की ध्वनि सुनाई देती है।

संख अथवा कंबु (३४८४, ६४६, ४८०४) [सं० शंख:], (११६०) [सं० कंबु] का निर्देश फाग के अतिरिक्त जन्मोत्सव तथा विवाह-प्रसंगों में है—'संख भेरि निसान बाजे बजे बिबिध सुहावने।' (४८०४)। भौमासुर वध में भी उल्लेख है—'करी हरि संख धुनि जग्यौ तब असुर सुनि' (४८१२)। इस प्रकार के शुभ अवसरों तथा पूजा के समय शंख बजाने की प्रथा आज तक चल रही है, विशेष रूप से बंगाल में। शंख विष्णु के एक हाथ में शोभित माना गया है—'संख चक्र धर, गदा पद्म धर' (११६०), अथवा 'संख-चक्र गदा-पद्म, चतुरभुज भावन रे।' (६४६)। साहित्य में गरदन के उपमान रूप में भी शंख का बराबर प्रयोग होता रहा है—'कंबु-कंठ धर' (११६०)।

गीता मे युद्ध आरंभ होने के पहले 'पणव', 'गोमुख' 'भेरी' आदि के साथ शंख का उल्लेख है। साथ ही विशिष्टि व्यक्तियों के अपने शंखों के बजाने का वर्णन है।[2] शंख समुद्र से निकलता है। यों तो शंख से एक ही स्वर निकलता है किन्तु अहोवाल ने इसकी गणना 'सुषिर' वाद्यों में की है जिससे अनुमान होता है कि इससे राग रागनियाँ भी बजाई जाती होंगी। किन्तु यह शंख बड़ा होता होगा। नाथ पन्थी योगियों के पास पाँच मुँह वाला विशेष शंख मिलता है।

२८७. सिंगी (३८४४) [सं० शृंगिन्-सिंग-सींग] यह वाद्य पशुओं के सींग से बनाते है। युद्ध में बजाया जाने वाला 'रणसिंगा' कहलाता है।[3] इसको शैव तथा गोरखपंथी साधु प्रायः प्रयोग मे लाते हैं, इसीलिए उनको 'सींगिया बाबा' भी कह दिया जाता है। नैपाल तथा दक्षिण मे यह धातु का बनता है जो 'कोयिकी' अथवा 'कलहाय' तथा 'कोम्बू' कहलाता है।' आईने-अकबरी मे[4] नक़्क़ारखाने के बाजों में 'सींग' का नाम है जो गाय की सींग की शक्ल का

१—अष्टछाप वाद्य, प्राक्कथन अष्टसखाओं ने 'पंचशब्द' अथवा पाँच बाजों का उल्लेख किया है। यह मथुरा की एक बौद्ध कला-कृति (ई० दूसरी शती) में अंकित है।

प० स० टी० ५२७।७ 'बाजहिं सबद होइ झनकारा'

चित्रावली ७३।६ 'पांचौ सबद जो जगत महं होइ रहा झनकार। (७) पाँच शब्दों या वाद्यों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। पाली महावंस की वंसत्थ-पासिनी टीका में भी पंचागिक तूर्य के निर्घोष शब्द का उल्लेख हैं—'पंचागिक तुरीय निग्घोस सद्द।' तथा बाण ने हर्ष सेना-प्रयाण से पहले पाँच बाजों (पटह, नांदी गुंजा, काहल और शंख) का परिचय दिया है। यह अधिकार राजा अथवा राज्य का था।

अबुल फ़ज़ल द्वारा वर्णित नक़्क़ारखाने में दमामा, नगाड़ा, दुहुल, करना, नफ़ीर, सींग तथा मंजीरे नामक बाजों के नाम हैं। सम्भवतः प्राचीन 'पंचशब्द' का यह मध्यकालीन रूप था।

२—गीता, अध्या० १, श्लो० ११-१८। श्लो० १३, 'ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः। सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥

३—अष्टछाप वाद्य, पृ० २६।

४—आईने अ०, पृ० १०३।

ताँबे का बनाया जाता था और जो एक साथ दो बजाए जाते थे ।

ब्रज में प्रायः हिरन के सींग का बाजा सिंगी तथा भेंस के सींग का बिषान [सं०बिषाण] कहलाता है ।[1] सूरसागर में कृष्ण के खिलोनों में भी इन दोनों बाजों का उल्लेख है—'नोई, बेंत बिखान बाँसुरी द्वार अबेर सबेरै । लै जनि जाइ चुराइ राधिका कछुव खिलौना मेरै ॥' अथवा 'बेनु-बिषान- मुरलि-धुनि कोजो संख सब्द मढ़ताई ।' (४०५७) । होली के बाजों में भी इनका उल्लेख है ।

तूर (६५८) [सं० तूर] यह प्रायः धातु का बनता है । विवाह के स्वागत के समय विशेष रूप से बजाने की प्रथा है । यह कई आकार के बनाये जाते हैं । इसका ही दूसरा नाम 'तुरही' है । संस्कृत में 'कहलो' नाम मिलता है किन्तु साँप की अनुकृति वाली 'वक्री' नाम से जानी जाती थी । सूरसागर में कृष्ण-जन्म पर 'तूर' बजने का वर्णन मिलता है—दसएँ मास मोहन भए (हो) आंगन बाजै तूर ।' (६५८) ।

जायसी ने वसन्तोत्सव के सिलसिले में अनेक वाद्यों के साथ 'तूर' का उल्लेख भी किया है ।[2]

महुवरि, महुअरि[3] (३४७८, ३४८४) [सं० मधुकरी] इस बाजे का उल्लेख होली-वर्णन मे ही है—'हरि-संग खेलति हैं सब फाग ।....डफ बाँसुरी रूँज अरु महुअरि, बाजत ताल मृदंग ।' (३४७८), अथवा 'महुवरि बाँसुरि चंग, लाल रंग होरी ।' (३४८४) । दधिदान प्रसंग में कृष्ण के संबंध में गोपियाँ कहती है—'सूर स्याम जानो चतुराई, जिहिं अभ्यास महुअरि कौ ।' (२१०५) । प्रायः सँपेरे इसको काम मे लाते हैं । संस्कृत मे इसको 'नागसर' कहते थे तथा इसके अन्य प्रचलित नाम 'पुंजी', 'जिजीवा' तथा 'तुंबी' है ।[3] यह एक तुंबे से बनाया जाता है जिसके तले में छेद करके बाँसुरी के समान दो बाँस के टुकड़े लगे होते है ।

मुहचंग (३४८४) 'आउझ बर मुहचंग, नैन सलोने री रंग राँची ग्वालिन ।' (३४८४) —यह मुंह से बजाया जाने वाला वाद्य है । ब्रज में इसको 'म्हौचंग' भी कहते हैं तथा फाग के नृत्य मे मृदंग तथा झाँझ के साथ बजाया जाता है ।[4] यह कृष्ण-सखा मनुसखा का प्रिय बाजा माना गया है । यह धातु का बनाया जाता है तथा इसका रूप त्रिशूल से मिलता है । अत्यन्त छोटा होते हुए भी यह अपने स्वर माधुर्य द्वारा सबका ध्यान आकर्षित कर लेता है ।

गोमुख (३५०६) [सं०] होली के बाजों मे ही इसका उल्लेख है ।

(ग) चमड़े से मढ़े हुए वाद्य

२८८. यह बाजे ताल-वाद्य के अन्तर्गत भी आते हैं । हाथ अथवा डंडी आदि को चोट से

१—अष्टछाप वाद्य, पृ० २६ ।

२—प० सं० टी० १८६।२,३,४ 'बाजे ढोल डंड औ भेरी । मंदिर तूर झाँझ चहुँ फेरी । संग सींग डफ संगम बाजे । बंसकारि महुवरि सुर साजे । औरु कहा जेत बाजन भले । भाँति-भाँति सब बाजत चले ॥

३—कृष्णदास, 'सुरमंडल, पिनाक, महुवरि जलतरंग मन मोहे ।'

४—अष्टछाप वाद्य,पृ० २२; पं० सं० ५२७।५ । 'संगीत-रत्नाकर' के अनुसार मधुकरी सींग अथवा लकड़ी से बनाते थे जिसकी लम्बाई अट्ठाईस अंगुल होती थी । 'वर्णरत्नाकर' में भी 'महुअरि' नाम उल्लिखित है । कृष्ण को 'महुअरि' बजाने का अभ्यास होने के उल्लेख से अनुमान है कि इसका मूल मुरली होगा ।

५—कृ० जी०, प्र० १५, अध्या० २ ।

ध्वनि पैदा करते हैं। निम्नलिखित नामावली में कुछ तो प्राचीन नाम हैं तथा कुछ उस सयम के व्रज में प्रचलित—

मृदंग, मिरदंग (३४८८, ३५०८, ६४२) [सं०] यह ढोलक से मिलता जुलता प्राचीन वाद्य है। बीच में चौड़ा तथा मुखों पर पतला होता है। दोनों मुख चमड़े से मढ़े होते हैं तथा बीच का भाग मिट्टी का होता है। प्राचीन काल में वर्तमान तबले के समान इसका प्रचार था तथा कीर्तन, उत्सव आदि में भी बजाते थे।

पखावज (३५१३) [पक्षातोद्य—प्रा० पक्खाउज्ज—पखावज][1] यह मृदंग से मिलता-जुलता किन्तु कुछ बड़ा होता है। तहसील मांट में इसको 'इकनरिया' कहते हैं।[2] कुछ लोगों के मतानुसार पखावज का खोल लकड़ी का होता है तथा कुछ के अनुसार दोनों एक हैं।

ढोल, ढोलना (३५२४, ६१८) [फ़ा० दुहुल] कृष्ण-जन्मोत्सव पर सूर ने सुनार द्वारा सोने का 'ढोलना' लाने का वर्णन किया है—'अनगढ़ सोना ढोलना (गढ़ि) ल्याए चतुर सुनार। बीच-बीच हीरा लगे (नंद) लाल गरे कौ हार' (६५८)। होली में वर्णित ताल-वाद्यों में भी इसका नाम मिलता है—'डिमडिम, पटह, ढाल, डफ, बीना, मृदंग, चंग अरु तार।' (३५२४)। इसको आज 'ढोलक' भी कहते हैं तथा स्त्रियाँ लोक गीतों के साथ ढोलक बजाती हैं। घरेलू मांगलिक कार्यों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह हाथ से बजाई जाती है। इसका नाम प्राचीन संगीत-ग्रन्थों मे नही है। आईने-अकबरी मे 'दुहुल' सम्भवतः ढोल के लिए आया है तथा नक़्क़ारखाने मे एक साथ चार दुहुल बजने का वर्णन है।[3]

मुरज[4] (६४०, ३५१३) [सं० मुरजः] कृष्ण-जन्मोत्सव पर कवि ने मुरज बजने का वर्णन किया है। यह भी मृदंग की आकृति वाला बाजा है। इसका एक मुख दूसरे से छोटा होता है तथा इसे प्रायः गले मे डाल कर बजाते हैं।

मुरूँज (३५३५) का उल्लेख भी है।

रूँज (६४०, ३५१३) मुरज के साथ ही रूँज का नाम भी दिया गया है। होली के वाद्यों में भी इसका नाम आया है—'रूँज मुरलि डफ दुंदुभि, बाजे बहु बिधि साज।' (३५२३)। यह ढोलक से मिलता-जुलता किन्तु छोटा बाजा है। दाहिने हाथ के बाँस के टुकड़े से घिस कर तथा बाईं ओर लकड़ी से पीट कर बजाते हैं।

आउझ[5] (३४८५) **आवझ,** (३५११)—'दुंदभि ढोल पखावज आवझ, बाजत

१—प० सं० टी० ५२७। ३, सं०पक्षवाद्य—पखावज। संस्कृत के किसी भी कोश में यह शब्द नहीं मिलता। चित्रावली तथा पद्मावत में 'पखाउज' शब्द है। सम्भवतः पन्द्रहवीं शती में यह शब्द प्रयुक्त होने लगा था।

अष्टछाप वाद्य, पृ० ६, 'पृथिवीचंद्र चरित' (१४२१) की सूची में 'पखावज' का सम्भवतः प्रथम उल्लेख है।

२—कृ० जी०, प्र० १५।

३—आईने अ०, पृ० १०३।

४—कालिदास, उत्तरमेघ, श्लो० १, 'संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीर घोषम्।'

५—प० सं० टी०, [सं० आतोद्य—प्रा० आओज्ज—आउज्ज—आउज]। अमरकोश में 'वाद्य', 'वादित्र' तथा 'आतोद्य' पर्यायवाची शब्द माने गए हैं। संगीत-रत्ना-

डफ मुरली रुचिकारी।' (३५११) यह भी ढोलक के समान ही चमड़े से मढ़ा बाजा है। आईने-अकबरी के अनुसार यह पोली लकड़ी का बनता था। संभवतः सूरकालीन 'आवझ' का रूप डमरू से मिलता हुआ था।[1] तुलसी तथा जायसी ने 'पखाउज' और 'आउज' का साथ-साथ उल्लेख किया है।[2]

२८६. दुंदभि (३४८४) [सं०] वैदिक-काल के ताल-वाद्यों में इसका उल्लेख हुआ है। यह तबले के समान जोड़ी वाला वाद्य है। छोटा नगाड़ा धातु का बना होता है। इसको ही ब्रज में झील—'झील झाँझ, निर्झर निसान डफ भेरि भ्रमर गुजार।' अथवा 'अधौटी' कहते हैं। दूसरा नगाड़ा बड़ा होता है तथा दो लकड़ियों से बजाते हैं। इसके 'दमामा' या 'नक्कारा' [अ० नक़्क़ारा] नाम भी प्रचलित थे।[3] दुदुंभि मांगलिक वाद्य है, अतएव जन्मोत्सव, विवाह तथा पूजा आदि के समय मंदिरों मे बजाने की प्रथा है। कृष्ण-जन्म पर देवताओं के दुंदुभी बजाने का निर्देश कवि ने किया है—'देवनि दिवि दुदुंभी बजाई, सुनि मथुरा प्रगटे जादवपति।' (६२४) फाग के उत्सव मे भी उल्लेख है—'दुदुंभि बाजै गहगही, रंगभीजी ग्वालिनि। (३४८४)। दुदुंभि 'धौंसा' से भिन्न होना चाहिए।[4]

दुंदुभी के साथ ही नफ़ीरी अथवा शहनाई बजने पर **नौबत** (२१६४) नाम से प्रसिद्ध है। दानलीला शीर्षक पदों मे एक दरबार के रूपक पद से नौबत का भी बोध होता है—'बेनु, बिषान, संख क्यों पूरत, बाजै नौवत बाजा।' इस उल्लेख मे राज-दरबारो में नौबत बजने की प्रथा पर भी प्रकाश पड़ता है। आजकल जन्मोत्सव अथवा विवाह-कार्य आदि के समय नौबत बजने का रिवाज़ है। जनपदी बोली में 'नौबत घुराना' अथवा 'झड़ना' भी कहते हैं।

भेरी (३५२३) 'पुर घर-घर भेरि-मृदंग-पटह-निसान बजे' (६४२) **भेरि** (६२४, ४७३, ६५८) [सं० भेरः, भेरी]—इस बाजे का उल्लेख कृष्ण-जन्मोत्सव तथा फाग में विशेष रूप से है। भेरी मृदंग से मिलता-जुलता बाजा है, ढोल या नगाड़े से नहीं। ब्रज में एक लम्बी तुरही के समान वाद्य यंत्र को भी 'भेरि' कहते हैं। विवाह के पहले इसको बजाने की प्रथा है। सूरसागर के 'झील झाँझ निर्झर निसान डफ **भेरि भमर गुंजार**' पदांश से उपर्युक्त

कर के अनुसार कुछ लोग 'आवज' को 'हुडुक्का' का पर्यायवाची मानते थे। गढ़वाली में 'औंजी' तथा 'हुडुक्का' दोनों के अर्थ भिन्न हैं। पदमावत तथा चित्रावली में भी 'आउझ' तथा 'हुडुक' अलग अलग दिये गए हैं।

आईने० (पृ० २७१) से पता चलता है कि आवज तथा हुद्डुक एक ही थे किन्तु अष्टछाप काव्य में हुड्डुक का नाम नहीं मिलता है।

१—अष्टछाप वाद्य, पृ० ३५।

२—तुलसी, गीता० १।२, 'घंटा घंटि पखाउज आउज झाँझ बेनु डफ तार। नूपुर धुनि मंजीर मनोहर कर कंकन झनकार।'

३—आईने अ० पृ० १०३, अबुलफ़ज़ल ने राजकीय नक़्क़ारखाने में अठारह जोड़े 'कुवर्गा' अथवा 'दमामा' तथा बीस जोड़े नक़्क़ारा (नगाड़ा) होने का वर्णन किया है। पदमावत में 'तबल' शब्द नक्कारे का अर्थ सूचक है।

प० सं० टी० २३।३ तथा ४२७।१ 'दवांवों' [फा० दमामा] का भी निर्देश है।

४—परमानंददास, 'इतहू बाजे लागे बाजन दुंदुभि धौंसा गाजे।'

अर्थ में 'भेरि' शब्द प्रयुक्त होने का संदेह होता है क्योंकि इसकी ध्वनि भौंरे से मिलती बताई गई है। ताल-वाद्य भेरी का उल्लेख यहाँ ज्ञात होता है—'रूँज मुरलि डफ दुदुंभि, बाजै बहु बिधि साज। बिच-बिच भेरी झिमाझिमी सब्द सुघोष समाज।' (३५२३) अथवा 'पुर घर-घर भेरि-मृदंग-पटह-निसान बजैं।' (६४२)।

मदन भेरि[1] आकृति में डमरू से मिलती है किन्तु बीच का घेरा पोले बाँस का होता है।

निसान, निशान (६४०, ३६१६) कवि ने प्रायः जन्मोत्सव तथा वर्षा ऋतु में बादलों की गर्जना की तुलना 'निसान' के नाद से की है—'निर्भय, अभय-निसान बजावत, देत महरि कौ गारी।' (६२२) अथवा 'घर-घर बजैं निसान, सु नगर सुहावन रे।' (६४६) तथा 'धुरवा धुध उठी दसहूँ दिसि, गरज निसान बजायौ।' (३६२२)। यह काँसे, ताँबे अथवा लोहे का बनता है तथा मुख चमड़े से मढ़ा होता है। निशान युद्ध मे वीरों को प्रोत्साहन देने वाला वाद्य है। अन्य कवियों ने प्रायः रणक्षेत्र के वर्णन में निशान का विशेष रूप से उल्लेख किया है।[2] सूर ने भी 'पावस दल' के चित्र में निशान बजने का वर्णन किया है (३६२२)।

पटह (६४२, ३५३२) [सं० पटहः] 'संगीत पारिजात' के मतानुसार पटह का अर्थ ढोलक है।[3] बाण ने सेना के कूच के समय जिन पाँच बाजों का उल्लेख किया है उनमें पटह भी है।

पनव (६४०) [सं० पणव] यह प्राचीन वाद्य है। बाल्मीकि रामायण में इसका उल्लेख है।

डिमडिम (३५२४) डिमडिमी (३५३२) [सं० डिंडिम] यह डमरू की आकृति वाला किन्तु छोटा बाजा है। मिट्टी के घेरे के मुखों को पतली झिल्ली से मढ़ देते हैं। ब्रज में आज भी बच्चों को यह बाजा अत्यधिक प्रिय है।

डौंडी (४२७०) कुब्जा के प्रति गोपियों के व्यंग्य-वाण में इसका उल्लेख आया है—'लौंडी की डौंडी जा बाजी, बढ्यौ स्याम अनुराग।' (४२७०)। यह चमड़े का छोटा नगाड़ा सा होता है। पहले शासन की ओर से डुग्गी पिटवा कर घोषणा करने की प्रथा थी।

डमरु, डमरू (विनय) [सं० डमरुः] यह शिव का प्रिय बाजा है। प्रसिद्धि के अनुसार तांडव नृत्य के समय वह इसको बजाते हैं। सूर ने भी शिव का बाजा बताया है—'खुनखुना कर हँसत हैं हरि नचत डमरू बजाय' (७८८) तथा 'हाथ त्रिसूल दूजे कर डमरू सिंगी नाद बजावैं॥' कापालिक शैव भी डमरू रखते हैं।

चंग (३५१६, ३४८५) [फ़ा०] लकड़ी के घेरे पर चमड़े से मढ़ा बाजा है। ब्रज में 'ख्याल' नामक लोकगीत चंग को बजा कर गाने की प्रथा है। यह दाहिने हाथ से बजाते हैं। अहोबाल ने चार अंगुल गहरे और दस अंगुल वाले 'करचक्र' का नाम दिया है जो 'डफली' या 'ढपली' भी कहलाती है।[4] डफली के घेरे में झाँझ लगी होने पर वह 'खंजरी' नाम से जानी जाती है।

डफ (६४२, ३४८६, ३५२२) [अ० दफ़] यह होली के वाद्यों में प्रमुख स्थान

१—कृष्णदास, मदनभेरि और राय गिड़गिड़ी सुर मोहै।

२—भूषण, 'बाजत निसाने सिवराज जू नरेस के।'

३—अष्टछाप वाद्य, पृ० ४०।

४—अष्टछाप वाद्य, पृ० ४२।

रखता है। यह चंग से मिलता-जुलता है तथा उसी तरह बजाया जाता है। सूरसागर में होली के बाजों में इसका अनेक बार निर्देश हुआ है—'डफ को धुनि सुनि विकल भई सब, कोउ न रहति घर घूँघटवारो' अथवा 'डफ बाजन लागे हेली। चलहु-चलहु जैसे तहँ री, जहँ खेलत स्याम सहेली।' (३४८६, ३५२२)। साथ ही कृष्ण-जन्मोत्सव पर भी उल्लेख है—'डफ-झाँझ-मृदंग बजाइ, सब नंद भवन गए।' (६४२)।

दक्षिण का 'महा नगाड़ा' भी ब्रज में 'डफ' कहलाता है जो होली में चौपाइयों के साथ निकलता है।[१]

उपंग (३४८५) [सं० उपांग]—'बीन मुरज उपंग मुरली झाँझ झालरि ताल।' (३४६४)। यह वाद्य भी ब्रज के प्रिय वाद्यों में से है। होली के अवसर पर आज भी डफ के समान उपंग दिखाई दे जाता है। यह डमरू अथवा ढोलक के समान होता है जिसका मिट्टी, लकड़ी अथवा धातु का बना घेरा एक ओर मढ़ा होता है। इसी ओर एक ताँत की डोरी लगी होती है जिसके सिरे पर चमड़े का टुकड़ा लगा होता है। इससे चोट करने से ध्वनि निकलती है। बंगाल में उपंग का एक रूप 'खभंग' अथवा 'आनंद-लहरी' कहलाता है।[२] आईने-अकबरी में इसे नरसल से बना बताया है। खुजराहो की शिल्प-कला में इस प्रकार के बाजे के चित्रण से इसका अस्तित्व दसवीं शती में होना निश्चित सा है।[३]

कृष्ण-जन्मोत्सव पर ढाढ़ और ढाढ़िनि संबंधी पदों का उल्लेख किया जा चुका है। इन पदों में इनके हुरका (६४६) [सं० हुडुक्का][४] तथा ढाढ़ (६५५) बजाने की चर्चा है—'ढाढ़िनि मेरी नाचै गावै, हौं हूं ढाढ़ बजाऊँ।' (६५५) तथा 'ढाढ़ी और ढाढ़िनि गावैं, ठाढ़े हुरके बजावै, हरषि असीस देत मस्तक नवाइ कै।' (६४६)।

(घ) घनवाद्य

२६१. यह बाजे ताल-वाद्य है तथा प्रायः सभी अन्य वाद्यों के साथ बजाये जाते हैं। इनमे केवल 'जलतरंग' ही स्वर उत्पन्न करता है। जलतरंग का उल्लेख अष्टछाप कवि कृष्ण-दास ने किया है।[५] यह बाजे कांसे के बने हुए और श्रुति-मधुर होते है। यों पीतल या लकड़ी के भी बनते हैं। सूरसागर में उल्लिखित इस श्रेणी के वाद्य नीचे दिये जा रहे हैं—

झाँझ[६] (६४२) [प्रा० झंझा] यह जोड़ी का बाजा है। इसके गोलाकार दो टुकड़े काँसे के बने होते हैं। कीर्तन, पूजा आदि में आज झाँझ बजाने की प्रथा अधिक है। अकबर बादशाह के नक्क़ारखाने में तीन जोड़ 'संज' (झाँझ) बजाये जाते थे।[७]

१—अष्टछाप वाद्य पृ० ४२।

२—अष्टछाप वाद्य पृ० ४४।

३—अष्टछाप वाद्य, भूमिका पृ० ६।

४—प० सं० टी, ५२७।६, हुरुक बाज डफ बाज 'गंभीरा' : ६ : यह दोनों ओर चमड़े से मढ़ा हुआ बाजा है। शार्ङ्गदेव के अनुसार 'हुडुक्का' की लम्बाई एक हाथ होती थी। इसे कंधे से लटका कर दाहिने हाथ से बजाते थे।

५—कृष्णदास, 'सुरमंडल पिनाक, महुवरि जलतरंग मन मोहै।'

६—प० सं० टी०, ५२७। : ६ : शार्ङ्गदेव वर्णित 'कांस्यताल' ही झांझ है। पृथ्वी चन्द्र चरित सूची में झांझ की जगह 'कसाल' का उल्लेख है।

७—आईने अ०, पृ० १०३।

ताल (३५ ५) यह भी झाँझ से मिलता-जुलता वाद्य है। इसके दोनों टुकड़े डोरी से बँधे रहते हैं। ब्रज में इसको 'तार' भी कहते हैं।[१] अतः सूर द्वारा **तार** शब्द प्रयुक्त होना स्वाभाविक है—'डिमडिम, पटह, ढोल, डफ,बीना, मृदंग, चंग अरु तार।' (३५२४)।

करताल[२] (३४८२) यह लकड़ी का वाद्य-यंत्र है जिसमें पीतल की झाँझ बीच के कटाव में लगी होती है। दोनों हाथों में एक-एक जोड़ी लेकर बजाते हैं। इसकी लम्बाई एक फ़ुट तक की होती है। कीर्तन में अधिकतर इसे बजाते हैं।

गिरगिरी, राइगिरगिरी (३५१३) ब्रज के करताल अथवा खड़ताल के नाम पर ही दक्षिण में भी एक करताल नामक वाद्य प्रचलित है। दक्षिण का करताल नाम में समान होते हुए भी रूपाकृति में भिन्न है। उसमें काठ के दो गोल टुकड़े से होते हैं जो अन्दर की ओर कुछ दबे होते हैं।[३] यही बाजा ब्रज में आज 'गिड़गिड़ी' अथवा 'रायगिड़गिड़ी' कहलाता है। सूरदास जी ने संभवतः इसी को 'राइगिरगिरी' कहा है—'रुंज मुरज डफ झाँझ झालरी, जंत्र पखावज तार। **मदनभेरि**, अरु **राइगिरगिरी**, सुरमंडल झनकार।' अथवा '(फूले) बजावैं **गिरगिरी** गार, भेरी **घहरैं** अपार, संतन हित फूलडोल।' (३५३५)।

झालरी (३५१३, ३५०६) [सं० झल्लरिका, झल्लरी] यह भी झाँझ की अनुकृति वाला अन्य वाद्य है जो काँसे से बनता है। ब्रज में इसे लकड़ी से बजाते हैं तथा इसका दूसरा नाम 'घड़ियावल' या 'घड़ियाल' है।[४] **झालरि, झिल्लरी** (परि० १२९) शब्द भी सूरसागर में उल्लिखित हैं।

मंजीरा (परि० १२६) [सं० मंजीर] 'बाजत ताल मृदंग झांझ डफ मंजीरा सहनाई।' मंजीरे में छोटे आकार की गहरी पीतल की दो कटोरियाँ सी होती है जिनके बीच मे छेद करके एक डोरी में बाँध लेते हैं। इसे लोकगीतों में ढोलक के साथ बजाते हैं।

घुँघरू, घंट (३४८०) भी फाग की उमंग में बजाने का चित्रण है—'घुंघरू घंट घुमाइ ग्वालि मदमाती हो।'

२६१— आजकल इन प्राचीन वाद्यों मे से बहुत से चल रहे हैं तथा साथ ही कुछ नये भी सम्मिलित हो गये हैं, जैसे स्वर वाद्यों में सितार, गिटार, वायलन, इसराज, हारमोनियम, पियानों आदि। तालवाद्यों में तबले ने महत्त्वपूर्ण स्थान ले लिया है। यह प्रायः सभी वाद्य-यन्त्रों तथा गेय संगीत का आवश्यक अंग सा हो गया है। लोकगीतों के साथ ढोलक और मंजीरा विशेष रूप से बजाते हैं।

तानपूरे के साथ शास्त्रीय संगीत चलता है। प्राचीन काल की प्रमुख 'तत्' वाद्य वीणा अब कम दिखाई देती है। उत्सव, त्यौहार आदि पर प्रचलित प्राचीन वाद्यों का ऊपर उल्लेख किया गया है। आज के कुछ प्रमुख स्वरवाद्य पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से हमारे जीवन में आकर घुल मिल गये हैं जैसे वायलन, पियानों, गिटार, बैंजो आदि।

१—अष्टछाप वाद्य, पृ० ४६।

२—प० सं० टी०, ५२७।७ 'घनतारा' शब्द जायसी ने 'करताल' के अर्थ में प्रयुक्त किया है। शार्ङ्गदेव के 'कमा' का वर्णन इससे मिलता है।

३—अष्टछाप वाद्य, पृष्ठ वही।

४—अष्टछाप वाद्य, पृ० ४७।

३—संगीत संबंधी पारिभाषिक शब्दावली

२६३—रास-लीला के अन्तर्गत, प्रधानतया मुरली पदों में कुछ प्रारंभिक संगीत ज्ञान की सूचक नामावली का परिचय मिलता है। सूर ने भी संगीत को कला [१] माना है—'कला चौसटि, संगीत'''(३०७१)। संगीत में गायन, वादन तथा नृत्य तीनों की गिनती होती है। भारत में प्रमुख दो पद्धतियाँ चल रही हैं—एक उत्तरभारत की, दूसरी दक्षिण की कर्नाटक। मुसलमानी संगीत-कला का प्रभाव उत्तर में पड़ा था जिससे दोनों में कुछ अन्तर आ गया, किन्तु दोनों का आधार एक ही है।

सूर ने संगीत नाद [२] (४६३चु, १६६) अथवा शब्द (३०२७) से सम्मोहन का निर्देश किया है—'जैसै मगन नाद-रस सारंग, बधत बधिक बिन बान।' (१६६) अथवा 'बंसी-नाद-स्वाद-रस लंपट, मानत नहिं स्रुति एह।' (४६३६) तथा 'भवन रवन की सुधि न रही तनु, सुनत शब्द वह कान।' (३०२७)। नियमित तथा स्थिर आंदोलनों द्वारा उत्पन्न ध्वनि को नाद कहते हैं। यह मधुर संगीत ध्वनि है। [३] मुरली-नाद के अन्तर्गत ग्राम, तान तथा मूर्छना (१६७१) [गं०] का उल्लेख भी हुआ है—'मुरलिया बाजति है बहु बान। तीनि ग्राम इकईस मूर्छना, कोटि उनचास तान॥' (१६७१) संगीत के सात मुख्य तथा शुद्ध स्वरों के समूह अथवा सप्तक (स, रे, ग, म, प, ध, नी) को ही ग्राम कहते हैं। यह संगीत का आधार है। इन स्वरों के कलापूर्ण विस्तार को 'तान' कहते हैं तथा एक ग्राम से दूसरे ग्राम तक जाने में स्वरों का आरोह-अवरोह ही 'मूर्छना' है। 'तान' शब्द 'तन्' [तानना] 'धातु' से आया है अतएव अर्थ स्पष्ट ही है। इसका मुख्य ध्येय गायन-वैचित्र्य बढ़ाना है। 'ख्याल' नामक गीत मे तानों का प्रयोग अधिक होता है। तान का उल्लेख होली पदों में भी अनेक बार हुआ है—'ताल तान [४] बंधान, अहो हरि होरो है।' (३५३२) अथवा 'इक उघटति इक नृत्यति एक तान लेति उपज' (३५०६)तथा 'गावति सबै मधुर सुर गौरी। तान लेति दे दे झकझौरी'(३५२८)।

सरगम (१७६६) अथवा सप्त सुरनि का निर्देश भी है—'सप्त सुरनि मुरली बाजति धुनि सुनि मोहे सुर-नर-गंध्रब-गन'''नृत्य करत उघटत संगीत पद निरखि सूर रीझत मन ही मन।' (१७५५), अथवा 'नंद-नंदन सुघराई, बांसुरी बजाई। सरगम सुनी कैं साधि, सप्त सुरनि गाई॥ अतीत अनागत संगीत बिच तान मिलाई। सुर ताल अरु नृत्य ध्याइ, पुनि मृदंग बजाई॥ सकल कला गुन प्रबीन, नवल बाल भाई।' (१७६६) तथा 'सप्त सुरनि में भेद बतावति, नागरि रूप-अनूप' (१७६२)। प्रत्येक राग में लगने वाली स्वरों की तालबद्ध रचना को ही सरगम कहते हैं। यह अलग तालों में हो सकती है। इसके द्वारा स्वर तथा राग का ज्ञान होता है। एक दो स्थलों में आलाप [५] (३०७१) की चर्चा भी है।

१—मध्यकाल में ध्रुवपद गाने वाले 'कथावन्त' कहलाते थे।

२—प० सं० टी०, ४७६।६, 'नाद बिनोद राग रस बिंदक स्रवन ओहि बिधि दीन्ह।'
प० सं० टी०, ३६।६, 'कतहूँ नाद सबद होइ भला। कतहूँ नाटक चेटक कला।'

३—संगीत शास्त्र, पृ० ४।

४—तुलसी, गीता १० २, 'उघटहिं छंद प्रबंध गीत पद राग तान बंधान।'

५—शांर्ङ्देव ने आलप्तिगान को अनिबद्ध गान की श्रेणी में रक्खा है जिसको अब आलाप कहते हैं। पहले इन दोनों में थोड़ा सा भेद मानते थे। रत्नाकर के अनुसार रागों के सम्बन्ध में ग्रह, अंश, मन्द्र, तार, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडवत्व, ओडवत्व आदि दस बातों का ध्यान रखने पर गायन 'रागा-

'तान अलापत' पद भी उल्लेखनीय है—'पिक, सुक, बिहंग पवन थकि थिर रहे, तान अलापत जब गिरिधारी।' (१८०५)। आलाप एक प्रकार की तान है। स्वरों का द्रुतलय का विस्तार 'तान' तथा विलंबित लय का 'आलाप' कहलाता है। इन दोनों से ही संगीत में विस्तार एवं सौंदर्य की उत्पत्ति होती है।

ताल (६४६, ३५०६) [सं० तालः] का उल्लेख उपर्युक्त पद्यांशों के अतिरिक्त अन्य थोड़े से स्थानों में भी हुआ है। ताल से संगीत तथा नृत्य में समय का परिमाण किया जाता है। ताल-वाद्यों से भी यही प्रयोजन सिद्ध होता है—'इक कर मिरदंग ताल' (३५०६)। नृत्य के समय भी हाथ से तालो बजा कर ताल देने का उल्लेख किया गया है—'नाचैं कर दै-दै ताल' (६४६), अथवा 'नाचत, महर मुदित मन कोन्हें, ग्वाल बजावत तारी।' (६२२)। रास नृत्य मे झपतार (१०६८) की चर्चा है—छंद ध्रुवनि के भेद अपार। नाचत कुँवर मिले झपतार।' यह एक ताल विशेष है।

बोल (३५२५) का उल्लेख एक होली पद में है—'भूमक सेंती गावही नैंकु बिच-बिच मीठे बोल।' गीत के शब्दों के साथ तानें लेने पर उनको बोल-तानें कहते हैं। इसी प्रकार बोल-अलाप भी होते हैं। ठुमरी में इसका बहुत महत्त्व है।

४—राग रागिनियाँ

२६४—सूर ने कृष्ण द्वारा मुरली में अनेक 'राग-रागिनी' बजाने का निर्देश किया है—'राग-रागिनी[१] प्रगट दिखायौ, गायौ जो जिहि रूप। सप्त सुरनि के भेद बतावति, नागरि रूप अनूप।' (१७६२) अथवा 'राग-रागिनि' मेलि गावैं, सुघर गुंड मलार।' (३४४६) तथा 'बेनु-सब्द करि मन हरि लीन्हौ नाना राग बजाइ।' (३४७६), 'हरि जू मुरली तुम्हैं सुनाऊँ....मधुरैं सुर गति राग रागिनी, भली तान उपजाऊँ।' (२७६०) अथवा 'प्यारी कर बाँसुरी लई।....उठी राग रागिनी तरंगनि, छिनु छिनु उपज नई'। (२७६१)।

संगीत-शास्त्रानुसार रागें छः मानी गई है। सूर ने इस गिनती की चर्चा की है—"छठि छः राग रस रागिनी, हरि होरी है।" (३५३२)। रागिनियों की संख्या कुछ के मतानुसार तीस है और कुछ के अनुसार बत्तीस। यह रागों की पत्नियाँ मानी गई है। पद्मावत में इन छः रागों के नाम तथा छत्तीस रागिनियों का उल्लेख है।[३] सूर ने भी छत्तीस रागिनियाँ

लाप' कहलाता है।

प० स० टी०, ५२८।१ 'बीजानगर केर सब गुनी। करहिं अलाप बुद्धि चौगुनी।' 'गुनी' पारिभाषिक शब्द था और किसी शास्त्र अथवा कला में पारंगत व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता था।

१—प० सं० टी० ११६।७ 'मानहुँ बीन गहे कामिनी। रागहिं सबै राग रागिनी।'

२—भैरवो कौशिकश्चैव हिन्दोलो दीपकस्तथा।
श्री रागो मेघरागश्च राग षडिति कीर्तिताः॥

३—प० सं० टी० ५२८। २-५ 'प्रथम राग भैरो तेन्ह कीन्हां। दोसरें मालकौस पुनि लीन्हां। पुनि हिन्डोल राग तिन्ह गाए। चौथे मेघ मलार सोहाए। पुनि उन्ह सिरी राग भल किया। दीपक कीन्ह उठा बरि दिया। छवउ राग गाएनि भल गुनी। औ गाएनि छत्तीस रागिनी।

बताई है[1]—'मुरली हरि की भावै री ।... छहौं राग, छत्तीसौं रागिनि, इक इक नीकैं गावै री ।' (१८५६) ।

राग स्वर तथा वर्ण से युक्त वह रचना है जो मन का रंजन करती है। राग में सात स्वरों का होना ग्रावश्यक नहीं होता है, किन्तु अन्य कुछ निश्चित नियम हैं। भारतीय पद्धति में प्रत्येक राग के गाने की ऋतु, समय भी निश्चित है। इन का संबंध रसों से भी है। प्रधान रस शृंगार, शान्त तथा वीर है।

कुछ स्फुट प्रसंगों के अतिरिक्त वसन्तोत्सव शीर्षक पदों मे बाजों के नामों की सूची के साथ ही कुछ राग रागिनियों के नामों की गिनती कराने की प्रवृत्ति मिलती है। यह नाम इस प्रकार हैं—

अहीरी (३८३५), असावरी (३४४६), करनाटी (२७५८), केदारौ, केदार (८६०, ३४४६), काफी (३५०५) गौडी (१८३८), गौरी (१८२८) गुंड मलार (३४४६) टोडी (३४४६), दुलारी (४०६२), देवगिरि (परि० १०८) नटनारायण (१८३८), नट (२७५६) पूरबी (२७५६), बंगाली (परि०, १२१), भैरव (३४४६), मलार (४००५,२०४६), मालवई (३४४६), मारू (३६२४ ३६४६), सुही (३४४६), सोरठी (३४४६), सारंग (१८३८)

कई रागों को मिला कर गाने का उल्लेख भी है—'तिहारी लाल मुरली नैंकु बजाऊँ... सारंग नट पूरबी मिलै कै, राग अनूपम गाऊँ।' (२७५६)।

५—लोकगीत

२६५ गीत[2] (३४८७) अथवा गान[3] (१७६०) का उल्लेख भी है—सुर-ललना सुर सहित बिमोही, रच्यौ मधुर सुर गान।' (१७६०) अथवा 'काहूं सुधि, काहूँ सुधि नाहीं, सहज मुरलिका गान।' (३०२७) तथा 'ताल मृदंग बीन डफ बांसुरि, बाजत गावत गीत।'' (३४८७)। इन पद्यांशों मे गान तो वादन-ध्वनि के अर्थ मे भी लिया जा सकता है, किन्तु गीत गायन के अर्थ में ही आया है।

प्रायः सभी लोकगीतों का उल्लेख त्यौहार तथा संस्कार आदि के साथ किया जा चुका है। इनमे से बधाइ अथवा बधायौ (६५०,६५१, ६४६), सोहिलौ (६५८) तथा चहरका (६४८) कृष्ण-जन्म वर्णन मे उल्लिखित है। गारि अथवा गारी (६२२, ६४४, ७०६, ४८०५, ३४२६) गीतों का निर्देश जन्मोत्सव, अन्नप्राशन, विवाहोत्सव तथा फाग आदि प्रमुख संस्कार व त्यौहारों के अन्तर्गत हुआ है। इससे इन गीतों की तत्कालीन लोकप्रियता पर भी प्रकाश पड़ता है। हिंडोला प्रसंग में झूले के साथ-साथ गाने की चर्चा है (३४५२,३४५३)। आज इन गीतों को 'सावन के गीत' कहते हैं। इन पदों मे राग रागिनियाँ गाने का उल्लेख है (३४५०, ३४४६)।

१—छः राग तथा छत्तीस रागिनियों का स्थान पन्द्रहवीं शती से काफ़ी पहले निश्चित हो चुका था।

२—रत्नाकरे, रंजकः स्वरसंदर्भो गीतमित्यभिधीयते।
गांधर्वं गानमित्यस्य भेदद्वयमुदीरितम् ॥

३—रत्नाकरे, यत्तु वाग्गेयकारेण रचितं लक्षणान्वितम्।
देशीरागादिषु प्रोक्तं तद्गानं जनरंजनम् ॥

वसन्तोत्सव तथा फाग वर्णन के सिलसिले में कवि ने कुछ प्रसिद्ध प्रचलित गीतों का उल्लेख किया है, जैसे चांचर[1] (२१०६) [सं० चर्चरो], झुमका[2] (३४७२) अथवा झुमक, तथा होरी (३५२०)। चांचर होली के दिनों में गाया जाने वाला गीत विशेष है। 'चांचर खेलने' से लकुट रास करने का अनुमान होता है—'सूरदास सब चांचर खेलैं, अपने अपने टोलैं।" (३४७५) दधि दान प्रसंग में यशोदा-गोपी-संवाद में भी उल्लेख है—'धींगरि धिग चांचरि करैं, मोहिं बुलावतिं साखि॥' (२१०६)। कुमायूँ प्रदेश में स्त्री-पुरुष मिल कर और घेरा बना कर एक नृत्य-विशेष करते हैं, वह भी 'चांचर' नाम से प्रसिद्ध है। यह सभी गीत ढोलक या ढप के साथ गाए जाते हैं। बसन्त ऋतु में गाए जाने वाले गीत आज भी 'बसन्ता' कहलाते हैं। जायसी ने इनका उल्लेख किया है।[3] 'झुमका' गीत-विशेष होलो के अवसर पर स्त्रियाँ मंडली बना बना कर गाती हैं व नाचती हैं। होली पदों में पद ३५२१ तो 'मिलि झूमक हो' टेक का लम्बा पद है जिसमें फाग का दृश्य खींचा गया है। अन्यत्र 'झूमक' गाने की चर्चा है –'झूमक सेनी गावहीं नैंकु बिच-बिच मीठे बोल' (३५२३)।

पद्मावत में 'धमारी' शब्द होली के हुल्लड़ का द्योतक है,[4] किन्तु सूर ने 'धमारि' गाने का उल्लेख किया है—'इक गावत है धमारि, इक एकनि देत गारि' (३५०६) अथवा 'जमुना-कूल, मूल बंसीबट, गावत गोप धमारि।' (३५१३)। होली-गीतों में प्रयुक्त होने वाली ताल-विशेष भी धमार है। अतएव इसमें गाने के कारण आज भी होली-गीत 'धमार' नाम से जाने जाते हैं।

होरी गीत (३५२२) गाने का भी कुछ स्थलों मे स्पष्ट निर्देश हुआ है— 'पढ़त होरी बोलि गारी, निरखि कै ब्रज-बाल।' (३४६४), 'उत होरी पढ़त ग्वार इत गारी गावत ये' (३५०७) अथवा 'गारी होरी देत दिवावत। ब्रज मैं फिरत गोप-गन गावत।' (३५२०) तथा 'सूरज-प्रभु आनंद सौं गावत होरी गीत।' (३५२२)। ध्रुपद गाने वाले संगीतज्ञ होली अथवा धमार गाने में निपुण होते है, यों ख्याल गाने वाले भी गाते हैं। धमार में तानें नहीं ली जाती है किन्तु ठाय, दुगुन, चौगुन, बोलतान, गमक आदि भेद होते हैं। इनका विषय होली खेलना, रंग, गुलाल, बाजों के नाम आदि पर ही आधारित होता है। अधिकांश गीतों में कृष्ण-राधा एवं गोप-गोपियों के फाग खेलने का चित्रण होता है।

शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत ध्रुपद (१६६) गायन विशेष का उल्लेख किया जा सकता है। यह लगभग पाँच सौ वर्षो से प्रचलित है। इधर ख्याल-गायन के प्रचार से इसकी लोकप्रियता कुछ कम हो गई है। अकबर के समय में तानसेन की कला में इसका चरमोत्कर्ष माना जा सकता है। उस समय ख्याल का प्रचार नहीं हुआ था। ख्याल में विचार एवं कल्पना का क्षेत्र विस्तृत है, किन्तु ध्रुपद का रूप स्थिर है। आज ख्याल का प्रचार अधिक होते हुए भी ध्रुपद का ही स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है। तानें ख्याल की ही विशेषता है।

१—प० सं० टी०, १८६।७, 'खिनहिं चलहिं खिन चांचरि होई'। चांचरि = (१) लकुट रास, (२) बसन्त ऋतु का राग-विशेष जिसमें होली व फाग सम्मिलित है।

२—प० सं० टी०, १८६।३, 'चही मनौरा झूमक होई।'

३—प० सं० टी०, १८६।१, 'झुंड बांधि कै पंचमि गाई।'

४—प० सं० टी०, १८६।६, 'सेंदुर बुक्का होइ धमारी।'

६—नृत्य

२९९—नृत्य का उल्लेख प्रमुख रूप से कृष्णजन्म, रासलीला तथा वसन्तोत्सव शीर्षक पदों में हुआ है। नृत्य (६४४) नृत्यति (३५०९) तथा नाचति (३५१३) [सं० नृत्] शब्द प्रायः नाचने के साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। कृष्ण-जन्मोत्सव पर गोकुल बासियों का आनंदित होकर नृत्य करने का उल्लेख मात्र कर दिया गया है—'आनंद अतिसै भयौ घर घर, नृत्य ठावँरि ठावँ।' (६४३)। साथ ही ताली बजाने का वर्णन भी है—'नाचैं कर दै दै ताल।' (६४९)। शिशु कृष्ण के बाल-नृत्य का कवि ने कई पदों में सुन्दर चित्रण दिया है—'हरि अपनै आँगन कछु गावत' अथवा 'आँगन स्याम नचावहीं जसुमति नंदरानी।' कालिय-नाग प्रसंग में तरुण कृष्ण द्वारा किया गया तांडव नृत्य भी उल्लेखनीय है—'सबै ब्रज है जमुना कै तीर''''अंकम देत अहीर।' होली के हुल्लड़ मे सबका मत्त होकर, यौवन की उमंग में बह कर नाचने का चित्रण हुआ है, साथ ही 'झूमक', 'धमार', 'चांचर' आदि लोक गीतों के गाने का निर्देश है—'नाचति तरुनि बाल बृध भोरी।' (३५१२) अथवा 'इक गावत एक नृत्यत एक रहत गोहन' (३५०८)। चांचर के संबंध में बताया जा चुका है कि यह गीत-विशेष होने के साथ ही लकुट-नृत्य विशेष भी है।

रास-लीला के अनेक पदों में नृत्य का विस्तृत वर्णन है। इसमें हाव-भाव, अंग-संचालन, पैरों का ताल पर पटकना तथा नुपूर, किंकिणी आदि सुमधुर ध्वनि का चित्र उपस्थित किया गया है—'भौंह मोरनि, नैन फेरनि, तहाँ तै नहिं टरे। अंग निरखि अनंग लज्जित गर्क नहिं ठहराइ।''''इते पर हस्तकनि गति-छवि, नृत्य-भेद अपार।' (१७६३), अथवा 'नृत्यत स्याम स्यामा-हेत। मुकुट-लटकनि, भृकुटि-मटकनि, नारि-मन सुख देत।। कबहुँ चलत सुघंग गति सौं, कबहुँ उघटत बैन। लोल कुंडल गंड-मंडल, चपल नैननि सैन।।' (१७६६), तथा 'राधा मोहन मंडल मांझ। मनहुँ बिराजत चंदा सांझ।....पग पटकत लटकत लट बाहु। मटकत भौंहनि हस्त उछाह। अंचल चंचल झूमका।''''मंडित गंड प्रस्वेद कन। बाजत भूषन मृदंग।....नूपुर किंकिनि कंकन चुरी। उपजत मिस्रित ध्वनि माधुरी।' (१७६८)। एक स्थल पर संगीत द्वारा भाव-प्रदर्शन तथा झपताल पर नृत्य करने का संकेत है—'छंद ध्रुवनि के भेद अपार। नाचति कुंवरि मिले झपतार।....कह्यौ सबै संगीत मैं।' (१७६८)।

नृत्य के बोल की सूचक शब्दावली यहाँ मिलती है—'प्राननि सौं प्रान, नैन नैननि अँटकि रहे, चटकीली छबि देखि लपटात स्याम घन। होड़ा-होड़ी नृत्य करैं, रीझि-रीझि अंक भरैं, ता ता थेई थेई उघटत है हरषि मन।' अथवा 'बेनु मधुर धुनि बोलत थेइ थेइ संगहि नाच नचाए' (४२७५)। नृत्य प्रायः स्वर तथा ताल का अनुगत बताया गया है और मृदंग वाद्य पर किये जाने का कहीं कहीं निर्देश है—सुर तालऽरु नृत्य ध्याइ, पुनि मृदंग बजाई।' (१७६६)। यह मंडली-नृत्य आज भी विशेष रूप से ब्रज में प्रचलित है और वृन्दावन मथुरा की रासलीला का विशिष्ट स्थान है। जन्माष्टमी के अवसर पर ब्रज के भक्त-गण विशेष रूप से कृष्ण-कथा से संबंधित प्रमुख घटनाएँ स्वाँग रूप में अथवा गीत, वादन तथा नृत्य के साथ उपस्थित करते हैं।

बाण ने रास का उल्लेख किया है। शंकर के अनुसार आठ, सोलह अथवा बत्तीस व्यक्तियां का मंडलीनृत्य ही 'रासनृत्य' कहलाता है।[१] बाण-वर्णित 'रेचद,'·'रभसारब्ध' तथा 'मंडली'

१—शंकर, अष्टौ षोडश द्वात्रिंशद् यत्र नृत्यन्ति नायकाः।
पिंडीबन्धानुसारेण तन्नृत्तं रासकं स्मृतम्॥

आदि विशेषताएँ उपर्युक्त नृत्य संबंधी पद्यांशों में स्पष्ट रूप से चित्रित हैं। नाट्य-शास्त्र के अनुसार भारती (कुरुक्षेत्र अथवा भरत जनपद), सात्वती (गुजरात व कठियावाड़), कैशिकी (विदर्भ देश या बरार) तथा आरभटी चार शैलियों के नृत्य होते हैं। बाण ने नटों के आरभटी नृत्य की विशेषताओं में इसका उल्लेख किया है।[१]

एक विनय पद में कीर्तन के साथ नृत्य करने से जीवन के मिथ्याकर्षणों के पीछे नाचने का रूपक बाँधा गया है। इसके द्वारा मंदिरों में कीर्तन और नृत्य करने का परिचय भी मिलता है। वृंदावन के मंदिरों में कीर्तन के लिए पद लिख कर गाने का प्रमुख कार्य वल्लभाचार्य जी ने सूर को सौंप दिया था। अतः इनको मंदिरों में प्रचलित पूजा, भोग, कीर्तन आदि तत्कालीन पद्धतियों का ज्ञान होना स्वाभाविक है—'अब मैं **नाच्यौ** बहुत गुपाल। काम क्रोध कौ पहिरि चोलना कंठ विषय की माल। महा मोह के **नूपुर** बाजत, निन्दा **सब्द रसाल**। भ्रम-मोयौ मन भयौ **पखावज**, चलत असंगत चाल। तृष्ना **नाद** करति घट भीतर, नाना बिधि दै **ताल**। माया को कटि फेंटा बाँध्यौ, लोभ-तिलक दियौ भाल। कोटिक कला काछि दिखराई, जल थल सुधि नहिं काल।' (१५३)। नृत्य पर जीवन यापन करने वाली **नटनियों** (४३५७) का अनेक बार ज़िक्र आया है। इसके सम्बन्ध में पहले भी बताया जा चुका है। जायसी ने 'नट', 'पतुरिनि' तथा वाद्य-वादन के समाज को 'अखार' कहा है (५५७।८,५२७।२)।

२६७ वर्तमान समय में संगीत पर पाश्चात्य प्रभाव भी पड़ा है। शास्त्रीय पद्धति में राग रागिनियों के अन्तर्गत गाने की शैली चल रही है किन्तु साधारण गीतों तथा वाद्य-वादन में पश्चिमी देशों में प्रचलित संगीत शैली भी मिल गई है। इस प्रकार का मिश्रण आजकल चित्रपट के संगीत में बहुत है जिसकी लोकप्रियता असंदिग्ध है। इसी प्रकार का प्रभाव नृत्य पर भी दिखाई पड़ता है।

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० ३३, नट आरभटी शैली में नृत्य कर रहे थे। इस नृत्य की पांच विशेषताओं पर यहाँ प्रकाश पड़ता है: १. मंडलीनृत्त—शङ्कर ने इसको हलीसक कहा है जिसमें एक पुरुष स्त्रियों के घेरे के बीच में नाचता है। भोज के 'सरस्वतीकंठाभरण' में इसको ही 'हल्लीसक' नृत्य बताया गया है। इस शब्द का उद्गम यूनानी शब्द 'इलीशियन' नृत्यों से ईस्वी सन् के आस पास हुआ होगा।

खंड ९

पशु-पक्षी

२६८—सूरसागर में सृष्टि[1] का विभाजन करने वाले यह शब्द प्रयुक्त हुए हैं—**थावर** (३८२८) [सं० स्थावर] **और जंगम** (१६८४) [सं०] तथा **अचल** (१६८६) **और चल** [सं०]।

पसु-पच्छी (६२२) [सं० पशु-पक्षी] तथा **खग-मृग** (३८४५) शब्द जानवर तथा चिड़िया के साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। रस्सी में बँधें पशुओं की विवशता का सुन्दर चित्रण है—'परबस भयो पसू ज्यों रजु-बस' (४७)। कुछ प्रारंभिक पदों में आत्मा का रूपक पक्षी से बाँधा गया है—'जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं' (८६)। कवि ने **पसु-घात** (१०६) निंदनीय बताया है, 'किये बहुत पसु-घात' (१०६) अथवा—'आनौ पिंड पोषिबै कारन, कोटि सहस जिय मारे।' (३३४)।

पशु-पक्षियों से संबंधित शब्दावली निम्नलिखित प्रसंगों में प्रमुख रूप से मिलती है—१—विनय पदों में अलंकार अथवा अन्तर्कथाओं के रूप में; २—रूप-वर्णन के उपमानों में, जिनसे मध्यकालीन प्रचलित उपमानों पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ता है; ३—राम-कथा में बंदरों तथा कृष्ण-कथा में गायों का विशेष स्थान है, कृष्ण-कथा में पशु रूप धारण करने वाले अनेक असुरों तथा मुरली व गोचारण शीर्षक पदों में गायों का बार-बार उल्लेख है; कृष्ण-वियोग से ब्रज के पशु-पक्षी भी प्रभावित हुए थे; ४—रास लीला में कृष्ण के अन्तर्धान होने पर गोपियों का पशु-पक्षियों तथा लता-वृक्षों से उनका पता पूछना; ५—वर्षा वर्णन तथा युद्ध-प्रसंगों में—सेनांग मे हाथी तथा घोड़े भी थे।

सुविधा के लिए निम्नलिखित विभाजन किया गया है—

१—जंगली पशु

२६६—**सिंह** (५२५, २७) [सं० सिंहः)] अथवा **केहरि** (१०५, ६) [सं० केशिन्] शब्दों (४२१) का निर्देश सर्वप्रथम नृसिंह अथवा नरकेहरि अवतार में हुआ है—'निकसे हरि नरहरि बपु धारि, (४२१) अथवा 'महाराज, नरसिंह मुरारी।' (४२१)। विष्णु के इस अवतार मे सिंह के समान मुख माना गया है। कृष्ण-जन्म के बाद वसुदेव बच्चे को स्वयं यमुना पार करके नन्द ग्राम ले जाते हैं तब कई अलौकिक घटनाएँ घटित होती हैं—'बंदि बेरी सबै छूटी, खुले बज्र कपाट। सीस धरि श्रीकृष्ण लीने, चले गोकुल-बाट। सिंह आगैं, सेष पाछैं, नदी भई भरिपूरि।' (६२३)।

विनय पदों के कुछ स्थलों में सिंह के अमित बल का वर्णन है—'अति प्रचंड पौरुष बल पाएँ, केहरि भूख मरै।'' (१०५) तथा 'सिंह-सावक ज्यौं तजैं गृह।' (१०६)। वस्त्र-हरण

१—**इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० २१८, पाणिनि ने 'प्राणिन' अथवा 'प्राणभृत' तथा 'अप्राणिन' विभाजन किया है। इनको ही 'चित्तवत' अथवा 'अचित्त' भी कहा गया है। 'प्राणिन' सृष्टि के पुनः दो भाग मनुष्य तथा पशु किए गए हैं। पशु भी स्वाभावानुकूल ग्राम्य-पशु तथा अरण्य(जंगली) होते हैं। आकार को देखते हुए क्षुद्रजन्तु अथवा उनके खाने के अनुसार 'क्रव्याद' (मांस भक्षी) भाग भी किए गए हैं। पाणिनि से पहले वैदिक साहित्य में 'उभयतोदन्त,' 'अन्यतो-दन्त', 'द्विपद', 'चतुष्पद' आदि विभाजन किए गए हैं।**

के समय द्रौपदी की अवस्था ऐसी थी मानो 'मृगी सिंह बन घेरी' (२५१)। रुक्मिणी-कथा में भी उल्लेख हुआ है—'सकत सृगाल सिंह को भोजन दुरबल देखि छीन लै खाई।' (४७८८) अथवा 'गृह कंदरा समान सेज भइ सिंहहु चाहि बली' (३८१५)। कृष्ण और राधा के रूप-वर्णन में प्रायः कमर का उपमान सिंघ[1] (३४५१) हो है—'कटि सिंह बिरोधी' (३८५१) अथवा 'उपमा हरि तनु देखि लजानी।....कटि निरखत केहरि डर मान्यौ, बन-बन रहे दुराई[2]।' (२३७५) अथवा 'जुगल कमल पर गजबर क्रीडत तापर सिंह करत अनुराग।' (२७२८)। मुख की शोभा का इस प्रकार वर्णन है—'मनु मयंकहि अंक दीन्हौ सिंहिका कै सून।' (८०२)। खरगोश तथा सिंह की प्रसिद्ध कथा की ओर भी संकेत है—'ज्यौं केहरि प्रतिबिंब देखि कै, आपुन कूप पर्‌यौ।' (३६६)।

सृगाल (४८०६), **स्यार**, **सियार** (८७) [सं० शृगाल)] अथवा **जम्बुक** (४७८७) [सं० जम्बुक, जम्बूक] के व्यर्थ जीवन का अधिकतर विनय पदों मे उदाहरण दिया गया है अथवा मनुष्य-जीवन की निस्सारता बताने के लिए चर्चा है—'सूरदास प्रभु तुम्हरे भजन बिनु जैसैं सूकर-स्वान-सियार।' अथवा 'या देही को गरब न करिए स्यार-काग गिध खैहै।' (२७)। शिशुपाल तथा कृष्ण की तुलना सिंह तथा शृगाल से की गई है—'करनि सिंह तुम्हरी घरी, कैसे चपै सृगाल।' (४८०६) अथवा 'हरि मुख जम्बुक पानिहिं' (४७८७)।

बराह[3] (३६१, ३६२) [सं० वाराह] विष्णु के वाराहावतार का वर्णन तृतीय स्कन्ध में है—'तब हरि बपु-बराह धरि आयौ' (३६१)।

सूकर (४१) [सं० शूकर)] कुछ विनय पदों में शूकर के तुच्छ जीवन का ज़िक्र है—'उदर भर्‌यौ कूकर सूकर लौं।' (६५), 'भजन बिनु कूकर सूकर जैसौ।' (३५७), तथा 'सो तन सूकर-स्वान-मीन ज्यौ, इहिं सुख कहाँ जियौ।' (३५६)। सुअर बहुत ही गंदा पशु माना जाता है।

रीछ (५८१) [सं० ऋच्छ)] राम की सेना में थे—'रीछ लंगूर किलकारि लागे करन' (५८२)। सिंह तथा रीछ मनुष्यभक्षी पशु[4] हैं।

२—पालतू पशु

३००—यों तो प्रायः सभी जानवर जंगली ही होते हैं किन्तु कुछ घर मे पाले भी जा सकते हैं। इनमें से कुछ उपयोगी होते हैं तथा कुछ केवल शौक़ के लिए पाले जाते हैं। बन्दर की गिनती जंगली जानवर के साथ पाले जाने वाले पशुओं मे की जा सकती है। कुछ लोग

१—प० सं० टी०, १५।५ 'गउव सिंघ रेंगहिं एक बाटा। दूअउ पानि पिअहिं एक घाटा।'

२—प० सं० टी० ५५।५, 'केहरि लंक गवन गज हरे।'

३—हर्ष० सां० अ०, पृ० १६१, सात्वत लोग विष्णु की उपासना नारायण रूप में करते थे। महाविष्णु की मूर्तियों में वाराह या नृसिंह रूप उनकी कल्पना ही थी। मथुरा-कला की गुप्तकालीन मूर्तियों में ऐसी मूर्तियाँ भी मिलती हैं।

४—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, 'क्रव्याद' (मांस भक्षी) पशुओं में पाणिनि ने सिंह, व्याघ्र, वृक, क्रोष्टु, विडाल तथा श्वा पशुओं का उल्लेख किया है। राजसी घरानों में पाले जाने वाले कुत्ते 'कौलेयक' [जात० २२—कुक्कुर] नाम से जाने जाते थे।

बन्दरों को नाच सिखा कर उससे अपनी जीविका चलाते हैं। सूरसागर से भी इसका पता चलता है—'नंद घरनि बाँधि-बाँधि कपि ज्यौं नचावैं।'(१०१२) अथवा 'ज्यौं कपि डोरि बाँधि बाजीगर, कन-कन कौं चौहटैं नचायौ।' (३२६)। बन्दर के कई पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है—**बानर** (६८) [सं० वानर:], **मरकट, मर्कट** (३३२, ३६६) [सं० मर्कट:], **कपि** (२७, २६, १०२) [सं० कपि: =बंदर, हाथी)] तथा **साखामृग** (५१३) [सं० शाखा मृग:]। विनय पदों में अनेक स्थलों पर यह शब्द मिलते हैं—'किंचित स्वाद स्वान बानर ज्यौं घातक रीति ठटी।' (६८) या 'मर्कट मूठि छांड़ि नहिं दीन्हीं, घर घर द्वार फिर्यौ।' (३६६) अथवा 'ज्यौं कपि सीत-हनन हित गुंजा सिमिटि होत लौलीन' (१०२) अथवा 'गज कौं कहा सरित अन्हिवायें, मरकट भूषन अंग।' (३३२) तथा 'तैं जड़ नारिकेल कपि-कर ज्यौं पायौ नाहिं पयौ।' (७८)। राम-कथा में तो वानर-सेना का महत्त्व है ही—'कपि-दल जोरि और सब सेना' (५५७) हनुमान को भी कहीं कहीं वानर अथवा कपि कह कर संबोधित किया गया है—'कहौ कपि रघुपति कौ संदेस।' (५६५) अथवा 'रे कपि, क्यों पितु-बैर बिसार्यौ ?' (५७८) तथा 'बानर बन बिघन कियौ।' (५४०)। **लंगूर** (५४०) [सं० लांगूलिन्] बंदरों की एक जाति विशेष है। इसका मुख काला तथा पूँछ विशेष रूप से लम्बी होती है। नवम स्कन्ध में यह सभी शब्द मिलते हैं—'पहुँची जब असुर-सैन साखामृग जान्यौ' तथा 'सैन सहित सबै हते झपटि कै लंगूर' (५४०)। राम की सेना में वानरों की उपस्थिति के कारण ही आज तक हिन्दू इनको मारने में हिचकते हैं तथा कुछ लोग तो पूजा भी करते हैं। **कपिराज** (६१२) हनुमान को देवता रूप में पूजने वाले अनेक हिन्दू मिलेंगे। आज 'बंदर' शब्द ही अधिक बोला जाता है।

बंदर के समान मृग को भी कभी कभी लोग उसके सरल सौंदर्य से आकर्षित होकर पाल लेते हैं, किन्तु यह जंगली पशु है तथा वन में चौकड़ी भरता हुआ अधिक मनहर ज्ञात होता है। मृग के **आखेट** (३८४३)—'जानि न बधिक किये सौं मृग ज्यौं हनत बिसासी प्रान' —का पहले भी जिक्र किया जा चुका है। सूरसागर में मृग के कई पर्याय दिये गये हैं—**मृगा, मृग, मिरग,** (४६, ७०, ३८४३ ३८२०) [सं० मृग:—पशु-मात्र अथवा पशु-विशेष हिरन] **सारंग** (३३, २७२६) **कुरंग** (३२५ ४०७) [सं० कुरंग: —लाल हिरन] तथा **सावक (मृग)** (२४५३) [सं० शावक:]। मृग की नाभि में रहने वाली **कस्तूरि** (७०) [सं०] को जैसे वह स्वयं नहीं जानता उसी प्रकार आत्मा स्वयं में स्थित ब्रह्म से अनभिज्ञ इधर उधर भटकती रहती है—'ज्यों मृग-नाभि-कमल निज अनुदिन निकट रहत नहिं जानत।' (४६) अथवा 'रे मन, आपु कौ पहिचानि।—ज्यौं मृगा कस्तूरी भूलै सु तौ ताकैं पास' (७०) तथा 'ज्यौं कुरंग नाभी कस्तूरी, ढूँढत फिरत भुलायौ (४०७)।

साहित्य में यह तुलना जिस प्रकार बराबर मिलती है उसी प्रकार मृग के नेत्रों का उपमान रूप में प्रयुक्त होना भी नया नहीं कहा जा सकता—'खंजन मीन मगज लज्जित भए,

---

१—प० सं० टी०, ५५।४, 'नैन कुरंगनि भूल जनु हेरी।'

नैननि गतिहिं न पावत ।'[1] (१२८३) अथवा 'मृग नैनी तू अंजन दे ।' (३४२३) । मृग पशुमात्र के अर्थ में भी आया है—'सकल खग मृग पंक पायक (३८४५)[2] अथवा 'मुनि खग मृग मौन धरे' (१२४१) । कृष्ण की अनुपस्थिति पशुओं को कम दुखदायी नहीं थी—'ते न मृगा तृन चरत उदर भरि, भए रहत कृस गात' (३८२०) । प्रारंभिक पदों के भक्ति-माहात्म्य वर्णन में कुरंग की चर्चा है—'ज्यौं कुरंग जल देखि अवनि कौ,प्यास न गई चहूँ दिसि धायौ ।' (३२६) ।

सारंग शब्द के अनेक अर्थ हैं, जैसे चितकबरा हिरन, शेर, हाथी, कोकिल, सारस, मयूर आदि । मध्यकालीन काव्य में 'सारंग' शब्द को ले कर पूरे पूरे पद बनाने की प्रवृत्ति मिलती है । सूरसागर में भी कुछ पद इसी प्रकार के हैं, जैसे पद ३३, २७६१, २७२६ तथा ३६८३—'सारंग बिकल भयौ सारंग में, सारंग तुल्य सरीर ।' (३३), तथा 'पद्मिनि सारंग एक मझारि ।' (२७२६) । यहीं सारंग (हिरन) को संगीत से आकर्षित कर बधिक के पकड़ने की सूचना भी मिलती है—'जैसे मगन नाद-रस सारंग, बधत बधिक बिन बान' (१६६) । आजकल हिरन शब्द ही प्रायः सुनने मे आता है ।

३०१—बिलार, बिलाव (३११, ३५७) [सं० विडालः, विडालकः] शब्द विनय पदों में उल्लिखित है—'मन सुवा, तन पींजरा तिहिं माँझ राखै चेत । काल फिरत बिलार तनु धरि जब धरो तिहिं लेत ।' (३११) तथा 'जैसे घर बिलाव के मूसा रहत विषय-बस बैसो ।' (३५७) । इन पंक्तियों से दोनों प्रकार की बिल्ली का बोध हो जाता है—इधर-उधर घरों मे घूमने वाली जो पिंजड़े में पाले हुए पक्षियों की घात में रहती है तथा घरों में पाली जाने वाली जो चूहों को मार मार कर लोगों को परेशानी से मुक्त करती है । अक्सर लोग बिल्लियाँ आज भी इसी उद्देश्य से पाल लेते हैं । कभी कभी शौक़ में भी सुन्दर बिल्लियाँ पाली जाती है । आज 'बिल्ली' शब्द खड़ी बोली में तथा 'बिलार' प्रादेशिक बोलियों में अधिक चलता है ।

उपर्युक्त पद्यांश मे मूसा [सं० मूषकः] शब्द की ओर ध्यान जाता है । 'मूस।' शब्द बोलियों में चल रहा है, किन्तु यों 'चूहा' शब्द अधिक प्रचलित है । बिल्ली तथा चूहे का बैर कुत्ते और बिल्ली के समान ही प्रसिद्ध है । चूहा बिल बना कर रहता है ।

कूकर (३५७) [सं० कुक्कुरः] तथा स्वान (३२८) [सं० श्वान] शब्द इन पदों में अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं—'ह्वै गज चल्यौ स्वान की नाईं (७४) । कुत्ते का द्वार पर कान रगड़ना अपशकुन समझा जाता था—'फटकत स्रवन स्वान द्वार पर' (११५६) । उसकी टेढ़ी पूँछ से संबंधित मुहावरा है—'प्रकृति जो जाकैं अंग परी । स्वान पूँछ कोउ कोटिक लागै सूधी कहुँ न करी ।' (४१४४) । 'मेरौ मन मतिहीन गुसाईं—स्रम करत स्वान की नाईं' (१०३), 'कौर कौर कारन कुबुद्धि जड़, किते सहत अपमाना', 'भजन बिनु कूकर सूकर जैसो' (३५७) तथा 'स्वान तुल्य है बुद्धि तुम्हारी । जूठनि काज सहत दुख भारी ।' (२८४) आदि उद्धरणों से श्वान का सारे दिन भटकना तथा घर घर खाने के लिए झिड़की खाने की

१—कालिदास, कुमारसम्भव, सर्ग ५, श्लो० १३—

'लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च ।'

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० २१८, २२१, अष्टाध्यायी में 'मृग' शब्द जंगली जानवरों के साधारण अर्थ में ही प्रायः प्रयुक्त हुआ है । एक सूत्र (११-४-१२) में हिरन Cervidal के अर्थ में आया है । पाणिनि ने दो प्रकार के हिरनों 'ऋष्य' (antelope) और 'न्यङ्कु' (gazelle) के नाम भी दिये हैं ।

ओर संकेत है। मनुष्य जीवन का ध्येय साधारण पशु के जीवन से भिन्न है। केवल पेट भर लेना ही तो उद्देश्य नहीं है। 'कुत्ते को तरह काम में जुतना', अथवा 'कुत्ते की सी जिंदगी बिताना' आज भी इन्हीं भावों को व्यक्त करते हैं। 'कुत्ता भौंकता रहता है और हाथी देखता भी नहीं' कहावत उच्च व्यक्तियों की सहनशीलता तथा शान्त स्वभाव की द्योतक है। 'जैसे स्वान कांच मंदिर में, भ्रमि भ्रमि भूकि मर्‌यौ।' (३६६)—आत्म-विभ्रम को बताने के लिए कवि कहता है।

आज कुत्तों को पालने का काफ़ी रिवाज है। इनकी कुछ जातियाँ तो केवल सुन्दरता के कारण आकर्षित करती हैं, किन्तु कुछ रात में चौकीदारी के लिए प्रसिद्ध हैं—'स्वान सूते, पहरुवा सब, नींद उपजी गेह।' (६२३)। 'अंचल लिखति स्वान की मूरति' (३८६१)—गोपियों की वियोगावस्था के प्रसंग में उल्लिखित है। बोलियों मे 'कूकुर' शब्द सुनने मे मिल जाता है जब कि खड़ी बोली में 'कुत्ता' बोला जाता है।

खर[1] (११५८, ३३२, ४८०६ [सं० खरः] तथा **गर्दभ** (११५८) [सं०]—'हय गयंद उतरि कहा गर्दभ चढ़ि धाऊँ' (१६६) तथा 'तजौ हरि-बिमुखन कौ संग—खर कौं कहा अरगजा लेपन' (३३२) आदि उदाहरण प्रारंभिक पदों में वर्णित है। कालिय-दमन प्रसंग का पूर्वाभास कराने के लिए कुछ अपशकुनों की सूची दी गई है, उसमे गधे का बोलना भी है—'बाऐं काग, दाहिनैं खर-स्वर, ब्याकुल घर फिरि आई।' (११५८) 'दाहिनैं धाह सुनावत' (११५६)। 'गधा' आजकल धोबी के काम आता है। यह लोग गधे पर ही कपड़े की गठरी रख कर घाट ले जाते है।

बैल (३३१, १८५) [सं० बलिन्] या **वृष** (३५७) [सं० वृषः] किसान के जीवन का आधार-स्वरूप होता है। विनय-पदो मे तेली के बैल का ज़िक्र है—'तेली के वृष लौं नित भरमत भजत न सारंगपानि।' (१०२)। बैल की अवस्था का इस प्रकार चित्रण है, 'भक्ति बिनु बैल बिराने, ह्वैहौ। पाउँ चारि, सिर सृंग, गुंग मुख, तब कैसें गुन गैहौ। चारि पहर दिन चरत फिरत बन, तऊ न पेट अघैहौ। टूटे कंधहरु फुटी नाकनि, कौ लौं धौं भुस खैहौ। लादत, जोतत लकुट बाजिहै, तब कहँ मूड़ दुरैहौ। सीत घाम, घन बिपति बहुत बिधि भार तरैं मरि जैहौ।' (३३१)। हल मे जोते गए दो बैलों का भी वर्णन है—'बंजर भूमि, गाउँ हर जोते, अरु जेती की तेती।....काम-क्रोध दोउ बैल बली मिलि, रज-तामस सब कीन्हौं। (१८५)।

उपर्युक्त पद्यांशों द्वारा बैलों को हल में जोतना, सामान लादना तथा तेल पेरना आदि उनके अनेक उपयोगों पर प्रकाश पड़ता है।[2] ब्रज-लीलाओं मे वृषभासुर-वध प्रसंग

१—इंडिया एज नोन टु पाणिन, पृ० २२०, 'खर-शाक' का उल्लेख अष्टाध्यायी में है।

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० १५३, जोते जाने वाले जानवर 'युग्म' नाम से जाने जाते थे। वाहनों के अनुसार भी उनके नाम होते थे जैसे-'रथ्य' (रथ के बैल) 'शाकट'(शकट के),'हालिक'तथा 'सैरिक' (हल के बैल)। 'सर्वधुरीण' तथा 'एक धुरीण' बैल क्रमशः दोनों ओर अथवा एक ही ओर जोते जाते थे। हिन्दी में 'उपराल' तथा 'तरवाल' क्रमशः दाहिने तथा बाएं वाले कहलाते हैं। पाणिनि ने 'गो-साद' तथा 'उष्ट्र-साद' शब्दों का बैल तथा ऊँट पर चढ़ने वालों के अर्थ में प्रयोग किया है। उन्होने 'सात्व' देश के प्रसिद्ध 'सात्वक' बैलों का भी उल्लेख

भी है—'वृषभ श्रृंग सौं धरनि उकासत बल-मोहन-तन हरै—पाँउ पकरि भुज सौं गहि फेर्यौ भूतल माँहि पछार्यौ' (२००५), 'सुनी करतूति बृषासुर की—' (२०१०)।

मैंढ़नि (४४६) [सं० मेढः मेंढकः] का नवम-स्कन्ध की पुरुरवा-कथा में निर्देश हुआ है। यह भेड़ की तरह का चौपाया होता है।[१]

३— दूध देने वाले जानवर

३०२—इस सूची में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान धेनु (६२२) [सं० धेनुः], सुरभी, सुरभि (६, ३२११, ३८३५) [सं० सुरभिः] गोधन (५१) तथा गाई (५६,५१) या गैया[२] (४) [सं०गो—गावी—गाई—गाइ—गाय] का है। विनय-पदों मे प्रभु की वत्सलता का उदाहरण गाय तथा उसके बच्चे से कई जगह दिया गया है—'जैसे गैया बच्छ कैं सुमिरत उठि धावै।' (४)। अविद्या तथा तृष्णा रूपिणी गायों का भी वर्णन है। इन पदों मे गाय चराना, उसका हरहाई[३] (५१) होना आदि भी वर्णित है—'माधौ जू, यह मेरी इक गाइ। अब आज लैं आप-आगैं दई, तै आइयै चराइ। यह अति हरहाई हरकत हूँ बहुत अमारग जाति। फिरति बेद-बन ऊख उखारति, सब दिन अरु सब राति।' (५१) अथवा माधौ नैंकु हटकौ गाइ। —ब्योम, धर, नद,सैल, कानन, इते चरि न अघाइ। नील खुर अरु अरुन लोचन, सेत सीग सुहाइ।....' (५६)। गाय के पैरों के नीचे के भाग को खुर [सं० क्षुरः] कहते है। बच्चे के जन्म आदि मंगल अवसरो पर ब्राह्मणों को गायें दान की जाती थीं[४]—'तहं गैयाँ गनी न जाहिं, तरुनी बच्छ बढ़ीं। जे चरहिं जमुन कैं तीर, दूनैं दूध चढ़ीं। खुर ताँबैं, रूपै पीठि, सोनैं सीग मढ़ी। ते दीन्हीं द्विजनि अनेक, हरषि असीस पढ़ीं।' (६४२)। हिन्दू धर्म में 'गोदान' का दानों में ऊँचा स्थान है—'एकनि कौं गो-दान समर्पत' (६४३)। गाय को भारत में 'माता' या 'मैया' का स्थान दिया गया है।[५] पूजा के 'पंचगव्य' में लाल गाय का मूत्र, गोबर, दूध, दही तथा घी सम्मिलित हैं। गाय के बच्चे को बच्छ [सं० वत्सः] बछरू (६४४,१०५६), बछरनि[६] (३०,६२५) या गो-सुत (१०५६) [सं० वत्सकः सं० वत्सरूप—बच्छरूअ—

किया है। पतंजलि ने 'वाहीक' जाति का नाम और जोड़ दिया है।

१—अथर्व० में भेड़ के लिए 'अवि' शब्द मिलता है और 'आविक' का अर्थ ऊन है। ऋग्वेद में 'उर्णावती' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

२—कृ० जी०, प्र० ६, अध्या० २, हेमचन्द्र ने प्राकृत व्याकरण में 'गावी' शब्द गाय के अर्थ मे प्रयुक्त किया है। उपयोगिता के कारण गाय वैदिक काल से ही पूज्य मानी गई है। अथर्ववेद तथा निघंटु में उसे 'अघन्या' कहा गया है।

३—कृ० जी०, प्र० ६, अध्याय २, 'हरिआ' गाय हरी पत्तियों के प्रलोभन में दौड़-दौड़ कर खेतों में घुस जाती है।

४—मानस, बाल० १९४, 'हाटक धेनु बसन मनि, नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह।'

५—मनूची, भाग ३, पृ० ४२, गाय की पूजा करने का उल्लेख मनूची ने किया है। गोबर से भूमि लीपने व गो मूत्र को पवित्र समझ कर पीने की चर्चा भी है।

६—कृ० जी०, प्र० ६, अध्याय १२, गाय का तुरंत पैदा हुआ मादा बच्चा 'बेगरी' कहलाता है। उससे कुछ बड़ी 'बछिया' होती है तथा जवान होने पर

बछरू, गो-सुत सं०] कहा गया है —'गाइ-बच्छ सँवारि ल्याए' (६४४) अथवा 'ज्ञान-रूप हिरदै मैं बोलै। सो बछरनि के पाछैं डोलै।' (६२१) तथा 'बछरा चारन चले गोपाल' (१०२८)। ब्रह्मा-वत्स-हरण प्रसंग (१०५४-१०५६, ११०१-१११०) भी उल्लेखनीय है—'ब्रह्मा बाल बछरवा हरि गयौ' (३०) अथवा 'बालक-बच्छ हरे चतुरानन, ब्रह्म-लोक पहुँचाए।' (१०५४)। 'जैसैं गैया बच्छ कैं सुमिरत उठि धावै' (४)—गाय का बच्चे के प्रति प्रेम प्रसिद्ध है।

गो-दोहन (१०१२-१०१६) तथा गोचारण (१०२६-११११) का चित्रण अनेक पदों में विस्तार से हुआ है—'तात दुहन सीखन कह्यौ मोंहि धौरी गैया। अटपट आसन बैठि कै गोधन कर लीन्हौ।....सूर स्याम सुरभी दुही, संतनि हितकारी।' (१०२७), तथा 'धेनु दुहत हरि देखत ग्वालनि -—काल्हि तुम्है गोदुहन सिखावैं दुहीं सबै अब गाइ—।' (१०१८)। ब्यानहार गाय को वैदिक संस्कृत में 'प्रव्यया' कहा गया है।[1] ग्वालों के मुखिया नंद के घर में पाले गये कृष्ण का अन्य बालकों के साथ यमुना तट पर गाय चराने जाना, वहाँ खेलना, छाक खाना आदि से अनेक संबंधित चित्र हैं। वह माता से गाय चराने जाने की ज़िद करते हैं—

'मैया हौं गाइ चरावन जैहौं।
तू कहि नंद बाबा सौं, बड़ो भयौ न डरैहौं।'
'चले सब गाइ चरावन ग्वाल—' (१०३८)।

संध्या समय गायों के झुंड में गोपाल को लौटने का अनेक पदों में सुन्दर वर्णन है (१०६४, १०६८, ११२४-१२२६) 'बन लैं आवत धेनु चराये। 'संध्या समय साँवरे मुख पर, गो-पद-रज लपटाये।'' (१०३५), अथवा—ब्रजहिं चलौ आई अब साँझ—'गैया हाँकि चलाई ब्रज कौं, और ग्वाल सब लए पुकारि।' (१०६०)।

गायें घेर कर एकत्रित करने का सरल स्वाभाविक चित्रण है—'मोकौं बन-फल तोरि देत है, आपुन गैयनि घेरत।' (१०४२) अथवा ''गाइ लई सब घेरि घरनि तैं, महर गोप के बालक' (१०४४) या 'मैया हौं न चरैहौं गाइ। सिगरे ग्वाल घिरावत मोसौं, मेरे पाइ पिराइ।' (११२२)। गाय घेरने में कृष्ण की मुरली भी सहायक थी—'द्रुम चढ़ि काहे न टेरौ कान्हा गैयां दूरि गईं—घेरे घिरति न तुम बिन माधौ—मुरली सुनि आइ गईं। (१२३०)।

यमुना के तट पर गाएँ चरने लगती थीं और सब गोप-ग्वाल वृक्ष की छाया में बैठ जाते थे—'हरषि भए नंदलाल बैठि तरु छाँह के।—सखा लिये तहँ गये, धेनु बन चरति कहूँ हैं।' (१०५५) अथवा 'गोधन-वृंद लिए ब्रज बालक जमुना तट पहुँचाये।

'कलोर' [सं० काल्या] और 'ओसर' 'ओसरिया' [सं० उपसर्या]। यास्क-कृत निघंटु कोश (२।११) में गाय को 'उस्रा' अथवा 'उस्रिया' कहा गया है।

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० २२३, पाणिनि के समय में भी 'काल्या' तथा 'उपसर्या' नाम ही प्रसिद्ध थे। वैदिक 'व्यया' के लिए शश्वदीना शब्द आ गया था। महाभारत काल में माहेयी' तथा तीन वर्ष की आयु वाली को त्रिहायणी' कहते थे।—महाभारत, विराट-पर्व, कीचक वध, अध्या० १७, श्लोक ११, सर्वश्वेतेव बने जाता त्रिहायणी।

(१२२६) । वन से लौटते समय कृष्ण के वंशी-वादन का बार-बार चित्रण मिलता है—"बृन्दाबन तें धेनु-बृंद मैं बेनु अधर धरे गावत ।' बिडरीं (१३११) शब्द से गायों के इधर-उधर भागने का अर्थ व्यक्त होता है—'भीर भई मुरली सब बिडरीं ।' मुरली से गाय तथा अन्य सभी पशु-पची विमोहित हो जाते थे । मुरली के इस प्रभाव का कवि ने कई पदों में वर्णन किया है—'धेनु मृग तृन तजि रहे, बछरा न पीवत छीर ।' या ' सुनि धेनु धुनि थकित रहति । तृन दंतहू नहिं गहति । बछरा न पीवत छीर । पंछी न मन मैं धीर ।' (१२४१) अथवा 'पसु मोहैं सुरभी बिथकित ।' (१२३८) । कृष्ण के मथुरा-गमन पर उनकी प्रिय गायों की दशा भी दयनीय हो जाती है—'ऊधौ इतनौं कहियौ जाइ । अति कृस गात भईं ये तुम बिन परम दुखारी गाइ ।....जहां-जहां गोदोहन कीन्हौ सूंघति सोई ठाउँ ।' (४६८८) ।

गोचारण शीर्षक पदों मे गायो के विभिन्न वर्णों पर आधारित उनके नामों का उल्लेख है —'कारी, गोरी, धौरी, धूमरि लै लै नाम बुलावत ।' (१२३५), अथवा 'कजरी धौरी सेंदुरी धूमरि मेरी गैया ।' (१२८४) । इस दृष्टि से पद १०६३ बहुत महत्वपूर्ण है । इस पद में गायों के नामों की सूची सी है—'धौरी धूमरि राती रौंछी, बोल बुलाइ चिन्हौरी । पियरी मोरी गोरी गैंजी खैरी कजरी जेती । दुलही फुलही भौरी भूरी हाँकि ठिकाई तेती ।'

दूध के सिलसिले मे कृष्ण को कजरी तथा धौरी का दूध प्रिय होने का जिक्र भी कई बार है—'धौरी दूध औटि है राख्यौ' (११६४) या 'मीठौ दूध गाइ धूमरि कौ' (१३४६)

दुग्ध-दोहन शीर्षक पदों में धार[२] (१३५१) शब्द कई बार आया है । शाम के समय वन से लौटती हुई गाये अपने बच्चे को देखकर या स्मरण कर जो ध्वनि करती हैं उसको सूर ने हूँकति (४६८८) अथवा 'रांभति' (१०६८) कहा है—हूँकति लीन्हें नाउँ' या 'रांभति गाइ बच्छ हित सुध करि, प्रेम उमगि थन दूध चुवावत ।' आज भी 'हूँकना,' 'हुंकार' या 'रँभाना' शब्द बोले जाते हैं । महाभारत मे भी 'रेम्यमाणाः गावः का उल्लेख[३] है । 'कृष्ण-जन्म से गाएं तक हर्षित हुई थी—'आनंद मगन धेनु, स्रवैं थनु पय-फेनु, उंमग्यौ जमुन-जल उछलि लहर के । अंकुरित तरु-पात, उकठि रहे जे गात, बन बेली प्रफुलित कलिनि कहर के ।' (६४८)

गाय के खाने में तृन (१२४१) अथवा भुस (३३१) [सं० बुष] का ही प्रायः उल्लेख है । आजकल गाय को हरी घस चराने के अलावा नांद [सं० नंदा] में भुस खली

१—कृ० जी०, प्र० ६ अध्या० २, धौरी = सफ़ेद, स्यामा = काली, कबरी = चितकबरी, हरिआ = हरी पत्तियों के लिए खेतों में घुसने वाली, भूरी, = भूरे रंग की, लल्ली = लाल रंग की, कजरी = काली आंखों वाली, कंजी = सफ़ेद पुतली वाली, कपिला = सीधी गाय ।

२—कृ० जी०, प्र० ६, अध्या० ३, वैदिक संस्कृत (तै० सं० ७।५।३।१) में 'प्रातदेहि' तथा 'सायंदेहि' शब्द प्रातः तथा सायंकाल बढ़ने वाली धारों (वर्तमान शब्द 'धौताई' व 'संजा') के लिए प्रयुक्त हुए हैं । [शत० ७।५।२।, 'साहस्रो वा एव शतधार उत्सोयद् गौः'] ।

३—कृ० जी०, प्र० ६, अध्या० २, महाभारत, विराट पर्व, गोहरण पर्व ।

[सं० खलि], चूर्ण तथा नमक दिया जाता है।[1] चारा खाने के स्थान को ही 'सार' [सं० शाल:] कहते हैं[2]। सार के दरवाजे की किवाड़ को खिरका या खरिक कहते हैं। बकरियों के आयतादार या वर्गाकार बाड़े को भी खरिक कहते हैं। सार में अँधेरे में जाते समय किसान सन को लकूटी जला लेते हैं। सूरसागर में खरिक (३२६८, १२६७) शब्द अनेक पदों में प्रयुक्त हुआ है 'खरिक माँहि अबहीं ह्वै आई, अहिर दुहन सब गैया।' (१२६७) अथवा गोसुत मेलौ खरिक सम्हार' (१०२१) तथा 'ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं। हंस-सुता की सुंदर कगरी, अरु कुंजनि की छाँहीं। वै सुरभी वै बच्छ दोहनी खरिक दुहावन जाहीं।'

कृष्ण तथा राधा के स्नेह की नींव भी यहीं पड़ती है -'प्रातहिं आइ खरिक दुहावन, कहति दोहनी लैकर' (१३४४) अथवा 'खेलन कौ मिस, करिकै निकसे खरकहिं गए कन्हाई—सुनि राधा मुसकाइ।' (१३४६)। घोष (१०४१) [सं०] का निर्देश भी अनेक पदों में है। यह ग्राम की सीमा अथवा चरागाह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—'खेलहु जाइ घोष भीतर, दूरि कहूँ जनि जैयहु बारे।' या 'सूनो घोष बैर तकि हमसौं इन्द्र निसान बजाई।' (३६२४)। एक राक्षस धेनुक के रूप में भी कंस द्वारा भेजा गया था (१११७)। आज सभी पर्यायवाची शब्दों में 'गाय' शब्द अधिक प्रचलित है।

३०३—दूध देने वाले अन्य पशुओं में भैंस (३५७), महिष[4] (१५६४) [सं० महिष:] छेरी (१६८) [सं० छेलक] तथा अजा,[5] अजानायक (विनय, ३२१) भी उल्लेखनीय हैं। ब्रज आकर इंद्र द्वारा क्षमा माँगने से संबंधित कई पद हैं (१५६४-१६०१), इनमें कुछ पशुओं के नाम मिलते हैं—'मेढ़ा महिष मगर गुदरारौ, मोर आखुनन-बाहन गावत।' (१५६४)। विनय पदों में भी कहीं कहीं उपर्युक्त जानवरों के नाम उल्लिखित हैं—कामधेनु छाँड़ि कहा अजा ले दुहाऊँ।' (१६६) 'सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै।' (१६८), 'निकट आयुध बधिक धारे, करत तीच्छन धार। 'अजानायक मगन क्रीडत चरत बारंबार, (३२१), 'बृक-ग्रसित अजा लौं' (२०१) तथा 'माता-अछत छीर बिन सुत मरै, अजा-कंठ-कुच सई (२००)।

पद्मावत के बादशाह-भोज खण्ड में अनेक पशु-पक्षियों को मार कर मांस पकाने का

१—कृ० जी०, प्र० ७, अध्या० १

२—कृ० जी०, प्र० ८, अध्या० ५, वेद में गोष्ठ (अथर्व ७।७५।२) शब्द आया है। पाणिनि ने भी इसका प्रयोग किया है। ऋग्वेद में 'सर' शब्द भी मिलता है।

३—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० २२२, चरागाहों को 'गोचर' कहते थे लवण की इच्छा को 'लवणस्पति' कहा गया है। 'व्रज' (चरागाह), 'गोशाला 'गोष्ठ',[1] 'गोष्पद' (गायों के घूमने का मैदान), 'गोत्रा' (गायों का एकत्रित होना), 'गोपाल' (गाय पालने वाला), तथा 'अनुगावीन' (गाय चराने की उम्र आने पर गोपाल-बालक) आदि शब्द महत्त्वपूर्ण हैं।

४—मानस, ५, ३, 'कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं।'

५—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० २२०, 'अज' (बकरी) 'आजक' (बकरियों का झुंड) का उल्लेख अष्टाध्यायी में है। 'अजावि' तथा 'अजैड' शब्द भेड़-

वर्णन है। यहाँ पर अनेक नाम एक साथ दिये गये हैं। उस समय जिन जानवरों तथा पक्षियों का मांस खाते थे इसका भी परिचय मिल जाता है। इनमें 'छागर' (बकरा) 'मेंढ़ा,' 'हरिन,' 'लगुना,' (एक हिरण), 'रोझ' (नीलगाय), 'चीतर,' 'गौन' (एक बारहसिंहा), 'झाँख' (सांभर), 'तीतर,' 'बटई' (बटेर), 'लवा,' 'सारस,' 'कूंज' (क्रौंच या कुलंग) 'पुछारि,' 'परेवा, 'पंडुक', 'खेहा', (तीतर जातिका), 'गुडरू' (बटेर जाति का), 'उसरबगेरी' 'हारिल', 'चरज', 'कँव', 'बनकुकरी', 'जल कुकरी', 'चकवा-चकई', 'पिदारे' (पिद्दे), 'नकटा', 'लेदी,' 'सोन,' 'सिलारें' आदि[1]।

४. सवारी के लिए उपयोगी पशु

२०४—इस शब्दावली में दो पशु विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—तुरंग (१६१) [उं०], हय[2] (१६६) [सं०] अस्व[3] (विनय) [सं० अश्वः], बाजि,बाजी (२३,१६६२) [सं० वाजिन्], तुरी (४८०४) [सं० तुरंग] अथवा ताजी [फ़ा० ताज़ी—अरब देश का घोड़ा] तथा कुंजर (११३,२५३१) [सं० कुंजरः—श्रेष्ठ हाथी], गजेन्द्र (४२६) गयंद (४,४५) [सं० गजेन्द्रः श्रेष्ठ हाथी] गजराज (११६४), गज (१७,२७, ३६६, १८५१) [सं०] मतंग (२३६०) [सं०] मैगल (१०२)।[सं० मदकलः, मदकारिन] अथवा हाथी (११२) [सं० हस्तिः]—'कबहुँक चढ़ौं तुरंग महागज।' (१६१)।

इन दोनों का उल्लेख सेना के चार अंगों तथा सवारी के साधनों के अंतर्गत किया गया है। हाथी तथा उसके पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख विनय-पदों में गज-ग्राह कथा (४२६-४३३) के अन्तर्गत अनेक बार हुआ है—'दौरि छुड़ायौ हाथी' (११२) अथवा—'हा करुनामय कुंजर टेर्‌यौ रह्यो नहीं बल थाकौ' (११३) अथवा' 'दुखित गयंदहिं जानि कै आपुन उठि धावै।' (४), या 'ग्राह ग्रसत गज कौं जल बूड़त, नाम लेत वाकौ दुख टार्‌यौ' (१४) तथा 'गज-मोचन ज्यौं भयौ अवतार।' (४२६)। कहीं कहीं निरंकुश मतवाले हाथी और मन का रूपक लिया गया है—'माधौ जू मन सबही बिधि पोच। अति उन्मत्त निरंकुस मैगल, चिंता-रहित असोच।' (१०२)। स्त्रियों की चाल का उपमान भी मतंग ही है—'मंद मंद

बकरी के द्योतक थे। 'जाबाल' तथा 'महाजाबाल' बकरी भेड़ें पालने वाले को कहते थे। 'अवि' अथवा 'आविक' भेड़ों के नाम थे।

१—प० सं० टी०, ५४१, 'छागर मेंढ़ा बड़ औ छोटे—मोट बड़े सब टोइ टोइ धरे। उबरे दुबरे खुरुक न चरे। कंठ परी जब छूरी रकत ढरा होइ आंसु। कै आपन तन पोखा भा सो परावा मांसु।'

२—मानस, बाल०, २६८, 'हय गय स्यंदन साजहु जाई।

३२६, 'गज रथ तुरत दास अरु दासी। धेनु अलंकृत कामदुहा सी।'

जानकी०, १७५, 'दासी दास बाजि गज हेम बसन मनि।'

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १४५,२१६, एक दिन में घोड़े द्वारा पूरी की गयी यात्रा को 'आश्वीन' कहा जाता था। 'अश्व' तथा 'वाडव' शब्द भी मिलते हैं। कौटिल्य के अनुसार श्रेष्ठ अश्व कम्बोज, सिन्धु तथा वाह्लीक से आते थे। पृ० २१८, हाथी को 'हस्तिन', 'नाग', अथवा 'कुंजर' नामों से पुकारा जाता था। बड़ी सूंड वाला 'शुण्डार' कहलाता था तथा 'द्विहस्ति' एवं 'त्रिहस्ति' ऊंचाई नीचाई के नाम थे। हस्ति-दंत का उपयोग भी होता था।

गति मत मतंग ज्यौं, अंग-अंग सुख-पुंज-मरीची।' (१३९०)। 'गांड़े' में हाथी की विशेष रुचि होने का निर्देश है—'कहु षटपद कैसें खैयतु है, हाथिनी कें संग गांड़े' (४२२)। कृष्ण-रूप-वर्णन में भी उल्लेख है—'स्याम रूप में री मन अर्‍यौ।— सूरदास प्रभु रूप थक्यौ मनु, कुंजर तंक पर्‍यौ।' (२५३१) अथवा 'बारक नैननि ही मिली जाहु।—गज गति मंद मराल बिरोधी हेम सुरुचि रिपु दाहु।' (३८५१)। वर्षा-वर्णन पदों में बादलों को देख कर मतवाले हाथियों का भ्रम होने का चित्रण है—'देखियत चहुँ दिसि तैं घन घोरे। मानौ मत्त मदन के हथियनि, बल करि बंधन तोरे।—स्याम सुभग तन चुवत गंडमद, बरषत थोरे थोरे। रुकत न पवन महावत हू पै, मुरत न अंकुस[1] मोरे।' (३९२१)।

बादलों के गरजने पर दूसरे हाथी की आवाज़ समझ वह भी चिंघाड़ने लगते हैं—'गरजत गगन गयंद गुंजरत' (३९२३)।

यहाँ हाथी से संबंधित कुछ और शब्दों का भी बोध होता है जैसे—गंडमद [सं० गण्डः + मदः], महावत [सं० महामात्र] तथा अंकुस [सं० अंकुश]। हाथी के माथे से बहने वाले एक द्रव पदार्थ को गंडमद कहते है तथा हाथी को चलाने वाला व्यक्ति महावत होता है। महावत मतवाले हाथी पर अधिकार पाने के लिए जिस लोहे के टुकड़े से उसके मस्तक पर प्रहार करता है वही 'अंकुश' के नाम से प्रसिद्ध है। 'निरंकुश' शब्द से साधारण तौर पर मनमानी करने का' भाव प्रकट किया जाता है। घोड़े का निर्देशन बाग [सं० वल्गा] (२३) से होता है।[2]

वर्तमान समय मे इन दोनों पशुओं के सभी पर्यायों मे 'हाथी' तथा 'घोड़ा' शब्द अधिकतर बोले जाते है। 'गज-मौक्तिक' का उल्लेख आभरणों मे किया जा चुका है[3]।

३१५—कंस द्वारा ब्रज भेजे गये असुरों मे एक घोड़े के रूप में भी आया था। इस असुर 'केशी' के बध का वर्णन है (२०१४)। कंस के दरबार में मल्लों के अतिरिक्त कृष्ण को गजकुबलय का भी सामना करना पड़ा था—'तुरत दंत लिये उपारि, कंघनि पर धारि, निरखत नर नारि मुदित, चक्रित गज मार्‍यो।' (२९१२)। आत्मभ्रम सबंधी पदों में हाथी का उदाहरण दिया है—'जैसें गज लखि फटिक सिला मैं, दसननि जाइ अर्‍यौ।' (३६९)। पद्मावत में राजद्वार पर बँधे विभिन्नि वर्णों के हाथियों तथा घोड़ों का वर्णन है।[4] चौगान के खेल के सिलसिले में सूरदास जी ने कुछ घोड़ों की क़िस्मों का वर्णन भी किया है—'निकसे सबै कुंवर असवारी

१—प० सं० टी०, २९।६, 'गजपती क आंकुस गज नावा।' (६) आंकुस गज = वह हाथी जो मतवाले हाथियों को वश में करता है। ३४७।३, 'उए अगस्ति हस्ति घन गाजा'।

२—प० सं० टी०, ४६।५ 'मन तें अगुमन डोलहिं बागा।' ४६।४ 'तरपहिं तबहिं तायन बिनु हांके।' तायन = फ़ा० ताजियाना = चाबुक।

३—हर्ष० सां० अ०, पृ० १७०, प्राग्ज्योतिषेश्वर कुमार के दूत हंसवेग की भेंट-सामग्री में जलहस्तियों के मस्तक से निकले मुक्ताफल से जड़े हाथीदांत के कुंडल भी थे।

४—प० सं० टी०, ४५। 'हस्ति सिंघली बांधे बारा। जनु सजीव सब ठाढ़ पहारा। कवनौ सेत पीत रतनारे। कवनौ हरे धूम औ कारे।—मात निमत सब गरजहिं बांधे। निसि दिन रहहिं महाउत कांधे।' ४६। 'पुनि बांधे रजबार तुरंगा —लील समंद चाल जग जाने। हांसुल भंवर कि आइ बखाने—।'

उच्चैस्रवा के पौर। नील सुरंग कुमैत स्याम तेहि, परदे सब मन रंग। बरन अनेक भाँति भाँतिन के चमकत चपला ढंग।' (४७१४)।

झीन [फ़ा० जीन] जड़ाऊ वर्णित है—'झीन जराइ जु छगमगाइ रहि, देखत दृष्टि भ्रमाइ।' (४७१४)।

कृष्ण-रुक्मिणी विवाह मे भी कृष्ण का घोड़े पर जाने का वर्णन है—'तुरी ताजी बिना ताजन[1] चपल चपला श्रीहरी। जीन जरित जराव पाखरि लगी सब मुक्ता लरी'।[2] जीन [फ़ा० ज़ीन] घोड़े की पीठ पर पड़ी चमड़े की गद्दी को कहते हैं।

पाखरि [सं० प्रखरः] घोड़े पर पड़ी झूल होती है।

ताजन [फ़ा० ताज़ियाना] चाबुक [फ़ा०] या कोड़े [सं० कवर] को कहते हैं।

ताजी [फ़ा० ताज़ी] अरब देश के प्रसिद्ध घोड़े थे।

घोड़े की बाग (२३) [सं० वल्गा] का परिचय भी मिलता है—'बाएँ कर बाजि बाग' (२३)। इसको आज रास [सं० रश्मि] भी कहते हैं।

पद्मावत (४६) से ग्यारह-बारह किस्मों के घोड़ों के संबंध मे पता चलता है। उसमें 'लील' नीले रंग का, आज भी इसी नाम से प्रसिद्ध है। 'हांसुल', 'कुमैत', 'हिनाई', 'भंवर' (भौंरे के रंग का मुश्की), आदि सूरसागर के घोड़ों से मिलते हैं। इसके अतिरिक्त 'समुंद' (बादामी), 'कियाह' (कलछौंह लाल). 'हरा' (इस रंग का घोड़ा दुर्लभ है), 'कुरंग' (लाख के रंग का या नीला कुमैत), 'महुअ' (महुए के रंग का), 'गर्र' ('रोएँ सफ़ेद व लाल') 'कोकाह' (सफ़ेद), 'बोलाह' (गर्दन व पूँछ के बाल पीले), 'तुखार' (तुषार देश का, मध्यएशिया मे शकों के एक क़बीले व मूलस्थान से आने वाले घोड़े कुषाण तथा गुप्तकाल में इस नाम से प्रसिद्ध थे।) आदि नये नामों पर भी प्रकाश पड़ता है। आठवीं शती के पूर्वार्द्ध में अरबी सौदागर या ताज़िक व्यापारी राष्ट्रकूट राजाओं के लिए घोड़े लाने लगे थे और धीरे धीरे उनके विदेशी नाम भी प्रचलित हो गए। वाण ने भारतीय नामो का सातवीं शती के पूर्वार्द्ध मे उल्लेख किया है जैसे 'शोण', 'श्याम', 'श्वेत', 'पिंजर', 'हरित', 'तित्तिर', 'कल्माष' आदि।[3]

एक दो स्थानों पर ऊँट (३५७) [सं० उष्ट्र[4]] का नाम भी मिलता है—'सूरदास भगवंत-भजन बिनु मनौं ऊट-वृष-भैंसौं।' (३५७)। करभ (६६) [सं०]—'करभ-कर-आकृति'—ऊँट अथवा हाथी दोनों अर्थों में आता है। आज ऊंट पर अधिकतर तरकारी फल आदि सामान लादकर गाँवों से नगर मे ले जाते हैं।[4] इसके अतिरिक्त पश्चिमी उत्तर प्रदेश में

१—प० सं० टी० ४८८।६ 'ताजन नाग सिंह असवारू'।

२—हर्ष० सां० अ०, पृ० १४३, वाणकालीन घोड़ों के साज में 'लवणकलापी', 'किंकिणी' तथा 'नाली' से युक्त 'पर्याण' अथवा जीन प्रचलित थी। वह 'तल-सारक' (ज़ेरबन्द) से बांधी जाती थी। 'नाली' पूंछ में पहनाई जाने वाली सोने की नलकी थी तथा 'लवणकलापी' ज़ीन से लटकने वाली पुतलियां होती थीं।

३—प० सं० टी०, ४६। (३)।

४—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ३१९, 'उष्ट्र' तथा 'औष्ट्रक' शब्द अष्टाध्यायी में उल्लिखित हैं। करभ (ऊँट का बच्चा) 'भृंखलक' कहलाता था, क्योंकि ज़ंजीर से बाँध कर रक्खा जाता था।

ऊँटगाड़ी या 'सिकरम' भी दिखायी देती है। रेगिस्तान की सवारी तो ऊँट ही है। वहाँ एक साथ कई लोग ऊँटों पर सफ़र करते हैं जिसको 'काफ़िला' कहते हैं।

५—जल में रहने वाले जानवर

३०६—**मच्छ**[२] (६७,६६, ३७६) [सं० मत्सः, मत्स्यः] **मीन्हीं** (२४७६] [सं० मीनः], **मीन** (६७, १०७, ३८१२) अथवा **मैन** (३०७) तथा **मकर** (२४३३, २४३८) शब्दों का अनेक पदों में निर्देश है। सर्वप्रथम विनय-पदों में उद्धरण रूप में इनका प्रयोग हुआ है—'मीन इन्द्री तनहिं काटति' (९९) अथवा 'मेल्यौ जाल काल जब खैंच्यौ भयो मीन जल-हायौ।' (६७) तथा 'जैसैं मीन किलकिला दरसत, ऐसैं रहौ प्रभु डाटत।' (१०७)। ऊपर के पद्यांश से सूर के समय में जाल [सं० जालं] से मछली पकड़ने की सूचना भी मिल जाती है। विष्णु का मत्स्य-अवतार भी उल्लेखनीय है—'स्रुतिनि हित हरि **मच्छ रूप** धार्‌यो' (४४३)।

कृष्ण के कुंडल मकराकृत होने का उल्लेख किया जा चुका है—'स्रवन कुंडल मकर मानौं नन मीन बिसाल' (२४३८) अथवा 'चलित कुंडल गंड-मंडल, मनहुँ निर्तत मैन।' (३०७)। प्रेम की श्रेष्ठता अथवा उसमें अभिन्नता का भाव व्यक्त करने के लिए जल तथा मछली का उदाहरण अनेक बार दिया गया है—'सूर स्याम कै रंगहिं रांची, टरति नही जल तैं ज्यों मीन्हीं।' (२४७६) अथवा 'नाद कुरंग मीन जल बिछुरे होइ की जरि खेहा' (३८४७) तथा 'ज्यों जल-हीन मीन तरफत, त्यों ब्याकुल प्रान हमारौ।' (३८१२) अथवा—'जौ लै मीन दूध मैं डारै, बिनु जल नहिं सचु पावै (हो)।' (३५३)। रूप-वर्णन संबंधी पदों में नैनों को उपमा चंचल मीन से दी गयी है—'नैन मीन भुवंगिनी भ्रुव, नासिका थल बीच।' (२४३३)।

आज 'मछली' शब्द ही बोलने में आता है। सामिष भोजन में मछली का विशिष्ट स्थान है। पद्मावत के बादशाह-भोज वर्णन में 'पढ़िन', 'रोहू', 'संध', 'सुगंध', 'टेंगनि', 'नरिया', आदि अनेक क़िस्मों की मछलियों के नाम एक साथ दिए गए हैं।[३] बोहित-खण्ड में भी 'चाल्ह' व 'रोहू' का वर्णन है।[४]

३०७—**कूरम, कूर्मं** (४२०१, ३३४) अथवा **कछप, कच्छ, कच्छप** (३७६, ३७१) [सं० कच्छपः] का वर्तमान व्यवहृत रूप 'कछुआ' है। विष्णु के कूर्म-अवतार का सूरसागर अष्टम-स्कन्ध में वर्णन है—'जैसैं भयौ **कूर्म-अवतार**'—(४३४) या 'सुरनि हित

१—मानस, बाल०, ३००, 'बेसर ऊँट वृषभ बहु जाती। चले वस्तु भरि अगनित भांती।' (बेसर = खच्चर)।

२—प० सं० टी०, २१२, 'कीन्हेसि मगर मंछ बहु बरना।'
३३।३, 'चमकहिं मंछ बीजु की बानी।'
३३।७, 'रहे अपूरि मीन जल भेदी।'
१४७।, 'अस अस मंछ समुंद महं रहहीं।'

३—प० सं० टी०, ५४२।, 'धरे मंछ पढ़िना औ रोहू।—घाले।'

४— वही, १४७।४, 'ततखन चाल्हा एक दिखावा।
जनु धौलागिरि परबत आवा।
१४८।२, 'काहू काहौ जो देखहु रोहू।'

कच्छप-रूप धार्‍यौ' (४३५)। समुद्र-मंथन में इस रूप में उन्होंने देवताओं की सहायता की थी—'बासुकी नेति अरु मंदराचल रई, कमठ मैं आपनी पीठि धारौं। (४३५)। इसके अतिरिक्त अन्य स्फुट प्रसंगों में भी चर्चा आई है—'हरि जू की आरती बनी—कच्छप अध आसन अनूप अति, डाँड़ी सहस फनी।' (३७१) अथवा 'सुभट मनु मकर अरु केस सेंवार ज्यों, धनुष मछ चर्म कूरम बनाई।' (४८०१)।

गज-ग्राह कथा में ग्राह के कई समानार्थक शब्द प्रयुक्त हुए हैं —नक्र(३३२) [सं० नक्रः] मगर (१५६४, २४१६) [सं० मकरः] तथा ग्राह (७, ५, ६६) [सं० ग्राहः] 'माधो जू, गज ग्राह तैं छुड़ायौ' (४८०) अथवा 'चक्र नक्र-सोस छीनौ' (४३२)। देवल ऋषि के शाप से एक गंधर्व के ग्राह होने तथा अगस्त्य ऋषि द्वारा दिये गये शाप से राजा इन्द्रद्युम्न के गजेन्द्र होने की यह कथा (४२६) विष्णु की भक्तवत्सलता को सिद्ध करने के लिये बार बार बताई गई है।कवि को कृष्ण की विशाल श्याम-वर्ण बाहुओं को देखकर जल से बाहर निकले मगरों का संदेह होता है—'स्याम बाहु बिसाल केसर-खौरि बिबिध बनाइ। सहज निकसे मगर मानौ कूल, खेलत आइ॥' (२४१६)।

आजकल 'मगर', 'नाका' तथा 'घड़ियाल' शब्द प्रचलित हैं। मगर का शिकार भी किया जाता है।

वर्षा-वर्णन में, विशेष रूप से, दादुर, दादर (३६२३, ६१०, ३२१६) [सं० दर्दुरः] अथवा मेढ़ा (१५६४) [सं० मंडूकः] का उल्लेख हुआ है। वर्षा से प्रसन्न होने वाले गज, मोर, पपीहा आदि के साथ आज भी दादुर का नाम सदैव लिया जाता है—'अब लागनि पुकार दादुर सम, बिनहीं कुँवर कन्हाई' (३८१६) अथवा 'दल दादुर दलकार' (३६२३) तथा 'दादुर मोर चकोर मधुप पिक बोलत अमृत बानी।' (३६१६)। विरहिणी गोपियों को इन सब का स्वर आराध्य के बिना शूल के समान कष्ट देता है—'दादुर मोर पपीहा बोलत, कोकिल शब्द सुनायौ।

सूरदास प्रभु सौं कहियौ नैननि है झर लायौ।[१] (३६१७)। साँप मेढकों को अक्सर खा लेता है—'दादुर खाए सेषनि' (३६२८)।

पद्मावत में 'मेंजा' शब्द मेढक के अर्थ में लाया है। कुएं का मेंढक या 'कूप मंडूक' शब्द संकीर्णता का भाव व्यक्त करता है।[२]

६—सर्प तथा अन्य रेंगने वाले जानवर

३०८—साँप के पर्यायवाची शब्दों की भरमार है। विनय-पदों में स्फुट उल्लेखों के अतिरिक्त रूप-वर्णन पदों में उपमान के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। अजगर (१०५)—[सं० अजगरः] अत्यधिक भयंकर तथा विशालकाय होता है। यह साँपों की जाति में सबसे अधिक बड़ा है। जंगलों में पेड़, ऊँची घास अथवा झाड़ियों की आड़ में छिपकर यह सरलता से अपना शिकार पकड़ लेता है तथा साबित ही निगल लेता है। फिर इसका कई दिन तक हिलना डुलना कठिन हो जाता है। शिकार के चारों ओर रस्सी की तरह लिपटकर

१—प० सं० टी०, ३४४।६, 'दादुर मोर कोकिला पीऊ। करहिं बेझ घट रहै न जीऊ।'

२—वही १४८।१, 'समुंद' न जान कुंआ कर मेंजा।,

प्राय: मार डालता है। इन दोनों बातों का प्राय: उदाहरणस्वरूप ज़िक्र आता है—'अनायास बिनु उद्यम कीन्हे, अजगर उदर भरै।' (१०५)। ब्याल (७४, ११७, ११७५) [सं० व्याल:] के मुख से छूटना असम्भव होता है— 'इहिं कलिकाल ब्याल-मुख ग्रासित सूर सरन उबरै।' (११७) अथवा 'नातरु काल-ब्याल ले जैहैं' (७४)।

अघासुर-वध तथा कालियदमन-प्रसंग संबंधी अनेक पद हैं। अघासुर ने भी अजगर का रूप धारण किया था—'गिरि समान तन अगम अति, पन्नग की अनुहारि।' (१०४६)। कृष्ण द्वारा काली-नाग नाथने की घटना उनके ब्रज के अलौकिक चरित में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसका अनेक पदों में विस्तार पूर्ण वर्णन होने से यह स्पष्ट ही है। उसकी स्त्री का उनके भाग जाने का आग्रह, कृष्ण का सोते हुए नाग की पूँछ दबाकर जगाना, फिर फन पर नृत्य करना और स्त्री द्वारा कृपा का अनुग्रह, इन सभी बातों का विस्तृत वर्णन है— 'उरग-नारि देखि अकुलाई' (११६०), 'कहा डर करौ इहि फनिक कौ बावरी' (११६६) 'पूँछ राखी चाँपि, रिसन काली काँपि, देखि सब साँपि, अवसान भूले।' (११७०) 'अहि कौं लै जब ब्रजहिं दिखाऊँ' (११७१), 'उरग लियौ हरि कौं लपटाइ' (११७३) 'नाथत ब्याल बिलंब न कीन्हौ' (११७५), 'फन-फन-प्रति निरतन नंद नंदन' (११०३); तथा 'कर जोरे अहि-नारि बिनव करि, कहति धन्य अबिनासी' (११०६) अथवा 'गरुड़-त्रास तैं जौ ह्याँ आयौ।—उरग-द्वीप पहुँचाए' (११९१)।

३०६—इन पदों में अनेक पर्यायों उरग [सं० उरग:], फनिग [सं० फणिन्], साँपि [सं० सर्प] अहि [सं०] तथा ब्याल [सं० ब्याल:] के अतिरिक्त उसके सहस्त्र फन [सं० फण], साँप का विष उतारने के मंत्र और उसके शत्रु गरुड़ की सूचना भी है—'गोपाल राइ निरतत फन-प्रति। गिर पर आये बादर देखत, मोर अनंदित जैसे।' (११८४) अथवा 'अहिराज बिष ज्वाल बरसैं' (११७०) तथा 'विष ज्वाला जल जरत जमुन कौ —यह कुछ मंत्र-जंत्र जानत है—यह अहिराज महा विष ज्वाला, कितने करत सहस फन घात।' (११७२)।

गोपियों की वियोग-दशा ऐसी थी—'जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत, प्रीति सिरानी जात। सूर स्याम बिनु बिकल बिरहिनी मुरि-मुरि लहरैं खात।' अजगर साँप फुंकार से ही विष फेंकता है, इस तथ्य पर भी ऊपर के पद्यांशों से प्रकाश पड़ता है। ज़हर उतारने वाले गारुड़ी (कृष्ण-गारुड़ी-रूप) की चर्चा पहले की जा चुकी है। पुराणों के अनुसार शेषनाग के सहस्त्र फन हैं और पृथ्वी उन पर टिकी है। विष्णु की शय्या भी शेष है।

भुजंग, भुअंगम (१६२१) (२८४६,२३२) [सं० भुजग, भुजंगम:] द्वारा अपनी केंचुरी, काँचुरी [सं० कंचुक)] अथवा केंचुली उतारने का भी उल्लेख है—'ज्यौं भुजंग काँचुरी बिसारत, फिर नहिं ताहि निहारत।' (२८४६), 'ज्यौं केंचुरी भुअंगम त्यागत मात-पिता धौं त्यागे।' (१६२१)। साँप अपने ऊपर की बहुत ही बारीक खाल थोड़े-थोड़े दिनों के बाद उतार कर छोड़ देता है, उसी को केंचुली कहते हैं। फनिग के सिर की मणि का भी परिचय मिलता है—'निरखत रहौं फनिग की मनि ज्यौं, सुंदर बाल-बिनोद तिहारे।' (९१४) अथवा 'देखत

१—प० सं० टी०, ४१२, 'कीन्हेसि नाग मुखहि विष बसा।
कीन्हेसि मंत्र हरइ जेहि डंसा।'

२—वही ५५।३, 'बेनी नाग मलैगिरि पीठी।'

रही फनिग की मनि ज्यौं' (४८५३) 'मानों मनिधर मनि ज्यौं छोड़्यौ फन तर रहत दुराए।' (१२६२)।

रूप-वर्णन शीर्षक पदों में राधा तथा गोपियों की वेणी **पन्नग** [सं०] अथवा **फनि** [सं० फणिन्] के समान वर्णित है[२]—'मनौ रह्यौ पन्नग पीवन कौं, ससि-मुख सुधा निहारि' (२७३३) अथवा 'कबरि ग्रथित अहिपति न सहस फन' (२७३५) तथा 'एक फनि' (२७३०)। बाल-गोपाल की चोटी भी **नागिनि** (७६३) [सं०] जैसी ज्ञात होती थी—'काढ़त गुहत न्हवावत जैहै **नागिन** सी भुंइं लोटी।' (७६३) तथा तरुण कृष्ण की बाहें अहिराज का भ्रम करती थीं—'भुजा देखि अहिराज लजाने।' (२३७५)। सुन्दर भ्रुव भी भुवंगिनि का भान कराती थी—'नैन मीन भुवंगिनी भ्रुव' (२४३३)। **काम भुवंगम** [सं० भुजंगमः)] से डसे जाने की अवस्था का चित्रण कई स्थलों में है—'नहिं संभार अजहूँ जुवतिनि बलि मदन-भुवंगम डसी।' (२७३३)। उन्हें विरहावस्था में लम्बी काली रातें भी नागिन के समान ज्ञात होती थीं—'पिय बिनु नागिनि कारी रात। जौ कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात।' (३८३०)। पूतना की अवस्था साँप डसने की सी हो गयी थी, 'गइ मुरछाइ, परी धरनी पर, मनौ भुवंगम **खाई**' (६७०)। यहाँ **भुजंग** [सं० भुजगः] को दूध पिलाने की प्रथा का पता चलता है—'कहा होत पयपान करायें, बिस नहिं तजत भुजंग।' (३३२)।

३१०—**उरग दीप** (११६१) अथवा **नागलोक** (२६) [सं०] भी उल्लेखनीय है—'नागलोक कौं धाए'। नाग कद्रु से उत्पन्न तथा कश्यप के वंशज माने गए हैं। इनका निवासस्थान पाताल है। नागों के प्रसिद्ध आठ कुल हैं—वासुकि, तक्षक, कुलक, कर्कोटक, पद्म, शंखचूड, महापद्म, और धनंजय।

गुदरारो (१५८४) जल-सर्प को कहते हैं। विद्याधर-शाप-मोचन पद में नंद को साँप काट लेने की घटना है। ऋषि अंगिरा के शाप से विद्याधर सर्प हो गया था। उसने कृष्ण के चरण-स्पर्श से अपने पूर्व रूप को पा लिया। साँप के काटने को डंसी (२७३३)[१] डसि (३८६०) तथा **खाई** (६७०) कहा गया है और साँप काटने पर मूर्च्छित होना तथा '**लहरै खात**' (३८६०) आदि का वर्णन है। साँप बिल में रहता है[२]। साँप को ग्रामीण बोली में 'कीड़ा' कहते हैं।

नृग-उद्धार-कथा में **गिरगिट** (४८१७) [गलगतिः] का निर्देश है—'तनक चूकतैं गिरगिट कीन्हौं' तथा **छुछुंदरि** (४३५७) [सं छुछुन्दर] का गोपियों की विरहावस्था के वर्णन में—'भई रीति हठि उरग छछूंदरि छांड़ै बनै न खात' (४३५७)। गिरगिट छिपकली से मिलता जुलता है जो शरीर का रंग बदलता रहता है।[३]

१—प० सं० टी०, ३४६।२, 'सेज नाग भै धै धै डसा।'

२—प० सं० टी०, ६७।३ 'गिरगिट छंद धरै दुख तेता।
खिन खिन रात पीत खिन सेता।'

३—प० सं० टी०, ४।६ 'कीन्हेसि बहुत रहहिं खनि माटी।'

७—कीट पतंग

३१२—कृमि (८६, ३१६) [सं०] तथा कीट (५४१) [सं०] साधारणतया कीड़ों के द्योतक शब्द है—या देही कौ गरब न करियै, स्यार-काग-गिध खैहै। तीननि मे तन कृमि, कै बिष्टा, कै ह्वै खाक उड़ैहैं।' (८६) अथवा 'जे-जे तुव सूर सुभट, कीट सम न लेखौं।' (५४१) तथा 'कृमि-पावक तेरौ तन भखिहैं, समुझि देख मन माही।' (३१६)। यहाँ दो कीड़ों के दो नाम उल्लेखनीय है—जुवाँ [सं० यूका, यूकः] तथा पिपीलिका (१५१) [सं० पिपीलकः पिपीलिकः]—'सब सौ बात कहत जमपुर की गज-पिपीलिका लौं' (१५१)। आज 'चीटी[1]' शब्द अधिक प्रचलित है। यह अपनी परिश्रम-शीलता के लिए प्रसिद्ध है। हाथी आकार मे सब पशुओं मे बड़ा तथा चीटी नन्हीं मानी गई है। इसलिए प्रायः 'हाथी से चीटी तक सब सृष्टि' कह देते हैं।[2] साथ ही नन्हीं 'चींटी' हाथी की सूंड मे काट काट कर उसको परेशान करने में भी समर्थ है। चींटी के दबने का ध्यान रखना अत्यधिक करुणा एवं अहिंसा का सूचक है।[3]

३१२—उड़ने वाले कीड़ों मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नाम भ्रमर का है। इसके अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया गया है— भृंग-भृंगी (१२४४ '३८५६' ३८४२ ३२६) [सं०] भौंर-भौंरा, (३२५,३३८) [सं० भ्रमर)], अलि (३०७ ३८१६) [सं० अलि,] षटपद (२४१०) [सं०], चचरीक (८३३) [सं०], भंभीरी (३८६) [सं० भ्रमरकः]' महुअरि (परि०११०) [सं० मधुकर] मधुकर, मधुकरि [७३३६ २४१६, २४४१, २४५७) [सं० मधुकरः], मधुपति (२४११) [सं० मधुपतिः—कृष्ण का नामान्तर भी] मधुप (३८४५, २३७४, ४३१७) [सं०] तथा सिलीमुख (१७४४) [सं० शिलीमुखः]। इतने नामभेदों से स्पष्ट ही है कि सूरसागर मे भौंरे से संबंधित अनेक पद है। दशम-स्कन्ध का ही एक भाग 'भ्रमरगीत' के नाम से विख्यात है। कला तथा भाव-व्यंजना की दृष्टि से इसको सरलता से सूरसागर का उत्कृष्टतम भाग कहा जा सकता है। उद्धव के ब्रज मे योग-संदेश लेकर आने पर गोपियाँ इन पदो मे वहाँ उड़ने वाले एक भ्रमर के व्याज से उद्धव तथा कृष्ण को संबंधित कर अपने हृदयोद्गार प्रकट करती है। इनमे उनके भावोद्वेग-पूर्ण अनेक व्यंग्य वचनों तथा कृष्ण के प्रति अबाध प्रेम का अतुल्य चित्रण है—'इहि अंतर मधुकर एक आयौ—हमै संदेसौ लायौ' (४११५), '(मधुप तुम) कहौ कहाँ तैं आए हौ।'(४११८), 'रहु रे मधुकर मधु मतवारे—लोटत पीत पराग कीच मै, नीच न अंग सम्हारे।' (४१२२), 'मधुकर काके मीत भए। द्यौस चारि करि प्रीति सगाई, रस लै अनत गए।' (४१२५), '(अलि हौं) कैसें कहौं हरि के रूप रसहिं—क्यौं समझावैं छपद पसुहिं' (४१५२) अथवा—'एक षदपद् थे द्विपद चतुर्भुज' (४३७८), 'मधुकर कहिए, काहि सुनाइ। हरि बिछुरत हम जिते सहे दुख जिते बिरह के घाइ।' (४१५५) या 'मधुप तुम्हारी बात अटपटी सुनि आवति है हाँसी।' (४१६४) अथवा, 'तुम अलि स्यामहिं जनि पतियाहु।' (४२१०) तथा 'मधुकर स्याम

१—प० सं० टी०, ४।६, 'कीन्हेसि लोवा उंदुर चांटी।'
लोवा [सं० लोपाक] = लोमड़ी, उंदुर = चूहा।

२—प० सं० टी०, ५।२, 'जांवत जगति हस्ति औ चाँटा।'
६।४, 'चांटिहि करइ हस्ति कर जोगू'

३—वही, १५।१, 'चांटहि चलत न दुखवइ कोई।'

हमारे ईस' (४३२०) और "मधुकर कह कारे की न्याति' (४३७१)।

३१३—नेत्र-पदों मे भी भृंगी का उल्लेख आया है—'लोचन ब्याकुल दोऊ दीन। —ज्यौं रितुराज बिमुख भृंगी की, छिन छिन बानी छीन'। (३८५६)। भ्रमर का फूल फूल पर भटकने का ढंग प्रेम मे अस्थिरता का उदाहरण है[1]—'मैं मधु ज्यौं राखे संचि मोहन, ते भृंगी की रीति' (३८४३) अथवा 'मधुकर हम न होंहिं वै बेलि। जिन भजि भजि तुम फिरत और रंग, करत कुसुम-रस केलि।' (४१२६)।

वर्षा-ऋतु में अन्य पशु-पक्षियों के साथ भौंरे की गुंजार का वर्णन है—मोर पुकार गुहार कोकिला, अलि गुंजार सुहाई।' (३०१६) अथवा 'महुअर बेनु बिषान बजावत'—(परि० ११०)। संध्या समय कमल के फूल में भौंरे के बन्द हो जाने का कवि-विश्वास है—'भौंरा भोगी बन भ्रमै—कमल बंधावै आप।' (३२५) अथवा 'तुव मुख कमल मधुप उनकौ मन, बिंध्यौ नैंन की कोर।' (३३८५) तथा "ज्यौं षटपद अंबुज के दल मैं, बसत निसा रति मानि', (४३७४)। मुख-कमल पर बिखरी अलकावलि मानों भ्रमरों का समूह है---'ये रुचि-पंकज लोंभी, ताही तें न उड़ाने।' (२४१६) अथवा 'कुटिल केस सुदेस राजत, मनहुँ मधुकर-जाल' (२४४१) तथा 'कुंचित केस सुगंध-सुबसि मनु, उड़ि आए मधुपति के टोल' (३४११)। कमल के प्रति मधुकर के प्रेम का कई स्थलों मे वर्णन है—'मन मधुकर पद-कमल लुभान्यो।' (२४५७) अथवा 'बिकसत कमलावली, चले प्रपुंज चंचरीक।' (८२३) तथा ' जिहिं मधुकर अंबुज-रस चाख्यो, क्यौं करील-फल भावै' (१६८)।

छः पैर होने के कारण ही उसको षट्पद (२४१०) अथवा छपद भी कहा जाता है—'कहा कहौं बारिज मुख ऊपर बिथके षटपद जोल।' (२४१०)। राधा के चरण पर कमलों के भ्रम से भौंरों के लिपटने का चित्रण है—'कवरी ग्रसत सिखंडी अहि भ्रम, चरन सिलीमुख लाग।' (१७४४)।

तृतीय-स्कन्ध के विदुर-जन्म (३३६) शीर्षक पद मे मांडव ऋषि के अपराध के सिल-सिले में भंभीरी का नाम है—'बाल-अवस्था में तुम धाइ। उड़ति भंभीरी पकरी जाइ। ताहि सूल पर सूली दयौ। ताकौ बदलौ तुमसौ लयौ।' अक्सर बच्चे इस प्रकार से अपना मनोरंजन करते हुए मिल जाते हैं।

एक विनय पद मे भृंगी रूपी चित्त को संबोधित किया गया है—'भृंगी री, भजि स्याम-कमल-पद, जहाँ न निसि को त्रास।' (३३६)। एक बार हरि-प्रेम की ओर आकर्षण हो जाये तो फिर कहीं मन नहीं जमता—'जिहिं मधुकर अंबुज रस चाख्यो क्यौं करील फल खावै।' (१६८) अथवा 'ज्यौं चकोर चंदा कौ कीटक भृंगी ध्यान लगावै। (१७३२)। 'कीट भृंग गति' का उल्लेख कई बार आया है। यह प्रेम मे एकात्म-भाव को प्रकट करता है।[2]

३१४—माखी अथवा मखियाँ[3] (३८५८) [सं० मक्षिका] का निर्देश थोड़े से

१—प० सं० टी०, ३४३।२ 'भंवर कमल संग होइ न पटावा। संवरि नेह मालति पहँ आवा।'

२—प० सं० टी०, १२५।७, अब मैं फनिग भृंगी के करा' (७) भृंगी पतिंगों को मूर्छित करके उसके शरीर पर अंडे देती है। उसके बच्चे ही कीटक के शरीर को खाकर बड़े होने के बाद उड़ जाते हैं। इसी कारण से यह धारणा है कि कीटक ही भृगी रूप हो जाता है।

३—प० सं० टी०, ४।५, 'कीन्हेसि मधु लावइ लइ माखी।'

स्थलों में ही है—'कर मीड़िति ज्यौं मखियाँ' (३८५८)। यहाँ मधुमाखी (५०) द्वारा मधुसंचय का उल्लेख है—'ज्यौं मधुमाखी संचति निरन्तर, बन की ओट लई।' (५०)।

पतंग[1] (५३, ५५) [सं०] का दीपक के प्रकाश से आकर्षित होकर जल जाना आज भी एकपक्षीय अन्धप्रेम का उद्धरण है—'जैसे प्रेम पतंग दीप सौं पावक हूँ न डरत' (५५) अथवा 'माधो जू मन माया बस कीन्हौ। लाभ हानि कछु समुझत नाहीं ज्यौं पतंग तन दीन्हौं।' तथा 'दीपक पीर न जानई (रे) पावक परत पतंग। तन तौ तिहिं ज्वाला जर्‌यौ (पै) चित न भयौ रस-भंग' (३२५)।

८—पक्षी

३१५. सूरसागर में चिड़िया का अर्थ व्यक्त करने वाले ये शब्द प्रधान रूप से प्रयुक्त हुए हैं[2]—बिहंग (३६४९), खग (१२७६) [सं०], तथा पच्छी, पंछी[3] (८६) [सं० पक्षी] तथा दुज (परि० १०९) [सं० द्विजः]। अण्डे से निकलने के कारण पक्षियों के दो जन्म माने गये हैं। ब्राह्मण को भी 'द्विज' कहते हैं, क्योंकि यज्ञोपवीत के बाद उसका दूसरा जन्म होने की धारणा है। विनय पदों के अलंकारों में कुछ पक्षियों के नाम व्यवहृत होने के अतिरिक्त वर्षा वर्णन, हिंडोला शीर्षक पदों में यमुना-तट-वर्णन में विशेष रूप से पक्षियों की सूचना है। चिरिया (२३४)—'चिरिया कहा समुद्र उलीचै'—शब्द थोड़े से स्थलों में मिल जाता है। पशु-पक्षियों तथा लता-पुष्प को संबधित करने की शैली मध्यकाल के काव्य में बहुत मिलती है—'फिरत प्रभु पूछत बन द्रुम-बेली। अहो बन्धु, काहूँ अवलोकी इहि मग बधू अकेली। अहो बिहग, अहो पन्नग-नृप, या कंदर के राइ!' (५०८)। रासलीला के बीच कृष्ण के अदृश्य होने पर गोपियों व राधा की व्याकुलता का कोई अन्त नहीं था—'सब भई ब्याकुल फिरैं, तन मदन-दुहेली। मृग-नारी सौं बूझैं सुक-सारी' (१७३९) तथा 'मृग-मृगनि, दुम-बन, सारस पिक काहूँ नहीं बतायौ री।' (१७१२)। प्रमुख पक्षियों के नाम नीचे दिये गये हैं—मराल, मराल-छौना (७७९, ३०७, २४०९, ३८५१) [सं० मरालः + शावकः] अथवा हंस, (७९, ९०, ३८४८, ३५६) [सं०] और हंसी (२६३३) [सं०]

१—पं० सं० टी० ४१५, 'कीन्हेसि भंवर पतंग औ पांखी।'

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० २१८, चिड़ियों को 'पक्षी', 'तिर्यक्' अथवा 'शकुनि' कहा गया है। पक्षी-विशेष के नामों में 'चटक' (Sparrow), 'मयूर' अथवा 'कलापिन्', 'कुक्कुट' (मुर्गा) 'ध्वांक्ष' (कौआ), 'श्येन' (hawk) हैं। 'शुक' नाम पतंजलि ने जोड़ दिया है। पतंजलि के अनुसार क्षुद्र जन्तुओं में 'नकुल', 'गोधा' (big lizard), 'अहि', क्षुद्रा, भ्रमर, 'वटर' तथा 'वटि' (चींटी) थे। अन्य कुछ नाम 'नक्र', वर्षाभू (मेंढक), 'मत्स्य' तथा 'वैसारिण' (मछली की एक जाति विशेष) के भी लिए जा सकते हैं।

३—प० सं० टी०, २१, 'कीन्हेसि पंखि उड़हिं जहं चहहीं।'
१०१३, 'पंखि पांख'
३५८१३, 'अब तहं पठवौं कौन परेवा।'
३६०।१, 'आधी रात बिहंगम बोला।'
'ते फिरि फिरि बाबे सब पांखी।'

नूपुर और किंकिनी की तुलना मराल अथवा 'मराल-छौने' से अनेक स्थलों में है—'मनो मधुर मराल छौना, किंकिनी-बल-राव' (३०७) या'....नूपुर परम रसाल। मानहुँ चरन कमल दल लोभी, बैठे बाल मराल।' (२४०६)। कृष्ण बलराम को देखकर नीलकंठीर और मराल का भ्रम उनके वर्णों के कारण होता है 'जननी मथि....मनहुँ सरस्वति संग उभय दुज, कल मराल अरु नीलकंठीर।' (७७६)। गज के समान मराल या हंस की भी चाल से उपमा दी गई है—'गज गति मंद मराल बिरोधी' (३८५१) अथवा 'मगन भई गति हंसी' (२७४३)।[1]

हंस के संबंध में काव्य-प्रसिद्धि है कि वह मोती चुगता है—'जल तजि हंस चुगे मुक्ता-हल' (३८४८) तथा यह भी प्रसिद्ध है कि 'मानसरोबर छाँड़ि हंस तट काग सरोवर न्हावै।' (३५६) तथा 'उड़ि आए तजि हंस भात मनु, मानसरोबर तीर के' (२६८१)। आत्मा का रूपक हंस से आज भी बाँधा जाता है तथा मानसरोवर से परमात्मा का[2]—'जा छन हंस तजी यह काया, प्रेत प्रेत कह भागी।' (७.) अथवा 'मुनि-मन-हंस-पच्छ-जुग, जाकैं बल उड़ि ऊरध जात।' (६०) तथा 'चलि सखि, तिहिं सरोवर जाहिं।....हंस उज्ज्वल पंख निर्मल अंग मलि-मलि न्हाहिं। मुक्ति मुक्ता अनगिने फल, तहाँ चुनि चुनि खाहिं।' (३३८)। इस प्रकार हंस अपने उज्वल वर्ण, सुन्दर गति तथा कल ध्वनि के कारण प्रसिद्ध हैं।

३१६. सारस[3] (१६६६, २३७६) [सं०] रूप-सरोवर के निकट रहने वाले पक्षियों का वर्णन इस प्रकार है—'देखौ माई रूप सरोबर साज्यौ।........सारस हंस मोर सुक-सैनी, बैजयंति समतूल।' (१६६७)। हंस के समान ही सारस जल में रहता है। सारस का शरीर चितकबरा, और टाँगें व चोंच लम्बी सी होती है। सारस का जोड़ा हमेशा साथ रहता है। यदि एक की मृत्यु हो जाती है तो दूसरा फिर कभी जोड़ा नहीं बनाता।[4] सारस का यह प्रेम प्रसिद्ध है।

बक, बकी (२३६३) [सं० वक], बगुली (३५७) [सं० वक + पोतलक—बगोला—बगुला], बलाक (२४२५) [सं०] तथा बलाहक [सं० बलाहकः] शब्द विशेष रूप से कृष्ण के कंठ में पड़ी मुक्तामाल के उपमान रूप में प्रयुक्त हुए हैं—'स्याम हृदय जलसुत की माला....मनहुँ बलाक पंक्ति नवघन पर....' (२४२५) तथा 'जनु बगपाँति माल मोतिन की' (३६३३)। उनकी रोमावली से भी बग पंगति का आभास होता है—'रोमा-वली सुभग बक-पंगति, जाति नाभिरुद भुंड।' (२३६३)। इस उद्धरण में वकों के एक पंक्ति मे उड़ने के स्वभाव पर प्रकाश पड़ता है।

कवि के अनुसार भगवत् भजन के बिना मनुष्य-जोवन और पशु-पक्षियों के जीवन में कोई अन्तर नहीं रह जाता है—'बग बगुली अरु गीध-गीधिनी, आइ जनम लियो तैसो।'

१—प० सं० टी०, ३२।३, 'लंक सिघनी सारंग नैनी। हंसगामिनी कोकिल बैनी।

२—प० सं० टी,० ३४२।, 'हंस जो रहा सरीर महं पांख जरे तन थाक।'

३४७।६ 'सरवर संवरि हंस चलि आए। सारस कुरर्हि खंजन देखाए।'

३—मानस ७२८, 'मोर हंस सारस पारावत।' यहाँ 'पारावत' का अर्थ कबूतर है।

४—प० सं० टी, ३३।४,५, 'पंखहिं पंखि सो संगहि संगा।

सेत पीत राते बहु रंगा।—

....कुरलहिं सारस भरे हुलासा।

जियन हमार मुवहिं एक पासा।'

(३५७) वर्षा-वर्णन में इनका नाम आया है—'बग जु उड़त तरु डारैं' (३६२३) या 'बग-पंगति युग्म अकार'[१] (३६२१) अथवा घन धावन बग पाँति परो सिर' (३६४२)। बकासुर नामक असुर बक-रूप धारण करके आया था (१०४५—१०४८)—'असुर एक बग-रूप धरि रह्यौ, बैठ्यौ तीर, बाइ मुख घेरि।" (१०४८)। बनावट तथा धूर्तता के लिए आजकल अक्सर 'बगला भगत' का उदाहरण दिया जाता है।

३१७—मोर के लिए भी कई, शब्द मिलते हैं—मोर[२] (१५६४) [सं० मयूर:] सिखंडी (१७४४) [सं० शिखंडिन्], सिखनि सिखंडी (३७०) [सं शिखिन् शिखंड = मयूर पुच्छ] केकी (३४७१) [सं० केकिन्, केकिक:] तथा बरह् (३८८२) (सं० बर्ह = पूछ, सं बर्हिण: = मोर]। वर्षा के आगम पर मोर का प्रफुल्लतापूर्ण नृत्य अनेक पदों में वर्णित है—'तैसिय स्याम घटा घन घोरनि, बिच बग पांति दिखावहिं। तैसेइ मोर कुलाहल सुनि सुनि, हरषि हिंडोरनि गावहिं।' (४००५)। आराध्य-विहीना गोपियों को इन पक्षियों के स्वर मानो प्रहार सा करते हैं—'हमारे माई मोरवा बैर परे। घन गरजत बरज्यौ नहिं मानत, ज्यौं त्यौं रहत खरे....' (३६४७) तथा 'कोऊ माई बरजे री इन मोरनि' (३६४८) और '(इहिं-बन) मोर नहीं ए काम-बान' (३६४४)। मोर के हर्षित होकर बोलने से ही वर्षा का आभास हो जाता है—'सिखिन सिखर चढ़ि टेर सुनायौ। बिरहिनि सावधान ह्वै रहियौ, सजि पावस दल आयौ।'(३६४६)।

कृष्ण के अलंकरणों में मोर मुकुट का उल्लेख किया जा चुका है—'नाहिंन मोर चन्द्रिका माथैं' (३८१०), 'सीस सिखनि-सिखंड' (३०७) तथा 'सुनि सखी वे बड़ भागी मोर। जिनि पोंखनि को मुकुट बनायौ, सिर धरि नंद-किसोर।' मोर के पंख पर अंकित चंद्राकार चिन्हों को ही मोरचन्द्र (३८०३) अथवा चन्द्रिका या चंदवा (३५३८ कहते हैं। एक पद से मोरपंख के बने व्यजन का बोध भी होता है—'मोर-पच्छ कौ ब्यजन बिलोकत, बहरावत कहि बात।' (३८११)।

मोर के संबंध में साँप खाने की प्रसिद्धि प्रचलित है—'कबरी ग्रसत सिखंडी अहि भ्रम'[३] (१७४४)। मोर के पंख चंदवेदार नीले व हरे से होते हैं। मोर मोरनी से इस दृष्टि से अधिक सुन्दर होता है। नाचते समय मोर के पर खुलकर गोल फैल जाते हैं। प्राय: एक मोर के साथ कई मोरनियाँ रहती हैं। तमजुर, तमचुर (७१२, १८२८) का उल्लेख भी है। सूर्य की प्रथम किरणों के साथ ही उसके उदय की सूचना देने का काम मुर्गे का ही है अतएव उसका 'तमचुर' नाम सार्थक है—'आजु मोर तमचुर के रोल' (७१२) अथवा 'भोर भयो जागौ नंद-नंद।....तमचुर खग रोल, अलि करैं बहु सोर, बेगि मोचन करहु सुरभि गलफद।' (१८२८)।[४]

३४१, 'सारस जोरी किमि हरी, मारि गयेउ किमि खगि।'

१—प० सं० टी०, ३४।२, 'सेत धुआ बगु पांति देखाए।'

२—तुलसी. गीता० ७,१६, 'बोलत जो चातक मोर, कोकिल कीर पारावत घने।'

३—प० सं० टी०, ६७।४.६, 'जानि पुछारि जो भै बनवासी....पांखन्ह फिरि फिरि परा सो फांदू... मुयौ मुयौ अहनिसि चिल्लाई, ओहि रोस नागन्ह धरि खाई।'
[पुछारि = मोर, फांदू = पंख के चन्द्र-चिन्ह]

३५८।१ 'भई पुछारि लीन्ह बनवासू। बैरनि सवति दीन्ह चिल्हवांसू।'
[चिल्हवांसू = चिड़िया पकड़ने का फंदा]

४—मानस, बाल०, २२६, 'उठे लखनु निसि बिगत सुनि, अरुन सिखा धुनि कान।'

३१८—खंजन, (२४२८,३८६१) [सं०] अथवा खंजरीट (१८२३) [सं०] शब्द प्रायः नेत्रों के उपमान रूप में प्रयुक्त हुए हैं—'मानहुँ खंजन बिच सुक बैठ्यो' (२४२८) या 'कमल बदन ऊपर द्वै खंजन, मानो बूड़त बारि' (३८६१) तथा 'खंजरीट मृग मीन मधुप मिलि'। खंजन जल के निकट रहने वाली सफ़ेद भूरी, पीली तथा श्याम वर्णों की छोटी सी चिड़िया है। यह अत्यधिक चंचल होती है। एक क्षण भी एक स्थान पर नहीं रह पाती है। अतः कवियों ने नेत्रों की चपलता का उपमान इससे ही लिया—'खंजरीट अति बृथा चपल भए' (१८२३) अथवा 'देखि री हरि के चंचल नैन। खंजन-मीन-मृगज चपलाई, नहिं पटतर इक सैन।' (२४११)।

पिक (३९२०,३८३०) [सं०], कोयल[1] (३९२२,२८) तथा कोकिला (३८१६) [सं० कोकिलः] पक्षी वर्षा-वर्णन में विशेष रूप से उल्लिखित है—'मोर पुकार गुहार कोकिला' (३८१६), 'करत अवाजें कोयल' (३९२२)। कोयल की स्वर-माधुरी वियोगिनी गोपियों को अब सुखकर नहीं—'चातक पिक दादुर चकोर, ये सबै मिले हैं चोर।' (३९४३)।

उनके आराध्य को वर्षा ऋतु में भी आकुलता नहीं होती इसका क्या कारण हो सकता है—'किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि।... किधौं उहिं देस बगनि मग छांड़े, धरनि न बूंद प्रबेसनि।....चातक मोर कोकिला उहिं बन, बधकनि बधे बिसेषनि।' (३९२८)। आज भी अमराइयों में कोयल का मधुर स्वर लोगों को वसन्त की सूचना देता है। एक कोयल की आवाज़ सुनकर दूसरी भी बोलने लगती है। वर्षा शीर्षक कुछ पद कोकिल को संबोधित किये गये हैं—'कोकिल हरि को बोल सुनाउ।' (३९५८) अथवा सुनि री सखी समुझि सिख मेरी।' (३९५९)। यह पक्षियों द्वारा प्रिय को संदेश भेजने का ढंग नया नहीं कहा जा सकता। कोकिला के स्वर-माधुर्य से ही कवि प्रायः नायिका की वाणी की तुलना करते रहे हैं बानी मधुर जानि पिक बोलति, कदम करारत काग' (१७४४) अथवा—

'कटि केहरि, कोकिल कल बानी, ससि मुख प्रभा धरी।
मृग मूसी नैननि की सोभा, जाति न गुप्त करी।
चंपक-बरन, चरन-कर-कमलनि, दाड़िम दसन लरी।
गति मराल अरु बिंब अधर-छबि, अहि अनूप कबरी।' (५०७)

सीता-वियोग में राम-विलाप शीर्षक इस पद्यांश से मध्यकालीन प्रचलित उपमानों का अनुमान हो सकता है।

परेवा[2] [सं० पारापतः] तथा कपोत (१२७७) [सं०] भी उल्लेखनीय नाम है। 'रुचिर कपोत बसत ता ऊपर', 'दुरि गये कीर, कपोत, मधुप, पिक, सारंग सुधि बिसरी।' (२७२८)—वर्णन कूट-पदों में है। हिंडोला-शीर्षक पद (परि० १०९) में कालिंदी-तट के वर्णन में अनेक पक्षियों के नाम एक साथ दिये गये हैं—'तहं लाल मुनियाँ झुंड बैठे मत्त अलि-कुल गुंज। हंस-चक्क-चकोर-चातक कीर कोकिल पुंज। कुंज कुंज तहं मोर निरतत करत कुलाहल नाद। हारिल परेवा भृंग पिकऽरु कपोत दुज-कुल-बृंद। बोलहिं गहगह मधुर बानी

१—प० सं० टी,० २९।५, 'कुहू कुहू कोहल करि राखा। औ भिंगराज बोल बहु भाखा।'

२—प० सं० टी०, २९।३, 'गिरहिं परेवा औ करबरहीं।'
३५३।, 'घिरिनि परेवा आव जस....।'

गगन गरजै घूमि।' (परि० १०६)। परेवा के संबंध में प्रसिद्ध है कि परेवी के मरते ही स्वयं भी प्राण त्याग देता है—'परनि परेवा प्रेम की, (रे) चित लै चढ़त अकास। तहँ चढ़ि तीय जो देखई, (रे) भू पर पर परत निसास।' (३५२)। मध्यकाल में कबूतरों को संदेश ले जाने का काम सिखाया जाता था।

उपर्युक्त उल्लेख के अतिरिक्त लालमुनिया की पंक्ति से लाल साड़ियों तथा रोरी से मंडित मुख वाली गोपियों की तुलना की गई है—'मनु लाल मुनैयनि पांति, पिंजरा तोरि चली।' (६४२)। यह पिंजरे [सं० पिंजर][1] में पाली जाने वाली पिद्दी के बराबर छोटी सी लाल चिड़िया है। इसके उड़ने व चाल में विशेष फुर्ती होती है।

३१६—हारिल[2] (परि० १०६) [सं० हारीत] वर्षा के पक्षियों में इसका नाम आने के अतिरिक्त एक विनय-पद 'हमारे हरि हारिल की लकड़ी' भी कहा गया है। यह प्रसिद्ध है कि हारिल धरती पर बैठता है तो छोटो लकड़ी या तिनका आदि पंजों से दबा लेता है तथा सदैव व्यस्त सा दिखाई देता है। यह कबूतर के बराबर हरे रंग का पक्षी है। इसको 'हरियल' भी कहते हैं। गाँव के लोग इसे पूर्व जन्म का राजा हरिश्चन्द्र बताते हैं।[3] हारिल भूमि पर कम उतरता है इसीलिए यह कहा जाता है; क्योंकि हरिश्चंद्र ने सब पृथिवी दान कर दी थी।

सूही, सुही (परि० १०६,३६३४) का नाम भी मिलता है—'दादुर, मोर सोर चातक पिक, सूही, निसा सिरावन के।' (३६३४)।

नीलकंठीर[4] (७७६) [सं० नीलकंठः = मयूर, नीलकंठ पक्षी तथा शिव] समुद्र-मंथन द्वारा प्राप्त गरल से नीली गरदन होने के कारण शिव का नाम नोलकंठ पड़ा है। मयूर तथा नीलकंठ पक्षी के पंख भी नीलवर्ण के होते हैं। इस पद में यशोदा को दोनों ओर से खींचने वाले संकर्षन तथा कृष्ण की उत्प्रेक्षा सरस्वती मराल तथा नीलकंठीर से दी गई है। आज अक्सर लोग नील पक्षी का दर्शन शुभ मानते हैं—संभवतः शिव से यही संबंध होने के कारण। विश्वास है कि ज्येष्ठ के दशहरे पर नीलकंठ के दर्शन होने पर साल भर प्रियजनों के दर्शन होते हैं।[5]

कीर (३६४,३८२०,६७) [सं०] सुक[6] (४६,१००,१०२,२३७३) [सं०शुकः]

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० १७०, हंसवेग द्वारा लाई गई सामग्री में अनेक पशु पक्षियों जैसे किन्नर, वनमानुष, जीवजीवक, जलमानुष, सुगंधि वाले कस्तूरी हिरन, चँवरी गायों के साथ ही बेंत के पिजड़ों में (चामीकर रसचित्रवेत्र पंजरं) तथा मूगें के पिजड़ों में चकोर पक्षी भी थे। मूँगे के दाने चकोर के पिंजड़े में आज भी लगाते हैं, क्योंकि वह लाल रंग पसन्द करता है।

२—प० सं० टी०, २६।६ 'हारिल बिनवै आपनि हारा।'
३५८।७, 'हारिल भई पंथ मैं सेवा।'

३—कृ० जो०, पृ० १२, अध्याय ३।

४—प० सं० टी०, ३५८।७, 'बिरहा बैठि हिएं कतनंसा।'
[कतनंसा = कटनास या नीलकंठ]

५—कृ० जो०, पृ० १२, अध्याय ३।

६—प० सं० टी०, ५४।५ 'सुआ एक पद्मावति ठाऊँ। महापंडित हीरामनि नाउं।
....पढ़हिं सास्तर बेद।
५६।७ 'सुआ जो पढ़ै पढ़ाये बैना।'
५४।७, कंचन बरन सुआ अति लोभा।'

अथवा सुवटा या सुवा (५६,८६, ३४०) [सं० शुकः] का उल्लेख विनय पदों में बहुत हुआ है। हरि-भक्त वत्सलता बताने के लिए अन्य कथाओं के साथ गणिका-कीर कथा भी बार बार बताने से कवि नहीं थकता—'कीर पढ़ावत गनिका तारी, व्याध परम पद पायो' (६७) अथवा 'सुवा पढ़ावत गनिका तारी।' (८)। सांसारिक आकर्षणों के मोह तथा भ्रम को समझाने का भी, तरह तरह से कवि ने यत्न किया है—'बिबस भयौ नलिनी के सुक ज्यौं बिन गुन मोहि गह्यौ' (४६), 'सूरदास नलिनी कौ सुवटा कहि कौनैं जकर्यौ।' (३६६) अथवा 'कबहूँ सुवा होत सेमर कौ, अंतहिं कपट न बचिवो।' (५६) अथवा 'ज्यौं सुक सेमर-फूल बिलोकत, जात नहीं बिनु खाए।' (१००) तथा 'सेमर फूल सुरंग अति निरखत, मुदित होत खग-भूप।' (१०२)। नलिनी पर बैठने ही नाल के झुकने से वह उल्टा लटकने लगता है और अपने उड़ने की शक्ति को भूल जाता है। माया में भ्रमित प्राणी की अवस्था भी ऐसी ही है। एक पद में 'सुवा' आत्मा का बोधक है—सुवा, चलि ता बन कौ रस पीजै। जा बन राम-नाम अम्रित-रस, स्रवन-पात्र भरि लीजै।' (३४०)।

रूप-वर्णन में शुक नासिका का उपमान है—' नासिका पर कीर वारत' (१४५३) या 'नासिका सुक, नैन खंजन, कहत कवि सरमाइ' (२३७८)। आजकल 'तोता' शब्द अधिक बोला जाता है। ग्रामीण बोली में 'सुवा' या 'सुआ' भी कहते हैं। तोते की चोंच सुन्दर होती है। वर्षा-वर्णन तथा वन के पशु-पक्षियों में कीर का बहुत बार उल्लेख है—'ते खग बिपिन अमीर कीर पिक, डोलत है बिलखात।' (३८२०)। मनुष्य बोली के शब्द सीखने में पक्षियों में सबसे अधिक कुशल तोता पढ़ाने का उल्लेख सूरसागर में है।

सारिका या सारी [सं० शारिका] (३६६१) मैना को कहते हैं। पिंजड़े में पाली जाने वाली चिड़ियों में शुक तथा शारिका[1] दोनों ही हैं—हंस, सुक, पिक सारिका[2]', 'बूझैं सुक सारी' (१७३६)।

३२१—चकोर[3], चकोरी (२७३६,१६६,३८५६ [सं०] का चन्द्र के प्रति अनुराग

१—मानस, बाल०, ३३८ 'सुक सारिका जानकी ज्याए। कनक पिंजरन्हि राखि पढ़ाए।' प० सं० टी०, २६।३ 'सारी सुवा सो रहचह करहीं।' शुक-सारिका तथा तोता-मैना का साथ-साथ उल्लेख प्रायः होता है। यह एक दूसरे के साथ आनंद मग्न रहते हैं।

२—कालिदास, उत्तरमेघ श्लो० २२, 'पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पंजरस्थां।'

३—हर्ष० सां० अ०, पृ० १८६, विन्ध्याटवी के पशु-पक्षियों के वर्णन में बाण ने अनेक नाम दिये हैं तथा प्रत्येक किस कार्य में निमग्न था यह बताना उनके स्वभाव पर भी प्रकाश डालता है—जैसे चकोर अपनी सचहरी को चोंच से चुग्गा दे रहा था, बनकुक्कुटी कोटर में बैठी थी, गोरैया बच्चों को उड़ना सिखा रही थी, भुरंड पक्षी पीलू फल खा रहे थे, तोतों के बच्चे शरीफ़ा व कटहल कुतर रहे थे। इनके अतिरिक्त खरगोश, छिपकली, रंकु, नेवले, कोयल रुरु तथा चमूरु हिरन, नीलांडज मृग, नीलगाय, भेड़िये, हाथी, तेंदुए, सुअर, चूहे, शालिजातक, ततैया, बन्दर तथा लंगूर आदि पशुओं का भी वर्णन है।

हर्ष० सां० अ०,पृ० ६७ यशोवती सती-प्रसंग में कुछ गृह-पशु-पक्षियों का उल्लेख राजभवन तथा अन्तःपुर वर्णन में आया है। इनमें पंजर-शुक-शारिका, गृहमयूर, हंसमिथुन, चक्रवाक-युगल, गृह सारसी तथा भवन हंसी उल्लेखनीय हैं। पशुओं में गृहहरिणिका, पंजरसिंह तथा राजवल्लभ कौलेयक नाम दिये गये हैं।

साहित्य में बराबर उल्लिखित हुआ है—'चित चकोर गति करि' (६६)। आत्मा का परमात्मा के प्रति इसी प्रकार का आकर्षण माना गया है—'तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान।.... ज्यौं चितवत ससि मोर चकोरी।' (१६६)। राधा की अवस्था भी चकोरी जैसी हो गई थी 'देखि सखी राधा अकुलानो।....ज्यौं चकोर इकटक निसि चितवत, याको सरि सोउ नाहिं।' (२७३६) अथवा, 'कैसें रहैं दरस बिनु देखे, बिधु चकोर ज्यौं लीन।' (३८५६)। चकोर के संबंध मे अंगारे खाने की प्रसिद्धि है। यह तीतर के समान सफ़ेद चित्तीदार श्यामवर्ण की चिड़िया होती है। चोंच व आँखें लाल होती हैं।

चकवाद्—(१६६७,२७५६) तथा चकई (३३७,८५१,१८२८) [सं० चक्रवाक:] या कोक (३४७१) [सं०] के संबंध में काव्य-प्रसिद्धि है कि यह दोनों सूर्य डूबते ही बिछड़ जाते है और नदी के दोनों तटों पर रहते हुए भी मिल नहीं पाते। रात्रि मानो शाप-रूप होती है।[१] प्रेम की निकटता में भी दूरी का उदाहरण इनकी अवस्था से दिया जाता रहा है—'तात निसि बिगत भई, चकई आनंदमयी... ' (१८२८) अथवा 'चकई री, चलि चरन सरोबर, जहाँ न प्रेम-बियोग... ।' (३३७) तथा 'चंद मलिन चकई रति राजी।' (८५१) और 'स्याम भए राधा बस ऐसैं। चातक-स्वाति, चकोर-चंद ज्यौं, चक्रवाक रबि जैसें। नाद कुरंग, मीन जल की गति, ज्यौं तनु कै बस छाया।' (२७५६)। बसंत-ऋतु आने पर पक्षियों की प्रसन्नता का सुन्दर चित्रण है—'केकी, कोक, कपोत और खग, करत कुलाहल भारी।' (३४७१)।

३२२—एकान्त प्रेम का उदाहरण चातक (३५५,३८३०) [सं०] भी है। कवि-प्रसिद्धि के अनुसार चातक केवल स्वाति नक्षत्र में वर्षा की बूंद को ही पीता है, अन्यथा प्यासा ही मर जाता है—'मन चातक जल तज्यौ स्वाति-हित, एक रूप ब्रत धार्‌यौ' (२१०)। श्याम का राधा के प्रति प्रेम भी एकनिष्ठ था—'स्याम भए राधा बस ऐसैं। चातक स्वाति, चकोर चंद ज्यौं, चक्रबाक रबि जैसें।' (२७५६)। इसके अतिरिक्त वर्षा-ऋतु के आगमन पर चातक भी अन्य पक्षियों के साथ प्रसन्न होता है—'सखी री चातक मोहिं जियावत।' (३९५२)। पद्मावत में 'चात्रिक' या 'चातिक' शब्द मिलता है और उसकी 'सेवाति' या 'स्वाति' के प्रति अनन्य प्रेम की चर्चा भी है।[२]

वर्षा-वर्णन में पपिहा (१२४०, ३९५५, ३९५६) संबंधी कुछ पद हैं। पपीहे की बोली से पी कहाँ' अथवा 'पी पी' पुकारने का आभास होता है। विरह मे यह पुकार प्रिय के वियोग के कष्ट को प्राय: तीव्र करती है—'(हौं तौ मोहन के) बिरह जरी रे तू कत जारत।

१—कालिदास, उत्तरमेघ, श्लो०, २१, 'दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।'
प० सं० टी०, ३३।५, 'चकई चकवा केलि कराहीं। निसि बिछुरत औ दिनहिं मिलाहीं।'
मानस, अयोध्या०, ८६, 'रहिहउं मुदित दिवस जिमि कोकी'

२—प० सं० टी०, ३४२।७ 'को मिलाव चात्रिक कै भाखा।'
३४३।३ 'पीउ सेवाति सौं जैस बिपरीती।
टेकु पियास बाँधु जिय थीती।'
३४७।५ 'स्वाति बुंद चातिक मुख परे।'

रे पापी तू पंखि पपीहा पिय पिय[1] कर अधराति पुकारत।' (३९५६) किन्तु कभी कभी दुःख की समवेदना निकट भी लाती है —'बहुत दिन जीवौ पपिहा प्यारौ। बासर रैन नाम लै बोलत, भयौ बिरह जुर कारौ॥' (३९५५)। पपीहे का रंग हल्का श्याम या भूरा होता है और चोंच धानी सी होती है। पपीहा तथा चातक को एक ही बताया गया है—'आपु दुखित पर दुखित जानि जिय, चातक नाम तुम्हारौ।' (३९५५)। काले पपीहे को ही चातक कहते हैं। इस पद में इस बात का संकेत है। पद ३२५ में एक साथ एक निष्ठ प्रेम सिखाने वाले इन सभी का ज़िक्र किया गया है जैसे स्वाति-चातक[2], कमल-रवि, भ्रमर-अंबुज, दीपक-पतंक, मीन-जल, परेवा-परेवी, कुरंग-नाद तथा भारतीय पत्नी का पति के प्रति एकांत प्रेम।

वर्षा, बसंत तथा अन्य स्फुट प्रसंगों में प्रयुक्त कुछ और पक्षियों के थोड़े से नाम उल्लेखनीय हैं जैसे **इतर पैंदर** (३९२२) **गररी** (११२९) **झिल्ली** (३९४६) [सं० झिल्ली:] तथा **गहगह** (परि० १०९)। झिल्ली के लिए आज अधिक प्रचलित शब्द 'झींगुर' है। इसकी आवाज़ को प्रायः 'झनकारना' कहते हैं। एक स्थल पर **भरुही** का नाम भी आया है—'ज्यौं भारत भरुही के अंडा, राखे गज के घंट तरी। सूरजदास ताहि डर काकौ, निसि बासर जो जपत हरी।' (४७७७)। यह सम्भवतः 'भारद्वाज' [सं०] नामक छोटी चिड़िया है। महाभारत के युद्ध मे घंटे से ढक जाने के कारण इसके अंडे को रक्षा की कथा है जो भगवान का भक्तों की सहायता करने का एक उदाहरण है।

कुछ कुरूप तथा अशुभ समझे जाने वाले पक्षी भी है जैसे—

काग (२८६, ११५९, ४२०६) [सं० काकः] या **बायस** (४३७१) [सं० वायसः] तथा **गीध, गीधनी** (२७, ६६, ३५७) [सं० गृध्रं, गृध्रः] तथा **उलूक** (१००, २४५२) [सं० उलूकः]। मृतक शरीर पर मंडराने वाले पशु-पक्षियों का उल्लेख विनय-पदों मे अनेक बार है—'या देही कौ गरब न करियै स्यार काग गिध खैहैं।' (८६) अथवा 'यह तन-गति जनम झूठौ, स्वान काग न खाइ।' (३१६)। कुरूप होने के साथ ही कौए की आवाज़ भी कटु होती है।[3] एक कौए के मरते ही थोड़ी देर में सैकड़ों कौए जमा हो जाते हैं, फिर कुछ देर बाद ही उड़ जाते हैं—'घरी इक सजन कुटुम्ब मिलि बैठें, रुदन बिलाप कराहीं। जैसे काग काग के मूएँ, काँ काँ कर उड़ि जाहीं।' (३१९)। अपना स्वभाव कौन छोड़ सकता है, अतएव हरि-विमुखों से दूर ही रहना श्रेयस्कर होता है—'कागहि कहा कपूर चुगाऐं, स्वान न्हवाऐं गंग।' (३३२)। अशुभ शकुनों में काग का बोलना भी है —'बाएँ काग, दाहिनै खर स्वर, ब्याकुल घर फिरि आई।' (११५८) तथा 'माथे पर ह्वै काग उड़ायौ, कुसुगुन बहुतक पाई।' (११५९)। कालियदमन के पहले इनका उल्लेख है।

१—प० सं० टी०, २९।४ **'पिउ पिउ लागे करैं पपीहा।'**
३४२।१ **पपिहा तस बोले पिउ पीऊ।'**

२—तुलसी०, दोहा० ३०७ **'जाँचै बारह मास, पिऐ पपीहा स्वाति जल।'**
गीता० २,२ **'मुनि लोचन चकोर ससि राघव'**
मानस०, अयोध्या०, २१५ **'संपति चकई भरतु चक, मुनि आयस खेलवार। तेहि निसि आस्रम पिंजरा, राखे भा भिनुसार।'**

३—प० सं० टी०, २९।७, **'कुहुकहिं मोर सोहावन लागा। होइ कोराहर बोलहिं कागा।'**

कोयल के संबंध में प्रसिद्ध है कि यह अपने अंडे कौए के घोंसले में रखकर उससे अपने बच्चे पलवाती है। रूप में समानता होने पर भी वाणी की भिन्नता अन्त में भेद खोल ही देती है—'कोकिल काट कुटिल वायस छलि फिर नहिं उहिं बन जाति।' (४३७१) या 'कोइल काक पालि कह कीन्हौ' (४३६६) 'ज्यौं कोइल-सुत काग जियावै, भाव भवति भोजन जु खवाइ। कुहुकि कुहुकि आएँ बसन्त रितु, अंत मिलै अपने कुल जाइ।' (४२०६)। कौए का कहने पर उड़ जाना किसी प्रिय व्यक्ति के आने का सूचक माना जाता है। उद्धव के आने के पहले ब्रज में होने वाले शुभ शकुनों की सूची में इसकी गणना है—'जहँ तहँ काग उड़ावन लागीं....' (४०७१) अथवा 'तौ तू उड़ि न जाइ रे काग। जौ गुपाल गोकुल कौं आवैं, तौ ह्वैहैं बड़ भाग। दधि ओदन भरि दोनौ दैहौं, अरु अंचल की पाग।'[1] (४०७४)। प्रातःकाल छज्जे पर कौए का बैठना किसी अथिति के आने की सूचना देता है।

हंस तथा काग का साथ बेमेल साथ का उदाहरण है जैसा कि कृष्ण-कुब्जा तथा रुक्मिणी-शिशुपाल का था—'हंस काग कौ संग भयौ' (४०३६) अथवा 'हेम काँच, हंस-काग, खरि कपूर जैसौ। कुबिजा अरु कमल-नैन, संग बन्यौ ऐसो।'[2] (४२७१) तथा 'हंस कौ भाग काग लै जाइ' या 'हंस के अंस काग नियराइ।' काले वर्ण वालों पर गोपियाँ व्यंग्य करती हैं—'भँवर कुरंग काक अरु कोकिल, कपटिन को चटसार।' कौआ पहाड़ी तथा सादा दो प्रकार का होता है।

राम-कथा मे जटायू नामक गिद्ध का प्रसंग है 'नृग, कपि, बिप्र गीध, गनिका, गज, कंस, केसि-खल तारै।' (२७)। बाज़ के समान गिद्ध शिकारी चिड़िया है। (१००)। उल्लू को दिन मे दिखाई नही देता तथा रात में ही देख सकता है। वह दिन भर पेड़ों आदि पर लटका रहता है—'ज्यौं दिनकरहिं उलूक न मानत (१००)। उल्लू अत्यन्त कुरूप होता है तथा इसको देखना तथा बोली दोनों अशुभ घटना की सूचक मानी गई हैं। अलीगढ़ क्षेत्र मे उल्लू को 'घुग्घू' तथा 'मरचरैया' भी कहते हैं।[3] मूर्ख व्यक्ति को 'घुग्घू बसंत' अथवा 'उल्लू' कह देते हैं। गाँव वाले उल्लू से बहुत डरते हैं। उनके विचार से उल्लू का घर की छत पर बैठना सर्वनाश की सूचना देता है।[4]

९—कल्पित पौराणिक पशु-पक्षी

३२४. कामधेनु, कामनाधेनु (१४६, ४३५, ६५०, ४८०६) [सं०] स्वर्ग की एक गौ-विशेष है। इसके द्वारा कोई भी इच्छित वस्तु प्राप्त की जा सकती है। सुदामा को कामधेनु दिये जाने का निर्देश है—'रंक सुदामा कियौ अजाची, दियौ अभय पद ठाउं। कामधेनु, चिंतामनि, दीन्हौं कलपबृच्छ तर छाउं।' (१६४)। कृष्ण-जन्म पर कामधेनु जैसी गाय दान दी गई थी—'कामधेनु तैं नैकुं न हीनी। द्वै लख धेनु द्विजनि कौ दीनी।' (६५०)। रुक्मिणी-शिशुपाल विवाह को अनुचित बताया गया है—'कामधेनु खर लेइ' (४८०५)।

१—तुलसी०, गीता० ६,१६ 'कब ऐहैं मेरे लाल कुसल घर, कहहु काग फुरि बाता। दूध भात की दोनी दैहौं, सोने चोंच मढ़ैहौं'

२—प० सं० टी, ३७०।, 'भंवर पतंग जरे औ नागा। कोइल भुंजइल औ सब कागा।'

३—कृ० जी०, पृ० १२, अध्या० ३।

४—कृ० जी०, पृ० १२, अध्या० ३।

परशुराम व जमदग्नि कथा (४५२, ४५८) में सहस्त्रबाहु द्वारा कामधेनु चुरा ले जाने का प्रसंग है।

ऐरावत[1] (१५६४, ३६२१) [सं०] इन्द्र का हाथी ऐरावत माना गया है—'सुरगन सहित इन्द्र ब्रज आवत। धवल बरन ऐरावत देख्यौ उतरि गगन तैं धरनि धँसावत।' (१५६४) अथवा 'तब तिहिं समय आदि ऐरावति ब्रजपति सौं कर जोरे।' (३६२१)। श्वेत वर्ण का ऐरावत तथा कामनाधेनु दोनों समुद्र-मंथन से प्राप्त चौदह रत्नों में थे—'कामनाधेनु पुनि सप्तरिषि कौं दई'....'अप्सरा पारिजातक, धनुष, अस्व, गजस्वेत ये पाँच सुरपतिहिं दीन्हें।' (४३५)।

गरुड़ (५, ७, १०, २५, ४३१) [सं० गरुडः] यह विष्णु की सवारी है अतः पक्षियों का राजा माना जाता है। गज-ग्राह कथा में इसका उल्लेख सबसे अधिक है—'गरुड़ समेत सकल सेनापति, पाछैं लागे आवत।' (४३१) अथवा 'अति करुना-कातर करुनामय, गरुड़हु कौं छुटकायौ।' (४३०)। गरुड़ सर्पों का शत्रु भी माना गया है अतएव कालियनाग का भय उसके प्रति स्वाभाविक था (११६१)। हिन्दू धर्म के अनुसार पृथिवी हाथियों की सूड़ों पर टिकी है जो आठ स्थानों पर हैं। 'ऐरावत' पूर्व में माना गया है। पृथ्वी के हाथी इन सबके द्वारा उत्पन्न माने गये हैं।

सेस (६२२, ६२३) [सं० शेषः, शेषनागः] विष्णु की शैया शेषनाग है—'सेसनाग के ऊपर पौढ़त' (२१५)। बसुदेव जब शिशु कृष्ण को गोकुल ले जा रहे थे उस समय विष्णु अवतार होने के कारण ही शेषनाग ने छाया कर वर्षा से उनकी रक्षा की—'सेष सहस फन ऊपर छायौ, लै गोकुल कौं भागे' (६२२)। कच्छप, दिग्गज, तथा शेषनाग के पृथिवी धारण करने की प्रसिद्धि है।

फनपति (१६३) [सं० फणपतिः] अथवा **बासुकी** (४३५) [सं० बासुकिः] की चर्चा भी है। समुद्र-मंथन में बासुकी की 'नेति' थी। हरि-कृपा पर ही पूरी सृष्टि निर्भर है—'बहत पवन, भरमत ससि दिनकर, फनपति सिर न डुलावै।' (१६३)। यह कश्यप-पुत्र माना गया है तथा नाग के आठ कुलों में से एक एवं सर्पराज है।

तच्छक (२६०) [सं० तक्षकः] पातालवासी एक विशेष नाग है। इसका परीक्षित कथा में ज़िक्र आया है—'दियौ साप तिहिं तच्छक खाइ' (२६०)।

उचैस्रवा (४७८४) [सं० उच्चैःश्रवा] यह इन्द्र के घोड़े का नाम है। द्वारकापुरी में कृष्ण के चौग़ान खेलने में इसका उल्लेख आया है।

सूरसागर में उल्लिखित पक्षियों के नामों के अतिरिक्त अन्य कुछ प्रमुख नाम बुलबुल, बया, फ़ाख्ता या पड़की, कठफोड़वा, गौरैया, महोख, बत्तख तथा कुलंग हैं। पद्मावत में इनमे से कुछ नाम मिल जाते हैं।[2]

१—प० सं० टी०, २६।५, 'सात सहस हस्ती सिंघली जिमि कबिलास एरापति बली।'

२—प० सं० टी०, २६।२, 'बोलहिं पांडुक एकै तुही।....दही दही ले महरि पुकारा।'

६७, तीतिर गिय जो फांद है नितहिं पुकारै दोखु।'

३५८, 'धौरी पंडुक कहु पिय ठाऊँ। जो चितरोख न बोसर नाऊँ। जाहि बया गति पिय कंठलवा। करै मेराउ सोई गौरवा....पियँरि तिलोरि आव जलहंसा....।'

खण्ड १०

वृक्ष, लता तथा पुष्प

१—वृक्षादि के सूचक साधारण शब्द

३२५—वृक्षों तथा फूलों के नाम सूरसागर के स्फुट प्रसंगों में प्रायः उपमान रूप में बिखरे हुए हैं। कुछ पदों में अवश्य एक साथ इनकी सूची सी मिलती है जैसे सीताहरण के बाद राम का वृक्षों को संबोधित करना या रास-लीला पदों में कृष्ण के अन्तर्धान होने पर गोपियों का यमुना तट के लता-वृक्षों से पता पूछना (६४,१७१३,१७१७)—'द्रुम बेली पूछैं सब सुन्दरि' (१७४३)। बसन्त-शोभा वर्णन में प्रकृति के प्रफुल्लित रूप का चित्रण किया गया है (३५२१,३२३५)। इसी प्रकार हिंडोला शीर्षक पदों में भी यमुना तट की शोभा का वर्णन कवि ने किया है (२८६३,३५२१,३५३५)।

वृक्ष के पर्यायवाची अनेक नाम प्रयुक्त हुए हैं—तरुवर (८६,२६५) [सं०] द्रुम (३८४५,५०८) [सं], बृच्छ (२७३७ [सं० वृक्ष] तथा बिटप[1] (परि० १६३,१६८६) [सं० विटपः]। वृक्ष की प्रकृति की भी कवि ने सूचना दी है—'तरुवर फूलै, फलै, पतझरै, अपने कालहिं पाइ।' (२६५)।[2] लता के साधारण अर्थ के सूचक भी अनेक शब्द मिलते हैं-लता (३८४५) [सं०], बेल,[3] बेली, बल्ली, (२७३४,३६३८ ५०८, ३४७२) [सं० वेल्लि)]। वृक्षों से लिपटी लताएँ क्रमश शक्ति तथा कोमलता की प्रतीक हैं—'द्रुमनि बर बल्ली बियोगिनि मिलतिं पति पहिचानि।' (३६३८) या 'कनक बेलि सी सुंदरी द्रुम कैं तर डारी।' (१७३८)।

फूल के कुछ प्रमुख पर्यायवाची नामों का भी उल्लेख किया जा सकता है, जैसे फूल[4] (५०८,३५३५), सुमन (३६३४) [सं], पुहुप (१४१६,२७७८) [सं० पुष्प], तथा कुसुम (२७३४) [सं०]। कलिका[5] (३६३२) अथवा कली (२५२२) [सं०] अस्फुट सौन्दर्य का प्रसिद्ध उपमान है। फूलों के आभरण, शैया तथा हिंडोले का उल्लेख किया जा चुका है। साथ ही पूजन सामग्री में भी फूल का प्रमुख स्थान है। मनसिज के पुष्प-धनुष की चर्चा भी की जा चुकी है। आज फूलों को गुलदस्ते [फ़ा०] के रूप में सजाया जाता है तथा वे फूलदानों की भी शोभा बढ़ाते हैं। पद्मावत में 'बकुचन' शब्द आया है।[6] वृक्ष की शोभा पल्लव (३०७,१४४३,२८६३) [सं०] दल (३६३२) [सं०], पत्रावलि (२४१४) अथवा पत्ता, पात (८८,८६) [सं० पत्रं] से ही होती है—'पत्रावलि परिवेष'। किन्तु इनका गिरना कौन रोक सकता है। वह भी नियति चक्र से परवश हैं—'ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।' (८६) या 'धरनि पत्ता गिरि परे तैं फिरि न लागै डार।'

१—प० सं० टी०, ३७६।३ 'बीरौ लाइ न सूखं दोजे।' [सं० विटप-विडव-बिरव-बीरौ] लोकगीतों में प्रायः 'बिरवा' शब्द अधिकतर प्रयुक्त होता है।

२—प० सं० टी०, ३५२।, 'तरिवर झरै झरै बन ढांका।'
१८३।७, 'पियरि पात दुख झरे निपाता।'

३—मानस, बाल० ७४, 'बेल पाति महि परम सुहाई।'

४—गीता०, ३,५, 'फल फूल अंकुर मूल धरे'।

५—प० सं० टी०, ३७७।३, 'पुहुप करी अस हिरदै लागा।'

६—प० सं० टी०, ३७७।५, 'बकुचन बिनवौं अवसि बिमोही।'

(८८) । नये कोमल पत्ते को किसलय (२७३४) [सं०] कहते हैं—'किसलय कुसुम कुंत सम सायक' (२७३४) अथवा—'कर पल्लव किसलय कुसुमाकर, जानि ग्रसित भए कीर' (१७४४) । इसको 'कोंपल' भी कहते हैं ।[१]

३२६—मुरली का प्रभाव अचल प्रकृति पर समान रूप से पड़ता था—'द्रुम बेली अनुराग पुलक तनु ।" (१६०८) । फिर उसे कृष्ण का वियोग' क्यों न खलता—'बास गई, सोभा गई, अरु कुम्हिलाने फूल । सूरदास प्रभु तुम बिना, उघटे सब जर मूल[२] ।' (४५६२) अथवा 'खग, मृग, तृन, बेली वृंदाबन, गैया ग्वाल बिसारे ।' (४०२७) । कृष्ण का साहचर्य प्राप्त करने वाले वृंदावन के लता वृक्षों का सौभाग्य कौन न पाना चाहेगा—'धनि बंसीबट, धनि जमुना तट धनि धनि लता तमाल ।' (१६६२) अथवा 'बृंदावन द्रुम लता हूजियै ।' (१६६४) ।

कवि ने वृक्षों की शाखाओं और पत्तों में छिपे पक्षियों का नेत्र संबंधी एक पद में चित्र खींचा है— 'ज्यौं ब्याधफंद तैं छुटत खग उड़ि चलत, तहाँ फिरि तकत नहिं त्रास मानै । जाइ बन द्रुमनि मैं दुरत, त्यौहीं गए, स्याम-तनु-रूप-बन मैं समाने ।' (२८६७) । लता तथा वृक्षों के मंडल सदृश्य छायादार स्थान कुञ्ज (२७६६) [सं०] अथवा निकुंज (२७६४) [सं०] का कृष्ण-राधा तथा गोपी प्रेम में महत्वपूर्ण स्थान है । यमुना-तट के वृक्ष तथा निकुंज उनकी अमित प्रेम-पूर्ण लीलाओं के साक्षी स्वरूप थे—'ठाढे नव कुंजनि तर' (३४४७), 'नैंकु निकुंज कृपा करि आइयै ।' (३१८८) अथवा 'एक द्यौस कुंजनि मैं भाई नाना कुसुम लेइ अपनैं कर दिए मोंहि सो सुरत न जाई ।' (४००२) या ' नवल निकुंज नवल रस दोऊ, राजत हैं अतिसय रंग भीने' (२७६४) तथा 'बाहाँजोरी प्रात कुंज तैं निकसे रीझि रीझि कहैं बात ।' (२७६६) । कुंजों में रमण करने के कारण ही कृष्ण को कुंज-बिहार (३४४८) कहा गया है । कृष्ण-वियुक्त ब्रज की गोपिकाओं को यही शीतल कुंज अग्नि के समान जलता था 'बिनु गोपाल बैरिनि भई कुंजैं । तब वै लता लगतिं तन सीतल, अब भईं बिषम ज्वाल की पुजैं ।' (४६८६) ।

२—पुष्पों के नाम

३२७— ख पुष्पों के नाम नीचे दिये जा रहे हैं—

१. करबीर (३६३२) तथा कुटज (३६३२) ये वर्तमान समय के लोकप्रिय फूलों में नहीं हैं ।

कुसुम्भ, कुसुम (३४८५) [सं०] पुष्प का उल्लेख रंगों में किया जा चुका है । वस्त्रों में यह रंग उस समय लोगों को प्रिय था और होली में भी टेसू व कुसुम का रंग बनाते थे—टेसू कुसुम निचोड कै, रंगभीजी ग्वालिनि ।' केसर को भी कुसुम कहते हैं ।

१—कृ० जी०, प्र० ८, अध्या० २, अलीगढ़ क्षेत्र की ग्रामीण बोली में इसे 'गोवो' भी कहते हैं ।

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० २११, 'वृक्ष' शब्द कहीं कहीं वनस्पति का पर्यायवाची भी है । पतंजलि ने वृक्ष के भागों 'मूल', 'स्कन्ध', 'फल', 'पलाशवान' का उल्लेख किया है । पाणिनि ने 'पर्ण', 'पुष्प', 'फल' तथा 'मूल' आदि भाग की विशेषताओं पर पौधों के नाम रक्खे जाने का वर्णन किया है जैसे 'शंखपुष्पी' । उनके विचार में वृक्ष तथा फल का नाम प्रायः एक ही होता था जैसे आमलकी वृक्ष का फल आमलकी ।

कुंद (३६३२,१७०६) इसका झाड़ होता है। सफ़ेद रंग का छोटा किन्तु सुगन्धि-युक्त फूल अगहन पूस में आता है। श्वेत वर्ण के कारण यह दाँतों का प्रसिद्ध उपमान भी है। मेघदूत में कालिदास ने कुंद पुष्प से अलंकृत केश पाश का वर्णन किया है।[1]

कनेल (३५३५) कनीर (३५२१) कनिआरी, करनि, करनिकार (१७१३, ३६३२) [सं कर्णिकार—कण्णिआर—कणेर—कनेर] का पौधा छः सात हाथ ऊँचा होता है जिसमें लाल, पीले या सफ़ेद रंगों के फूल आते हैं। कवि-प्रसिद्धि के अनुसार कनेर पद्मिनी स्त्रियों के नृत्य से पुष्पित होता है।[2] कालिदास ने पार्वती के केश में कर्णिकार गूथने का उल्लेख किया है।[3] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार संस्कृत का कर्णिकार हिन्दी का अमलतास है। यह कनेर से भिन्न फूल है।[4] कनेर का उल्लेख आईने अकबरी में भी है[5] और यह बताया गया है कि वह ज़हरीला होता है तथा जो इसको सर पर रख लेता है, लड़ने लगता है।

करना (३५२१)[6] का उल्लेख भी है।

केतकि, केतकी (३५६,३६३२) इसका पत्ता मोटा एवं नुकीला तलवार की आकृत का होता है और फूल सफ़ेद रंग का आता है। क्वार मे ही प्रायः फूल आते हैं। शिव-मूर्ति पर केतकी चढ़ाना निषिद्ध है। अलीगढ़ क्षेत्र में इसको 'रामबान' भी कहते हैं।[7] आईने अकबरी (पृ० १७७) में यह सनोबरी सूरत का तथा भीनी सुगन्धि वाला वर्णित है। भौरें का केतकी के कांटे मे फँसना कवि-समय था।[8]

बेला (३६३२) [सं विचकिल—बिअइल्ल—बइल्ल—बेला] इसकी गोल पत्तियों की झाड़ी सी होती है। फूल सफ़ेद रंग का सुगन्धियुक्त तथा सुन्दर होता है। यह गरमी मे फूलता है। स्त्रियों के बालो मे अत्यधिक आकर्षक लगता है। बेला की मालाएँ भी लोगों को प्रिय है जो गरमी मे नेत्रों को शीतलता प्रदान करती है। बेला कई क़िस्मों का होता है—मोतिया, मोगरा, रायवेल आदि। मोतिया का ही साहित्यिक नाम माधवी है।[9] सूरसागर में मोगरो[10]

१—कालिदास, उत्तरमेघ, श्लो० २, 'हस्ते लीलाकमलमलके बाल कुन्दानुविद्धं।'

२—उत्तरमेघ, श्लो० १५, मल्लिनाथ टीका, 'पुरोनर्तनात् कर्णिकारः'

३—कुमारसम्भव, तृतीयसर्ग, श्लो० ५३, 'अशोकनिर्भित्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युति-कर्णिकारम्।' श्लो० ६२, 'उमाऽपिनीलाऽलकमध्यशोभिविपंसयन्ती नवकर्णिकारम्।'

४—हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २३७, डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी।

५—आइने अ०, पृ० १८३।

६—प० सं० टी०, ३७७।७, 'आगे कंत करहु जो करना।' (७) [सं० कर्ण] एक पौधा जिसके सफ़ेद फूल सुदर्शन तथा पत्ते केवड़े की तरह लम्बे होते हैं (हिन्दी शब्दसागर)। मोनियर विलियम्स संस्कृत कोश के अनुसार कर्ण दो पुष्पों का पर्यायवाची है—अमलतास तथा आक या मदार का।

७—कृ० जी०, पृ० १२, अध्या० १३।

८—प० सं० टी०, ३७७।७, 'केतनारि समुझावे भंवर न कांटे बेध।'

९—कालिदास, उत्तरमेघ, श्लो० १५, 'प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेमाधवीमंडपस्य'

१०—आईने अ०, पृ० १७७, अबुलफ़ज़ल ने 'मोंगरा' का उल्लेख किया है। इसमें सौ से अधिक पंखड़ियां होती हैं।

तथा माधवी (३५३१) का उल्लेख है ।

बेली (१७१३) बेलिया एक लता होती है जिसका फूल लाल होता है ।

चमेली (३५२१) की झाड़ी होती है तथा सफ़ेद रंग का फूल आता है । इसको संस्कृत में 'जाती' अथवा 'मालती' भी कहते हैं ।[१] यह चमेली तथा रामचमेली दो किस्मों की होती है ।[२] आईने अकबरी में मालती का फूल चमेला के समान बताया गया है ।[३] सूरसागर मे मालती (१७१३) नाम भी मिलता है । बेला-चमेली अथवा चम्पा-चमेली नाम प्रायः साथ लिये जाते है । 'बेलि चमेली मालती बूझति द्रुम डारी ।' कुसुमों से शैया सजाने का वर्णन इस प्रकार है ।—'केतकि, करना, बेल, चमेली फूलनि सेज बिछाऊँ ।' (२ २४) ।

जूही (१७१३), जाही (१७१३) [सं० यूथिका, यूथी] यह फूल भी श्वेत रंग का होता है । अबुलफ़ज़ल ने इसके तिसाला फूलने तथा बेल के पेड़ से लिपट जाने का वर्णन किया है ।[४]

३२८—केवरा (३५३५) इसका बड़ा-सा झाड़ गन्ने की पत्तियों की तरह का होना है । इस झाड़ पर अत्यधिक मीठी सुगन्धि वाली बालें आती है । केवड़े का अर्क आजकल जल तथा मिठाइयों मे सुगन्धि लाने के लिए भी डाला जाता है । बसन्त ऋतु के फूलों में इसका उल्लेख है—'जहँ कमल केवरा फूले, केतकी कनैल फूल....फूली मधु मालती बेलि ।' अबुल-फ़ज़ल ने कपड़ो को सुगंधित करने के लिए सूखा केवड़ा रखने का उल्लेख किया है । यह दक्षिण गुजरात, मालवा व बिहार मे अधिक होता है ।[५]

निवारी (३५२१) का श्वेत फूल चैत के महीने मे लगता है । इसको आजकल 'निवाड़ौ' भी कहते हैं । अबुजफ़ज़ल ने इसका फूल एक पत्ते का बताया है जो रायबेल से मिलता-जुलता है । इसके एक साथ इतने अधिक फूल आते है कि पौधा ढक जाता है ।[६]

सेवती (३५९१) [सं० सेमंती, अथवा सं० शतपत्रिका-सयवत्तिया-सइउत्तिया-सेउतिया—सेवती, सफ़ेद गुलाब] 'जाही, जूही, सेवती, करना, कनिआरी। बेलि चमेली, मालती, बूझति द्रुम डारी ।' (१७१३) । आईने अकबरी को फूलों की सूची मे सेवती के संबंध मे बताया गया है । इसकी आकृति गुलाब जैसी, रंग सफ़ेद तथा चार से छः तक पंखड़ियां होती हैं और गुजराज तथा दक्षिण मे अधिक होता है ।[७]

पांडल (३५२१) 'बहु पांडल विपुल गंभीर, मिलि झूमक हो ।' अबुलफ़ज़ल ने 'पांडल' के संबंध में भी बताया है । उन्होने इसे पांच-छः लम्बी पंखड़ियों का बताया है तथा इनसे जल को सुगंधित करने की चर्चा भी की है । यह वर्ष भर फूलता है ।[८]

खूझौ (७५२१) 'खूझौ मरुवौ मोगरौ, मिलि झूमक हो ।' यह फूल वर्तमान समय

१—कालिदास, उत्तरमेघ, श्लो० ३५ 'प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम्' टीका, 'सुमनो मालती जातिः' इति ।

२—आईने अ०, पृ० १७७, ।

३—आईने० अ०, पृ० १८५ ।

४—आईने अ०, पृ० १७६ ।

५—आईने अ०, पृ० १७८ ।

६—आईने अ०, पृ०, १७० ।

७—आईने अ०, पृ०, १७७ ।

८—आईने अ० पृ०, १७६ ।

के लोकप्रिय फूलों में नहीं गिना जा सकता है।

मरुआ, मरुवौ (३५२१) [सं० मरुवकः] इसके फूल सफ़ेद व लाल दो रंगों के होते हैं तथा फागुन चैत में पुष्पित होता है। यह 'मरुआ' नाम से आज भी जाना जाता है।

गुलाब (१७११) [फ़ा०] 'चंपक, जाहि गुलाब बकुल प्रति, पूछति कहुँ देखे नंद-नंदन।' (१७११)। गुलाब का पौधा छोटा किन्तु कँटीला होता है। यह लाल, पीला, गुलाबी तथा सफ़ेद आदि कई रंगों का होता है। प्रायः जाड़े में खिलता है। सौन्दर्य तथा भीनी सुगन्धि के कारण गुलाब फूलों का राजा माना गया है। इसकी लता भी होती है। जंगली गुलाब का फूल छोटा होता है। गुलाब की क़लम लगाते हैं।

मल्लिका (१६६६) [सं०] रास शीर्षक पदों में 'जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद सुहाई जामिनि।' वर्णन किया गया है।

कूज़ा (१७१३) [फ़ा० कूज़ा] 'कूजा मरुआ, कुंद सौ कहैं गोद पसारी।' (१७१३) आईने अकबरी (पृ० १७६) में कूज़ा का वर्णन है। यह आकृति में गुलाब के समान होता है। सम्भवतः मोतिया या बेले का ही नामान्तर है। इसका 'कुब्जक' नाम भी है।

चम्पक (१७११) [सं० चम्पकः] चम्पा के सुनहले फूल से शरीर के वर्ण की तुलना की गई है—'चम्प कली तनु' (२८०४) अथवा 'चंपक बरन' (५०७)। चम्पा का पौधा क़रीब आठ हाथ ऊँचा होता है। चैत से यह फूलता है। कवि-प्रसिद्धि के अनुसार पद्मिनी स्त्रियों के हास से पुष्पित होता है।[1] दूसरी कवि-प्रसिद्धि है कि चम्पा के फूल पर भौंरा नहीं बैठता है[2]—'जोग हमहिं ऐसो लागत ज्यों, तुहिं चंपै कौ फूल।' (४३४६)। चम्पा के फूल में बहुत तेज़ खुशबू होती है। आइने अकबरी में चम्पा का वर्णन है।[3]

बधूक, बंधुक (७२२, १४१७, २४५०) [सं० बंधूकं, बंधूकः] बंधूक कुसुम का अधिकतर उपमान रूप मे ही प्रयोग हुआ है। यह अधरों का प्रचलित उपमान था—'अधर बिंब-फल पटतर नाहीं। बिद्रुम अरु बंधूक लजाहीं।' (२४१७) अथवा 'चिबुक पर चित वारि डारत, अधर अंबुज लाल। बंधूक, बिद्रुम, बिंब वारत, ते भए बेहाल।' (२४५३)। बंधूक मसूड़ों का उपमान भी है—'हँसत दसन इक सोभा उपजति, उपमा जदपि लजाइ।....'किधौं सुभग बंधूक कुसुम तर, झलकत जल-कन-कांति।' (२४५०)। राधा के मस्तक के सिन्दूर-विन्दु पर मृगमद इस प्रकार शोभित था—'मनौ बंधूक कुसुम ऊपर अलि बैठ्यौ, पंख पसारि।' (२७३६)। अधर का उपमान होने से स्पष्ट ही है कि यह फूल लाल रंग का होता है। इसका पौधा बरसात में फूलता है। संस्कृत साहित्य में बंधूक के लिए 'जपा' नाम भी प्रयुक्त हुआ है।[4] आज इसके अधिक प्रचलित नाम 'अड़हुल', 'गुड़हल' अथवा 'गुलदुपहरिया' हैं।[5] मालाओं में बंधूक पुष्प गूँथने की प्रथा नहीं है। विश्वास के अनुसार साही के काँटें के समान ही यह

१—कालिदास, उत्तरमेघ, श्लोक १५, मल्लिनाथ टीका 'मृदु हसनात् चम्पको'

२—प० सं० टी०, २७।२२, 'चम्पा प्रीति न भौरहिं दिन दिन आगरि बास।'

३—आईने अ०, पृ० १७७।

४—कालिदास, पूर्वमेघ, श्लो० ३६, 'सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।'

५—प० सं० टी०, १०६।२, 'फूल दुपहरी मानहुँ राता। फूल झरहिं जब जब कहु बाता।'

घर में लड़ाई करवाता है ।[१] अबुलफ़ज़ल ने भी 'गुड़हल' का नाम दिया है ।[२]

बकुल (१७१७, ३५.२१) यमुना-तट पर खिले फूलों में बकुल को भी स्थान मिला है— 'मृदु मंजुल, बकुल तमाल, मिलि झूमक हो ।' (३५.२१) । इसका दूसरा नाम 'मौलिश्री' या 'मौलसिरी' है । फूल पीले रंग का नन्हा सा किन्तु सुगन्धियुक्त होता है । कवि-प्रसिद्धि के अनुसार स्त्रियों के कुल्ले से पुष्पित होता है ।[३] आईने अकबरी में 'मौलिश्री' नाम दिया गया है ।[४] पद्मावत में 'बोलसरि' [सं० बकुलश्री] नाम है (४७७।६) । कालिदास ने 'केसर'[५] शब्द प्रयुक्त किया है ।

बहुलि (१७१३) [सं० बहुला—इलायची, नील का पौधा] 'बकुल बहुलि बट कदम पैं, ठाढ़ीं ब्रजनारी ।'

पद्मावत में प्रायः यही सब नाम मिलते हैं । बसन्त-खंड तथा रत्नसेन-बिदाई-खंड में अनेक नाम एक साथ दिये गये हैं । इसके अतिरिक्त 'नागकेसरि', 'गुलाल', 'सुदरसन,' 'सोनजरद', 'सदबरग', 'रूपमांजरि', 'सिंगारहार', 'बरना', 'गुलबकावली' आदि कुछ नये नामों की ओर भी ध्यान जाता है ।[६] यह नाम आईने अकबरी की फूलों की सूची में भी दिये गये हैं ।

३३०—भारतीय फूलों में सर्वोच्च स्थान कमल का है ।[७] साहित्य, चित्रकला तथा वास्तुकला सभी में कमल का विशिष्ट स्थान रहा है । यह सरोवर में खिलता है । पत्ते भी अत्यन्त आकर्षक गोल आकार के होते हैं जो पानी की सतह पर तैरते रहते हैं तथा फूल सीधी डंडी पर पानी की सतह पर खिलता है । इसकी जड़ की तरकारी बनती है जिसे 'भसीड़ा' कहते हैं तथा 'कमलगट्टे' को भूनकर मखाना बनाते हैं । पत्ते को 'पुरैन' भी कहते हैं । लाल कमल भारत में प्रायः सब जगह होता है । श्वेत कमल या पुंडरीक काशी के आसपास और नीमकमल तिब्बत व चीन में अधिक होता है । अमेरिका तथा जर्मनी में पीला कमल उगता है ।

सूरसागर में भी कमल को परम्परागत महत्व मिला है । काव्य की परम्परा के अनु-

---

१—कु० जी०, पृ० १२, अध्या० १३

२—आईने अ०, पृ० १८२ ।

३—'विकसित वकुलः स्त्रीमुखगंडूषसेकात्' कवि-प्रसिद्धिः ।

कालिदास, उत्तरमेघ, श्लो०.१५, 'रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरवकवृतेर्माधवीमंडपस्य ।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
कांक्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनाऽस्याः ।'

मल्लिनाथ टीका 'अशोकबकुलयोः स्त्रीपादताडनगंडूषमदिरे दोहदमिति प्रसिद्धिः'

४—आईने अ०, पृ० १७८ ।

५—'अथ केसरे बकुलो वञ्जुलः' इत्यमरः ।

६—प० सं० टी०, १८८।, पुनि बीनहिं सब फूल सहेली। जो जेहि आस पास रह बेलीं । कोइ केवरा कोई चंप नेवारी । कोइ केतुकि मालति फुलवारी ।... तहँ कांट ।' ३७७—'बिनौ करै पदुमावति नारी । हौं पिय कंवल सो कुंद नेवारी । मोहि असि कहाँ सो मालति बेली । कदम सेवती चांप चबेली ।....

७—स० सं० टी०, ३७७।१ 'हौं पिय कंवल सो कुंद नेवारी ।'

सार ही कमल का अनेक पदों में शरीर, नेत्र, मुख, कर तथा पद का उपमान रूप में प्रयोग हुआ है। कमल के अनेक पर्यायवाची शब्दों का भी निर्देश हुआ है। रंगों के अनुसार तथा पानी में निकलने पर (पानी के पर्यायों पर आधारित) भी कई नाम हैं—

कमल (३८५१, २३७५) [सं०] कृष्ण के बाल-रूप का वर्णन है—'चंचल दृग अंचल-पट-दुति-छबि, झलकत चहुँ दिसि झालरी। मनु सेवाल कमल पर अरुझे, भँवत भ्रमर भ्रम चाल री।' (७१८)। सेवाल[1] [सं० शैवलं] तालाब में एक प्रकार की काई की बेल सी होती है। रूप-वर्णन पदों में उपमान रूप में कमल का बार-बार वर्णन है—'चरन-कमल अवलंबित' (२४४२) अथवा 'मीन कमल कर, चरन नयन डर, जल मैं कियो बसेरि' (२३७१) अथवा 'कमल नैन घनस्याम' अथवा 'जानत हौ कर कमल बिरोधी ...' (३८५१)। रास के बीच कृष्ण के अदृश्य होने पर गोपियाँ वृक्षों, फूलों एवं लतादि से पूछती फिरती हैं....'कहि धौं कमल, कहाँ कमलापति, सुंदर नैन बिसाल।' कमल तथा भ्रमर का उल्लेख किया जा चुका है[2]—'पिउ पद-कमल कौ मकरंद। मलिन-मति-मन-मधुप, परिहरि, बिषम नीरस मंद।' (४५४)। 'मनु तुषार कमलनि पर्‌यौ, ऐसैं कुम्हलानी।' (१६३६)—रास से पहले कृष्ण के बचन सुन स्त्रियों की अवस्था ऐसी हो जाती है। रूपवर्णन में कुछ कूट पद कमल एवं सारंग से संबंधित हैं—'देखे चारि कमल एक साथ।' (१८१३) अथवा 'देखि सखि साठि कमल इक जोर।' (१२२१)। आईने अकबरी में 'कंवल' दो प्रकार का बताया गया है—एक सूर्य तथा दूसरा चन्द्रमा के प्रकाश से खिलने वाला गुलाबी तथा सफ़ेद।[3]

अंभोज (७८७) [सं० अंभस्-जल, सं० अंभोजिनी-पौधा या फूल] कृष्ण के अलंकरणों में 'अंभोज-माल' का अपना स्थान है—'कंठ कठुला नीलमनि, अंभोज-माल संवारि' (७८७)।

सरसिज (४५५) [सं० सरस् = सरोवर + जं, + जिनी = कमल] 'सुंदरि सरसिजनैनी' का उल्लेख गंगा-स्तुति शीर्षक पद में है।

जलज (१६६७) [सं०] रूप-सरोवर वर्णन में कवि कहता है—'लोचन जलज, मधुप अलकावलि कुंडल मीन सलोल' (१६६७) अथवा 'दुर दमकत सुभग स्रवननि, जलज जुग डहडहत' (८०२) तथा 'जलज-माल उर भ्राजत' (२३७२)। कृष्ण का पीतपट कमल-केसर [सं० केशर] का स्मरण दिलाता था—'पीतपट काछनी मानहुँ, जलज-केसर झूल।' (७३६३) फूल के पराग को केशर कहते हैं—'लीन्हें पुहुप-पराग पवन पर क्रीड़त चहुँ दिसि धाइ।' (३४७१)।

जलजात (२७३०) [सं०] राधा की मुख-शोभा नव कमल का स्मरण कराती थी—'अपनै कर करि धरे बिधाता, षट् खग, नव जलजात।' (२७३०)।

जलरुह (६०१, २४१५) [सं० जलरुहः, जलरुहं] मक्खन चोरी करके छिपने पर बाल कृष्ण का रूप कवि के मन में यह कल्पना लाता है—'चकित नैन चहुँ दिसि चितवत और सखनि कौं देत। सुन्दर कर आनन समीप, अति राजत इहिं आकार। जलरुह मनौ बैर

१—कालिदास, कुमारसम्भव, पंचम सर्ग, श्लोक ६ 'न षट्पदश्रेणिभिरेव पंकजं सशैवलासंगमपि प्रकाशते।'

२—प० सं० टी०, १६६। 'कंवल भंवर ओही बन पावै।'

३—आईने अ०, पृ० १८२।

बिधु सौं तजि, मिलत लए उपहार।' (६०१)। इस पद्यांश में चन्द्रोदय होते ही कमल के फूल बन्द हो जाने की ओर भी संकेत है।

३३१—पंकज (१४) [सं० पंकजं] आराध्य के चरण-कमल सब दुःख दूर करने में समर्थ हैं—'सूरदास तेई पद-पंकज त्रिबिध ताप-दुख-हरन हमारे।' (६४)। गोपियों का प्रेम दृढ़ देखकर कवि उनका जीवन धन्य समझता है—'तै धनि पुरुष, नारि धनि तेई, पंकज चरन रहै दृढ़ताई।' (१६४३)।

वारिज (२७३१,२४३४) [सं०] रूप-वर्णन-पदों में कमल का महत्त्व स्पष्ट ही है—'कमल-नैन के कमल-बदन पर बारिज बारिज वारि।' अथवा 'आजु लखी इक बाम नई सी।....हम-तनु चितै, सकुचि अंचल दियौ, बारिज मुख पर बारि बई सी।' (२७२१)। वारिज जल के बिना नहीं रह सकता। प्रेम में अभिन्नता बताने के लिए इसका उल्लेख किया जाता है—'बारिज ज्यौं जल-हीन।' (३८५६)।

पदुम[1] [सं० पद्मं] चरण-पद्म की वंदना में ही मनुष्य-जीवन की सार्थकता है—'पदुम-बास सुगंध सीतल, लेत पाप नसाहि। सदा प्रफुलित रहैं, जल बिनु, निमिष नहिं कुम्हिलाहि।' (३३८)। विष्णु की चार भुजाओं में से एक में पद्म माना गया है 'संख-चक्र-गदा-पद्म, चतुर्भुज भावन रे।' (६४६)। अवसर आने पर उनके कोमल कर आयुध भी धारण करने में समर्थ हैं—'पानि-पदुम आयुध राजै'।

सरोज (३०७,६४,२३६४) [सं०] कृष्ण का मुख मानो खिला हुआ कमल है—'मुख विकास सरोज मानहु, जुबति-लोचन भृंग।' (२४३३)। कृष्ण की शोभा का वर्णन विनय-पदों मे भी है—'बाहु-पानि सरोज-पल्लव, धरे मृदु मुख बेनु।' (३०७) अथवा 'सेव चरन-सरोज सीतल' (३०७) तथा 'बंदौं चरन सरोज तिहारे। सुन्दर स्याम कमल-दल-लोचन ललित त्रिभंगी प्रान पियारे। जे पद पदुम सदा सिव के धन, सिंधु-सुता उर तें नहिं टारे' (६४)।

अरबिंद (२६०,३८८६) [सं० अरबिंद] लाल अथवा नीले कमल को कहते हैं। कुछ पद विनती से प्रारंभ किये गये हैं—'हरि हरि, हरि हरि, सुमिरन करौ। हरि चरनारबिंद उर धरौ।' (२६०,२६१) चकवे चकई का मिलन तो दिन में होता है किन्तु रात्रि भ्रमर के लिए वरदान होकर आती है—'उदित सूर चकई मिलाप, निसि अलि जु मिले अरबिंदहिं। सूर हमैं दिन-राति दुसह दुख, कहा कहैं गोबिंदहिं।' (३८८६)।

कंज (२५०३,२३७४) [सं० कंजम्] कृष्ण तथा राधा के प्रति सखियाँ यह विचार प्रकट करती हैं—'सुंदर स्याम पिया की जोरी....वै मधुकर ये कंज कली, वै चतुर एउ नहिं भोरी।' (२५२२)। भ्रमर फूल फूल पर मंडराता है किन्तु कमल का फूल उसे सूर्य डूबते ही अपनी पंखड़ियों में बन्द कर लेता है। 'कर कंजनि' (२५०३) का निर्देश भी है। सुकंज (३६३२) की गणना पावस ऋतु के फूलों में है।

अंबुज (२४५०,४१,३०२६ [सं० अंबुज, अंबु = जल] अधरों की लालिमा के उपमानों में विद्रुम, लाल, बंधूक कुसुम आदि के साथ अंबुज को भी रक्खा गया है—'देखि सखि अधरनि की लाली। किधौं अरुन अंबुज बिच बैठी सुन्दरताई जाइ।' (२४५०) अथवा 'अधर

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० २१५, पुष्करादि गण में पाणिनि ने 'पद्म', 'उत्पल', 'बिस', 'मृणाल' आदि पर्यायों का उल्लेख किया है। अन्य उल्लेखनीय पुष्प 'कुमुद' तथा 'शेफालिका' थे।

अंबुज लाल, (१४५३) । नेत्र-पदों में कवि कहता है—'अंबुज-हरि-मुख-चारु कौ, दोउ भौंरी जोर ।' (३०२६) । विनय पदों में भी यह पर्याय उल्लिखित है—'जो कोउ प्रीति करै पद-अंबुज, उर मंडत निरमोलक हार' (४१) ।

राजीव (२४२६,३३६,२४३१) [सं० राजीवं] तथा इंदीवर (२४३६) [सं०] दोनों नीलकमल हैं तथा कृष्ण के नेत्रों के उपमान रूप में प्रायः प्रयुक्त हुए हैं—'राजीव नैन' (१३०), 'कोमल स्याम कुटिल अलकावलि ललित कपोलनि तीर । मनहुँ सुभग इन्दीवर ऊपर, मधुपनि की अति भीर ।' (२४३६) में भी कृष्ण के नील वर्ण वाले सुन्दर मुख का उपमान इन्दीवर है । 'मनोहर है नैननि की भाँति । मानहुँ दूरि करत बल अपनैं, सरद्-कमल की कांति । इंदीवर राजीव कुसेसय, जीते सब गुन जाति । अति आनंद सुप्रौढ़ा तातें, बिकसत दिन अरु राति ।' (२५२६) अथवा 'देखि री हरि के चंचल नैन । ... राजिवदल इंदीवर सतदल, कमल कुसेसय जाति । निसि मुद्रित प्रातहिं वे बिकसित, ये बिकसित दिन राति ।' (२४३१) आदि पद्यांश यहाँ उल्लेखनीय हैं । कमला (३३८) [सं० = लक्ष्मी, कमलिनी]—'कबहूँ कमला चपल पाइकै, टेढ़ैं टेढ़ैं जात' (३६५), 'नारायन कमला सुनि दंपति' (१६८२), नलिनी (३६६) [सं०] पद्मिनि (२७२६) [सं० पद्मिनी] तथा कुमुदिनि (३३६) [सं० कुमुदिनी] भी उल्लेखनीय नाम हैं । ब्रह्म-सरोवर के रूपक पद में 'कमला' शब्द लक्ष्मी एवं कमलिनी दोनों अर्थों में आया है—'जिहिं सरोबर कमल कमला रबि बिना बिकसाहिं ।' (३३८) । नलिनी के तोते का उदाहरण कई विनयपदों में मिलता है । तोते के बैठते ही नाल झुक जाती है और वह पानी पर भ्रमित होकर लटकता रहता है । यही अवस्था सांसारिक आकर्षणों में लीन मनुष्य की है । कुमुदिनी सफ़ेद रंग की होती है और इसे चाँद की किरणें विकसित करती हैं । अतएव चन्द्र तथा कुमुदिनी का प्रेम भी उद्धृत किया जाता रहा है । कवि कहता है—'सुनि मधुकर, भ्रम तजि कुमुदिनि को, राजिवबर की आस ।' (३१६) अथवा 'ज्यों ससि बिना मलीन कुमुदिनी, रबि बिनहिं जलजात । त्यौं हम कमलनैन बिनु देखे, तलफि-तलफि मुरझात ।' (४५४०) । पद्मिनि उपमान-रूप में कूट पदों में भी उल्लिखित है—'पद्मिनि सारंग एक मझारि ।' (२७२६) ।

नाल—ब्रह्मा की उत्पत्ति नाभि-कमल से हुई है—'जब मैं नाभि-कमल मैं रह्यौ । खोजत नाल कितौ जुग गयौ....' (३८०) । नलनाल (२७८) [सं० नलं = कमल, नालं = कमल का डंठल]—'ज्यौं कंटक नलनाल' चित्रण उल्लेखनीय है ।

मृणाल, मृनाल (२७३०) [सं० मृणालं = कमल-नाल, सं० मृणालिन् = कमल] कमल नाल से प्रायः हाथों की उपमा दी जाती है। कोमल तथा सुडौल होने के कारण राधा-रूप-वर्णन में सूर ने भी मृणाल ही बाहु का उपमान चुना है—'द्वै मृणाल' (२७३०), 'भुज-मृनाल-भूषन-तोरन जुत, कंचन खंभ खरे ।' (१७५४) ।

३—पुष्प-वृक्ष

३३३—पुष्प वृक्षों की नामावली निम्नलिखित है—

टेसू (३४७२) [सं० किंशुक] अथवा पलास (१०८३) [सं० पलाशः] का उल्लेख पहले किया जा चुका है । इसके पत्ते बड़े, गोलाकार होते हैं तथा इन्हीं से पत्तल या दोने बनाए जाते हैं । छाक शीर्षक पद में इसका निर्देश है—'कमल-पत्र दोना पलास के, सब आगैं धर परुसत जात ।' (१०८३)। बसन्त के आगम पर टेसू फूलने का चित्रण है—

'द्वादस बन रतनारे देखियत, चहुँ दिसि टेसू फूले।' (३४७२)। पलाश वृक्ष का नाम 'ढाक' भी है। इसके फूल को 'टेसू' के अतिरिक्त 'केसू' भी कहते हैं।[१] टेसू नारंगी रंग का अत्यन्त चित्ताकर्षक फूल है। फूल के नीचे की डंडी काली सी होती है। इसके फूलों से होली खेलने के लिए विशेष रूप से पीला रंग बनाया जाता है—'टेसू कुसुम निचोड़ के रंगभीजी ग्वालिनि।' (३४८५)। 'कनागत' [सं० कन्यागत] के दिनों में 'कागौर' [सं० काक-बलि] ढाक के पत्ते पर देने की प्रथा है। आईने अकबरी में भी 'केसू' नाम मिलता है।[२]

तमाल (७३२,२७३७,२७५०) [सं० तमालः] संयोग-प्रेम के कई पदों में कृष्ण को तमाल तथा उस पर आश्रित कनक-बेल से राधा की उत्प्रेक्षा दी गई है—

'मनौ बृच्छ तमाल बेलो-कनक, सुधा सिंचाइ।
हरष डहडह मुसुकि फूले, प्रेम फलनि लगाइ।' (२७३७)
अथवा 'मानहु तरुन तमाल स्याम तन, लता मालती ग्रंसी।' (२७३३)
तथा 'कनक-बेलि, तमाल अरुझी' (२७५०)
और 'बृंदावन वै सिसु तमाल ये कनक-लता सी गोरी' (२५२२)।

विनय पदों तथा बाल-वर्णन में भी कृष्ण के रूप को तमाल से ही तुलना की गई है—'करि मन नंद-नंदन ध्यान।....सुरसरी कैं तीर मानौ लता स्याम तमाल।' (३०७) अथवा 'लए लाइ अंगुरी नंदरानी, सुंदर स्याम तमाल।' (३३२)।

अशोक (५१६) [सं० अशोकः] नवम-स्कन्ध में सीता का लंका की अशोक-वाटिका में रहने का प्रसंग है—'पुनि आयौ सीता जहं बैठी, बन असोक के माहिं।' (५१६)। अशोक की पत्तियाँ आम के पत्तों से मिलती-जुलती हैं किन्तु किनारे लहरदार सी होती हैं। आम के समान ही इसके पत्तों के भी बन्दनवार शुभ अवसरों पर बनाने की प्रथा है। अशोक वृक्ष पर वैशाख में सुनहले रंग का बौर आता है तथा फल निबौरी के आकृति से मिलता है। कवि-प्रसिद्धि के अनुसार किसी रूपवती स्त्री के पादाघात से अशोक पुष्पित होता है।[३] पूजा के निमित्त 'पंचपल्लवों' में पीपल, बरगद, अशोक, गूलर तथा आम्र वृक्षों के पत्ते रक्खे जाते हैं।

कदम, कदंब (१७०६ १०८८,१४१७) [सं०] यमुना तट की लीलाओं में कदम्ब वृक्ष का महत्त्वपूर्ण स्थान है—'आपु चढ़े कदम पर धाइ....कूदि परे दह में भहराइ।' (११५७) अथवा 'आपु देखत कदम पर चढ़ि' (१४०१) और 'लै सब चीर कदम चढ़ि बैठे, हम जल मांझ उघारी।' (१४०६) तथा 'आपुन बैठ्यो कदम-डारि चढ़ि, गारी दै दै सबनि बुलावै।' (२०५१)। कालिय-दमन, चीरहरण तथा पनघट लीलाओं आदि महत्त्वपूर्ण प्रसंगों में कृष्ण का प्रिय वृक्ष कदम्ब ही ज्ञात होता है। कदम्ब के फूल का नाम नीप[४] [सं० नीपः] भी है—'अति बिस्तार नीप तरु तामैं, लै लै, जहाँ तहाँ लटकाए '(१४०२) हिंडोला शीर्षक पदों में भी इस शब्द का उल्लेख है—'नीप-छाँहँ जमुन तीर' (३४४७)। कदम्ब का फूल हल्के पीले रंग का बालदार सा होता है जो सावन भादों में आता है।

१—कृ० जी०, पृ० १२, अध्या० १३।
२—आईने अ०, पृ० १=३।
३—कालिदास, उत्तरमेघ, श्लो० १५ टीका मल्लिनाथ 'पादाघातादशोकः'।
४—वही, श्लो० २, 'चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं।
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्।'

अबुलफ़ज़ल ने इसे 'तुमाग़ा' (शाही टोपी) की आकृति वाला बताया है।[१] प्राचीन समय में इसके फलों से 'कादम्बरी' नामक मदिरा बनाते थे।

४—फलों के वृक्ष

३३४—इन वृक्षों के नाम विनय-पदों के अतिरिक्त खाद्य पदार्थों की सूचक शब्दावली में भी मिल जाते हैं जिनकी चर्चा की जा चुकी है। कुछ उल्लेखनीय नाम यह हैं—

आम, अंब, अंबुआ (१५४२, १७०९, विनय)[२] [सं० आम्रः] तथा **रसाल** (१५४२) [सं०] 'नीम लगाइ आम को खावै" (१५४२)।

कदली (१७०६, २७३०, १७४३) [सं०] यमुना-तट के वृक्षों में तो कदली वृक्ष का उल्लेख है ही 'कदली-ओट, निचोरत अंचल, अधर सुधा-रस भीनौ" (१७४३), इसके अतिरिक्त रूप-वर्णन में पैरों का उपमान भी है[३]—'द्वै कदलि खंभ बिनु पात' (२७३०)। फलों के प्रसंग में भी कदली के संबंध में बताया गया है। **रंभा** (२३७३ २४०९) [सं०] कदली का ही पर्याय है—'जानु जंघ सुघटनि करभा, नहीं रंभा-तूल।' (२३७३) तथा 'जुगल जंघ मरकत-मनि-रंभा' (२४०९)। 'कदली कंटक, साधु असाधुहिं, केहरि कै संग धेनु बंधाने।' (२१७)—यह असमानता कवि तथा आराध्य केशव मे है। 'कदली दल सी पीठि मनोहर' (४०२२) भी कहा गया है।

बदरी (१७०९) [सं० बदरं] 'कहि घौं री कुमुदिनि, कदली कछु, कहि बदरी करबीर।' गोपिकाएँ वृक्ष वृक्ष से अपने मोहन का पता पूछती फिरती हैं। राम-कथा मे शबरी के जूठे बेर खाने का प्रसंग है जो भक्त के प्रति उनके अटूट स्नेह का उदाहरण है। बदरी को अब बेर [सं० बदर—बअर—बइर—बेर] कहते है। इसके कँटीले वृक्ष पर मीठे या खटमिट्ठे छोटे-छोटे फल लगते हैं। जंगली बेर की झाड़ें भी दिखाई देती है। 'बेरिया सातें' (माघ शुक्ला सप्तमी) को स्त्रियाँ बेर की पूजा करती है। अलीगढ़ क्षेत्र में कहीं कहीं भैयादूज के दिन ओखली में पूरी के ऊपर बेर के पत्ते रखकर उल्टे धनकुटे से स्त्रियाँ धान कूटती हैं तथा एक गाना गाती है।[४]

गूलर (१११०) [सं० उदुम्बरः] ब्रह्मा-वत्स-हरण प्रसंग मे ब्रह्मा-स्तुति के सिलसिले में उल्लेख है—'मै ब्रह्मा इक लोक को, ज्यौ गूलर-फल-जीव।' (१११०)। यह जंगली पेड़ है। पकने पर इसके फल मे भुनगे पड़ जाते हैं— (धान को गाँव पयार तैं जानौ, ज्ञान विषय रस भोरे। सूर सु बहुत कहे न रहै रस, गूलर कौ फल फोरे।" (४११८)। इसके कच्चे फल की तरकारी बनती है। **जंबू** (४५३९) [सं० जम्बू] भ्रमरगीत में योग-संबंधी चर्चा करते हुए गोपियाँ कहती हैं—'उलटौइ ज्ञान सकल उपदेसत, सुनि-सुनि हृदै जरै। अंबू बृच्छ कहौ क्यों लंपट, फल बर अंब फरै। (४५३९)। जामुन के वृक्ष की उंचाई आम्र-वृक्ष के समान होती है तथा गरमी बरसात मे बैंगनी रंग का फल आता है। जामुन का फल लाभ की दृष्टि से भी महत्त्व रखता है। इसको आज कल 'जामुन' या 'फलेंदा' कहते हैं।

१—आईने अ०, पृ० १८३।

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० २१६, पाणिनि के समय में प्रमुख फल आम्र, बिल्व, जम्बू, हरीतकी, द्राक्षा (लता) तथा प्लक्ष थे।

३—कालिदास, उत्तरमेघ, श्लो० ३३ 'यास्यत्यूरु सरसकदली स्तम्भगौरश्चलत्वम्।'

४—कु० जी०, पृ० १२, अध्या० १३।

५. अन्य वृक्षों के नाम

३३५. कुछ अन्य उल्लेखनीय वृक्षों के नाम यह हैं—

सेमर (१००, १०२) [सं० शाल्मलिः] का उल्लेख विनय-पदों में तोते के क्षणिक भ्रम के सिलसिले में हुआ है। फल के लाल रंग को देखकर वह आकर्षित होता है किन्तु रुई निकलने पर निराशा ही हाथ आती है। सांसारिक मिथ्या आकर्षणों को बताने का कवि ने बार बार प्रयत्न किया है। प्रथम-स्कन्ध में ही **तूल** (१०२) [सं० तूलं = रुई, तूला = रुई का पौधा] का उल्लेख भी हुआ है—'उड़ि गयौ तूल, तांवरौ पायौ।' (३२६)। इनके बारे में पहले भी ज़िक्र किया जा चुका है।

आक-रुई—(२५७३) [सं० अर्कः—आक] आक का पौधा छोटा सा होता है। फूल सफ़ेद रंग का होता है तथा पत्ता तोड़ने पर दूध सा निकलता है। इसके फल से ही रूई निकलती है। अकौआ-छठ (सावनसुदी छठ) के दिन स्त्रियाँ इसकी पूजा करती हैं।[१] अपने कृष्ण प्रेम के संबंध में गोपियाँ कहती हैं—'हरि दरसन की साध मुई। उड़ियै उड़ी नैननि संग, फर फूटे ज्यौं आक-रुई।' (२५७३)। इसका दूसरा नाम मदार है।

धतूरा (४६१) [सं० धुस्तुरः, धूस्तूरः] एक विषैला पौधा है—'सूरदास प्रभु दरसन कारन, मानौं फिरहिं धतूरा खाये।' इसके फूल का रंग काला तथा फल गोल होता है।

नीम—(१५४२) [सं० निंब] नीम के पत्ते व फल 'निबौरी'[२] (४२८२) [सं० निम्बकर्पदिका] अत्यन्त कड़वे होते हैं— 'नीम लगाइ आम को खावै।' (१५४२)। अथवा 'दास छांड़ि कै कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै।' यौं नीम का औषधि रूप में प्रयोग होता है और विशेषतः खाल की कुछ बीमारियों मे बहुत ही लाभप्रद है। इसकी डंडी की 'दातौन' बनती है। नीम को कुछ लोग 'नीब' भी कहते हैं। मीठी पत्ती वाली नीम भी होती है।

बट (१७०६, १०८५, १७६१) [सं० वटः] यमुना तट के वृक्षों में वटवृक्ष का उल्लेख है। छाक खाने के लिए गोपाल सखाओं के साथ वट वृक्ष की छाया ही पसन्द करते हैं—'ग्वाल मंडली मैं बैठे मोहन बट की छाई' (१०८५)। तट पर रास का वर्णन भी है—'बंसी बट-तट रास रच्यो है, सब गोपिन सुखकारी।' (१७६१)। बट-वृक्ष सबसे अधिक विशालकाय होता है। इसकी शाखाओं की लटें ज़मीन मे घुस जाती हैं। गरमी की लू तथा धूप से वट की छाया पथिकों की रक्षा करती है। बट वृक्ष की आयु बहुत होती है। वर्तमान समय का अधिक प्रचलित नाम 'बरगद' है। ज्येष्ठ की अमावस्या (बरमावस) को बट वृक्ष की पूजा होती है।[३]

३३६. **बबुर** (६१) [सं० बर्बुरः] कृत्य के अनुकूल उसका फल बताने के लिए कवि ने कई बार कहा है—'बोवत बबुर, दाख फल चाहत, जोवत है फल लागे।' (६१)। इसका फल पीला सा होता है। यह वृक्ष कँटीला होता है। गांवों मे विश्वास है कि 'तिजारी' अथवा 'चौथइया' बुखार बबूल के गले अटोक मिलने से उतर जाता है।[४] बबूल तथा आम

१—कृ० जी०, श०, प्र० १२, अध्या० १३।

२—प० सं० टी०, १८७।७ 'काहूँ हाथ परी निंबकौरी।'

३—कृ० जी, प्र० १२, अध्या० १३।

४—कृ० जी०, पृ० १२, अध्या० १३।

की भी तुलना मध्यकालीन कवियों को प्रिय थी—'उधौ धनि तुम्हरौ ब्योहार ।....काटहु अंब बबूर लगावहु, चंदन की करि बारि ।' (४५२७) ।

चंदन (४६४) [सं० चंदनः] महाराज दशरथ की चिता में चंदन की लकड़ी जलाने का निर्देश है । इसके अतिरिक्त चंदन के तिलक व लेपन आदि का भी उल्लेख हुआ है । इस संबंध में पहले बताया जा चुका है ।

बाँस(१८६४, १६५१) [सं० वंश] मुरली-पदों में बाँस से बनी मुरली का वर्णन है । बाँस के पेड़ झुंड में उगते हैं तथा यह जंगली वृक्ष है । बाँसों के झुंड को 'बाँसी' कहा जाता है । किसी-किसी बाँस में एक सफ़ेद डली सी निकलती है जो 'बंसलोचन' के नाम से प्रसिद्ध है । इसके संबंध में विश्वास है कि स्वाति नक्षत्र की बूँद से बनता है । सूखा बाँस अनेक रूप में उपयोग में आता है ।

ताल (१११७) [सं० तालः] यमुना-तट के वृक्षों में ताल का नाम भी मिलता है । यह नारियल के वृक्ष से मिलता जुलता है । इसको 'ताड़' भी कहते हैं तथा इसके फल से 'ताड़ी' नामक शराब बनती है । आईने अकबरी में इसे 'तरकुल' भी कहा गया है ।[1]

मालूर (१३८४) शिव-पूजा के लिए ब्रज की स्त्रियाँ फूल ले जाती हैं—'कमल पुहुप मालूर-पत्र-फल नाना सुमन सुबास ।' (स३८४) । पद्मावत में 'कुसुम', 'गुलाल', 'सुदरसन' 'कूजा' तथा 'सदाफल' से शिव पूजन करने का निर्देश है ।[2]

६. झाड़, लता आदि

३३७. करील (परि० १६२) [सं० करीरः] करील की झाड़ियाँ ब्रजभूमि की विशेषता हैं । गोपिकाएँ उद्धव से कहती हैं —'ते करील फल क्यों चाखत हैं, जिन चाखी रस दाखी ।' अथवा विनय पदों में कवि स्वयं कहता है 'जिहिं मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ, क्यों करील फल भावै ।' (१६८) । इसमें पत्ते नहीं आते हैं । अलीगढ़ क्षेत्र में तहसील मांट तथा हाथरस में करील अधिक है । यह ब्रज का ही क्षेत्र है । 'टेंटी' फल के सिलसिले में इसका उल्लेख पहले भी हो चुका है ।

कांस, कास (परि० २००) [सं० काशः, काशं] यह झुंडदार घास है जो तीन चार हाथ उँची होती है । क्वार में सफ़ेद बाल से आते हैं जिसे 'कास फूलना' कहते हैं[3], 'जब कुआँर फूलहिंगे कास ।' (परि० २००) । कास छत छाने के काम भी आती है ।

सर (६६१८)[4] [सं० शर] **सरकंडे** [सं० शरकांड] से लेखनी बनाने का निर्देश है—'कागद गरे मेघ मसि खूटी, सर दव लागि जरे ।' । इसके पत्तों से छप्पर भी छाये

१—आईने अ०, पृ० १५० ।

२—प० सं० टी, ३७७।४, 'हौं सो बसंत करौं निति पूजा । कुसुम गुलाल सुदरसन कूजा ।'

३—मानस, किष्किन्धाकांड, १६, 'फूले कास सकल महि छाई । जनु बरषा कृत प्रकट बुढ़ाई ।'

४—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० २१४, २१५ पाणिनि ने घासों में शर, काश कुश, मुंज, शाद, वेतस तथा कतृन नाम बताए हैं । गणों में वीरण, बल्बज, दर्भ तथा सूतीक नाम भी मिलते हैं ।

जाते हैं।[१]

कुस (१२१४) [सं० कुशः।] यह एक पवित्र तृण विशेष है। दावानल-पान-लीला में वन जलने का वर्णन है—'बरत बन-बांस, थरहरत कुस कांस, जरि, उड़त है मांस, अति प्रबल धायौ।' (१२१४) अथवा 'लटकि जात जरि जरि द्रुम बेली, पटकत बाँस, कांस, कुस ताल।' (१२१२)। कुश के आसन के संबंध में पहले भी जिक्र किया जा चुका है।[२] इसकी ही एक क़िस्म दर्भ से श्राद्ध में पितरों का तर्पण किया जाता है।

जवास्यौ (परि० १६३) [सं० यवासकः] 'सूर करभ कौ खीर परोस्यौ, फिरि फिरि चरत जवास्यौ।'। जवासा छोटा सा कँटीला पौधा होता है जो गरमी में तो हरा-भरा रहता है किन्तु वर्षा में मुरझा जाता है। इस पर सफ़ेद कलियाँ और लाल फूल आते हैं।

गुंजा (स्क० १) [सं०] या घुँघुचनि (विनय) [सं० गुंजा] का उल्लेख कृष्ण के खिलौनों तथा बंदर का आग समझ कर फूकने के सिलसिले में किया गया है।

तुलसी (१७०६,१७१) यह एक सुगंधियुक्त पत्ती वाला पवित्र पौधा है। इसके फूल को 'मंजरी' कहते हैं। यह पौधा पवित्र माना जाता है और अक्सर स्त्रियाँ जल चढ़ाती हैं। घर की तथा 'बन तुलसी' दो प्रकार की तुलसी होती है। पंचामृत में तुलसी की पत्ती डाली जाती है। 'भाल तिलक, स्रवननि तुलसीदल, मेट अंक बिये।'— (१७१) में साधु का चित्रण है।

संजीवन (५६३) [सं० संजीवनः] नवम-स्कन्ध में हनुमान लक्ष्मण के अचेत होने पर इसकी जड़ ले जाते हैं—'दौनागिरि पर आहि संजीवनि, बैद सुषेन बताई।' (५६३) अथवा 'दौनागिरि हनुमान सिधायौ। संजीवनि कौ भेद न पायौ तब सब सैल उठायौ।' (५६४)। यह कोई औषधिक जड़ी बूटी ज्ञात होती है।[३]

लताओं[४] में लवंग लता (३५३५ [सं० लवंगं, लवंगः] का उल्लेख किया गया है—'फूले चंपक चमेलि, फूलि लवंग लता बेलि, सरस रसही फूल डाल। फूली निवारी एलि, मौगरौ सेवति सुबेल, संतनि हित फूल डाल।' (३५३५)। बिम्ब (१२७७) [सं०] की उपमा प्रायः अधरों से दी गई है[५]—'उडुपति बिद्रुम, बिंब खिसाने, दामिनि अधिक डरी।' (१२७७)। तरकारियों में भी 'कुनरू' (१८३१) या बिम्ब का उल्लेख किया जा चुका है। इसकी लता पर परवल की तरह का हरा फल लगता है जो पकने पर लाल हो जाता है।

७—कल्पित पौराणिक वृक्ष

३३८—इस शब्दावली में दो नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—कल्पबृच्छ (१६४) [सं०] अथवा कल्पतरोवर (१६५६) तथा पारिजातक (४२५, परि०

१—हर्ष० सां० पृ० १८२, वन-ग्राम के घरों की दीवारें वेणुपोट (फटे बांस), नलशालि (नरकुल) तथा शरकांड से बनाई गई थीं।

२—मानस, अयोध्या०, १६६, 'कुस सांथरी निहारि सुहाई।'

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० २१५, औषधिक फल मूल में 'त्रिफला', तथा 'अमूला' प्रचलित थे। पतंजलि ने 'ब्राह्मी' का उल्लेख किया है।

४—प० सं० टी०, १०६।१ 'बिब सुरंग लाजि बन फरे।'

कालिदास, उत्तरमेघ, श्लो० १६, 'तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बा-धरोष्ठी।'

१०६)। कल्पवृक्ष स्वर्ग का वृक्ष विशेष है। प्रत्येक इच्छित वस्तु इसके द्वारा प्राप्त की जा सकती है।[१] सुदामा को कृष्ण ने कामधेनु के अतिरिक्त कल्पवृक्ष भी दिया था—'कामधेनु, चिंतामनि, दीन्हौं कल्पबृच्छ तर छाँह' (१६४)। कृष्ण ने रासलीला कल्पवृक्ष की छाया में ही की थी—'कल्पतरोवर तर बंसीबट, राधा रति गृह धाम। तहाँ रास-रस-रंग उपायौ, संग सोभित ब्रज-बाम ॥' (१६५६) तथा 'सरद निसि अति नवल उज्ज्वल, नवलता बन धाम परम निर्मल पुलिन जमुना, कल्पतरु बिस्राम।' दशम-स्कंध में भौमासुर वध तथा कल्प-वृक्ष-आनयन (४८१२) प्रसंग भी है।

हिंडोला संबंधी पद (परि० १०६) में झूले की डंडी पारिजातक की बताई गई है—'डांडि बनई पारिजातक कनक-पटुली बानि।' तथा कल्पद्रुम के खंभ वर्णित हैं—'कल्पद्रुम के खंभ रोपे, मलयगिरि की पाटि।' पारिजात को हरसिंगार भी कहते हैं। पद्मावत तथा आईने-अकबरी में 'सिंगारहार' नाम मिलता है।[२] समुद्र-मंथन से प्राप्त चौदह बहुमूल्य रत्नों मे पारिजातक भी था जो इन्द्र को मिला था—'अप्सरा, पारिजातक, धनुष, अस्व, गज स्वेत, ये पाँच सुरपतिहिं दीन्हें।' (४३५)।

३—कालिदास, उत्तर-मेघ, श्लो० ११,....मेक : सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः।'

६—प० सं० टी० ३७७।३ 'औ सिंगारहार जस ताका।
पहुप [illegible]री अस हिरदै लागा।'

खण्ड ११

गृहस्थी की उपयोगी वस्तुएँ

१—साधारण पात्रों के नाम

३३९. सूरसागर में बर्तनों से संबंधित शब्दावली विशेष रूप से दशमस्कन्ध के अन्तर्गत बाल-लीला, भोजन, माखनचोरी, दधिदान, होली आदि शीर्षक पदों में मिलती है। इन नामों से सूरकालीन दिन प्रतिदिन के साधारण जीवन में उपयोगी प्रादेशिक पात्रों के सम्बन्ध में पता चलता है। साथ ही प्रायः सभी पात्र कनक तथा मणिजटित वर्णित होने के कारण राजसी वैभव के सूचक भी हैं।

बर्तन के साधारण अर्थ में कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं[1]—**बासन** (७०७), **पात्र** (३६३) [सं० पात्रं], **भाजन** (७६९) तथा **भांड** (९३६) [सं० भांडं]—'आजु कान्ह करिहैं अनप्रासन। मनि कंचन के थार भराए, भाँति भाँति के बासन' (७०७) अथवा 'भरि भाजन मनि खंड निकट धरि, नेति लई कर जाइ। (७९६), तथा 'फोरि भांड दधि माखन खायौ' (९३६)। द्वितीय-स्कन्ध में भक्ति-पंथ के संबंध में बताते हुए कवि कहता है - 'पात्र-स्थान हाथ हरि दीन्हे। बसन-काज बल्कल प्रभु कीन्हे।' (३६३)। अलीगढ़ क्षेत्र की बोली मे सूप, चलनी, चकला आदि गृहस्थी में उपयोगी वस्तुओं को सामूहिक रूप से **सौंज** (१३०, ६१३, १४२७) कहते हैं—'याहू सौंज संचि नहिं राखी, अपनी धरनि धरी' (१३०)।[2] दीपमालिका प्रसंग में 'झलमल दीप समीप सौंज भरि लेकर कंचन थालिका' (१४२७) वर्णन है। प्रायः मिट्टी के हर प्रकार के बर्तनों को ही बासन या भांडा कहते है।[3] अलीगढ क्षेत्र मे बोलने में साधारणतया 'बर्तन भांडें' अथवा 'बासन कूसन' धातु तथा मिट्टी के बर्तनों को कहते हैं।[4] नगरों मे 'बर्तन' शब्द अधिक प्रचलित है।

३४०. कुछ पात्र पानी, दूध, दही आदि रखने के काम में ही अधिकांश रूप से आते हैं जैसे—

झारी (१६०२, ८०१) छोटी गर्दन का मिट्टी का पात्र है। इसी को झझ्झर कहते हैं।[5] भोजन शीर्षक पदों में यमुना-जल पीने के लिए झारी में रखने का उल्लेख है—'जमुना जल राख्यौ भरि' (१०१४) अथवा 'भरि झारी जसुमति ल्याई' (८०१)। नंद तथा वरुण कथा में भी नंद का झारी में यमुना जल भरने का वर्णन मिलता है—'झारी भरि जमुना जल लीन्हौ' अथवा 'लै धोती झारी बिधि कर्मट' (१६०२)। बाण ने संभवतः झारी के लिए

१—**इंडिया एज नोन टु पाणिनि' पृ० २४६, पाणिनि ने 'अमत्र' तथा 'कौलालक' (utensils and pottery) शब्द प्रयुक्त किए हैं।**

२—**कृ० जी, पृ० ९, अध्या० ७।**

३—**कृ० जी०, पृ० १०, अध्या० ९।**

४—**प० सं० टी०, ४२।४ 'का निचित मांटी का भांडा।'**

५—**बर्नियर, ३४३, लाल कपड़ा चढ़ा हुआ टीन का पानी का पात्र 'सुराई' कहलाता था। कपड़ा भिगो देने से पानी ठंडा हो जाता था। बाहर तथा लड़ाई के मैदानों आदि में इसका प्रयोग होता था। किन्तु घरों में मिट्टी के पात्र काम में आते थे। यह भी भीगे कपड़े से ढके रहते थे।**

ही संस्कृत शब्द 'आचामरुक' प्रयुक्त किया है।[1] कुछ स्थलों में 'कनक झारी' का उल्लेख भी है—'सीतल जल कपूर रस रचयौ, झारी कनक लिए अंचवावति' (११३२)।

गागरि, गगरी (२०१७) [सं० गर्गरी-गग्गरी-गगरी] विशेष रूप से पनघट-लीला में गगरी का अनेक पदों में उल्लेख है—'काहू की गगरी ढरकावैं। काहू की इंडुरी फटकावैं। काहू की गागरि धरि फोरैं। काहू के चित चितवत चोरैं। (२०१७) अथवा 'जल हलोरि गागरि भरि नागरि, जबहीं सीस उठायौ। घर कौं चली जाइ ता पाछैं, सिर तें घट ढरकायौ।' (२०२३) होली में खेलने के लिए गागर में रंग भरने का उल्लेख है—'एक लिए सिर सौंधे गागरि।' (२५१०)। यह भी मिट्टी अथवा धातु की होती है—'फोरी सब मटुकी अरु गगरी।' कृष्ण का माँ को समझाने का ढंग चित्ताकर्षक है—'कदम-तीर तें मोहि बुलायौ, गढ़ि गढ़ि बातें बानति। मटकत गिरी गागरी सिर तैं, अब ऐसी बुधि ठानत।' (२०४६)। घट (३४२, २०२४) गगरी का ही दूसरा नाम घट भी है जिसे आजकल अधिकतर 'घड़ा' कहा जाता है। पनघट-लीला में ही घट का उल्लेख है—'घट मेरौ जबहीं भरि दैहौ, लकुटी तबहीं दैहौं' (२०२३), 'घट भरि दियौ स्याम उठाइ।' (२०२५) अथवा 'सखियनि बीच भर्यौ घट सिर पर, तापर नैन चलावै। डुलत ग्रीव, लटकति नक-बेसरि मंद मंद गति आवै' (२०५६) आदि पद्यांशों में पानी भरने और सिर पर गागर रखकर चलने का भी स्वाभाविक चित्रण हुआ है। 'मंद मंद गति चलत अधिक छबि अंचल रह्यौ कहरि कै' (२०५५), 'ग्वारि घट भरि चली झमकाइ' भी ऐसे ही चित्र हैं। घड़ा कंचन का भी बताया गया है—'चंदन अगर कुमकुमा केसरि, बहु कंचन घट फोरि' (३५२५)। प्रारंभिक विनय-पदों में एक स्थल पर मनुष्य जीवन के संबंध में यह उक्ति प्रयुक्त हुई है—'आयु भग्न-घट-जल ज्यौं छीजै' (३४२)। होली में भी रंग से भरे घट थे—'धूरि धातु रंग घट भरे, हरि होरी है।' (३५३२)।

पनघट-लीला प्रसंग कृष्ण-गोपी-राधा प्रेम के संयोग पदों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। कृष्ण की शैतानी से वह ऊपर ही ऊपर झुंझलाती हैं, उलाहना लेकर यशोदा के पास जाती हैं किन्तु उनका अन्तर्मन प्रफुल्लित हो उठता है—'यह लीला सब स्याम करत हैं, ब्रज-जुबतिनि कैं हेत। सूर भजैं जिहिं भाव कृष्ण कौं, ताकौं सोइ फल देत।' (२०५०) अथवा 'राधा सखिनि लई बुलाइ। चलौ जमुना-जलहिं जैयै, चलीं सब सुख पाइ॥ सबनि इक इक कलस लीन्हौ, तुरत पहुँची जाइ। तहाँ देख्यौ स्याम सुन्दर, कुंवरि मन हरषाइ।' (२०५४) तथा 'मोहन बिन मन न रहै, कहा करौं माई (री)' (२०६२)।

पानी भरने का स्थान पनिघट (२०७०), पनघट (२०५७) कहलाता है—'गागरि नागरि लै पनघट तैं, चली घरहिं कौं आवै। ग्रीवा डोलति, लोचन लोलति, हरि के चितहिं चुरावै। ठठकति चलै, मटकि मुख मोरै, बंकहिं भौंह चलावै।' (२०५७)। घाट (३८०६) शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।[2] ग्वालिनों का यमुना तट पर जल भरने जाने का ही वर्णन है—'सुनहु सखी री वा जमुना तट। हौं जल भरति अकेली पनिघट, गही स्याम मेरी

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० ८५ राज्यश्री के विवाह के समय वासगृह में एक कोने में कंचन 'आचामरुक' रक्खा हुआ था। पलंग के सिरहने पानी से भरा 'निद्राकलश' था। उस समय 'निद्राकलश' की प्रथा थी। 'कादम्बरी' में गंधर्वलोक में चन्द्रापीड़ के शयन-कक्ष में भी इसके रखे जाने का उल्लेख है।

२—प० सं० टी०, ५६।१५, 'पनघट घाट ढंग जित हो हीं।'

लट ।।' यमुना के जिस घाट से यह पानी भरती होंगी वही पनघट हुआ । राजस्थान में पनघट से लौटती हुई, सिर पर कई कई घड़े रक्खे और रंगबिरंगे लहँगों तथा दुपट्टों से सुसज्जित स्त्रियों का दृश्य आज भी देखने को मिलता है ।

कलस (६१०, ६५०, २०५४) [सं० कलशः, कलसी, कलसः] पनघट-लीला के अतिरिक्त 'कलस' का उल्लेख 'मंगल-कलस' के रूप में है तथा होली-प्रसंग में रंग से भरे कलश का भी वर्णन है । राम के अयोध्या लौटने पर अयोध्यावासी उनका स्वागत करते हैं—'प्रति प्रति गृह तोरन ध्वजा धूप । सजे **सजल-कलस** अरु कदलि-यूप' (६१०) । कृष्ण-जन्म पर भी अन्य मंगल-सामग्रियों के साथ रत्नजटित स्वर्ण-कलशों का वर्णन है[१]—'कंचन-कलस जगमगैं नग के । भागे सकल अमंगल जग के ।' (६५०) अथवा 'आई **मंगल-कलस** साजि कै' (६४५) ।[२] 'सजल कलस' देखना आज भी शुभ माना जाता है । विवाह में 'द्वाराचार' के समय दो स्त्रियों के जल से पूर्ण कलस लेकर खड़े होने की प्रथा आज तक चल रही है । विवाहोपरान्त द्वारिका में कृष्ण-रुक्मिणी का स्वागत भी इसी प्रकार होता है—'बाँधहु बंदन-वार मनोहर, कनक कलस भरि नीर धरावहु ।' (४८०३) । कलश प्रायः पीतल, कांसा आदि धातुओं के बनाये जाते हैं । ऊपर के पद्यांश में श्रीमन्तों के योग्य सोने के रत्नजटित कलश का वर्णन हैं ।

फाग शीर्षक पदों में रंग से भरे कलसों का वर्णन है—'कनक कलस कुमकुम भरि लीन्हौ कस्तूरी तामैं घसि घोरी ।' (३५२६) । होली प्रसंग में बारुणी से भरे हुए कलस की चर्चा भी है—'कोटि कलस भरि बारुनि' (३५२७) । आजकल भी 'कलसा' या 'कलसी' शब्द बोले जाते हैं । पद्मावत में 'वारि' छोटे कलश का सूचक है ।[३]

२४१. **माट मटुकिया** (६४६, २१४८, ३५२०, २१३०) मटुकिया मिट्टी के घड़े से मिलता जुलता किन्तु छोटा पात्र है किन्तु माट खूब बड़ा होता है । इसके किनारे गोल किन्तु मुड़े हुए रहते हैं । माखन चोरी तथा दधिदान प्रसंग में अनेक बार इसका उल्लेख हुआ है जिससे पता चलता है, कि दूध दही तथा घी इसमें ही रखने की प्रथा थी—'मटुकी कैं ढिग बैठि रहे हरि, करैं आपनी घात ।' (८६६), 'हेरि मथानी धरी माट तैं, माखन हौ उतरात' (८८८), अथवा 'सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि दधि के माट भूमि ढरकाए ।' (२१३०) तथा 'यह सुनि स्याम सबनि कर तैं दधि मटुकी लई छड़ाइ ।' (२१४२) । पुराना माट जो दूध, दही या घी से चिकना हो जाता है उसको आज भी स्त्रियाँ सँभाल कर रखती हैं—'बड़ौ माट इक बहुत दिननि कौ आहि करयौ दसं टूक ।' (६३५) । अलीगढ़ क्षेत्र में दही बिलोने वाले पात्र को 'बिलोमनी', 'चलामनी' अथवा 'दहेड़ी' कहते हैं ।[४]

१—हर्ष सां० अ०, ७२, राज्यश्री के विवाह के समय कुछ स्त्रियाँ सफ़ेदी किये हुए कलस तथा सरइयों पर चित्र बना रही थीं । इस प्रकार चित्रित कलश आज भी विवाह-वेदी के पास रक्खे जाते हैं । पछांह में ऐसे घड़ों में छाक का सामान भेजते हैं तथा यह 'छाकभांड' कहलाते हैं । सात सरैया मंडप में लटकाने की भी कहीं कहीं प्रथा है । पृ० ३६, ऐपन से पंचांगुल की थाप लगे तथा फूल माला तथा आम्र पल्लव से अलंकृत 'पूर्णकलश' का वर्णन है ।

२—मानस, बाल०' ३४४। 'बिबिध भाँति मंगल कलस गृह गृह रचे सँवारि ।' प० सं० टी०, २८५।५ 'कंचन कलस नीर भरि धरा ।'

३—प० सं० टी०, ५८६।१, 'पुनि ले रोग वारि मुख धोई ।'

४—कृ० जी०, प्र० ६, अध्या० ६ ।

मटुकी और माट सामान्यतः मिट्टी के ही बनते हैं किन्तु कृष्ण-जन्मोत्सव प्रसंग में सोने के माट का उल्लेख भी है—'कनक को माट लाइ, हरद दही मिलाइ, छिरकैं परस्पर छल बल धाइ कै' (६४६)। होली प्रसंग में भी साधारण तथा सोने के माट का परिचय मिलता है—'उतहिं माट कंचन रंग भरि-भरि, लै आई जिय जोरि' (३५१६) अथवा ' नव केसरि के माट उलैड़ें' (३५२०) तथा 'कंचन मांट भराइ कै, रंग होरी। सौधैं भर्यौ कमोर, लाल रंग होरी' (३४८४)।

कमोरी (८८३, ८८८, ६०२) यह भी दूध दही रखने का मिट्टी का पात्र है तथा मटुकी का समानार्थक है। अतएव माखन-चोरी शीर्षक अनेक पदों में इसका भी निर्देश हुआ है—'ठाढ़ी भई मथनियाँ कैं ढिग, रीती परी कमोरी।' (६०३) 'नित प्रति रीती देखि कमोरी मोहिं अति लगत भुंभायौ' (६०६) अथवा 'आपुन गई कमोरी मांगन, हरि पाई ह्यां घात।' (८८८)। फाग-वर्णन में भी 'केसर भरी कमोरी' का उल्लेख है।

दोहनी (१०१६, २०२७) [सं० दोहनी] जिस पात्र में दूध दुहते हैं उसे दोहनी कहा जाता है। अतएव गौ-दोहन शीर्षक पदों में दोहनी की चर्चा होना स्वाभाविक ही है—'कैसैं गहत दोहनी घुटुवनि कैसैं बछरा थन लै लावहु' (१०१६)। कृष्ण की दोहनी भी 'कनक' की बताने का प्रलोभन कवि रोक नहीं सका है—'तनक कनक की दोहनी, दै दै री मैया। तात दुहन सीखन कह्यौ, मोहिं धौरी गैया' (१०२७)। अलीगढ़ क्षेत्र की ग्रामीण बोली मे 'धौनी' [दोहनी] शब्द आज भी चल रहा है।[1]

३४२. चुरू (८०१) [सं० चुलुकः] भोजन संबंधी पदों में मुख प्रक्षालन का जल चुरू में रखने का निर्देश है—'हँसि जननी चुरू भराए। तब कछु कछु मुख पखराए' (८०१)। यह पानी रखने का एक छोटा बर्तन है।

कुण्डी (४६६) [सं० कुंडिका—कुंडिआ—कुंडी—कूंड़ी] यह एक कटोरे की तरह का पात्र है। नवम स्कन्ध में राम-सीता-विवाह के समय कंकण-मोचन के अवसर पर सोने की कुंडी जल से भर कर रखने का निर्देश है—'पूंगीफल-जुत जल निरमल धरि, आनी भरि कुंडी जो कनक की।'

कुंड (४०५) [सं० कुंड] कूंडा या कुंड भी नाद की तरह का पात्र होता है। यज्ञ के निमित्त बनाया गया यज्ञ-कुंड इसी प्रकार का विशेष पात्र है। भृगु-अवतार में यज्ञ-कुंड से 'पुरुष' के निकलने की कथा है।

कमंडली, कमंडल[2] (११०२) [सं० कमंडलुः] यह पानी पीने का एक विशेष प्रकार का गिलास होता है। यह लकड़ी, मिट्टी या धातु का बनता है। अब समान्यतः साधु सन्यासियों के पास इस प्रकार का जलपात्र रहता है। सूरसागर में ब्रह्मा-वत्स-हरण में कमंडली ब्रह्मा का उल्लेख है—'देखि गोप-मंडली कमंडली चितै रह्यौ' (११०२)। सुदामा का कमंडल काठ का बना हुआ बताया गया है—'हुतौ कमंडल दृढ़ काठी को' (४८५७)।

१—कृ० जी०, पृ० १०, अध्याय ६।

२—हर्ष० सां० अ०, (चित्र ५) गोकर्णेश्वर टीला मथुरा से प्राप्त बोधिसत्व की मूर्ति के हाथ में कमलमुकुल के सदृश कमंडलु है। देवगढ़ मंदिर के नरनारायण शिलापट्ट पर अंकित नारायण मूर्ति के हाथ में भी ऐसा कमंडलु है।

हर्ष० सां० अ०, पृ० १६० दिवाकर मित्र के आश्रम में भिक्षापात्र तथा चीवर वस्त्रों के साथ कमंडलु का उल्लेख भी है।

खरिका (१८३१) भोजन संबंधी इस पद में 'भर्यो बुरू खरिका लै आई' उल्लेख है।

२—भोजन करने के पात्र

३४३. थालिका, थार, थारी (१४२७, ७०७, ६४०) [सं० स्थालिका-प्रा० थल्लिया-थरिया], थार [सं० स्थाल] भोजन प्रारंभ करने के पहले सोने की थाली में हाथ धोने का उल्लेख है—'कनक थार मैं हाथ धुवाए'। खाने के थाल सोने, चाँदी के जड़ाऊ थे[१]—'थार कटोरा जरित रतन के। भरि सब, सालन बिबिध जतन के।' (१८३१) तथा 'तनक तनक धरि कंचन थारी'। थारी (२५६) में जूठन देने का वर्णन इन सभी पदों में है—'बोलि दई हंसि जूठनि थारी' (१८३१) अथवा 'मांगत कछु जूठनि थारी' (८०१)। अन्नप्राशन शीर्षक पद में भी मणि-कंचन के 'थार' का वर्णन है—'मनि कंचन के थार भराए, भाँति-भाँति के बासन' तथा 'कनक थार भरि खीर धरी लै, तापर मधु-घृत नाई' (७०७)। पूजा आदि की मांगलिक सामग्री भी कनक-थार में रक्खी जाती थी—'कनक थार भरि, दधि-रोचन लै बेगि चलौ मिलि गावत' (६४१) अथवा 'कंचन-थार-दूब-दधि रोचन, गावति चारु बधाई' (६४०) अथवा 'कर कंकन, कंचन-थार मंगल-साज लिए' (६४२)। राम के अयोध्या-पुनरागमन पर स्त्रियों ने मंगल थाल लेकर स्वागत किया—'दधि-दूब-हरद, फल-फूल-पान। कर कनक-थार तिय करतिं गान।' (६१०)। ऐसे थाल से आरती या तिलक भी किया जाता है—'दधि अच्छत रोचन धरि धारनि, हरषि स्याम सिर तिलक बनावतिं। (१५७६)' तथा 'कंचन-थार दूब-दधि रोचन, सजि तमोर लै आई।' (१५८५)।[२]

कोपर (६१३) बड़ी थाली या परात को कहते हैं—'दधि-फल-दूब-कनक कोपर भरि, साजत सौंज बिचित्र बनाई' (६१३)।[३]

सराव (३७१) [सं० शरावं, शरावः] इसका अर्थ प्याला या ढकनी है। हरि के विराट रूप की आरती संबंधी पद में पृथ्वी को सराव बताया गया है—'मही सराव सप्त सागर घृत, बाती सैल घनी' (३७१)।

बेला (१०१४) [फ़ा० बेला] बेला में कृष्ण के दूध पीने का निर्देश है—'बेला भरि हलधर कौ दीन्हो। पीवत पय अस्तुति बल कीन्हों।' (१०१४)। बड़े फैले हुए फूल या कांस के कटोरे को बेला कहते हैं। कुछ घरों में अभी तक बेला में दूध पीने की प्रथा चल रही है। इससे छोटा पात्र 'बिलिया' कहलाता है।

१—आईने अ०, पृ० ११८, सम्राट का भोजन सोने, चाँदी, पत्थर तथा मिट्टी के पात्रों में तैयार होता था। थालियों, प्यालों तथा कटोरियों में परोसने के बाद दस्तर-खान पर आता था।

१—मानस, बाल०, ३४६ 'कनक थार भरि मंगलन्हि'

३—मानस, बाल०, ३२४।२ 'कनक कलस मनि कोपर रूरे। सुचि सुंगध मंगल जल पूरे।'

प० सं० टी०, ५६४।५ 'पुनि लोटा कोंपर लै आई।'

कृ० जी०, प्र० १२, अध्या० १४ आज कल पूजा की झांकी में जल डालने की गहरी तांबें की कटोरी को भी 'कोपर' कहते हैं।

प० स० टी०, ५६२।२, 'कोइ लोटा कोंपर लै आई।'

(२) बुन्देलखंड में परात के अर्थ में ही यह शब्द आज भी चल रहा है।

कटोरी, कटोरा (१०१४, १८३१, ४४३३) [सं० करोटि, करोट, कटोर] यह पात्र दाल, तरकारी तथा घी आदि रखने के काम में आज भी आते हैं—'गायौं घृत भरि धरी कटोरी' (१०१४), 'भरि सब सालन बिबिध जतन से' (१८३१)। एक स्थल पर बाल में लगाने का तेल रखने का भी वर्णन है—'जे कच कनक कटोरा भरि-भरि मेलत तेल फुलैल ।' (४४३४)।

कचोरा[1] (१८३१) कटोरे का ही समानार्थक है, अतएव घी रखने का वर्णन है—'घिरत सुबास कचोरा नायौ ।'

अलीगढ़ क्षेत्र की बोली में बेले को 'छोला' भी कहते हैं। 'थरिया' शब्द भी गाँवों में चलता है। घड़े से छोटा बूरा रखने का पात्र वहाँ 'तौला' या 'खमड़ा' कहलाता है। सुराही का अन्य नाम 'कुंजो' भी है। इसके अतिरिक्त मटुकी या कमोरी को 'कछरी', 'चपटिया, 'हंड़िया' [सं० भांडिका] या 'हडुकी' भी कहते हैं तथा दूध जमाने का पात्र 'जमावनी' कहलाता है।'[2]

३—अन्य पात्र

३४४—**ढकनियाँ** (२२१८), [ढाकना हि०] दधि-दान अथवा माखनचोरी प्रसंग में दूध दही को ढाकने का भी वर्णन है—'सुभग ढकनियाँ ढाँकि बाँधि पट जतन राखि छीकें समुदायौ ।' (२२१८)। पात्रों को ढकने के काम आने वाली तश्तरी या रकाबी ही 'ढकनी' कहलाती है।

तष्टी[3] (१८३१) ज्यौंनार संबंधी पात्रों में यह भी है—'धरि तष्टी झारी जल ल्याई' (१८३१)। इसको ही संभवत: आज 'तश्तरी' या 'रक़ाबी' कहते हैं।

हठरी (१४२८) यह मकान से मिलता जुलता मिट्टी का खिलौना होता है। दीपावली की लक्ष्मी-पूजा तथा गोधन-पूजा मे 'हठरी' रखते हैं। बच्चे इनमें दिये जलाकर रखते है अथवा इन्हें खीलों से भरते हैं। सूरसागर में भी दीपमालिका के वर्णन में उल्लेख है—'सुरभी कान्ह जगाय खरिकहि बल मोहन बैठे हैं हठरी।' (१४२८)।

३४५. तुलसी की शब्दावली में कुछ ऐसे शब्दों की ओर ध्यान जाता है जो सूर सागर में नहीं मिलते है जैसे 'करछुली', 'सिल' तथा 'लोढ़ा' आदि।[4] पद्मावत में रत्नसेन-ज्यौनार तथा बादशाह-भोज वर्णन मे खाने के पात्रों की चर्चा है। रत्नसेन आदि का भोजन सोने की पत्तलों के ऊपर रखे हुए माणिक्य-जटित सुवर्ण थालों मे परोसा गया था। एक एक व्यक्ति के आगे सौ सौ जोड़ी कटोरियाँ रखी थी जो रत्नों से जड़ी हुई थी। इससे व्यंजनो के आधिक्य का अनुमान भी कराया गया है। यहाँ जायसी ने कुछ भिन्न नाम जैसे 'खोरा', 'खोरी' [प्रा० खोर, खोरय = कचुल्ला] तथा 'गड़ुअन्ह' [सं० गड्डुक = टोंटीदार लोटा] का उल्लेख किया है। दोनों के पात्रों में जो एक बड़ी समानता है वह है उनका सोने का तथा

१—प० सं० टी०, ५६४।१, 'अंब्रित बानी भरे कचोरा।'

२—कृ० जी०, पृ० १०, अध्या० ६।

३—कृ० जी०, पृ० १२, अध्या० १४, ठाकुर जी को नहलाने की छोटी बिलिया को आज भी 'तस्टा' या 'चरणोदकी' कहते हैं।

४—तुलसी, दोहा०, ५२६, 'लकड़ी डौवा करछुली, सरय काज अनुहारि।'
५६०, 'फोरहिं सिलि लोढ़ा रुदन, लागे अढ़ुक पहार।

रत्नजटित होना है ।[१] इसके अतिरिक्त 'लोटा', 'कंवल' [अ० कुमअल, कुमूल, कुमूल = प्याला, पान-पात्र], 'रसकौंला' [रसकंवला = रस से भरा पात्र], 'कठहंडी' (२८४।५) = [हंडिया] आदि भी महत्त्वपूर्ण नाम हैं। रसोई में खाना पकने का विस्तृत चित्रण है और यहाँ ही पकाने वाले कुछ पात्रों का भी जायसी ने उल्लेख किया है जैसे 'करिल [= बड़े कड़ाह, रीवां की ओर प्रचलित शब्द है—देशी 'कडिल्ल' = लोहे का बड़ा पात्र, कराह], 'आंड़ी' [= हांड़ी], 'टांकहिटांका' [= बड़ा पात्र], 'हंडा', 'कराहन्हि', 'लोहड़ा' आदि। पद्मावत से 'सुराही' तथा 'प्याला' का भी बोध होता है ।[२]

सूरसागर में 'सौंज' शब्द से ही खाना पकाने में काम आने वाले पात्रों का सामूहिक भाव व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त रसोई मे उपयोगी पात्रों—जैसे कूड़ी, कठौती, कढ़ाई, पतीली, भगोना [सं० भागद्रोणक], तवा, चमचा, तसला, परात, करछी, संड़सी, चिमटा आदि नामों का अभाव सा है। भोजन के पात्रों में भी आज कुछ नये पात्र आ गये हैं, जैसे गिलास, चम्मच, प्याला, थर्मस, टिफ़िन कैरियर, जग आदि। अन्य कुछ पात्रों में लोटा, बाल्टी, गंगाल, तौली, सुराही, चौकड़ा, शिलक़ची, आदि उल्लेखनीय हैं। गाँवों में आज भी एक थाली तथा लोटे से खाने तथा पानी पीने का काम निकाल लिया जाता है, किन्तु शहरों के एक वर्ग में उपर्युक्त पात्रों के अतिरिक्त चीनी तथा शीशे की प्लेटों, प्यालों, गिलास तथा खाना परोसने के पात्रों एवं काँटे छुरी व चम्मच का प्रचलन हो गया है। यह प्रभाव पाश्चात्य संस्कृति का ही है। चाय काफ़ी ने हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है, इससे चीनी के बर्तनों का बढ़ना भी स्वाभाविक है। मिट्टी के बर्तनों में कुल्हड़, [सं० कुल्हारिका], दिया, सकोरा, सुराही, झझ्झर तथा सरवा के नाम लिये जा सकते हैं।

४—अन्य छोटी वस्तुएँ

३४६—सूरसागर की शब्दावली में गृहस्थी में उपयोगी कुछ छोटी छोटी वस्तुओं के नामों की ओर ध्यान जाता है। प्रायः यह सभी वस्तुएँ आज भी घरों के आवश्यक अंग हैं। कुछ का उपयोग विशेष रूप से ग्रामीण जीवन में अधिक होता है।

ग्वालों तथा उनके महर नंद से कृष्ण-कथा का संबंध होने के कारण रई अथवा मथनी,[३] मथानी, मथनियाँ, (७६०,७६३) [सं० रय = गति], [सं० मथिः] से दही बिलोने का दृश्य अनेक पदों में चित्रित होना स्वाभाविक है। विशेष रूप से बाल-लीला तथा माखनचोरी में इन शब्दों का अधिक उल्लेख हुआ है। प्रातःकाल ही माता यशोदा दही मथकर

१—प० सं० टी०, २८३।१ 'कनक पत्र पसरे पनवारा।'
२८३।२ 'सोन थार मनि मानिक जरे।'
२८४।४ 'रतन जराऊ खोरा खोरी। जन जन आगें सो सो जोरी। गडुअन्ह हीर पदारथ लागे।'

२—प० सं०, ५६३।४, २४।६, १३५।१, ५४३।२, ४४६—५५०, ५४५।४ ३१६।१।

३—प० सं० टी०, १५२।४, 'सांस दहेड़ि मन मथनी गाढ़ी। हिएं चोट बिनु फूट न साढ़ी।'

नवनीत निकालती हैं। मथने की ध्वनि के लिए घमरको[1] शब्द प्रयुक्त किया है—'ज्यौं ज्यौं मोहन नाचै ज्यौं ज्यौं रई घमरको होइ (री)।' 'तैसियै किंकिन-धुनि पग-पूपुर, सहज मिले सुर दोइ (री)। (७६६) अथवा '(एरी) आनंद सौं दधि मथति जसोदा, घमकि मथनियाँ घूमैं। निरतत लाल ललित मोहन, पग परत अटपटे भू मैं।' (७६५)। शिशु कृष्ण कभी तो नृत्य करते है और कभी मां की मथानी पकड़ लेते हैं और वह बहला फुसला कर उनको ऐसा करने से रोकना चाहती हैं—'नंद जू के बारे कान्ह छांड़ि दे मथनियाँ' (७६३)। ब्रज के गोप-गृहों का चित्र भी खींचा है—'घर घर गोपी दह्यौ बिलोवैं कर-कंकन झंकार।' (१०२६)। इन नित्य-प्रति के जीवन के चित्रों में कहीं कहीं कवि उनके अलौकिक रूप को नहीं भूल पाया है—'जब दधि-मथनी टेकि अरै। आरि करत मटुकी गहि मोहन बासुकि संभु डरै।' (७६०) अथवा 'जब मोहन करि गही मथानी। परसत कर दधि, माट, नेति, चित उदधि, सैल बासुकि भय मानी।' (७६२)।

माखन-चोरी में भी इस शब्द का निर्देश हुआ है—'ठाढ़ी भई मथनियाँ कैं ढिग, रीती परी कमोरी।' (६०३)। मथने की क्रिया को प्रायः मथति (७६४, ७६७) अथवा बिलोवै (१०२६) कहा गया है। आजकल दही 'बिलोना' [सं० विलोलन] और 'मथना' दोनों प्रचलित है। मथानी लकड़ी का एक डंडा सा होता है जो दही के पात्र में पड़ा रहता है। इसके नीचे चक्र होता है। बड़े पात्रों में जब दही मथते हैं तो रई में एक रस्सी भी बाँध ली जाती है। इसको ही सूरसागर मे नेति (७६६) [सं० नेत्र] कहा गया है—'भरि भाजन मनि खंभ निकट धरि, नेति लई कर जाइ' (७६६)। आजकल इसे 'नेती' या 'नेता' कहते हैं।

माखन-चोरी के पदों में छीकैं (६०५), सीकैं (६११) अथवा सिकहरैं (६४५) [सं० शिक्यक—प्रा० सिक्कग—सिक्कअ—सिक्का—सीका—सींका] का अनेक बार उल्लेख हुआ है। गोपियाँ दूध दही तथा माखन छीके पर टाँग कर जाती थीं किन्तु कृष्ण अपने सखाओं के साथ नये नये उपायों द्वारा वहाँ तक भी पहुँच जाते थे—'चोरि चोरि दधि माखन मेरौ, नित प्रति गीधि रहे हो छीकैं' (६०५) अथवा 'ग्वाल के कांधे चढ़े तब, लिये छींके उतारि' (६०७) या 'कब सींकैं चढ़ि माखन खायौ' (६११) तथा 'आपु खाइ सो हम मानै, औरनि देत सिकहरैं तोरि।' (६४५) तथा 'ऊखल चढ़ि, सीकैं कौ लीन्हौ' (६४६)। सींका दीवाल पर टांगने का लोहे या रस्सी का जाल सा होता है। इसमें खाना भी रख कर टाँग दिया जाता है। खाद्य-पदार्थों में हवा लगती रहती है। साथ ही बिल्ली, कुत्ते आदि जानवरों से रक्षा भी हो जाती है। आजकल इसका उपयोग ग्राम्य-जीवन में अधिक होता है।

पनघट-लीला तथा दधि-दान-लीला में गोपियों का जल या दही की मटकी अथवा कलस आदि पात्र सिर पर रखकर ले जाने से संबंधित अनेक पद हैं। इनमें ही इंडुरी, गिंडुरी या गेंडुरी (२०१७, २०३४, २०३५) के अधिक उल्लेख हैं। यहाँ कृष्ण का उनकी गेंडुरी छीन लेने का वर्णन है—'काहू की इंडुरी फटकावैं' (२०२७) 'नीकैं देहु न मेरी गिंडुरी

१—कृ० जी०, पृ० ६, अध्या ६, आज भी अलीगढ़ की कृषक बोली में इस ध्वनि को 'खुरक' 'खुरकन' अथवा 'घमरा' कहते हैं।

पृ० १०, अध्या० १, अलीगढ़ के कृषक मथानी को 'बिलोमनी', 'मथनी' अथवा 'चलामनी' कहते हैं। सादाबाद में इसी को 'पसन्ना' [सं० प्रस्नवक] कहते हैं।

(२०३४) अथवा 'आनि देहु गेंडुरी पराई' (२०३५)। यह कपड़े या घास आदि का बना गोल छोटा पहिया सा होता है। सिर पर गेंडुरी रखकर स्त्रियाँ आज भी घड़ा रखती हैं।[1] बड़ी इंडुरी को 'इंड़ा' या 'इंडुरा' कहते हैं। बहनियाँ (६५५) [सं० वहन्]—'मेरे सिर को नई बहनियाँ ले गोरस में सानो' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।

३४७ – उलूखल (६६४) ऊखल (६५८—६६७) [सं० उलूखल] ऊखल-बंधन का कृष्ण कथा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस प्रसंग से ही यमलार्जुन-उद्धार का प्रसंग जुड़ा हुआ है। माखन-चोरी से तंग आकर माँ ने उन्हें ऊखल से बाँध दिया—'बाँधौ आजु कौन तोहिं छोरै। बहुत लंगरई कीन्ही मोसौं, भुज गहि रजु ऊखल सौं जोरै' (६६२) अथवा 'देखौ माइ कान्ह हिलकियनि, रोवै....माखन लागि उलूखल बाँध्यौ' (६४२)। तब उनका रोना देखकर उलाहने लाने वाली गोपियों का हृदय भी भर उठता है—'(जसोदा) तेरौ भलौ हियौ है माई। कमल-नैन माखन कैं कारन बाँधे ऊखल ल्याई।' (६८१)। यहाँ तक कि बलराम भी व्याकुल हो जाते हैं और सब मिलकर यशोदा से क्रोध छोड़कर उनको खोलने की प्रार्थना करते हैं—'यह सुनि कै हलधर तहँ धाए। देखि स्याम ऊखल सौं बांधे, तबहीं लोचन भरि आए....स्यामहिं छोरि मोंहि बाँधै बरु....' (६८८) अथवा 'काहे कौं जसोदा मैया, त्रास्यौ तैं बारौ कन्हैया, मोहन हमारौ भैया केतौ दधि पियतौ। हौं तो न भयो री घर, साँटी दीनी सर सर, बांध्यौ कर जेंवरनि, कैसें देखि जियतौ।' (६६१)। साथ ही बलराम उनकी अलौकिक शक्तियों को भी जानते हैं—'को बाँधै, को छोरै इनकौं, यह महिमा येई पै जानै।....जमलार्जुन तरु तोरि उधारन, कारन करन आपु मन मानै' (६६८)। 'उलूखल' वैदिक शब्द है। इसी को आज 'ओखली' कहते हैं। गाँवों में नाज कूटने के लिये स्त्रियाँ इसका उपयोग करती हैं।

३४८—इसी सिलसिले मे जेंवरि (६६०,६६४) दाँवरी (६६१,६६७), रजु (६६२) [सं० रज्जुः] तथा दाम (६७६,६७५) आदि रस्सी के कई पर्यायवाची शब्दों का भी निर्देश हुआ है—'लै आई जेंवरी अब बाँधौ।' (६६०) 'गृह गृह गोकुल दई दाँवरी' (६६१), 'भुज गहि रजु ऊखल सौं जोरै' (६६२), तथा, कमल-नाल तैं मृदुल ललित भुज ऊखल बाँधे दाम कठोर' (६७५)। पटेर, काँस, कुश, दाव [सं० दर्भ], पलेल अथवा मूंज [सं०-मुंज] आदि घासों की बनी रस्सी 'जेंवरी' होती है। यह सभी घासें खेतों में अपने आप उग आती हैं। सिर्फ़ सन के पौधे आषाढ़ सावन में बोये जाते हैं। अलीगढ़ क्षेत्र की कृषक बोली में यह शब्द आज भी प्रयुक्त होते हैं। बकरी, बछड़ा या पड़रा बाँधने का छोटा रस्सा 'पगहा' या 'जेबरा' कहलाता है। इससे पतली रस्सी 'जेबरी' होती है। दायें में चलने वाले बैलों के कपड़े से लिपटी हुई जो रस्सी बाँधते हैं वह 'गैना' होती है। इनमें ही एक और रस्सी क़ैंची-नुमा ढंग से डालते हैं, उसको अलीगढ़ क्षेत्र के कृषक 'दामड़ी' अथवा 'दामरी' कहते हैं।[2]

सूरसागर में इन विभिन्न रस्सियों के नामों के अतिरिक्त अन्य स्फुट प्रसंगों में थोड़े से नाम और भी मिलते हैं जैसे नोई (१०१६) [देश० णोमी-देशी नाम माला ४।३१] डोर (२४७१) सूतरी, बरूहा तथा बट (४०२२)। गाय दुहते समय गाय उछलती कूदती है तो उसके पीछे के पैर जिस रस्सी से बाँध दिये जाते हैं उसको सूरदास जी ने 'नोई' कहा

१—कृ० जी०, पृ० १३, अध्या० ६, कोल तहसील में कुछ कंजड़ अथवा घियारा लोग बस गये हैं। यह घुमक्कड़ जाति है। यह लोग रस्सी, इंडुरी, भुनभुना, छीके, तथा खस की टट्टी आदि बनाकर ही अपनी जीविका चलाते हैं।

२—कृ० जी, पृ० ७, अध्या० २।

है—'कैसें ले नोई पग बाँधत, कैसें गैया अटकावहु' (१०१६)। गो-दोहन के पदों में कहीं कहीं इसका उल्लेख है। अलीगढ़ को इगलास तहसील में इसको 'लैमना' या 'लौमना', अनूप शहर में 'चंगा' तथा सादाबाद में 'नोई' कहते हैं।[१]

डोर अथवा **डोरी**[२] तथा **गुन** [सं० गुण] (३४५०,३६७६,१३३०) का उल्लेख 'चकडोरी' तथा 'गुडीडोर (२४७१) नामक खिलौनों के साथ किया गया है 'चकडोरी की रीत यह है, फिर गुन हीं सौं लपटाइ।' (४१६२)। 'गुडीडोर ज्यौं (३६७६) तोरी'। हिंडोले की डोरी रेशम तथा सोने के तारों से बनाई गई थी—'पंचरंग पाट कनक मिलि डोरी' (३४५०)। साधारणतः 'डोर' अथवा 'डोरी' बारीक किन्तु मज़बूत सूत की होती है। पतंग तथा चक की डोरी ऐसी ही बनाई जाती है। सिलाई करने के तागे [फा० ताग] को भी आजकल 'डोरा' कहते हैं। ऋग्वेद में तागे के लिए 'तन्तु' शब्द मिलता है। अलीगढ़ के ग्रामीण लोग जानवरों को पानी पिलाने की रस्सी को 'डोर' [देश० दवर] कहते हैं। वहाँ डोर से मोटी रस्सी 'लेजू' [सं० रज्जुः —प्रा० लज्जू—लेजू] कहलाती है। 'लेजू' पानी भरने की रस्सी को ही अधिकतर कहते हैं। पानी भरते समय घड़े की गरदन में पड़ी रस्सी का फंदा 'सार्फा' अथवा 'फाँसा' [सं० पाशक] नाम से जाना जाता है।[३]

बट[४]—'अलक जु हुती भुवंगम हू भी, बट लट मनहुँ भई' (४०२२) —का उल्लेख भी किया जा सकता है। **सून** (५४२) [सं० सूत्रं] अथवा **सूतरी** (४३०८) की चर्चा लंका दहन तथा भ्रमरगीत में है—'सन अरु सूत, चीर-पाटंबर, लै लंगूर बँधाए।' (५४२) अथवा 'सूरदास कहुँ सुनी न देखी, पोतैं सूतरी पोहत' (४३०८)। 'सूतरी' को ही आजकल 'सुतली' भी कहते हैं। यह सन अथवा सूत से बनी पतली और चिकनी रस्सी होती है। बंदनवार, खाट के पायते आदि में इसका उपयोग होता है। हिंडोला-वर्णन में **रेसम बरूहा** का वर्णन है। हिंडोले की डोरी अनेक रंगों के रेशम की थी—'बहु रंग रेशम-बरूहा, होती राग झकोर (३४४६)।

३४६—उलूखल-बंधन-शीर्षक पदों में माँ का क्रोधावेग में कृष्ण को साँटी[५] (६४८' ६६३) [हि० 'सट'], **लकुट** (सं० लगुडः] (६७४) अथवा **बेंत** (६६७) [सं० वेतस्] या **छरी** (३४७२) से मारने का वर्णन भी है—'साँटिनि मारि करौं पहुनाई, चितवत कान्ह डरायो' (६४८) अथवा 'जब रजु सौं कर गाढ़ै बाँधे, छर-छर मारी साँटी' (६६३) या

१—कृ० जी०, पृ० ७, अध्या० २।

२—प० सं० टी०, ५५७।६ 'मन की डोरि लागि तेहि ठांई जहाँ सो गहि गुन खांच।'

३—कृ० जी०, पृ० ७, अध्या० २।

४—कृ० जी०, पृ० ६, अध्या० १, जेवरी के दो पूंजों को हथेली से ऐठने को 'बंटना' कहते हैं। यह बटी हुई रस्सी दुहरी तिहरी करके 'भानने' अथवा लपटने पर 'रस्सा' कहलाती है। तीन लटों की 'बर्त' के पुराने टुकड़े 'बतेड़ा' से उधेड़ कर निकाली लट ही 'बट' के नाम से जानी जाती है। यह ऐंठी सी होती है।

५—प० सं० टी, १२८।१ 'चहुँ दिसि आन सोंटिअन्ह फेरी।' सोंटिआ [सोंटा लिए हुए प्रतिहारी] वेत्रग्राही प्रतिहार राजा के प्रधान दौवारिक होते थे। प्राचीन काल से यह पद चला आया था और मध्यकालीन महलों तथा दरबारों में भी इसकी प्रथा थी।

'तेरौ कहा गयौ, गोरस कौ गोकुल अंत न पायौ। हा हा लकुट त्रास दिखरावति, आँगन पास बँधायौ।' (९७४) तथा 'बालक बदन बिलोकि जसोदा, कत रिस करति अचेत। छोरि उदर तें दुसह दाँवरी, डारि कठिन कर बेंत।' (९६७)। कृष्ण के मिट्टी खाने पर भी माता के क्रोध का ऐसा ही चित्रण है—'बार-बार अनुरुचि उपजावत महरि हाथ लिये साँटी' (८७२) अथवा 'साँटी लिये दौरि भुज पकर्‌यौ' (८७१)। माटी-भक्षण-प्रसंग के अन्तर्गत माता का उनके मुख में ब्रह्मांड देखकर चकित होने की कथा है—'अखिल ब्रह्मांड खंड की महिमा, दिखराई मुख माँहि।....कर तें साँटि गिरत नहिं जानी, भुजा छाँड़ि अकुलानी।' (८७३) अथवा 'माटी कैं मिस मुख दिखरायौ, तिहूँ लोक रजधानी।' (८७४)। सूर-काव्य में नितप्रति के साधारण जीवन के विशद एवं अत्यन्त स्वाभाविक चित्रों के साथ-साथ कृष्ण के ईश्वरीय रूप को न भुलाते हुए प्रायः हर साधारण प्रसंग की परिणति असाधारण घटना में की गई है।

साँटी मारने की ध्वनि तक का सुन्दर चित्रण है—'छर-छर मारी साँटी' (९९३) 'साँटी दीनी सर-सर' (९९१)। साँटी मारने की ध्वनि का अनुमान 'सट सट' से भी होता है। अलीगढ़ क्षेत्र में यह शब्द अभी भी चलता है। संटी, साँटी अथवा कमची पेड़ की हरी तथा पतली डंडी को कहते हैं। हरेपन के कारण इसमें लचक भी होती है। 'सोंटा' तथा 'सटकिया' भी इस शब्द के ही रूप हैं। पहला तो लकड़ी का मोटा डंडा होता है तथा दूसरा उससे पतला तथा हलका।[१] लकुट तथा बेंत की चर्चा कृष्ण के खिलौनों के सिलसिले में भी है। बसन्त शीर्षक पदों से व्रज में प्रचलित छड़ी मारने के खेल का बोध होता है— लै-लै छरी कुमारि राधिका कमल-नैन पर धाई।'।

३५०—घर मे काम में आने वाली चीज़ों में खिरनि (२२१८), कुठार (११७) [सं० कुठारः], कुल्हारौ (विनय) तथा कुदार (४६५६) [सं० कुदाल)] भी गिनी जा सकती है। इनका निर्देश भिन्न-भिन्न प्रसंगों में हुआ है। 'कुल्हाड़ी' तथा 'कुदाल' क्रमशः लकड़ी काटने तथा क्यारी आदि बनाने में काम आते हैं। दही जमाने की विधि बताते समय गोपियाँ दूध को 'खिरनि' पर गर्म करने के संबंध में बताती हैं—'नई दोहनी पोंछि पखारी, धरि निरधूम खिरनि पै तायौ।' (२२१८)। भ्रमरगीत शीर्षक पदों में एक स्थल पर खान से रत्न निकालने का रूपक बाँधा गया है। यहाँ ज़मीन खोदने के लिए कुदाल का उपयोग बताया गया है—'गमन कान्ह छन-छन जु काम ससि-किरनि कुदार गहे' (४६५६)।

पंखा (२५८६) [सं० पक्ष] गरमी के दिनों में हर घर की अत्यावश्यक चीज़ों में स्थान रखता है। 'सूर स्याम तेरैं बस ऐसैं, ज्यौं पंखा-बस पौन' का निर्देश संयोग-प्रेम के पदों में है। राधा के प्रति कृष्ण के प्रेम के संबंध में सखियाँ तरह तरह से उनको विश्वास दिलाती हैं। पंखे तथा हवा एवं देह और छाया ('ज्यों संगहि, संग छाँह देह-बस', २६८७) का उदाहरण देकर उनके पारस्परिक प्रेम को स्पष्ट किया गया है। ताड़ के पत्ते, सींक तथा मयूरपंख के आकर्षक पंखे हर घर मे आज भी दिखाई देते हैं। छोटे शहरों तथा गाँवों में जहाँ बिजली नहीं है तथा साधारण स्थिति के घरों में बिजली के पंखों का स्थान हाथ के पंखों ने ही ले

१—कृ० जी, पृ० ७, अध्या० १, अध्या० ३, जिस लाठी से ग्वाला पशुओं को घेरता है उसको 'घेरनी' तथा दो ढाई हाथ की बांस की मोटी लाठी 'बंसौवा' के नाम से पुकारी जाती है। बैलों को हांकने की डंडी 'पैना' [सं० प्राजनं] तथा नाक में पड़ी रस्सी 'नाथ' [देश० णत्था] होती है जबकि घोड़े की नाक में पड़ी 'रास' [सं० रश्मि] के नाम से प्रसिद्ध है।

रक्खा है। ऐसे ही घरों में रात का अंधकार भी दीप, दीपक (३६८, ३६१) [सं०] से दूर होता है। द्वितीय-स्कन्ध के 'ग्रात्मज्ञान' तथा 'आरती' संबंधी पदों में इसका उल्लेख हुआ है—'तेल-तूल-पावक-पुट भरि धरि, बनै न बिना प्रकासत। कहत बनाइ दीप की बतियाँ कैसैं घौं तम नासत !' (३६८) अथवा 'मही सराव, सप्त सागर घृत, बाती सैल घनी। उड़त फूल उड़गन नभ अंतर, अंजन घटा घनी।....यह प्रताप दीपक सुनिरंतर, लोक सकल भजनी।' (३७१)। इन उद्धरणों मे दीपक जलाने के लिए आवश्यक वस्तुओं में सराव तथा तैल अथवा घृत का उल्लेख भी है तथा तूल की बाती अथवा बतियाँ [सं० वर्तिः, वर्ती] का भी। बाती को आज 'बत्ती' भी कहते हैं तथा दीपक को 'दिया' [दीपक—दीवग्र—दीवा—दीया—दिया]। कपास की रूई से बत्ती बनाते हैं तथा दीपक के तेल या घी में डालकर जलाते है। तूल का उल्लेख वस्त्रों की बनावट के सिलसिले में हो चुका है।

दंतुवनि दतुवनि, दतौनी (२५८३, ११६५, १२१७) [सं० दन्तधवनं, दन्तधावनं] तथा सीसी[1] (३६१४) भी उल्लेखनीय शब्द हैं। प्रातः 'दतौनी' के बाद माता यशोदा दोनों बालकों को कलेवा देती थीं—'प्रातहिं तैं मैं दियौ जगाइ। दतुवनि करि जु गए दोउ भाइ।' (११६५) अथवा 'माता दुहुँनि दतौनी कर दै, जल झारी भरि ल्याइ। उत्तम बिधि सौं मुख पखरायौ, ओदे बसन अंगोछि।' (१२२६)। आजकल नीम की हरी डंडी की 'दतोन' अधिक प्रचलित है। गाँवों में अधिकतर यही उपयोग मे आती है। दाँतों के लिए लाभदायक होने के साथ ही सरलता से प्राप्त होती है। भ्रमरगीत में पारे की शीशी फूटने की चर्चा है—'सीसी फूटि गई' (३६१४)। एक विनय-पद में मन को तोता तथा शरीर को पिंजरा (विनय, ८६६०) [सं० पिंजरं] बताया गया है—'मन सूवा तन पींजरा।' उर्दू-काव्य मे 'क़फ़स' [= पिंजरा] शब्द की बहुत महत्ता है। जायसी ने 'मंजूसा' [सं० मंजूषा] 'पिंजर' और 'काँडी' [सं० कंडिका] शब्द प्रयुक्त किये है।[2] मंजूसा हाथी की 'अंबारी' तथा 'कठघरे' के अर्थ में भी आया है।[3] चाँदी सोने के पिंजड़े तथा उसकी डंडी का वर्णन भी है।[4] साधारण पिंजड़ा लोहे अथवा बाँस आदि का बनता है।

३५१—घर की अन्य आवश्यक वस्तुओं में 'संदूखनि, संदूक (२५६२, २६३६) [अ० सन्दूक़] है। राधा के मोतिसिरी प्रसंग में उनकी माँ कहती हैं—'संदूखनि भरि धरे, सो न खोलै री।' (२५६२)। नेत्र-पदों मे भी इसका एक स्थान पर ज़िक्र है—'कज्जल कुलुफ मेलि मंदिर में, पल संदूक पट अटकै' (२६३६) यह प्रायः लकड़ी का बना हुआ होता है जिसमें दो कुन्दे व सांकरें लगी रहती हैं। अलीगढ़ क्षेत्र के गाँवों के लोग ज़रा बड़े संदूक को 'सिन्दूका' कहते है तथा उससे छोटे को 'सिदूक' अथवा 'संदूक'। बिल्कुल ही छोटा 'सिदूकिया' या 'संदूकची'

१—प० सं० टी, १११।१, 'बरनौं गीवँ कूंज कै रीसी।
कंज नार जनु लागेउ सीसी।'

२—प० सं० टी, ७७।१ 'जब पिंजर हुँत छूट परेवा'
७७।२ घालि मजूंसा बेचै आना।'
५३८।२ 'सारबूर रूपे की कांड़ी।'

३—५१४।८ 'ऊपर कनक मंजूसा लाग चंवर औ ढार।'
५५६।७ 'जैसे सिंघ मंजूसा साजा।'

४—५३८।१,२ 'हंस कनक पिंजर हुति आना। औ अंब्रित नग परस पखाना।
औ सोनहा सोने की डांड़ी। सारबूर रूपे की कांड़ी।'

कहलाता है। लोहे की चादर से बना 'बक्स'। [अं० बॉक्स] तथा इसका छोटा रूप 'बक-सिया' है। खूब बड़ा 'बक्स' 'टिरंक' [अं० ट्रंक] के नाम से जाना जाता है।

संदूक अथवा कमरा आदि बंद करने के लिए तारो, ताला (२४६० ३७०८) [सं० तालक—तारअ—तारा] तथा कुंजी (३७०८, २४६०) [सं० कुंचिका) की आवश्यकता होती है। गोपी-कृष्ण प्रेम के रूपक-पदों में इनका उल्लेख हुआ है—'लोक-बेद प्रतिहार, पहरुआ, तिनहूं पै राख्यो न पर्‌यौ री। धर्म धीर कुल कानि कुंजी करि, तिहिं तारौ दै, दूरि धर्‌यौ री।' (२४६०)। कंस-वध के बाद बसुदेव देवकी का कारागर से कृष्ण द्वारा उद्धार होना है—'बज्र सिला द्वारैं दियौ, परसत तैं गइ छूटि। सहज कपाट उघरि गए, ताला कुंजी टूटि।' (३७०८)। कुंजी को आजकल 'ताली' तथा 'चाबी' या 'चाभी' भी कहते हैं।

यहाँ पर सांकरी[1] (६४५) [सं० शृंखला] तथा निगड़ (६२६) [सं० निगड] शब्दों का उल्लेख किया जा सकता है। कृष्ण तथा सखागण ग्वालिनों के घरों से सांकरी खोलकर माखन चुरा चुराकर खा लेते थे —'लरिका सहस एक संग लीन्हे, नाचत फिरत सांकरी खोरि' (६४५)। कृष्ण-जन्म पर बसुदेव तथा देवकी के कारागार अपने आप खुल जाने की असाधारण घटना घटित होती है —'छोरे निगड़, सोआए पहरू, द्वारे कौ कपाट उघर्‌यौ,' (६२६) अथवा 'छोरे निगड़, कपाट उघारे, सूर सु मघवा बृष्टि निवारी' (६२६)। ३५२—पत्तों से बने उपयोगी पात्रों में भी कुछ उल्लेखनीय हैं जैसे पतौषी (१०१०), दोनियाँ (८५६, ६५२) [सं० द्रोणः] पातर [सं० पत्र—पत्त—पत्तर—पातर] तथा पनवारा। ढाक के पत्तों को गोल मोड़कर कटोरी के समान उपयोगी बनाने के लिए सीकों से जोड़ दिया जाता है। इसको ही 'दोनियाँ' अथवा 'दोना' कहते हैं। मांट में आज भी दोने को 'पतोखा' तथा सादाबाद में 'पतौआ' कहते हैं।[2] कृष्ण को दधि 'दोनियाँ' मे ही खाना रुचिकर था—'रुचि मानत दधि दोनियाँ'[3] (८५६) अथवा 'मुख दधि पोंछि, बुद्धि इक कीन्ही, दोना पीठि दुरायौ' (६५२) तथा 'छीरसमुद्र सयन संतत जिहिं, मांगत दूध पतौषी दै भरि' (१०१०)। पातर तथा पनवारे के संबंध में भोजन के सिलसिले में बताया जा चुका है। 'पातर' अथवा पत्तल ढाक के पत्तों को जोड़ जोड़ कर थाली की पेंदी के आकार का बनाते हैं। आजकल दावतों आदि में इन्हीं पर भोजन परोसा जाता है। बियारी पत्तों पर खाने का वर्णन है—'अपनी अपनी पत्रावलि सब देखत'।

३५३—दूर हो जाने पर पत्र-व्यवहार ही सम्पर्क का एक मात्र साधन है। सूरसागर में भी पत्र (३४६३) [सं० पत्र] पत्री (४०५४), पाती, पतियाँ (४०६३) तथा सीठी [परि० १३८, ४१०७] के अनेक महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर वियोग विदग्धा गोपिकाएँ पत्र लिख-लिख कर मन को शान्त करने का यत्न करती हैं—'पतियाँ पठवति, मसि नहिं खूंटति, लिखि लिखि मानहुँ धोवति' (४०२१)। मान-पद, भ्रमरगीत, कृष्ण तथा कुब्जा का उद्धव द्वारा पत्र भेजना तथा रुक्मिणी-कृष्ण-संदेश आदि अनेक पत्र-संबंधी प्रसंग हैं—'ऐसो पत्र पठायौ बसंत। तजहु मान मानिनी तुरंत।' (३४६३)।

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० २४६, वणिज की सामग्री में 'शृंखला', 'अयः शूल', 'दात्र' तथा 'खनित्र' का उल्लेख भी है।

२—कृ० जी०, पृ० १०, अध्या० ४।

३—तुलसी, गीता०, ३,५, 'फल फूल अंकुर मूल धरे सुधारि भरि दोना नये।'

उद्धव तीन पत्र (४०५४, ४०६०, ४०६१) लेकर वृंदावन आते हैं—कृष्ण, वसुदेव-देवकी तथा कुब्जा द्वारा लिखे गये। यह सूर को सुन्दर मौलिक कल्पना है। कृष्ण नंद बाबा तथा यशोदा को विनय पत्र, सखाओं को मैत्री भाव से तथा गोपियों को योग का संदेश देते हुए प्रेमावेग से पूर्ण पत्र लिखकर भेजते हैं। भ्रमरगीत शीर्षक अंश पत्रों से ही प्रारंभ होता है। कृष्ण के अतिरिक्त कुब्जा भी पत्र भेजती है—'कुब्जा सुन्यो जात ब्रज ऊधौ, महलनि लियौ बुलाइ। अपने कर पाती लिखि राधेहिं, गोपिन सहित बड़ाइ।' (४०६१)। वह अपनी स्थिति स्पष्ट करने का प्रयत्न करती है—'हम पर काहैं झुकति ब्रजनारी। साझें भाग नहीं काहू कौ, हरि की कृपा निनारी। कुबिजा लिख्यो संदेस सबनि कौ अरु कीन्ही मनुहारी! हौं तौ दासी कंसराइ की, देखौ मनहिं बिचारो।' (४०६२) अथवा 'उधौ यह राधा सौं कहियौ....मो पर रिस पावति बिनु कारन, मैं हौं तुम्हरी दासी।' फिर कभी व्यंग्य-संदेश भी भेजती है—'नाहिन कान्ह तुम्हारे प्रीतम ना जसुदा के जाए। देखौ बूझि आपनै जिय मैं तुम धौं कौन सुख दीन्हे। ये बालक तुम मत्त ग्वालिनी, सबै मूँड़ करि लीन्हे।।....सूरदास प्रभु सुनि सुनि बातें, रहे भूमि सिर नाए। इत कुबिजा उत प्रेम गोपकनि, कहत न कछु बनि आए।' (४०६५)।

मथुरा की ओर निरंतर दृष्टि लगाए गोपियों की पत्र पाने की प्रसन्नता पर उसमे लिखे संदेश से मानो तुषारापात होता है—'पाती मधुबन ही तैं आई। सुदर स्याम आप लिखि पठई, आइ सुनौ री माई। अपने अपने गृह तें दौरीं लै पाती उर लाई....' (४१०४) अथवा 'निरखति अंक स्याम सुन्दर के बार बार लावति लै छाती। लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गइ स्याम स्याम की पाती।' (४१०५) या 'लिखि आई ब्रजनाथ की छाप। उधो बाधे फिरत सीस पर, बांचत आवै ताप। उलटी रीति नंद नंदन की, घर घर भयो संताप।' (४१०७) और 'ऊधो नीकी लांबी चीठी। गोपीनाथ लिखो कर अपने यामैं जोग बसीठो।' (४११०) तथा 'ऊधो कहा करैं लै पाती। जौ लौं मदन गुपाल न देखैं, बिरह जरावत छाती।....यह पाती लै जाहु मधुपुरी, जहं वै बसै सुजाती।' (४११५)। गाँव में पत्र मिलने पर बेपढ़ी-लिखी स्त्रियों को दूसरों से पत्र पढ़वाना पड़ता है—'ब्रज में पाती पढ़न न आवै। सुंदर स्याम लाल लिखि पठई, कोउ न बांचि सुनावै।, (४१०९)। भावोद्रेक मे पत्र पढ़ना कितना कठिन होता है—'नैन सजल कागद अति कोमल, कर अंगुरी अति ताती। परसैं जरै, बिलोकैं भींजै, दुहूँ भांति दुःख छाती। को बांचै ये अंक सूर-प्रभु, कठिन मदन-सर-घाती।' (४१०८)। इन स्थलों में लिखावट के लिए अंक अथवा छाप शब्द प्रयुक्त हुए हैं तथा पढ़ने के लिए बांचि (३१६,४१०८)।

भ्रमरगीत की भूमिका-रूप में इन पत्रों के अतिरिक्त रुक्मिणी का कृष्ण को ब्राह्मण द्वारा पत्र भेजने का प्रसंग है—'द्विज पाती दे कहियौ स्यामहिं।' (४७८६) या 'पाती दीजो स्याम सुजानहिं।' (४७८७)। कुछ स्फुट प्रसंगों में लिखने के साधारण उल्लेख हैं—'कागद धरनि, करै द्रुम लेखनि, जल-सागर मसि घोरै, (१२५) अथवा 'कर्म-कागद बांचि देखौ, जौ न मन पतियाइ। अखिल लोकनि भटकि आयौ, लिख्यौ मेटि न जाइ।' (३१६) तथा 'वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नंदलाल कही।।' (४०१३)। ज्वाब (३१०५) की चर्चा एक संयोग पद में है 'ज्वाब नहीं पिय आवई, क्यों कहाँ ठगाने।' (३१७५)।

३५४—लिखने के उपकरणों का निर्देश अनेक स्थलों में है जैसे कागद, कागर[१] (३६१८,४१११) [फ़ा० कागज़], मसि (४०२१,३६१८) [सं०] मसानी (विनय) तथा लेखनि[२] (१२५) [सं० लेखनी]—'द्वै कौड़ी के कागद मसि कौ, लागत है बहु मोल' (३८७२) अथवा 'संदेसनि' मधुबन कूप भरे।....कागद गरे मेघ, मसि खूटी, सर दव लागि जरे।' (३६१८) अथवा 'काहे कौं लिखि पठवत कागर।' (४१११)। लेखनी सर (३६१८) [सं० शर] से बनने का अनुमान इस पंक्ति से होता है।[३] सरकंडे [सं० शरकांड] की क़लम से बच्चों को लिखने का प्रारंभिक अभ्यास आज भी कराया जाता है। इसको 'बरू' का कलम भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त निब वाले साधारण कलम, 'फ़ाउन्टेन पेन' तथा 'पेन्सिल' भी वर्तमान समय की देन है। 'कलम' तथा 'पेन' शब्द ही आजकल प्रचलित है। 'मसि'[४] के लिए आज 'स्याही' तथा 'मसानी' [स्याही रखने की शीशी] के लिए 'दावात' शब्द प्रायः बोलने में आते हैं। वर्तमान डाक के ढंग की जगह सूरसागर-कालीन पत्र-वाहक अथवा संदेश-वाहक भेजने की प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। पथिक[५] द्वारा भी संदेश भेजने का ढंग प्रचलित था—'जिते पथिक पठए मधुबन कौं, बहुरि न सोध करे। कै वे स्याम सिखाइ प्रमोधे, कै कहुँ बीच मरे॥' (३६१८) अथवा 'सूरदास-प्रभु पथिक न चलहीं कासौं कहौं संदेसनि।' (३६२८)। प्राचीन भारत में वर्तमान काग़ज़ के स्थान पर ताड़पत्र (४७६२) [सं० तालपत्रं, ताडपत्रं] का उपयोग होता था।[६] रुक्मिणी की विवाह-लग्न ताड़पत्र में लिखी जाने का वर्णन हुआ है—'ताड़पत्र कर दियौ लगन लिखि, बिजय करहु जदुराइ।' (४७६३)।

१—प० सं० टी०, ३६८।२ 'कागर पुतरी जैस सरीरा' (२) 'काग़ज़' मूल शब्द चीनी भाषा से लिया गया था। चौदहवीं शती में भारत में हस्तलिखित ग्रन्थों के लिए काग़ज़ का आम रिवाज हो गया था।
प० सं० टी०, १०।२ 'सात सरग जौं कागर करई। धरती सात समुंद मसि भरई।'
२—प० सं० टी०, १०।५ 'सब लिखनी कइ लिखि संसारू।'
३—प० सं० टी, ३१४।३ 'जब हीरामनि भएउ संदेसी।'
३६६।२ 'नागमती कर कहै संदेसा'
४—हर्ष सां० अ० पृ० ५२, ५३ बाण के समय में तालपत्र पर काली और लाल स्याही से ग्रन्थ लिखे जाने लगे थे। बाण ने हरे पत्तों के रस में कोयला घोटकर साधारण क़िस्म की स्याही बनाने का परिचय भी दिया है।
प० सं० टी०, ५३६, 'अब कैसेहुँ मसि, जाइ न मेंटी, अंक।'
५—प० सं० टी०, २७।६ 'पंथिक जौं पहुँचै सहि घामू।'
४५८।७ 'पंथी परदेसी जेत आवहिं। सब की बात दूत पहुँचावहिं।'
६—हर्ष० सां० अ०, पृ० ५२, उत्तरी भारत में लिखने के लिए भोजपत्र का प्रयोग होता था। कालिदासकृत कुमारसम्भव (१।७) से इस बात पर प्रकाश पड़ता है। विद्याधर सुन्दरियाँ भोजपत्र पर धातुरस से अनंग-लेख लिखकर भेजती हैं। बाण के युग में 'तालपत्र' पर लाल काली स्याही से पुस्तकें लिखी जाने लगी थीं। भूर्जपत्र पर अक्षर स्याही से लिखे जाते थे।

३५५—मुसल (विनय) का उल्लेख शस्त्रों में किया जा चुका है। रसोई में काम आने वाली कुछ आवश्यक चीज़ों में 'चक्की' [सं० चक्री, चक्रिका], 'चलनी' [सं० चालनी] तथा 'सूप' [सं० शूर्प—सुप्प सूप],'सिलबट्टा'[1] [सं० शिला + वट्टक] तथा 'पटा-बेलन' [सं०पट्टक + वेलन], 'संड़ासी' [सं० संदशिका] आदि की कमी की ओर ध्यान जाता है जो सूरसागर की शब्दावली में नहीं मिलते हैं। अलीगढ़ क्षेत्र की बोली में इनको सामूहिक रूप से 'सौंज' कहते हैं। 'सौंज' शब्द अवश्य अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। आज अन्य छोटी छोटी किन्तु आवश्यक घरेलू चीज़ों में 'सुई' [सं० सूचिका], 'क़ैंची' [तु०] या 'कतरनी' [सं० कर्तनी], 'सरौता', 'चाक़ू' आदि को भी गिना जा सकता है।

५—बैठने तथा सोने के उपकरण

३५६—'फ़र्निचर' की दृष्टि से सूरसागर से उद्धृत शब्दावली सीमित है। यहाँ थोड़े से शब्द ही उल्लेखनीय हैं। बैठने के लिए आसन (४६५) [सं० आसन] का उपयोग अधिक होता था[2]। अतिथि से सर्वप्रथम आसन ग्रहण करने का आग्रह किया जाता था—'अरघासान करि हेत दए' (७०३)। भोजन भी अधिकतर आसन पर बैठ कर करते थे—'आसन दै चौकी आगैं धरि' (१०१४)। कुसासन (३४१) [सं० कुशः = पवित्र तृण विशेष] अथवा कुस साथरी (५६५) पर बैठकर पूजा की जाती थी अथवा ऋषि मुनि बैठते थे। इसे आज भी पवित्र समझते हैं—'कुस-आसन दै तिनहिं बिठायौ' (३४१)। समुद्र-तट पर सेतु-बंध के समय राम का इसी पर बैठने का निर्देश है—'कुस-साथरी बैठि इक आसन, बासर तीनि बिताए।' (५६५)। इसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है।[3]

लकड़ी तथा धातुओं से बनी हुई भी कुछ चीज़ें व्यवहार में आती थीं। इनमें प्रमुख उल्लेखनीय नाम यह है—

चौकी[4] (१०१४) [सं० चतुष्की अथवा चतुष्किका—चउक्किकआ—चउक्की—चौकी] इसका उल्लेख भोजन के सिलसिले में है। चौकी पर भोजन के पात्र रखने की प्रथा थी। यह चार पायों की छोटी सी मंचिका होती थी। इस प्रकार खाने का ढंग दक्षिण तथा गुजरात आदि में कहीं कहीं आज भी है।

बैठकी (७२८) [हि० बैठना] नंद शालिग्राम की मूर्ति बैठकी पर रख कर पूजा करते हैं—'देव महल चंदनहिं लिपायौ। चौक देइ बैठकी बनायौ। सालिग्राम तहाँ बैठायौ। धूप-दीप-नैवेद्य चढ़ायौ।' (१६०२)। बाल-गोपाल नंद के मणिमय आंगन में घुटनों चलते तो प्रत्येक मणि में उनकी छाया से कमल बैठकी का भास होता था—

'कनक-भूमि पर कर-पग छाया, यह उपमा इक राजति।
करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा, कमल बैठकी साजति।' (७२८)।

२—तुलसी, दोहा०, ५६०, फोरहिं सिल लोढ़ा सदन, लागे अढुक पहार।'

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ०, १४४,फ़र्निचर दो प्रकार का था—आसन (बैठने के लिए), शयन (लेटने के लिए)। 'शयनासान' शब्द पालि 'सेनासन' से मिलता है।

३—मनूची, भाग ३, पृ० ४२, साधारण घरों में लोग जमीन पर बैठते थे। वह प्रायः लकड़ी की बनी चौकी, कुरसी, मेज आदि का उपयोग नहीं करते थे। यह लोग प्रायः जमीन पर ही एक कपड़ा बिछाकर सो भी जाते थे।

४—हर्ष० सां० अ०, पृ० ४५, बाण ने हर्ष के चौकी पर बैठने का वर्णन किया है।

पटुली (३४५०,३४५३) [सं० पटलं, पटली] बैठने वाला लकड़ी का लम्बा पट्टा ही पटुली कहलाता है। इसकी लम्बाई चौड़ाई से अधिक होती है। हिंडोले का पटा भी 'पटुली' कहलाता है । सूरसागर में हिंडोला-शीर्षक पदों में रत्न-जटित पटुली का आकर्षक वर्णन है—'पटुली बिच बिच बिद्रुम लागे हीरा लाल खचावनौ।' (३४५०) 'पटुली लगे नग नाग बहुरंग' (२४४८)। 'पटुली' स्फटिक अथवा स्वर्ण से निर्मित भी बताई गई है—'लाल डाँडी, फटिक पटुलो' (३४५३) या 'सुठि हेम पटुली मध्य हीरा' (३४६०)।

पीढ़ा (६६८) [सं० •पीटक—पीठग्र—पीढ़ा ।] पूतना का स्वागत यशोदा बैठने को पीढ़ा देकर करती हैं—'आवत पीढ़ा बैठन दीनो, कुसल बूझि अति निकट बुलाई।' यह भी लकड़ी का बना पट्टा होता है और पटुली से कुछ बड़ा होता है। पटुली तथा पीढ़ा आज भी बैठने के काम आते हैं, विशेष रूप से रसोई में। प्राचीन समय में राजाओं के सिंहासन के निकट पैर रखने के लिए 'पादपीठिका' रक्खी जाती थी।[1] एक छोटे से वर्गाकार खटोले को भी पीढ़ा कहते है जिसमें अदवाइन नहीं होती[2]। इसका दूसरा नाम 'मचिया' [सं० मंचिका] है।

३५७—पालनौ, पालनैं (६५६,६६८) यह छोटे बच्चों की झूलने वाली छोटी खाट सी होती है। एक प्रकार से हिंडोले तथा खटोले का मिला हुआ रूप है। दशम-स्कन्ध-पूर्वार्ध के प्रारंभिक कई पद शिशु-कृष्ण के पालने से संबंधित है। उनका पालना भी असाधारण रूप से कला एवं ऐश्वर्य का प्रदर्शन करता है। चंदन की लकड़ी तथा सुवर्ण का यह पालना नाना रत्नों तथा मणियों से अलंकृत था—'पंचरंग रेसम लगाउ, हीरा मोतिनि मढ़ाउ, बहु बिधि जरि करि जराउ, ल्याउ रे जरैया।' (६५६)। उसकी चौकरी अथवा काष्ठ भाग चंदन को खराद कर तथा रंग कर बनाया गया था—'सीतल चंदन कटाउ, धरि खराद रंग ल्याउ, बिबिध चौकरी बनाउ, धाउ रे बनैया।' (६५६)। इसी अद्वितीय पालने पर माता शिशु को सुलाती थीं—' कनक रतन मनि पालनौ, गढ़्यौ काम सुतहार—पौढ़ाए पट पालनैं (हंसि) निरखि जननि-मन-मोद' (६६०) 'अथवा रतन जरित बर पालनौ रेसम लागी डोर, बलि हालरु रे। कबहुँक झूलै पालना, कबहुँ नंद की गोद, बलि हालरु रे।' (६६५)। पालने में ऊपर खिलौने बालक का ध्यान आकर्षित करने को लटकाये गये थे—' बिबिध खिलौना भाँति के (बहु) गजमुक्ता चहुँ धार।' (६६०)। अतएव बढ़ई ने इस अद्भुत पालने की बनवाई एक लाख माँगी 'इक लख मांगै बाढ़ई, दुइ लख नंद जु देहि, बलि हालरु रे।' (६६५)। पालने मेंझुन-झुने आदि लटकाने का चलन आज भी है। उपर्युक्त पद्यांश मे 'खराद', 'कटाउ', 'रँगल्याउ' आदि शब्द बढ़ई के व्यवसाय के सूचक शब्द हैं।

कुछ पदों मे माँ का पालना हिलाकर बच्चे को सुलाने और साथ ही लोरी गाने आदि का भी सहज स्वाभाविक चित्रण है—'पलना स्याम झुलावति जननी। अति अनुराग परस्पर गावति, प्रफुलित मगन होति नंद घरनी।' (६६१) अथवा—

'जसोदा हरि पालनैं झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहैं न आनि सुवावै।....
कबहुं पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावैं।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि करि सैन बतावै।' (६६१)

१—हर्ष० सां० अ०, पृ० ४५।
२—कृ० जी०, पृ० ६, अध्याय २।

यह चित्र आज भी हर घर में देखा जा सकता है।

डोलना (६५८) [सं० हिंडोल:, डोलना = हिलना से] झूलने के कारण पालने को डोलना भी कहा गया है—'ले आयौ गढ़ि डोलना (हो) बिसकर्मा सुतहार' (६५८)। **खटोला** (४८१७) [सं० खट्वा + पोतलक] इसका उल्लेख सुदामा-चरित से संबंधित पद में है—'घुनौ बांस जुत बुनौ खटोला, काहु को पलंग कनक पाटी[1] को।' बच्चों की सोने की छोटी खाट को ही खटोला कहते हैं। यहाँ खटोले की पाटी बाँस की बताई गई है। साधारण खाटों की पाटी तथा पाये बाँस के ही होते हैं अतएव सुदामा की निर्धनता की ओर संकेत है। खटोले से बड़ी खटिया और उससे बड़ी खाट होती है। खाट या खटोले की पायँते की रस्सी या अदवाइन ढीली होने पर आज अलीगढ़ क्षेत्र में 'झांवर झल्ला', 'झांगी' या 'झटोला' कहते हैं।[2] अदवाइन की ओर का भाग 'पायंता' [सं० पादान्त] होता है। वहाँ की ग्रामीण बोली में खाट, खटोला, चौकी, तख्त, पट्टा आदि को सामूहिक रूप से 'माजर' कहते हैं।[3]

पजक (४८४६, ५१६), **पलंग**[4] (४८६३, २२६) **पलिका** (२६४६) [सं० पर्यंक:, पल्यंक:] आदि शब्दों का उल्लेख अनेक पदों में हुआ है। यशोदा बालक कृष्ण को पलंग पर सुला देती हैं—'आप चली गृह-काज कौं, तहं नंद बुलाए' (६८४) अथवा 'जसुमति लै पलिका पौढ़ावति' (८१५)। कृष्ण-राधा तथा गोपी संयोग-प्रेम तथा भ्रमरगीत के पदों में भी निर्देश है—'आए लाल उनींदे आपुन, पलिका पौढ़ौ पलोटिहौं पाइ।' अथवा स्यामा सदन बिसारि भजे पुर, चंचल नारि पलंग।, (४५६५) तथा 'पहुनाई ब्रज को दधि माखन, बड़ौ पलंग, अरु तातौ पानी।' (४२५५)। सुदामा जब अपने बाल-सखा कृष्ण का दर्शन करते हैं तो वह सुन्दर पलंग पर लेटे हुए थे और रुक्मिणी चँवर से हवा कर रही थीं—'पौढ़े हैं परजंक परम रुचि, रुकमिनि चौंर डुलावन चीर' (४८४६)। उनको भी आदरसहित सुवर्ण के पलंग पर बैठाया गया—'आदर करि मंदिर मैं ल्याए, कनक पलंग बैठाए' (४८६३)। पलंग की सोने चाँदी की पाटी तथा पाए राजसी वैभव में आते थे। कुछ स्फुट प्रसंगों से यह उद्धरण लिए गए हैं—'पुहुप-प्रजंक परी नवजोबनि' (५१६) अथवा 'टूटी छानि मेघ जल बरसैं, टूटौ पलंग बिछइयै' (२६६)। बड़ी खाट को पलंग कहते हैं। प्राय: इसकी बुनावट निवाड़ से होती है तथा पैताने और सिरहाने टेक लगी होती है जो प्राय: कलात्मक कटावों तथा आकृतियों से अलंकृत होते हैं। पलंग का संबंध धनवानों से है। यह उपर्युक्त पद्यांशों से भी स्पष्ट है।[5]

१—प० सं० टी०, ८६६।५ 'मीचु लाइकै पाटी बांधा।'

२—कृ० जी०, पृ० ६, अध्या० १।

३—कृ० जी०, पृ० ६, अध्या० ५।

४—प० सं० टी०, २६१।४,५ 'ऊपर रात चंदोवा छावा।
औ भुंइ सुरंग बिछाउ बिछावा।
तेहि मंह पलंग सेज सो डासी।
का कहं ऐसि रची सुखवासी।'

५—अशरफ़, भाग १, पृ० २७२, मुग़लकालीन उच्चवर्ग में निवाड़ के पलंग उपयोग में आते थे। अन्य व्यवहार में आने वाली चीज़ों में पीढ़ी, मूंढ़ा, लोहे के स्टूल (साधारण वर्ग में) तथा लकड़ी के दीवान (श्रीमन्तों के घरों में) थे।

पलंग के बिछावन के लिए कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यह पलंग पर बिछे हुए वस्त्रों तथा बिछावन[1]-सहित पलंग दोनों के अर्थ में आते हैं—

बस्तर (५२) [फ़ा० बिस्तर] एक विनय पद में मनुष्य-जीवन के निरर्थक कार्यों का वर्णन है—'तेल लगाइ कियौ रुचि-मर्दन, बस्तर मलि धोए' (५२)।

तलप (४७८) [सं० तल्पः, तल्पं] सीता को वनवास के कष्ट बताते हुए राम कहते हैं—'तजि वह जनक-राज-भोजन-सुख, कत तृन-तलप, बिपिन-फल, खाहु।' (४७८)।

सेज, सेज्जा, सेजरिया (६६१, ८६०, ३६८१)[2] [सं० शय्या] बालक कृष्ण की माता द्वारा लोरी गाकर या कहानी सुनाकर सुलाने से संबंधित पदों में उल्लेख हुआ है—'रुचिर सेज[3] लै गइ मोहन कौं, भुजा उछंग सोवावति है।' (६६१) अथवा 'आँगन में हरि सोइ गए री। दोउ जननी मिलि कै, हरुऐं करि, सेज सहित तब भवन लए री।' (८६५)। स्वच्छ तथा बिना सिलवटों की शैया अच्छी समझी जाती है—'पौढ़िये मैं रचि सेज बिछाई। अति उज्वल है सेज तुम्हारी, सोवत मैं सुखदाई।'[4] (८६०) अथवा 'सोइ रहो सुथरी सेजरिया' (८६४)। कृष्ण यशोदा या नंद के पास ही सोते थे—'सेज्जा पर संग लै पौढ़ावति' (११३२) अथवा 'सेज मंगाइ लई तहं अपनी, वहाँ स्याम-बलराम।' (११३४)।

मुरली-शीर्षक पदों तथा भ्रमरगीत में भी शय्या का उल्लेख है—'आपुन पौढ़ि अधर सज्जा पर, कर-पल्लव पलुटावति।' (१२७३) तथा 'कुसुमित सेज कुसुम-सर सर वर, हरि कै प्रान प्रानपति जीजै।' (३६८१) और 'सेज बैठारि अक्रूर सौं जोरि कर।' (३५७४)। फूलों की सेज की चर्चा संयोग-प्रेम के पदों में है—'केतकि, करना, बेलि चमेली, फूलनि सेज बिछाऊँ।' (२७२४) अथवा 'सजि सुगंध सुमन सेज' (३६१२)। आज लोकगीतों में पति-पत्नी की खाट के लिए 'सेज' या 'सिजिया[5] शब्द प्रयुक्त होते हैं। पद्मावत में 'गेंडुवा' तथा 'गलसुई' तकियों का वर्णन भी है।[6]

शीतलपाटी भी प्रचलित थी। इसके अतिरिक्त मसहरी भी लगाने की प्रथा थी। बिछावन में चादरें तथा तकियों पर गिलाफ़ चढ़ाये जाते थे।

१—प० सं० टी०, ५५६।१ 'सोनै पुहुमि बिछावन राता।'

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १४४, घरों में उपयोग में आने वाले 'शयनासन' में पाणिनि ने 'शय्या', 'खट्वा', 'पर्यंक' अथवा 'पल्यंक', 'आसंदी' तथा 'पर्प' (रोगी के लिए पहिये वाली कुर्सी) का उल्लेख किया है।

३—प० सं० टी०, २६०।१, 'जहं नवरतन सेज सोवनारा।'

४—प० सं० टी०, ३३८।५, 'सेत बिछावन औ उजियारी।'

५—प० सं० टी०, ३४६।२, 'मंदिल सून पिय अनतै बसा, सेज नाग भै धै धै डसा। रहौं अकेलि गहें एक पाटी, नैन पसारि मरौं हिय फाटी।

६—प० सं० टी०, २६१।६, 'दुहुँ दिसि गेंडुवा औ गलसुई। कांचे पाट भरी धुनि रुई।'

खण्ड १२

मनोविनोद तथा वाहन

१—मनोविनोद के साधन

३५९—दशम-स्कन्ध पूर्वार्द्ध के प्रारंभिक पदों में बाल-लीलाओं के सिलसिले में कृष्ण के कुछ प्रिय खेलों तथा खिलौनों का कई जगह अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन है। इन पदों से उस समय व्रज में प्रचलित बच्चों के मनोविनोद के प्रिय साधनों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

पालने में बाँधे गये अनेक **खिलौनों** (७०२) द्वारा शिशु का ध्यान आकर्षित होता है। कुछ और बड़े होने पर **खुनखुना** (७८८) ही उनका मुख्य खिलौना है—'खुनखुना कर, हँसत हरि, हर नचत डमरु बजाइ' (७८८)। यह बजने वाला छोटा खिलौना नन्हें बच्चों का आज भी मन बहलाता है। इसको आजकल 'झुनझुना' भी कहते हैं।

कुछ बड़े होकर बालक कृष्ण जब घर में सखाओं के साथ खेलते हैं तब कुछ नये खिलौने उनको प्रिय हो जाते हैं। इनमें **भौंरा** (१२८७) [सं० भ्रमरक], **चकडोरी** अथवा **चकई डोरी** (१२८७, ८१०) [सं० चक्र, चक्रिका] के नाम हैं—'दै मैया भौंरा चक डोरी। जाइ लेहु आरे पर राख्यौ, काल्हि मोल लै राखे कोरी—बोलि लिए सब सखा संग के, खेलत कान्ह नंद की पोरी। तैसे हरि, तैसे सब बालक, कर भौंरा-चकरिनि की जोरी।' (१२८७)। भौंरा को आजकल 'लट्टू' कहते हैं। 'चकई' एक लट्टू की तरह का ही काठ का खिलौना होता है जो डोरी में बाँध कर हवा में बच्चे खींच-खींच कर खेलते हैं। इसकी डोरी ही 'चकडोरी' कहलाती है—'ऊधो हरि गुन हम चकडोर।—चकडोरी की रीत यहै फिर गुन ही सौं लपटाइ।' (४१६२)। यह काठ के खिलौने आजकल भी बच्चों को उतने ही प्रिय हैं। चन्द्र-प्रस्ताव शीर्षक पदों में एक जगह यशोदा 'चकई डोरि' का प्रलोभन देकर दूसरी ओर उनका ध्यान बटाना चाहती हैं—'चकई डोरि पाट के लटकन, लेहु मेरे लाल खिलौनौ।' (८१०)। रंग-बिरंगी डोरी बच्चों को अधिक पसन्द आती है—'लै आए, हँसि स्याम तुरतहीं, देखि रहे रँग-रँग बहु डोरी' (१२८७)।

३६०—घर के बाहर खेलने की चीज़ों में **गेंद** (११५१) [सं० गेंदुक:, कंदुक] अथवा **कंदुक** (४१६६) [सं० कंदुक:], तथा **चौगान-बटा**[१] (१३३०, ८३१) [फ़ा० चौग़ान + सं० वट:—गोली, गेंद] उल्लेखनीय नाम हैं। सखाओं का यमुना तट पर गेंद

१—प० सं० टी, ४८३।६, 'हेंगुरि एक खेल दुइ गोटा।'

(६) हेंगुरि की कल्पना चौग़ान के खेल से ली गई है। कई घुड़सवार मैदान में गेंद डाल कर छड़ी से खेलते हैं। आईने अकबरी के अनुसार अकबर के समय में यह खेल बहुत प्रिय था। ऐसा लगता है 'हेंगुरि' शब्द १६ वीं-१७ वीं की अवधी में चौग़ान या उसके डंडे के लिए प्रयुक्त होता था।

प० सं० टी० ६२६।६, 'वहुँ चौगान तुरुक कस खेला। होइ खेलार रन जुरौं अकेला। —जीति मैदान गोइ लै जाऊँ।'

(४) गोइ = गेंद [फ़ा० गूय]।

प० सं० टी० ६२६।९ 'खेलौं सौंह साहि सौं हाल जगत महँ होइ'

(९) हाल = चौग़ान के मैदान में बने दो खम्भे जिनमें से गेंद निकालते हैं।

खेलने का वर्णन है—'खेलन चले कुंवर कन्हाइ। कहत घोष-निकास जैये, तहाँ खेलें धाइ। गेंद खेलत बहुत बनिहै, ग्रानौ कोऊ जाइ।' (११५०)।[१] श्रीदामा की गेंद यमुना में गिरना कालिय-नाग-कथा की भूमिका कही जा सकती है। गेंद खेलने का सजीव चित्रण मिलता है—'इक मारत इक रोकत गेंदहिं, इक भाजत करि नाना रंग।—भजत जो जाहि ताहि सो मारत, लेत ग्रापनौ दाउ (११५१) ग्रथवा 'स्याम सखा कौं गेंद चलाई। श्रीदामा मुरि ग्रंग बचायौ, गेंद परी कालीदह जाई। धाइ गही तब फेंट स्याम की, देहु न मेरी गेंद मंगाई' (११५३) तथा जानि-बूझि तुम गेंद गिराई, ग्रब दीन्हें ही बनै कन्हाई।' (११५३)। खेल में दाउ ग्रथवा दांव का ग्रर्थ 'बारी' का होता है।

. चौगान तथा बटा ग्राज के 'पोलो' से मिलता-जुलता खेल था। द्वारिका में भी रुक्मिणी का पत्र मिलने के पहले कृष्ण के चौगान खेलने का वर्णन एक पद में है—'मन-मोहन खेलत चौगान। द्वारावती कोट कंचन में रच्यौ रुचिर मैदान।[२]—निकसे सबै कुंवर ग्रसवारी,[३] उचैस्रवा के पोर। नील सुरंग कुमैत स्याम तेहि, पर के सब मनरंग।—जबहीं हरि लै गोइ कुदावत, कंदुक कर सौं लाइ। तबहीं ग्रौचकही करि धावत, हलधर हरि के पाइ।' (४७८४)। हाल (४७८४) वर्तमान 'गोल' के लिए प्रयुक्त होने वाला पारिभाषिक शब्द था। पद्मावत में खेलार, 'जोरा' (जोड़, बराबर करने वाला) तथा 'कूरी' शब्द ग्रधिक दिये[४] गये हैं। यहाँ चौगान के खेल का स्पष्ट वर्णन है। द्वारावती का चौगान घोड़े पर खेला जाने वाला राजसी खेल है किन्तु बचपन का चौगान बटा सम्भवतः गेंद बल्ले के ग्रर्थ में ही प्रयुक्त हुग्रा है—'लै चौगान-बटा ग्रपनैं कर, प्रभु ग्राए घर बाहर।' (१८३१) ग्रथवा 'सुबल श्रीदामा सुदामा वे भए इक ग्रोर। ग्रौर सखा बँटाइ लीन्हें गोप-बालक-बृंद—बटा धरनी डारि दीनौ, लै चले ढरकाइ। ग्रापु ग्रपनी धात निरखत, खेल जम्यौ बनाइ।' (८३२)।

३६१—माता उनके सब खिलौने शाम को सँभाल कर रख देती हैं। बच्चों के स्वभाव का कितना स्वाभाविक चित्रण है—

'सेंतति महरि खिलौना हरि कै।
जानति टेव ग्रापने सुत की, रोवत है पुनि लरि कै।
धरि चौगान, बेत, मुरली धरि, ग्ररु भौंरा चकडोरी। (१३३०)।

उनको यह भी भय है—'जहं तहँ डारे रहत खिलौना राधा जनि लै जाइ चुराई' (१३३८)।

बेंत [सं० वेतस्] भी कृष्ण के खिलौनों में था। ग्राज भी छोटे बालकों को बेंत या

१—तुलसी, गीता०, बाल०, १६, 'ग्रनुज सखा सिसु संग लै खेलन जैहैं चौगान।'

२—प० सं० टी०, ६२८।१ 'होइ मैदान परी ग्रब गोइ।'

(१) ग्रबुलफ़ज़ल ने 'मैदान' शब्द का प्रयोग किया है। यह खुली भूमि होती है जहाँ चौगान खेलना सम्भव होता है।

३—प० सं० टी०, ६२२।२ 'जोबंन तुरै चढ़ी सो रानी।'

४—वही ६२८।४ 'हाल सो करै गोइ लै बाढ़ा। कूरी दुहूँ बीच कै काढ़ा।'

(१) 'गोइ' के लिए प्राचीन शब्द 'गोटा' तथा 'कंदुक' थे। सूरसागर में इन शब्दों का ही प्रयोग है। वर्तमान 'गोल' को 'हाल' कहते थे। इसमें से गेंद निकालने पर बाज़ी होती थी। ग्रबुलफ़ज़ल ने इसका उल्लेख किया है। इसका भारतीय समानार्थक शब्द 'कूरी' था।

डंडा अनेक मूल्यवान खिलौनों से अधिक प्रिय लगता है और वे इससे तरह-तरह के खेल खेलते हैं। लकुट का उल्लेख पहले किया जा चुका है। कृष्ण भी उद्धव द्वारा यशोदा से यह कहलाते हैं—'नोई बेंत, बिषान बाँसुरी द्वार अबेर सबेरे। लै जनि जाइ चुराइ राधिका कछुव खिलौना मेरे।' (४०५७)।

घुघुंची-माल (३७८०) [सं० गुंजामाल] अक्सर बच्चों को बहुत अच्छी लगती है। लाल रंग की घुंचियाँ जमा कर के उससे खेलना उनका सरल मनोविनोद है—

'जद्यपि महाराज सुख संपति, कौन गनै मनि लालहिं।
तदपि सूर वे छिन न तजत हैं, वा घुंघुची की मालहिं।'।

स्फुट प्रसंगों में गुडी डोर[1] (२४७१) का उल्लेख है—'बँधी दृष्टि ज्यों गुडी डोर इस पाछें लागी धावति।'। कृष्ण तथा उनके सखाओं के उड़ाने का वर्णन नहीं है। पतंग उड़ाना आज प्रायः छोटे लड़कों को बहुत प्रिय लगता है। शहरों में शाम के समय छत पर चढ़े हुए लड़कों की रंगबिरंगी पतंगें आकाश मे दिखाई देती हैं। लड़कियों की प्रिय गुड़िया (४२५३) या पुतली (४६६२) [सं० पुत्तली] का बोध कुछ स्फुट प्रसंगों से होता है—'हम दासी बिन मोल की ऊधौ, ज्यों गुड़िया बिनु डोरी।'—इस पंक्ति में संभवतः 'कठपुतली' के खेल की ओर संकेत है।[2] 'ज्यौं ऊजर खेरे की पुतरी, को पूजै को मानै' (४६६३)—यहाँ 'पुतरी' शब्द देव प्रतिमा के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। बंदर के नाच का यहाँ परिचय मिलता है—'नंद-घरनि बाँधि बाँधि, कपी ज्यों नचावै' (१०१२)। यह खेल बच्चों को आजकल भी आकर्षित करता है। कठपुतली वाला पुतलियों को डोरे से बाँधकर गाने के साथ तरह तरह के खेल दिखाता है। यह खेल प्राचीन समय से चला आ रहा है।

इनके अतिरिक्त बच्चों के दौड़-दौड़ कर खेलने के अन्य खेलों मे से कुछ की चर्चा है, जैसे आँखि मुदाई (८५७)—'हरषि स्याम सब सखा बुलाए खेलन आँखि मुदाई।' यशोदा उनसे अपने सामने आँगन में खेलने का आग्रह करती हैं—'मेरे आगै खेल करौ कछु, सुख दीजै मैया को। मैं मूंदौं हरि आँखि तुम्हारी, बालक रहैं लुकाई' (८६७) अथवा हरि तब अपनी आँख मुदाई। सखा सहित बलराम छपाने, जँह-तँह गये भगाई। कान लागि कह्यौ जननि जसोदा वा घर में बलराम। बलदाऊ कौं आवत दैहौं, श्रीदामा सौं काम। दौरि दौरि बालक सब आवत छुवत महरि कौ गात—हँसि-हँसि तारी देत सखा सब भए श्रीदामा चोर' (२४०)। यह खेल आज इसी प्रकार खेला जाता है। जिस निश्चित स्थान या वस्तु को छूना होता है उसको कहीं कहीं 'ढैया' कहते हैं जैसा कि इसमे माता यशोदा को छूने का वर्णन है। जो सब को पकड़ता है वही 'चोर' कहलाता है। चोर का किसी विशेष साथी को पकड़ने का निश्चय कवि के बाल-स्वभाव के ज्ञान का परिचायक है।

इसके अतिरिक्त ताली बजाकर भागने का भी एक खेल था—'हाथ तारी देत भाजत, सबै करि करि होड़।····मेरी जोरी है श्रीदामा हाथ मारे जात। उठे बोलि तबै श्रीदामा, जाहु तारी मारि। आगे हरि पाछे श्रीदामा, धर्‌यौ स्याम हंकाई। जानिकै मैं रह्यौ ठाढ़ौ, छुवत

१—तुलसी, दोहा०, ५१३ 'चढ़े बगूरे चंग ज्यौं।'
गीता० ६, १४ '—ज्यौं गुड़ी बिन बाय।'
तुलसी की शब्दावली में 'पतंग,' 'चंग', तथा 'गुड़ी' तीन समानार्थक शब्द मिलते हैं।

२—प० सं० टी०, ५५७।६ 'जानहुँ काठ नचावै कोई।'

कहा जु मोहिं।' (८३१)। इस प्रकार खेल में बच्चों के लड़ने व चिढ़ने का स्वाभाविक चित्रण है—'खेलत मैं को काको गुसैंया। सहठि करैं तासौं को खेले, रहे बैठि जहँ तहँ सब ग्वैया'। (८६३)।

३६२—तरुण कृष्ण का प्रिय मनोविनोद बेनु (१२३५) मुरली (१३३०) बंसी (१२६६) बाँसुरी (अथवा १२६७) मुरलिका (१२७४) वादन था। मुरली शीर्षक अनेक पदों की रचना हुई है। बल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार मुरली ब्रह्म की उस आनंददायिनी शक्ति की प्रतीक है जो संसार से विकर्षित कर ब्रह्म तक पहुँचाती है। सूरसागर के अनेक पदों में मुरली का इसी प्रतीक रूप में वर्णन है—'बाँसुरी बजाइ आछे रंग सौं मुरारी—जमुना जू थकित भई नहीं सुधि सँभारी। सूरदास मुरली है तीनि-लोक प्यारी।' (१२६७) अथवा 'बंसी बनराज आजु आई रन जीति' (१२६८) अथवा' 'जब तैं बंसी स्रवन परी। तबहीं तैं मन और भयौ सखि, मो तन-सुधि बिसरी' (१२६६)। पशुपक्षी, गायें तथा जमुना तक पर मुरली ध्वनि का प्रभाव पड़ता है। विशेष आत्माओं की प्रतीक राधा तथा गोपियाँ तो सांसारिक बंधनों को भूल कर खिंची चली आती थीं—'मुरली-धुनि स्रवन सुनत भवन रहि न परै' (१२७०) अथवा 'जबहिं बन मुरली स्रवन परी। चक्रित भईं गोप-कन्या सब, काम धाम, बिसरी।' अथवा 'कुल मर्जाद बेद की आज्ञा, नैकहुँ नहीं डरी।' (१६१८) तथा, 'चली बन बेनु सुनत जब धाइ। मातु-पिता बाँधव अति त्रासत, जाति कहाँ अकुलाइ।' (१६२१)। मुरली-ध्वनि का जादू ऐसा था कि वह आभूषण तथा शृंगार सब उलटे करने लगती थीं और आराध्य से मिलने की एक चाह ही बस रह जाती थी—'अंग आभरन उलटि साजे, रही कछु न सम्हारि।' (१६२५),'गोपिनि परम कंत हरि जान्यौ, लख्यौ न ब्रह्म-प्रभाउ' (१६२६) तथा 'काके पिता, मातु हैं काकी, काहू हम नहिं जाने' (१६३६)।

रास-प्रसंग मे भी मुरली का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुरली के आकर्षण से दौड़ कर आई आकुल गोपियों को यह परम-आनंद मिलता है—'रास रस मुरली ही तैं जान्यौ' (१६८७)। मुरली-माहात्म्य अनेक पदों में वर्णित है—'मुरली धुनि बैंकुठ गई। नारायन-कमला सुनि दंपति, अति रुचि हृदय भई।' (१६८२) अथवा 'जब हरि मुरली नाद प्रकास्यौ। जंगम जड़, थावर चर कीन्हें, पाहन, जलज, बिकास्यौ' (१६८४) तथा 'जमुना उलटी धार चलीं बहि, पवन थकित सुनि बेनु' (१६८५)।

गोचारण-शीर्षक पदों में भी मुरली बजाने का वर्णन है—'वृन्दावन तैं धेनु-बृन्द मैं बेनु अधर धरे गावत।'

मुरली पर कृष्ण का विशेष प्रेम देख कर गोपियाँ कभी तो उसके सौभाग्य से प्रसन्न होती हैं तथा कभी सपत्नी-भाव से झुंझलाती हैं—'मुरली कौन सुकृत-फल पाए' (१२७६) अथवा 'सखी री मुरली कीजै चोरि। जिनि गोपाल कीन्हें अपने बस, प्रीति सबनि की तोरि।' (१२७५) अथवा 'मुरली भई सौति बजाइ' (१८५२) तथा 'मुरली हम पर रोष भरी। अंस हमारौ आपुन अँचवत नैकहुँ नहीं डरी।' (१८६०) तथा 'याके गुन मैं जानति हौं' (१८७३)। मुरली-उत्तर संबंधी कुछ पद (१६४८, १६५६) हैं—'मोपर ग्वालिन कहा रिसात। —मैं बंसुरिया बांस की जौ, तौ भई अकुलीन—।' (१६५१) अथवा—'मेरे दुख कौ और नहीं। षटरितु सीत उषा बरषा मैं ठाढ़े पाइ परी—तुम जानति मोहिं बांस बंसुरिया अगिनि छाप दै आई।' (१६५५) तथा 'स्रम करिहौ जब मेरी सी। तब तुम अधर-सुधा-रस बिलसहु मैं ह्वै रहिहौं चेरी सी।' अगिनि सुलाक (१६५५, १६५८) का उल्लेख है—

'अगिनि सुलाक देत नहिं मुरकी, बेह्‌ बनावत जारि ।' (१६५८) । मुरली बजाते समय का कृष्ण का त्रिभंगी (१२८०) रूप प्रसिद्ध है । राधा द्वारा मुरली-वादन का एक प्रसंग है—'कंचन मनिमय रचित, खचित अति कर गिरधारन परी ।' (१८४५) । कहीं कहीं बांस [सं० वंश] से निर्मित मुरली वर्णित है—'सुनहु री मुरली की उत्पत्ति । बन मैं रहित, बांस कुल याकौ यह तौ याकी जाति ।' (१८७४) अथवा 'मुरली तौ यह बांस की' (१८३४) ।

३६३—कृष्ण-गोपियाँ तथा राधा के मनोरंजन के साधनों में जलक्रीडा (१७८१) अथवा जल-विहार (१७७६, १७७७) की गणना की जा सकती है । रास के बाद जल-केलि संबंधी अनेक पद हैं । पानी में खेलना तथा भीगी लटों आदि का सुन्दर वर्णन हुआ है ।

हिंडोल[1], हिंडोरा, हिंडोरना तथा डोल (३४४६, ३४४८, १११६, ३५३७, ३५३६) हिंडोला शीर्षक पदों में कृष्ण तथा राधा और गोपियों के झूलने का विस्तृत वर्णन है । उनका हिंडोला अद्वितीय था । उसके खंभे सोने के, पटुली रत्नजटित और डांडी भी अत्यन्त सुन्दर थी—'झूलत नंदनंदन डोल । कनक खंभ जराइ पटुली, लगे रतन अमोल । सुभग सरल सुदेस डांडी रची बिधना गोल । मनौ सुरपति सुर-सभा तें पठै दियौ हिंडोल ।' (२५३६) और 'गोकुल नाथ बिराजत डोल । संग लिये वृषभानु नंदिनी, पहिरे नील निचोल । कंचन खचित लाल मनि मोती, हीरा जरित अमोल । झुलवहिं जूथ मिलै ब्रज-सुंदरि हरषति करति कलोल' (३५३७) । इस झूले की बरूहा रेशम की थी—'बहुरंग रेसम-बरूहा, पंचरंग पाट पवित्रा, बिच बिच फोंदा गोहनौ' (३४५०) । मयारि, मरुव, मरुआ [सं० मरुवः] (३४५०, ३४५६) का भी वर्णन है—'मरुव मयारि पिरोजा लटकत', (३४५०) अथवा 'मरुआ लगे नग ललित लीला' तथा 'खंभ जंबू नग सु बिद्रुम रची रुचिर मयारि' (३४५६) ।[2] झूले के बीच का डंडा 'मयारि' कहलाता है । इसमें झूले की रस्सियाँ बंधी रहती हैं । इसको 'मरुव', या 'मरुआ' भी कहते हैं । डांडी (३४५६) [सं० दण्डः] भी साधारण नहीं थी—'डांडी खची पचि पचि मरकत मय सुपांति सुढार' (३४५६) । स्फटिक पटुली अथवा सिंहासन के संबंध में पहले बताया जा चुका है—'स्फटिक पटुली संग' (३४५६) अथवा 'स्फटिक सिंहासन मध्य बिराजत' । यह हिंडोलना बर्षा ऋतु में यमुना-तट पर कदम्ब वृक्ष में बनाया गया था—'जमुना पुलिनहिं रच्यौ रंग सुरंग हिंडौलनौ' (३४५०) अथवा 'जमुना पुलिन रच्यौ हिंडोर' (३४५४) ।

हिंडोला की बनावट के अतिरिक्त झूलने का भी सुंदर वर्णन है—'कबहुँक रहसत, मचकि लै लै, एक एक सहेलि' (३४४२) अथवा 'उड़त अंचल लटकै बेनी, कमर झपटै

१—प० सं० टी, ३४५।५, सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला....
हिय हिंडोल जस डोलै मोरा । बिरह झुलावै देइ झंकोरा ।'
४७४।४, 'चपल बिलोल डोल रह लागी ।'

२—नंददास, 'फूलन के खंभ दोउ डांडी चारु फूलन की ।'
फूल बनी मयार फूल रही ललना ।'

३—गीता० ७,१६ 'गृह गृह रचे हिंडोलना महि गच कांच सुठार ।
सरल बिसाल बिराजहीं बिद्रुम खंभ सुजोर । चारु पाटि पटी पुरट की झरकत मरकत भौंर । मरकत भंवर डांडी कनक मनि-जटित दुति जगमगि रही । पटुली मनहुँ बिधि निपुनता निज प्रकट करि राखी सही ।'

मोर' (३४४६) अथवा 'हंसति पिय संग लेति झूमक, लसति स्यामल गात ।' (३४५३), 'झमकि झूमक लेति दै दुमची मचै रुचि केन ' (३३५६)। मचकि[1] तथा झूमक, झोंटा (३४५१)—'ललिता बिसाखा देहि झोंटा' (३५५३) लेने को आज पेंगें बढ़ाना भी कहते हैं। तेज झूलने का यह ढंग होता है। झूले के साथ गाने का भी उल्लेख है—'नान्ही नान्ही बूंदनि बरषै, मधुर मधुर धुनि घोरनौ' (३४५०) अथवा 'राग रागिनी मेलि गावै' (३४४६) और 'कोउ गावति, कोउ हरषि झुलावति' (३४५२) ।

३६४—कुछ विनय पदों में नगरों तथा राजा-श्रीमन्तों के प्रिय सूरकालीन प्रचलित प्रसिद्ध खेल चौपरि, पांसे[2] (६०) [सं० पाशकः] का रूपक है। चौपड़ के हाथी दांत के चौकोर लम्बे तीन टुकड़े को 'पाँसा' कहते हैं। इस दृष्टि से पद ६० महत्त्वपूर्ण है—'चौपरि जगत मड़े जुग बाते। गुन पांसे क्रम अंक, चारि गति सारि, न कबहूँ जीते। चारि पसार दिसानि, मनोरथ घर फिरि फिरि गिनि आनै—मानौ बग बगदाइ प्रथम दिसि आठ-सात-दस ताखै। षोड़ष-जुक्ति, जुवति चित षोडष बरस निहारै।—पंद्रह पित्र काज चौदह दस चारि पठे सर सांधै। तेरह रतन कनक रुचि रुचि द्वादस अटन जरा जग बांधै। नहिं रुचि पंथ पयादि डरनि छकि पंच एकादसि ठानै। नौ दस आठ प्रकृति तृष्णा सुख सदन सात संधानैं। चौक चबाउ भरे दुबिधा छकि रस रचना रचि धारी।' (६०)। इसमें गिनती या संख्या का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है तथा चौपड़ के कुछ पारिभाषिक शब्दों की ओर ध्यान जाता है। बाजी हारी (६०) का अर्थ हारना है। युधिष्ठिर का चौपड़ में द्रौपदी तक को हारने की कथा है।

जुआरी, जूआ (२६०)[3] [सं० द्यूतं] 'जूआ खेलत जहाँ जुआरी'—जुआ का

1—तुलसी, गीता०, ७, १६, 'अति मचत छूटत कुटिल कच छबि अधिक सुन्दर पावहीं। पट उड़त भूषन खसत, हँसि हँसि अपर सखी झुलावहीं।'

२—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० १६५, शतरंज के अतिरिक्त आकर्ष पर खेला जाने वाला एक और खेल था जो भारतीय चौपड़ से मिलता था। इसमें खाने होते थे। इस प्रकार चौपड़ को प्राचीन खेलों में गिना जा सकता है।
प० सं० टी, ३१२।१, 'खेलु सारि पांसा तौ जानूँ।'
(१) सारि [सं० शारि = गोट] ३१२।७ 'खेलौं के हिया', 'कच्चे बारह' 'रहै न आठ अठारह भाखा', 'सतएं बरें', 'दुवा', 'जुगसारि', 'नवनेह' 'सोतिया' आदि शतरंज के पारिभाषिक शब्दों तथा दांवों का प्रयोग किया है।

३—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० १६१, १६२, ऋग्वेद से ही शतरंज का उल्लेख मिलने लगता है। अष्टाध्यायी में 'द्यूत' अथवा 'अक्षद्यूत' नाम मिलते हैं। जुआरी को 'आक्षिक' कहा गया है। पतंजलि के अनुसार जुए की आदत वाला व्यक्ति 'अक्ष-कितव' या 'अक्ष-धूर्त' था। कितव (जुआरी) प्राचीन वैदिक शब्द है। यह शब्द इसी अर्थ में बौद्ध साहित्य तथा महाभारत (सभापर्व) ५८।६ में मिलते हैं। अष्टाध्यायी तथा अर्थशास्त्र के अनुसार यह खेल अक्ष तथा शलाका दो प्रकार से खेला जाता था। भरहुत के द्यूत चित्र में अक्ष चौकोर टुकड़ों के रूप में चित्रित हैं। संस्कृत साहित्य में 'ग्लह' का अर्थ दांव रहा है, चाल नहीं। वैदिक साहित्य में चाल का ही अर्थ था। शाकुनि के विचार से 'ग्लह' के कारण ही द्यूत निंद्य खेलों में गिना जाने लगा।

स्थान सदैव से निषिद्ध व्यसनों में रहा है।

३९५—प्राचीन काल के समान[1] मुग़लकाल में बाहरी मनोरंजनों में शिकार का महत्त्वपूर्ण स्थान था। सूरसागर में यत्र तत्र सिकार (६४) [फ़ा० शिकार] तथा आखेट[2] (४५०६) [सं०] के उल्लेख होना स्वाभाविक है। इन दोनों पदों में मृगया अथवा मृग-आखेट का उल्लेख है—'सदा सिकार करत मृग मन कौ, रहत मगन भुरयौ।' (६४) तथा 'बचन फांस बांधे मृग माधौ, उन रथ लाइ लए। इनहीं हेरि मृगी गोपी सब, सायक ज्ञान हए।' (४१०६)। इस पद्यांश में शिकार करने के ढंग पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। व्यवसाय के सिलसिले में चिड़ियों के पकड़ने का उल्लेख किया जा चुका है (४८३४, ९७)। उस समय राजदरबारों में पहलवानों से भी लोग अपना मनबहलाव करते थे।[3] कंस के मल्लों (३६९२, ३६९५) मुष्टिक तथा चाणूर के प्रसंग से इस प्रथा का पता चलता है।

वर्तमान समय में कुछ नए खेल तथा मनोरंजन के साधन हमारे जीवन के अंग बन गए हैं। बाहरी लोकप्रिय खेलों में फुटबॉल, क्रिकेट, हॉकी, बास्केट-बॉल, वॉली-बॉल, बैडमिंटन तथा टेनिस की गणना हो सकती है। शिकार का शौक़ भी एक छोटे से वर्ग में अवशिष्ट है। यह प्रायः मचान से या फिर हाथी अथवा 'जीप' आदि से किया जाता है। 'हाँके' द्वारा पशुओं को घेरते हैं। वनों के निकट या हिमालय की तराई में रहने वाले लोगों को अधिक सुविधा होती है। कुछ लोगों की रुचि मछली पकड़ने में भी है। कभी कभी प्राकृतिक सौंदर्य नागरिकों को उनके व्यस्त जीवन से आकर्षित कर लेता है। फलस्वरूप नौका-बिहार, 'पिकनिक' या भ्रमण करते हुए लोग दिखाई देते हैं।

बड़े नगरों में गोल्फ़, पोलो तथा घुड़दौड़ धनिक-वर्ग के आकर्षण केन्द्र हैं। अब प्रायः लोग घोड़े या हाथी की सवारी शौक़ के लिए करते हैं। पहाड़ी प्रदेशों में अवश्य घोड़ा उपयोगी भी है। अन्दर के मनबहलावों में ताश, शतरंज, बिलियर्ड, टेबिल-टेनिस, 'कैरम', 'स्केटिंग',

---

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १६०, अष्टाध्यायी में शिकार के लिए 'लुब्धयोग' तथा शिकारी के लिए 'मार्गिक' (मृग मारने वाला), 'पाक्षिक' या 'शाकुनिक' (चिड़ियों का अहेरी) शब्द प्रयुक्त हुए हैं। 'पाक्षिक' या 'अहेरी' विभिन्न चिड़ियों को पकड़ने के अनुसार उनके ही नाम से जाने जाते थे। काशिका के अनुसार 'मृग' के आखेट में और भी जानवरों का शिकार सम्मिलित है। 'सपत्रा' वाणों से यह आखेट होता था। शिकारियों के साथ शिकारी कुत्ते भी रहते थे (श्वगणेन चरंति)। मछुए को 'मात्स्यिक' या 'मैनिक' कहते थे।

२—प० सं० टी०, ८३।?, 'राजा कतहुँ अहेरै गए।'

वही ५५।७ 'जैसे सिंघ मंजूषा साजा।—सिंध जानु ओगौन।'

ओगौन—[पशुओं को फांसने का गड्ढा]

मानस०, बाल० २०५, 'बन मृगया नित खेलहि जाहीं'

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १५८, पतंजलि ने 'मल्ल' तथा 'मुष्टिक' शब्द पहलवानों के लिए प्रयुक्त किए हैं तथा पाणिनि ने 'संग्राह' शब्द (हाथ पकड़ना gripping) दिया है। 'आवाहन' के बाद कुश्ती शुरू होती थी। 'प्रहरण क्रीड़ा' का भी पाणिनि ने उल्लेख किया है। काशिका में 'मौष्टा', 'दाण्डा' (लाठी के खेल) उदाहरण बताए हैं। जातक में धनुष वाण के खेल भी बताए गए हैं।

तथा अन्य विभिन्न खेलों के अतिरिक्त उत्सव, त्यौहार तथा दावतों आदि को भी गिना जा सकता है। रंगमंच पर खेले जाने वाले नाटक, नृत्य, गायन, चित्र-प्रदर्शनी तथा काव्य-रसास्वादन कलाप्रियता के उदाहरण हैं। मनोरंजन के नवीन साधनों में सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण स्थान 'रेडियो' तथा चित्रपट का है।

गाँवों में आज भी विशेष अन्तर नहीं हुआ है। वहाँ लोग आज आल्हा, ढोला, भागवत, महाभारत, रामायण-पाठ, नौटंकी, मेला, त्यौहारों तथा उत्सवों से ही प्रमुख रूप से अपना मनबहलाव करते हैं। वहाँ बच्चों के खेलों में कबड्डी, लुकाछिपी, गेंद, गोली आदि को गिना जा सकता है। सावन के महीने में लड़कियों के झूले भी दिखाई देते हैं और गुड़िया के खेल उनको विशेष प्रिय होना स्वभावगत है।

२—वाहन

३६६—सूरकालीन कुछ सवारियों का ज्ञान भी उनके काव्य से होता है। स्थल की सवारियों में उन्होंने थोड़े से नामों का प्रयोग किया है—**रथ** अथवा **स्यंदन** (२६,४००६, ४०१०,२७०) [सं०] सेना के चार अंगों में प्राचीन काल से ही रथ का स्थान रहा है। सेना संबंधी शब्दावली में इसके बारे में बताया जा चुका है। सूरसागर के सभी युद्ध प्रसंगों तथा रूपकों में रथ का उल्लेख है ही, इसके अतिरिक्त प्राचीन समय से ही श्रीमंत नागरिकों की प्रमुख सवारी रथ थी। राजा तथा सामंत हाथी व घोड़े की सवारी भी करते थे[1]। सूर-काव्य में मथुरा नगर से आने वाले कंस तथा कृष्ण के संदेश-वाहकों अक्रूर तथा उद्धव के रथों का अनेक पदों में वर्णन है—'आयसु पाइ सुष्ठु रथ कर गहि, अनुपम तुरंग साज[2] धृत जोह्यौ।' (३५५६), 'यह गुनि रथ हांकि दियौ, नगर पर्यौ पाछैं।' (३५६२) अथवा 'ठाढ़ी चितवैं छांह कदम की, उड़त न रथ की धूरि।' (३५७६)। अक्रूर रथ में बिठाकर कृष्ण, बलराम तथा नंद आदि को मथुरा ले जाते हैं—'केतिक दूरि गयौ रथ माई। नंद-नंदन के चलत सखी हौं, हरि कौं मिलन न पाई।' (३६१५) अथवा 'सखी री वह देखौ रथ जात। कमल-नयन कांधे पर पीत बसन फहरात।' (३६१६) और 'जब रथ भयौ अदृश्य अगोचर, लोचन अति अकुलात।' (३६१६) तथा 'सबै अजान भई तिहिं औसर, काहू रथ न गह्यौ।' (३६१८)।

इस प्रकार अक्रूर का रथ अपने साथ ब्रज का सुख तथा आनंद लेकर चला गया और वह इस अचानक पड़े दुख के आधिक्य के कारण कुछ कह भी न सके—'वह चितवनि, वह रथ की बैठनि, जब अक्रूर की बाँह गही। चितवति रही ठगी सी ठाढ़ी, कहि न सकति कछु काम दही।' (३६२२)। दुबारा फिर मथुरा की ओर से रथ आते देख कर श्याम के आने को

१—इंडिया एज नोन टु पाणिनि, पृ० १४८, सवारियों को अष्टाध्यायी में 'वाहन' या 'वाह्य' कहा गया है। यह दो प्रकार की थी—भूमि तथा जल की। जल के वाहन को 'उद-वाहन' कहते थे। सामग्री के अनुसार 'इक्षु-वाहन', 'शरवाहन', 'दर्भ-वाहन' आदि नाम होते थे। पाणिनि काल में भी रथ धनिकों की सवारी थी। कई रथों को सामूहिक रूप से 'रथ्या' या 'रथकट्या' कहा जाता था। पतंजलि ने रथ में जुते जानवरों के अनुसार भी विभाजन किया है—'आश्व रथ', 'औष्ट्र-रथ' तथा 'गार्दभ-रथ'।

२—प० सं० टी०, ४६।८, 'जतु मन के रथवाह—रथ के घोड़े को 'रथवाह' कहा है। मानस, ६, ८७, 'गज रथ तुरग चिक्कार कठोरा।'

संभावना से—'ग्राजु कोइ स्याम की ग्रनुहारि' (४०८३) प्रसन्न होने के साथ ब्रज-वासी ग्रातंकित भी हो उठते हैं—'वैसोयै रथ लागत मोकौं, उतहीं तैं कोउ ग्रावत री। चढ़ि ग्रायौ ग्रक्रूर जाहि पर, स्यंदन ब्रज तन धावत री। वैसियै ध्वजा पताका वैसोइ घर घर सबद सुनावत री।' (४०७६) ग्रथवा 'वैसोइ रथ वैसोइ कोउ ग्रावत। उतरी तैं भुरि भुरि सब मरसि बिरह गोपी जित की तैं।' (४०७८) रथ पर बैठ कर ग्राखेट करने का एक स्थान पर रूपक है—'मनौ दोउ एकहिं मते भये। ऊधौ ग्ररु ग्रक्रूर बधिक मति, ब्रज ग्राखेट ठए। बचन फाँस बाँधे मृग माधौ, उन रथ लाइ लए। इनहीं हेरि मृगी गोपी सब, सायक ज्ञान हए।' जोग ग्रगिनि की दवा देखियत, चहुँ दिसि लाइ दए।' (४२०६)।

ग्रक्रूर का रथ एक स्थान पर कंचन-निर्मित[1] वर्णित है—'मदन गुपाल बैठि कंचन रथ, चितै दिये तन रीते' (४००६)। कृष्ण के मथुरा जाने के बाद से उनकी सवारी रथ हो गई थी। महाभारत युद्ध में भी वह ग्रर्जुन के साथ थे। इन सब का उल्लेख किया जा चुका है। रथ को ध्वजा या पताका से ग्रलंकृत करने का ऊपर के पद्यांशों में वर्णन है। इसकी ग्रन्य सज्जा[2] या साज भी वर्णित हैं—'वैसोइ रथ वैसोइ सब साज' (४०६६)। जुवा-रथ[3] (२४१३) [सं० युगं] का निर्देश भी है। यह गाड़ी के ग्रागे की वह लड़की है जो जानवर के कंधे पर रहती है। रथ चलाने वाले को सूर ने सारथी (५८८,२७८) [सं०] या रथ-हंकवैया (४७६) कहा है।

३६७—**सकट, सकटा** (१०२०,४६००) [सं० शकट] यह ग्रामीणों में प्रचलित सवारी ज्ञात होती है क्योंकि नंद ग्रादि गोकुल से वृन्दावन सकटों पर सामान लाद कर जाते हैं—'सब गोपनि मिलि सकटा साजे, सबहिनि के मन में यह माई' (१०२०)। गोबर्द्धन की पूजा करने वृन्दावन से सब लोग पूजा-नैवेद्य की सामग्री ग्रपने ग्रपने सकटों में रख कर ले जाते हैं—'सकट जोरि लै चले देव बलि। गोकुल-ब्रजवासी सब हिलि मिलि।' (१५१८)। कृष्ण का द्वारिकापुर से भेजा संदेश सुनते ही यह लोग सकटों में बैठ कर उनके दर्शन करने

१—प० सं० टी०, २७७।२ 'ग्रौ राता रथ सोने क साजा। भए बरात गोहन सब राजा।'

२—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १५०, १५१ काशिका में 'कांबल', 'वास्त्र' ग्रथवा 'चार्मण' से रथ में बैठने का स्थान सजाने का उल्लेख है। बाघ या शेर की खाल भी बिछाई जाती थी जिसे 'द्वैप' या 'वैयाघ्र' कहते थे। महाजनक जातक तथा रामायण में भी इसका उल्लेख है। राम युवराज के तिलक के लिए ऐसे ही रथ पर बैठे थे। प्राच्य देश के राजा ने 'वैयाघ्र' रथ युधिष्ठिर को भेंट किए। प्रत्येक रथ का मूल्य एक हजार कार्षापण था (सभापर्व ५१,३३)। इन उल्लेखों से ग्रनुमान होता है कि ऐसे रथ राजसी माने जाते थे। साधारण रथ जो हर मार्ग पर चलता था 'सर्व।थीन' नाम से जाना जाता था। कौटिल्य के ग्रनुसार 'रथ-पथ' चौड़ा मार्ग था।

३—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० १४६ पाणिनि ने 'रथांग' का उल्लेख भी किया है। 'रथ्य' उसके भागों का सूचक शब्द था। 'उपाधि' पहिये का एक भाग था तथा धुरी को 'ग्रक्ष' कहते थे। पृ० १६६, पाणिनि ने हल के 'युग' का उल्लेख किया है। बैल 'युग' में 'योत्र' या 'योक्त्र' नामक रस्सी से बाँधे जाते थे।

कुरुक्षेत्र तक जाते हैं। गाँव के लोग सकट मे किस प्रकार गाते बजाते यात्रा पूरी करते हैं इसका स्वाभाविक चित्रण है—'अपने अपने सकट साजि कै, मिलन चले अबिनासी। कोउ गावत कोउ बेनु बजावत, कोउ उतालन धावत' (४६००)।

इन प्रसंगों के अतिरिक्त शकटासुर-वध उनके अलौकिक-चरित में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है—'सकट रूप धरि असुर लीन्हौं', 'गिर्‌यौ भहरात सकटा संहार्‌यौ' (६८०) 'समझे सूर सकट पग ठेलत' (६८१)। शकट को बैल खींचते थे तथा रथ को अधिकतर घोड़े। शकट प्राचीन समय में सामान ले जाने के काम आता था। इसमें जो बैल जोते जाते थे उनको 'शाकट' कहते थे। अष्टाध्यायी मे इसका उल्लेख है। पतंजलि ने इन गाड़ियों के क़ाफ़िले को 'शाकट-सार्थ' कहा है। बौद्ध-साहित्य में इस प्रकार के पाँच सौ गाड़ियों के सार्थ के अनेक उल्लेख हैं। यह सार्थ पूरे देश में एक स्थान से दूसरे स्थान को 'वणिज' ले जाने के साधन थे।[१]

३६८—जल की सवारियों में **नौका, नाव**[२] (९६,४८४,४८५) [सं० नौका] का उल्लेख राम-कथा मे है—'नौका ही ताहीं लै जाऊँ' (४८५) तथा 'मेरी नौका जनि चढ़ौ त्रिभुवनपति राइ।' (४२६) तथा 'महाराज रघुपति इत ठाढ़े, तैं कत नाव दुराई' (४८४)। राम की चरण-रज से नौका की देवगति कहीं अहिल्या के समान न हो जाये, केवट के इस भय का यहाँ वर्णन है। विनय-पदों मे नाम-रूपी नौका का बार-बार उल्लेख है—'नाहिं चितवन देत सुत-तिय, नाम-नौका ओर' (९६)। संसार सागर मे मनुष्य की जीवन-रूपी नौका का खेवनहार प्रभु ही हैं। यह रूपक हमारे साहित्य में नया नहीं है।

नाव के अलावा **बेरौ**[३] (४२६) [सं० बेड़ा], **पोत** (७५५) [सं० पोतः] तथा **जहाज** (१६८,३८१८) [अ०] और **बोहित**[४] (४२२८) आदि जल-वाहनों का भी उल्लेख हुआ है—'सेमर ढाकहिं काटि कै, बांधौ तुम बेरौ। बार-बार श्रीपति कहै, धीवर नहिं मानै।' (४८५)। 'पोत' तथा 'जहाज़' प्रायः समानार्थक हैं। यह नाव से कहीं बड़े होते हैं तथा समुद्र यात्रा के लिए उपयोगी है। यहाँ जलधि-कूल न मिलने से यही बोध कराया गया है—'जलधि थकित जनु काग पोत को, कूल न कबहूँ आयौ री।' (७५५) विनय-पदों में मन की तुलना जहाज़ के पच्छी से की गयी है—'मेरौ मन अनत कहाँ सुख पावै। जैसे उड़ि जहाज कौ पच्छी फिरि जहाज पर आवै।' (१६८)।

३६९—वायु की सवारी में **विमान**[५] (२८३०) का नाम लिया जा सकता है। राम-कथा में इसका उल्लेख है। राम आदि रावण के विमान पर बैठ कर अयोध्या आते हैं—

१—इंडिया एज़ नोन टु पाणिनि, पृ० २४८।

२—प० सं० टी०, ३४५।७ 'मोर नाव खेवक बिनु थाकी'।

३—बेड़ा नावों या जहाजों के समूह को भी 'बेड़ा' कहते हैं। 'बेड़ा पार होना' और 'बेड़ा ग़र्क़ होना' प्रसिद्ध मुहावरे हैं।

४—प० सं० टी०, १४६।४ 'बोहित दीन्ह दीन्ह नै साजू।' १४७।१ 'धावहिं बोहित मन उपराहीं।' सहस कोस एक पल महँ जाहीं।' १४० (७) बोहित = जहाज [सं० बोधिस्थ—बोहित्थ] 'बोधि' नाव के नीचे के भाग को कहते हैं। तामिल भाषा में भी 'बोदि' जहाज का एक भाग-विशेष है।

५—प० सं० टी०, ६२२।२ 'साजा पदुमावतिक बेवानू।', ६२२।६ 'हीरा रतन पदारथ भूलहिं। देखि बेवान देवता भूलहिं।'

'दूरहिं तैं दुतिया के ससि ज्यौं, ब्योम बिमान महा छबि छाजत।' (६११) तथा 'पुहुप बिमान दूरिहिं प्रभु छाँड़े, चपल चरन आवत प्रभु धाए।' (६१२)। विशेष अवसरों पर देवगण द्वारा विमान में चढ़कर पुष्पवर्षा करने की कल्पना नई नहीं है—'रघुपति-चरन-प्रताप प्रगट सुर, ब्योम बिमाननि गावत' (५६७) तथा 'अमर बिमान चढ़े सुख देखत, जै- धुनि-सब्द सुनाई।' (६४२) तथा 'अंबर बिमाननि सुमन बरसत, हरषि सुर संग नारि।' (३४४८)। यह वर्णन क्रमशः सेतु बंध, कृष्ण-जन्मोत्सव तथा हिंडोला शीर्षक आदि अनेक पदों से लिए गए हैं।

३—दूरी के नाप

३७०—लंकापुरी वर्णन में सूर ने जोजन (५१६) [सं० योजनं] का उल्लेख किया है—'सौ जोजन बिस्तार कनकपुरि, चकरी जोजन बीस।' (५१६)। योजन में वर्तमान आठ मील के क़रीब दूरी होती है। गोबर्द्धन-पूजा में भी गाँव वाले दूरी का अनुमान लगाते हैं—'जोजन बीस एक अरु अगरौ डेरा इहिं अनुमान।' (१४४२)।

कारे कोसनि (४८७६) [सं० क्रोशः—कोस] का निर्देश गोपियों के विरह-वर्णन मे है। 'कारे कोस' बहुत अधिक दूरी का भाव व्यक्त करता है। दूरी का यह नाप 'कोस' या 'क्रोह' उस समय सबसे अधिक प्रचलित था। एक पक्के कोस मे दो मील होते हैं। अलीगढ़ क्षेत्र की ग्रामीण बोली मे बहुत दूरी का भाव 'काटे कोस' अथवा 'हजनन' से व्यक्त करते हैं। कम दूरी को 'पेंड़ भर' कहते है।[१] वियोग-पदों में एक स्थल पर पैले तट (३८७२) का निर्देश है—'हम इहि पार, स्याम पैले तट, बीच बिरह को जोर।' (३८७२) द्वारिका की दूरी उनके लिए निराशा का विषय बन जाती है—'मथुरा हूँ तैं गए सखी री, अब तरि कारे कोसनि।' (४८७६) अथवा 'सत जोजन मथुरा तैं कहियत।' (४८८०)।

पद्मावत में 'बेवान' या विमान पालकी के समान चंडोल से भी श्रेष्ठ किसी सवारी के अर्थ में आया है। सखियाँ तो 'चंडोल' पर जाती हैं किन्तु पद्मावती विमान पर।

१—क० जो०, पृ० १४, अध्याय १।

शब्दानुक्रमणिका

शब्दानुक्रमणिका

सूचना—थीसिस में प्रयुक्त सूरसागर के समस्त सांस्कृतिक नामों की सूची। प्रथम अंक अनुच्छेद [पैराग्राफ़] का तथा दूसरा अंक सूरसागर की पूर्ण पदसंख्या का द्योतक है। शब्दों का संकलन नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर [प्रथम संस्करण, संवत् २००५ वि०] से किया गया है।

अ

अवधपुरी	१७७।४७७
अवतंस	४१।२२३०
अवारजा	२००।१४२
अवासहिं	३१५।५१६
अविगत	२५१।४६१५
अविनासी	२५१।४६१५
अष्टांगजोग	२५८।३६४
असल	१८७।१४२
असवार	२३०।३५३२
असावीर	२६४।३४४६
असि	२२३।५१६
असीस	२३२।६४५
असोक	३३३।५१६
अस्वमेध अज्ञहु	२६८।३४६
अहदी	२१६।६४
अहीर	१८६।१३५८,४१६८, ४३८६,४१६८
अहीरि	१८६।१३५८,४१६८, ४३८६,४१६८
अहीरी	२६४।३८३५
अहेरी	१६५।४२३४

आ

आँखमुदाई	३६१।८५७
आँचल	३४।३०३७
आँब	१२०।१०१४,८२६
आँबरे	११७।१०१४
आँवले	१२७।१०१४
आउझ	२८६।३४८५, ३००।३८४३
आखेट	३६४।४५०६
आज	११५।२१४३
आतपत्र	२१८।३८४५
आभरन	५०।२८०२
आभीर	१८६।१३५८,४३८६,४१६८
आभूसन	५०।१२४६
आम	३३४।१५४२,१७०६
आकरुई	०।३४७३
	३५।२४७३
आरती	२६५।८७६
आलाप	२६३।३०७१
आवझ	२८८।३५११
आसन	३५६।५६५,२६०।४४८४

इ

इंडरी	३४६।२०१७,२०३४,२०३५
इतरबैदर	३२२।३६२२
इतिहास	२८१।१७६३
इंदीवर	३३१।२४३६
इडा	२५६।४६६७,४१८६, ४७१२
इन्द्र	२६४।१४३८
इन्द्रमीलमणि	२०६।८३४
इन्द्रपुरी	१८३।३४३
इन्द्र सभा	२१६।१२६७
इमली	१२७।१८३१

उ

उचक्का	१६७।१८६
उचैस्रवा	३२४।४७८४
उजरि	२१६।१४१, १४४, ६४
उतराई	१६०।४८४
उढ़नियाँ	३११।३१३
उबटन	८८।१६१८
उपंग	२८६।३४८५
उपरना	४०।८२६,१६६८,३१०२
उपरैना	४०।८३६,१६६८,३१०२
उपनिसद	२७७।१२२,२२३१
उलूखल	३४७।६६४
उरग	३०६।
उरग दीप	३१०।११६१
उरिन	१८८।४०४६
उलूक	३२२।१००,२४५१

ऊ

ऊँट	३०५।३५७
ऊख	१२१।एक०१, ८२६
ऊख रस	१२१।एक०१, ८२६
ऊखल	३४७।६५६, ६६७
ऊरध चित	२६०।४१३१

कमल	२६०।३३०।३८५१, २३७५	काकपच्छ	८४।४६४
		काग	३२२।२८६,११५६,४२०६
कमला	३३१।३३८	कागद	३५४।३६१८, ४१११
कमरी	२७।१०८५	कागर	३५४।३६१८, ४१११
कमान	२२२।६४	काचरी	१५४।१०१४
कमोरी	३४१।८८३, ८८८, ६०२	काछनी	३८।३०७
करज़ोरा	११५।२१४६	काजर	६४।६४२, २८६७
करताल	२६१।३४८२	काजी	२१६।२१४८, २८७४
करधनी	६६।१६७२	करनिकार	३२७।१७१३
करनफूल	५३।२८०७, २८०८	कर्नि, करना	३२७।३६३२,३५२१
करनाटी	२६४।२७५८	कापरा	२।६५८
करनि	३१७।१७१३	काफी	२६४।३५०५
करवीर	३२७।३६३२	कामना	२५३।४७७८
करम	३०५।६६	कामनाधेनु	३२४।१६४, ४३५, ६५०, ४८०६
करीदनि	१२७।१८३१		
करबाल	२०३।४८३६,३६२२, २७४७	कामधेनु	३२४।१६४, ४३५, ६५०, ४८०६
करील	३३७।परि० १६२	कामरि	२७।१०७१
करैला	१३१।१८२१	कायफर	११५।२१४६
करंवदा	१२७।१८३१	कारो	१५।२६०८
करवार	२२३।४८३६,३६२२,२७२२	कारे कोसनि	३७०।४८ ६
करवाल	११३।२७४७	कालिंदी	१७।३८०६
कलस	३४०।६१०, ६५०,२०५४	कालीदह	१७५।११४१
कलि	१८४।३४५	कास	३३७।परि० २००
कलिका	३२५।३६३२	कासी	२६०।४५४६,१७४।४०६४,४४८६
कलिकाल	१८४।३४७		
कली	३२५।२५२२	किंकर	२१७।१०६, ५४०
कली पाकर	१३३।१८३१	किन्नरी	२८४।३४८५, ३४८८
कलेऊ	१०१।८२६, ८३०	किरीट मुकुट	७५।६५८
कलेवा	१०१।८२६, ८३०	किसान	२०२।
कलौंजी	११७।परि० १५३	किसमिस	१२।८३०
कलपवृच्छ	३३८।१६४	किसलय	३२५।२७३४
कल्पतरोवर	३३८।१६५६	कीट	३११।५४१
कसमीरी	१८२।४४३३	कीर	३१६।३६४,३८२०,७६
कस्तूरि	३००।७०	कुंज	३२६।२७६६
कसौटी	२१०।४२६३	कुटज	३२७।३६३२
कहार	१६२।४११	कुठार	३५०।११७
कहारिन	१६२।४११	कुतवाल	२१६।६४

शब्द	संदर्भ
चंदवा	३१७।३८३५
चंवर	२१८।१८७१
चकई	३२६।३३७,८५१,१८२८
चकई-डोरी	३५६।८१०
चकडोरी	३५६।१२८७
चकवाद	३२१।१६६७,२७५६
चक्र-सुदर्शन	२२४।४८३७
चकोर	३२१।२७३६,१६६, ३८५६,
चकोरी	३२१।२७३६,१६६, ३८५६
चखौड़ा	८३।७३२
चंचरीक	३१२।८३३
चहरका	२३३।६४८
चतुरंगिनी	२२०।३६४१
चन	१०८।१०१४,१५१०
चना	१०८।१०१४,१५६०, १३४।१८३१
चनक	१०८।१०१४,१५१०
चन्द्रमनि	७२।१२४२
चन्द्रिका	५२।२०५७,७१५, ३१७।३८३५
चमेली	३२७।१७१३
चम्पक	३२८।१७११
चाक	१६३।३२१२
चांचरि	२४७।२४७५
चातक	३२२।३५५,३८३०
चादर	२८।परि० ७
चानूर	१६६।३५८६
चाप	२२२।४७०,३६३७
चाबुक	३०५।
चारि-पदारथ	२५३।३४६,३५६,१४१८, ४७७८
चाबर	१०६।१०१४
चिउरा	११२।८२६
चिचिंडी	१३१।१०१४,१८३१
चिचींडा	१३१।१०१४,१८३१
चिंतामनि	२०६।६
चिरइता	११५।२१४६
चिरारी	१२८।१०१४
चिरिया	३१५।२३४
चिरोंजी	१२८।८२६
चीठी	३५३।परि० १३८,४१०७
चीर	३।२४७
चीर पुरातन	२६२।४३११
चुटिया	८४६२।७८०,७८३
चुटकुर	२८।१४७०
चुरी	६३।१७६८
चुरू	१६१।१०१४,१८३१, ३४२।८०१
चुनरि	३१।परि० ११२
चूनरी	३१।४४
चूरा	६३।७०७,३५१६,३४४४
चूरी	६३।७०७,३५१६,३४४४
चोटी	६२।७८०,७८३
चौकी	६०।२१५८,३२२६,३५६ ।१०१४
चोर	१६७।१८६
चोलना	४२।१५३
चोलिनि	१६१।१६६३
चोर्ली	३३।२१७२
चोवा	२१।३४६१
चौतनिया	४६।७२४
चौतनी	४६।७३४,७०७
चोपरि	३६४।६०
चौसर	५७।२५६२
चौकी	३५६।१०१४
चौगान बटा	३६०।१३३०,८३१
चौंर	२१८।१८७१
चौराई	१३४।१०१४,१८३१

छ

शब्द	संदर्भ
छछुंदरि	३१०।४३७५
छठी	२३३।६५८
छत्र	२१८।३५,१४४
छत्रो	२२७।४५७
छरी	३४८।३४७२

झारा	१६११०१४,१८३१, ३४०१६०२,८०१
झालरी	२६१३५१३,३५०६
झिल्ली	३२२३६४६
झीनि	७४४३३
झीन	३०५४७८४
झुमका	२६५३४७२
झूमक	२४७३५२३
झूमक, झूमका	५४६५८,१७६८
झूमक	३६३३४५६,३४५३
झूमक सारी	३४३४१२
झोली	४१३६
झोंटा	३६३३४५१
झोटी	१४६१०१४

ट

टाड़	६२४६७८
टीको	६७२३२०
टेटो	१३११८३१
टेसू	१६३४६२
टोडी	१६४३४४६

ठ

ठग	१६७१८६
ठगमोदक	१५१४०१५,२२३० १६७४०१५
ठाकुर	२२७१२२,४२६१
ठगिनी	१६७२१६६,२२०१
ठकुराइति	२२७४२५५
ठकुरानी	२२७४६०६
ठोट	१६०१३२

ड

डंड़िया	३४३४६०
डांडी	३६३३४५६
डिठौना	८३७१२
डांड़	१६७२५५५
डुभकौरी	१५४१८३१
डौंडी	२१८५७३
डौंड़ी	२६०४२७०
डफ	२८६६४२,३४८६,३५२२
डिमडिम	२८६३५२४
डोर	२२८२४७१
डोरी	३४८३४५०,१३३०
डोल	२६३३५३७
डोलना	३५७६५८

ढ

ढकनियाँ	३४४२२१८
ढेंढ़स	१३११८३१
ढाढ़	२८६६५५
ढाढ़ी	१६७६४६,६५६
ढाढ़िनि	१६७६४६,६५६
ढरहरी	१५७१८३१
ढोल	२८८३५२४,६५८
ढोलना	२८८३५२४,६५८

त

तंदुल	१५६४८४७
तंबोल	१६४५१८,१५८४, १५८६
तरिवन	५२२८२३,२०२७,२४
तगीरी	२०११४३
तच्छक	३२४२६०
तरिकौ	५२२१०५
तनसुख	६४४३५,३४२१२६,४४३५
तनी	३३३४८८
तपसी	२७५५२६,५३८
तमचूर	३१७७१२,१८२८
तमचुर	३१७७१२,१८२८
तमाल	३३३७३२,२७३०,२७५०
तमोर	६६३२३१, १६४५१८,१५८४,१५८६
तमोल	१६४५१८,१५८४, १५८६
तरकस	२२२६४
तरकारी	१३०१५१०
तरौना	५२२८२३,२०२७,२४
तर्यौना	५२२८२३,२०२७,२४
तलप	३५७४५८
तष्टी	३४४१८३१

ध

शब्द	संदर्भ
पंखा	३५०।२६८६
प्रंगति	१६६।परि० १५३
पंचतत्त्व	२६१।४५१८
पंचरंग	१२।३५२८
पंचवटी	१७७।८१७
पंछी	१३५।८६
पर्जक	३५७।४८४६,५१९
पंडित	२२६।३५३२
पकवान	१४७।९१४,८०८,८१०
पक्कौरी	१५४।१०१४,८०१
पखावज	२८८।३५१३
पगा	४३।९४६,५५८,१९८९, ३१०३
पगिया	४३।३६७८
पच्छी	३१५।८६
पाक	१४८।८६७
पट	७।३४७४
पटरानी	२१४।४२५९,४२६९,४२७०, ४१६
पटकौरी	१५४।१०१४,८०१
पटवारी	१९९।१२५
पटंबर	७।६२६
पटह	२८९।६४२,३५३२
पदिक	५६।३२२८,७८।७२४
पटिया पारना	९३।४१६८
पटुका	४१।परि० ७
पटुली	३५६।३५०,३४५३
पटोरी	८।२३११
पटोलै	८।२५६
पांडे	२२६।८६६
पतबरा	१५४।१०१४
पत्ता	३२५।८८,८६
पत्र	३५३।३४६३
पताका	२२१।६०२
पताल,पतालहिं	१८३।३७०,१६०२
पतियाँ	३५३।४०६३
प्रतिहारी	२१७।१४४
पलीता	२२३।४८८५
पतौषी	३५२।१०११०
पत्रावलि	३२५।२४१४
पत्री	३५३।४०५४
पदमासन	२५८।४३२८
पद्मिनि	३३१।२७२९
पदुम	३३१।
पन्ना	२०६।४८०४
पन्नग	३०९।२७३३
पनघट	३४०।२०५७
पनव	२८९।६४०
पनवारा	३५२।
पनवारो	१६६।८२९,१८३१
पनिघट	३४०।२०७०
पानिग्रहन	२४१।१६९०
पनौ	१५४।
पपिहा	३२२।१२४०,३९५५, ३९५६
पय	१४४।८०८,९११,४९०, १४०।१०१४,७९२,८०२
पयौ	१४४।८०८,९११,४९०
परकार	१०२।२०१
परगना	१९९।९४७
परवर	१३१।१८३१
परमहंस	२५१।४९१५
परमानंद	२५१।४९१५
पार्रहिं	२१०।३९१४
परिधान	२।६४२
परेवा	३१८।१२७७
पर्व	२६६।४८९३,४९१६
पलंग	३५७।४८६३,२२९
पल्लव	३२५।३०७,१४४३, २८६३
पलास	३३३।१०८३
पलिका	३५७।२६४९
पवन	२६०।४१३१
पासनी	२३५।७०६,७०७
पहिरावनि	४५।३५१७
पहुँचिया	६३।६४१,७३५,१६७४

प्रयाग	१२६।४१६	फूल	३२५।५०८,३५३५
प्रानायाम	२५८।३६४	फूल करील	१३३।१८३१
पैंजनि	६७।१६७६	फेट	३६।३४६८
	८१।७५०,७२४	फेंटा	४१।१५३
पैंजनियां	८१।७५०,७२४	फेनी	१५०।१०१४
पैंठा	१३१।१८३१	फौज	२२०।१४४
पैठा पाक	१४८।१०१४	फौजपति	२१६।३६२२
प्रेमभक्ति	२५५।४२१५	**ब**	
प्रेम भगति	२५५।४५४६	बंगाची	२६४।परि०१२१
पैलेतट	३७०।३८७२	बंद	३३।३०६८
पँसारिनि	१६५।२०६१	बंजर	२०२।विनय
पैठ	१८६।४२८१	बंदन	२१।३४८५,६७।
पोई	१३४।१०१४		१६७१
पोत	३६८।७५५	बंदनवार	२३०।
पोता	२००।१४२	बंदी	२१८।१४४
पोरिया	२१७।४०	बंदीजन	१६७।६५३
पोरी	१५५।१०१४	बंसी	३४२।१२६६,२८६।
पौन	२६०।४३०८		१२६६
प्योसर	१५८।८०१	बंधुक	३२८।७२२,१४१७,
फ			२४५०
फगुआ	२४।३५११	बधूक	३२८।७२२,१४१७,२४५०
फंसहारिनि	१६७।२१९९,२२०१	बक	३१६।२३६३
फंदा	१६७।२२००,२२०१	बकसनि	२३१।६५७
फटिकसिला	२०७।३६६,३४५०,३४५८	बकी	३१६।२३६३
फनपति	३२४।२६३	बकुल	३२८।१७१३,३५२१
फरद	२००।१४६	बगा	४७।६५७,७१३
फरिया	३२।१३२२,१३२६,	बगुली	३१६।३५७
	१२६०	बघनहांक	२७१।७३६
फरी अगस्त	१३१।१८३१	बघना	८२।७३१
फल	२५३।४७७८	बघनिया	८२।७३१,७०१
फनिग	३०६।११६८	बच्छ	३०२।६४४,१०५६
फांग फरी	१३१।१८३१	बछरनि	३०२।३०,६२१.
फांगी	१३१।१०१४	बछरू	३०३।६४४,१०५६
फांसी	१६७।४१६४	बजारिनि	१६५।२०६
फाग	२४७।३४७,३४७८	बज्र	२०२।३४५६,
फागु	२४७।३४६६	बट्टा	२०२।१४२
फुलेल	२०।३४६०	बट	३४८।४०२२
फुलौरी	१५४।१०१४,८०१	बटपारी, बटपरिनि	१६७।१२६,२१६६

शब्द	संदर्भ
मनिमय जटितहार	५७।६३३
मनिभूषन	५०।२४५०,१६७३
मयारि	३६३।३४५०
मयूर चन्द्रिका	७५।७७२
मरकट	३००।३३२,३६६
मरकत	२०६।१६५७
मराल	३१५।७७६,३०७, २४०६,३८५१
मराल छौना	३१५।७६६,३०७,२४०६, ३८५१
मरुआ	३२८।३५२१
मरुवा	३६३।३४५६
मरूवौ	३२८।३५३१
मरूसा	१३४।१८३१
मर्कट	३००।३३२,३६६
मलयगिरि	११८।३५६,५३१
मलाई	१४४।१८३१
मलार	१६४।४००५,१०४६
मलन	१६६।३६८२,३६५।३६६२
मल्लाह	१६०।३६१४
मल्लिका	३२८।१६६६
मसानी	३५४।
मताहत	२००।१४२
मसि	३५४।४०२१,३६१८
मसि बिंदा	८३।७३५
महतो	१६६।१४२
महराने	१७२।८६६
महरि	१६६।६३१
महल	२१५।६४६,१६०२
महलनि	२१५।६४६,१६०२
महादेव	२६४।१३८४
महाभट	२२०।१४४,३६७६, ४७६६,४२३६
महाराज	२१३।४०
महावत	१६५।४६५५, ३०४।३६२१
महिष	३०३।१५६४
महीपति	२१३।२६१३
महुअरि	२८७।३४७८,३४८० ३१२।परि०११०
महुवरि	२८७।३४७८,३४८४
महेरी	१५८।१८३१
माखन	१३६।७६३,७७६, ७८१,७६५, १४०।७६४,८२७, १४२।६४४
माखन रोटी	१३६।७८२
माखो	३१४।३८५८
मागध	१६७।४६२,६४२, २१८।१४४
माधववेनी	१८०।४५५
माधवो	३२७।३५२१
मनसरोवर	१८२।३५६
मार	३११।६४३,२१४८, ३५२०,२१३०
माया	२५२।४५
माया	१६१।४७१३
मारु	२६४।३६८४
माल	५६।३०७
मालती	३२७।१७१३
मालवई	२६४।३४४६
माला	७८।७२२
मालिनी	१६१।१६६३
माली	१६१।३६६६,३६६५
मालूर	३३६।१३८४
मिठाई	१४७।१५२६
मिथिलापुर	१७७।४८०६
मिथौरी	१५७।१०१४
मिरग	३००।४६,७०,३८४३, ३८२०
मिरदंग	२८८।३४८८,३५०८, ६४२
मिरच	११५।२१४६,२१४७, १०१४,१८३१,८०१
मिरिच	११५।२१४६,२१४७,१०१४, १८३१,८०१

य

र

रतन	२०४।६५६
रतन जटित	५०।१७७८
रतालू	१३१।१८३१
रथपायक	२२०।३६४१
रथ हँकवैया	२२०।४०६, ३६६।४७६
रथ	३६६।२६,४००६, ४०१०,२७०
रनभूमि	२२१।२७०,२७१,४२३६
रनश्वेत	२२१।४८०१
रबि	३६४।१३८५
रबितनया	१७५। स ३
रसातल	१८३। विनय
रसाल	३३४।१५४२
राज	२१४।३०३,१४१
राजकुमारी	२१४।४७८२
राजपाट	२१४।३०३,१४१
राज सभा	२१६।२०१,२५०
राजसूय	२६८।११
राजा	२१३।१४४,४१६, ४१६,४२५६
राजीव	३३१।२४२६
राइ	२१३।३४८,१४५,३७१४
राइगिरगिरी	२६१।३५१३
राइता	१५८।१८३१
राउ	२१३।३४८, १४५,३७१४
राइ	११६।१८३१
राव	२१३।३४८,१४५,३७४
रास	२५४।१६५७,१६५५
रिचा	२७७।१७६३
रीछ	२६६।५८१
रीति	२५१।१६६३
रुंज	२८८।६४०,३५१३
रूपै	२१०।१४२
रेचक	२५६।४३२८
रोटी	१५५।७७७,१०१४
रोरी	६७।६४२
रेसम	६।६५६

रिष्यमूक पर्वत	१७८।५१२
ल	
लंक	१७७।५३०,५४६
लंकगढ़	१७७।५६६
लंक दुर्ग	१७७।५६६
लंका	१७७।५३०,५४६
लंगूर	३००।५४०
लठवांसी	१६७।१८६
लंहगा	३२।४४
लकुट	४१।२०२४,२०५८, ३६१।४०५७,३४८।६७४
लग्न	२४१।१६८६
लट	८६।२६६८
लटकन	५६,७६।७१७,७२२
लटूरियाँ	८४।१३४,७२३
लता	२०२,३२५।३८४५
लपसी	१४६।८४५,१८३१
लराई	२२०।१८३
लवंग	१५०।८०१
लसकर	२२०।६४
लाहा	१८७।३१०
लाडू	१११।८०१
लापसी	१४६।८४५,१८३१
लावननि लाडू	१५१।१०१४
लाल	१२।१३१२, २०५।३४५०
लाल्हा	१३४।१०१४
लिखहार	२००।१४२
लुचुई	१५५।८४५,१०१४
लूटा	१६७।१८६
लेखा	२०१।१४३
लेखनि	३५४।१२५
लेखौ करत	१८८।१६६
लौंग	११५।२१४६
लोन	११७।१८३१
लौनी	१४५।७८५
लोहा	२११।२२०
लौंडो	२१७।४०७०

———०———